कृषि विज्ञान

कक्षा 12

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

कृषि विज्ञान

कक्षा 12

संयोजक एवं लेखक

डॉ. राजेन्द्र सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर, उद्यान विज्ञान, कृषि संकाय
राजकीय महाविद्यालय, उनियारा, टोंक

लेखकगण

प्रोफेसर शान्ति कुमार शर्मा
क्षेत्रीय अनुसंधान निदेशक
अनुसंधान निदेशालय
महाराणा प्रताप कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय,
उदयपुर

डॉ. वीरेन्द्र नेपालिया
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, शस्य विज्ञान
महाराणा प्रताप कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय,
उदयपुर

डॉ. राजेन्द्र कुमार शर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर, उद्यान विज्ञान, कृषि संकाय
शहीद कैप्टन रिपु दमन सिंह राजकीय महाविद्यालय
सवाई माधोपुर

डॉ. दीपक कुमार सरोलिया
वरिष्ठ वैज्ञानिक, उद्यान विज्ञान
केन्द्रीय शुष्क बागवानी संस्थान,
बीकानेर

डॉ. सी.एम. यादव
वैज्ञानिक पशुपालन
कृषि विज्ञान केन्द्र, भीलवाड़ा
महाराणा प्रताप कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय,
उदयपुर

इन्द्र मन शर्मा
प्रधानाचार्य
राजकीय आदर्श उच्च माध्यमिक विद्यालय,
रवीन्दासर, बीकानेर

पाठ्यक्रम समिति

कृषि विज्ञान

कक्षा 12

संयोजक

डॉ. राजेन्द्र कुमार शर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर, उद्यान विज्ञान, कृषि संकाय
शहीद कैप्टन रिपु दमन सिंह राजकीय महाविद्यालय
सवाई माधोपुर

लेखकगण

गजेन्द्र सिंह राणावत
प्रधानाचार्य
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय,
कोरडा सुमेरपुर (पाली)

डॉ. अशोक कुमार पाराशर
ए. डी. ई. ओ.
कार्यालय डी.ई.ओ. (माध्यमिक प्रथम)
भरतपुर

अखिलेश कुमार
राजकीय आदर्श उच्च माध्यमिक विद्यालय
गुनसारा (कुम्हेर) भरतपुर

भंवरलाल कुम्हार
व्याख्याता
डाईट, टोंक

उमेश त्यागी
व्याख्याता कृषि
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय,
केकड़ी (अजमेर)

सत्यनारायण शर्मा
व्याख्याता
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय,
बून्दी

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक कृषि विज्ञान कक्षा–12 कृषि वर्ग के विद्यार्थियों के लिए माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान की कृषि विज्ञान की पाठ्यक्रम समिति के द्वारा नवीन पाठ्यक्रमानुसार की गई है। इस पुस्तक में अध्ययन सामग्री को विभिन्न इकाइयों, अध्यायों एवं शीर्षकों में विभाजित किया गया है। खण्ड–अ के इकाई प्रथम में शस्य विज्ञान की परिभाषा, महत्व एवं क्षेत्र, बीज, जैविक खेती, सिंचाई, खरपतवार, शुष्क कृषि एवं फसलोत्पादन की जानकारी, इकाई–2 में फलोत्पादन का महत्व, स्थिति एवं भविष्य, फलोत्पादन प्रबन्धन, फलोत्पादन एवं फल परिरक्षण की जानकारी एवं इकाई–3 में पशुपालन एवं दुग्ध उत्पादन में पशु प्रबन्ध का महत्व, नस्लें, पशुरोग एवं दुग्ध उत्पादन के सम्बन्ध में प्रचलित एवं नवीनतम जानकारी प्रस्तुत की गई है, साथ ही खण्ड–ब में शस्य फसलों, उद्यान की फसलों एवं पशुओं से सम्बन्धित प्रायोगिक अध्ययन की जानकारी भी प्रस्तुत की गई है, जिससे विद्यार्थी लाभान्वित होंगे। इस पुस्तक में तकनीकी शब्दों को तकनीकी शब्दावली के अनुसार लिया गया है। इस पुस्तक के लेखन में कक्षा–12 के विद्यार्थियों के स्तर का ध्यान रखा गया है। चित्रों एवं तालिकाओं का समावेश करके विषय अध्ययन को सरल एवं सुग्राह्य बना दिया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में महत्वपूर्ण बिन्दु के रूप में विषय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सामग्री को दिया गया है साथ ही पर्याप्त संख्या में बहुचयनात्मक, अतिलघूत्तरात्मक, लघूत्तरात्मक तथा निबंधात्मक प्रश्न दिये गये हैं।

पुस्तक के लेखन एवं मुद्रण में पूर्ण सावधानी रखी गई है फिर भी त्रुटियों का रहना सम्भव है अतः सभी विद्यार्थियों एवं शिक्षक बंधुओं के बहुमूल्य सुझाव इस पुस्तक में निरन्तर सुधार हेतु आमंत्रित हैं।

– संयोजक एवं लेखकगण

पाठ्यक्रम (Syllabus)

कृषि विज्ञान

कक्षा 12

पूर्णांक– 56

इकाई–1 **अंक–20**

1. शस्य विज्ञान की परिभाषा, महत्व एवं क्षेत्र, मृदा उर्वरता एवं उत्पादकता, इनको प्रभावित करने वाले कारक, मृदा क्षरण एवं संरक्षण, बीज–परिभाषा, प्रकार, उत्तम बीज के गुण, बीज उत्पादन, बीज की सुसुप्तावस्था — 3
2. जैविक खेती– परिभाषा, महत्व, भविष्य, जीवांश खाद एवं उनकी उपयोगिता, गोबर की खाद, कम्पोस्ट, वर्मी कम्पोस्ट, हरी खाद
   जैव उर्वरक– प्रकार एवं उपयोग विधि
   कृषि पंचांग, कीट एवं व्याधियों का जैविक नियंत्रण,
   टिकाऊ खेती की सामान्य जानकारी — 4
3. सिंचाई– आवश्यकतानुसार, समय एवं मात्रा, सिंचाई की विधियाँ — 2
4. खरपतवार– परिभाषा, विशेषताएं, वर्गीकरण, हानियां, विस्तार एवं गुणन की विधियां,
   खरपतवार नियंत्रण (यांत्रिक, रासायनिक एवं जैविक) — 3
5. शुष्क कृषि– परिभाषा, महत्व एवं सिद्धान्त
   फसल चक्र–परिभाषा, महत्व एवं सिद्धान्त
   भूपरिष्करण– परिभाषा, उद्देश्य, प्रकार — 2
6. फसलोत्पादन–राजस्थान की परिस्थितियों के अनुसार नीचे दी गई फसलों का निम्न बिन्दुओं के आधार पर अध्ययन, वानस्पतिक नाम, कुल, महत्व, जलवायु, मृदा, खेत की तैयारी, उन्नतशील किस्में, बीज दर, बीजोपचार, बुवाई का समय, बुवाई की विधि, खाद एवं उर्वरक, सिंचाई, अन्तराकृषि, पादप संरक्षण, कटाई, गढ़ाई, उपज।
   (i) अनाज– धान, मक्का, ज्वार, बाजरा, गेंहू, जौ
   (ii) दलहन– उड़द, मूंग, मोठ, चना, अरहर, चंवला
   (iii) तिलहन–सरसों, तारामीरा, मूंगफली, तिल, सोयाबीन, अलसी, सूरजमुखी
   (iv) चारा–रिजका, बरसीम
   (v) रोकड़– गन्ना, आलू, ग्वार
   (vi) रेशेदार– कपास, सनई
   (vii) मसालेदार– जीरा, धनिया, मैथी, सौंफ — 6

इकाई–2 **अंक–18**

1. फलोत्पादन का महत्व, स्थिति एवं भविष्य, पादप प्रवर्धन — 3
2. फलोद्यान प्रबंधन–
   –स्थान का चुनाव, योजना, रेखांकन, गड्ढे तैयार करना, पौधे लगाना एवं सामान्य देखभाल
   –मौसम की प्रतिकूल दशाओं का फसलों पर प्रभाव एवं बचाव के उपाय
   –उद्यानों में अफलन की समस्याएं व उनका समाधान
   –फलोद्यान में विभिन्न पादप वृद्धि नियंत्रकों का प्रयोग — 4
3. फलोत्पादन–निम्नांकित बिन्दुओं के आधार पर नीचे दिये गये फलों का वर्णन–वानस्पतिक नाम, कुल, महत्व, जलवायु, भूमि, उन्नतिशील किस्में, प्रवर्धन, पौधरोपण, खाद एवं उर्वरक, सिंचाई, निराई–गुड़ाई, उपज, पादप संरक्षण — 6

-आम, नींबू, संतरा, केला, अमरुद, अनार, पपीता, अंगूर, आंवला, बैर, खजूर, बील (बिल्व)

4. फल परिक्षण-परिक्षण की वर्तमान स्थिति, महत्व एवं भविष्य, फल परिरक्षण के सिद्धान्त एवं विधियां, फल एवं सब्जियों की डिब्बाबंदी, फलपाक, अवलेह, मुरब्बा, पानक, टमाटर सॉस, आचार 5

इकाई-3 **अंक-18**

1. पशुपालन एवं दुग्ध उत्पादन में पशु प्रबंध का महत्व, गौ उत्पाद (दूध, दही, घी, गौमूत्र, गोबर) का महत्व 3
2. **नस्लें**- निम्नांकित नस्लों का उत्पत्ति स्थान, वितरण, विशेषताएं एवं उपयोगिता 7
   (i) गाय-गिर, थारपारकर, हरियाणा, नागौरी, मालवी, मेवाती, राठी, जर्सी, हॉलस्टीन, फ्रीजियन
   (ii) भैंस- मुर्रा, भदावरी, सूरती, नीली, जाफरावादी, मेहसाना
   (iii) बकरी-जमुनापारी, बारबरी, बीटल, टोगनबर्ग, सिरोही
   (iv) भेड़-मारवाड़ी, वोकला, मालपुरा, मेरिनो, कराकुल, अव्विस्त्र, अविकालीन, जैसलमेरी
   (v) ऊंट- बीकानेरी, जैसलमेरी, मेवाड़ी एवं ऊंट का प्रबंधन
3. **पशुरोग**- निम्नांकित बीमारियों के कारण, लक्षण, रोकथाम एवं उपचार 6
   रिंडरपेस्ट, मुंहपका, खुरपका, ब्लेक क्वार्टर, एन्थ्रेक्स, गलघोंटू, थनेला, टिल फीवर, दुग्ध, ज्वर, फड़क्या, सर्रा, खुजली
4. **दुग्ध विज्ञान**- 2
   (i) भारत में दुग्ध उद्योग का विकास : श्वेत क्रांति, ऑपरेशन फ्लड

कृषि विज्ञान प्रायोगिक

इकाई-1 **पूर्णांक-30**

1. पाठ्यक्रम में सम्मिलित फसलों की बीज शैया/नर्सरी तैयार करना।
2. बीजों की भौतिक शुद्धता एवं अंकुरण प्रतिशतता ज्ञात कर बीजों का वास्तविक मान ज्ञात करना।
3. उपलब्ध कवकनाशी, कीटनाशी व जैव उर्वरक से दी गई फसल के बीजों को उपचारित करना।
4. दी गई फसल के लिए नाइट्रोजन, फास्फोरस एवं पोटाश युक्त उर्वरकों की मात्रा ज्ञात करना।
5. दी गई फसल के लिए यूरिया की मात्रा ज्ञात कर घोल बनाना एवं छिड़काव करना।
6. गो-मूत्र आधारित जैविक कीटनाशक/रोग नाशक एवं उर्वरकों (अमृतपानी आदि) का निर्माण।
7. फसल, बीज, खरपतवार, उर्वरक एवं जैव उर्वरकों की पहचान एवं संग्रह।

इकाई-2

8. फलोद्यान लगाने की वर्गाकार/आयताकार/पूरक विधि द्वारा रेखांकन एवं फल वृक्षों की संख्या ज्ञात करना।
9. वानस्पतिक प्रसारण की कलम, कलिकायन एवं ग्राफ्टिंग विधियों का अभ्यास करना।
10. फल वृक्षों हेतु गड्ढे खोदना, भरना, रोपण एवं देखभाल करना।
11. उद्यान की विभिन्न क्रियाओं का अभ्यास, कांट-छांट, संधाई करना।
12. फल एवं सब्जियों का श्रेणीकरण कर बाजार भेजने हेतु पैकिंग करना।
13. फलपाक, अवलेह, मुरब्बा, अचार, पानक, टमाटर सॉस तैयार करना।
14. फल वृक्षों के भाग, उद्यान यंत्र व उपकरण परिरक्षण उपकरण एवं रसायनों की पहचान तथा संग्रह करना।

इकाई-3

15. लक्षणों के आधार पर बीमारी की पहचान एवं उपचार करना।
16. पशुपालन में काम आने वाले रसायन, औषधियाँ व उपकरणों की पहचान एवं संग्रह करना।
17. कृषि शैक्षिक भ्रमण : कृषि फार्म, कृषि संस्थान, फलोद्यान, डेयरी, कृषि उद्योग, कृषि मेला, कृषि प्रदर्शनी इत्यादि का भ्रमण।

अनुक्रमणिका

खण्ड – अ (सैद्धान्तिक)

अध्याय	पृष्ठ सं.
इकाई–1	
1. शस्य विज्ञान, मृदा एवं बीज	1–13
2. जैविक खेती	14–39
3. सिंचाई	40–43
4. खरपतवार	44–53
5. शुष्क खेती – परिभाषा, महत्व एवं सिद्धान्त	54–69
6. फसलोत्पादन	70–114
इकाई–2	
7. फलोत्पादन का महत्व, स्थिति एवं भविष्य	115–120
8. प्रवर्धन	121–130
9. फलोद्यान प्रबंधन	131–141
10. फलोत्पादन	142–175
11. फल परिरक्षण	176–187
इकाई–3	
12. पशुपालन एवं दुग्ध उत्पादन में पशु प्रबंध का महत्व	188–193
13. नस्लें	194–209
14. पशु रोग	210–218
15. दुग्ध विज्ञान	219–221

अनुक्रमणिका

खण्ड – ब (प्रायोगिक)

अध्याय		पृष्ठ सं.
इकाई–1		
1.	फसलों के लिये बीज शैया/नर्सरी तैयार करना।	222–224
2.	बीजों की भौतिक शुद्धता व अंकुरण प्रतिशत ज्ञात कर बीजों का वास्तविक मान ज्ञात करना।	225–226
3.	कवकनाशी, कीटनाशी एवं जैव उर्वरक से फसल के बीजों को उपचारित करना।	227–228
4.	दी गई फसलों के लिए नाइट्रोजन, फॉस्फोरस एवं पोटाश युक्त उर्वरकों की मात्रा ज्ञात करना।	229
5.	दी गई फसलों के लिए पर्णीय छिड़काव हेतु यूरिया की मात्रा ज्ञात कर घोल बनाना एवं छिड़काव करना	230
6.	गौ–मूत्र आधारित जैविक कीटनाशक, जैविक रोग नाशक एवं जैविक उर्वरकों (अमृत पानी आदि) का निर्माण	231–234
7.	फसल बीज, खरपतवार, उर्वरक एवं जैव उर्वरकों की पहचान एवं संग्रह	235–239
इकाई–2		
8.	फलोद्यान लगाने की वर्गाकार/आयताकार/पूरक विधि द्वारा रेखांकन एवं फल वृक्षों की संख्या ज्ञात करना	240
9.	वानस्पतिक प्रसारण की कलम, कलिकायन एवं ग्राफ्टिंग की विधियों का अभ्यास	241–244
10.	फल वृक्षों हेतु गड्ढे खोदना, भरना, रोपण एवं देखभाल	245
11.	फलोद्यान की विभिन्न क्रियाओं का अभ्यास	246
12.	फल व सब्जियों का श्रेणीकरण कर बाजार भेजने हेतु पैंकिंग करना।	247
13.	फलपाक, अवलैह, मुरब्बा, अचार, पानक एवं टमाटर सॉस तैयार करना।	248–250
14.	फल वृक्षों उद्यान यंत्रों व उपकरणों, परिरक्षण उपकरणों एवं रसायनों की पहचान तथा संग्रह करना	251–257
इकाई–3		
15.	दैनिक दुग्ध अभिलेख तैयार करना	258–259
16.	लक्षणों के आधार पर बीमारी की पहचान एवं उपचार करना	260–261
17.	पशु चिकित्सा में काम आने वाली सामान्य औषधियाँ व उपकरणों की पहचान एवं संग्रह करना	262–267
18.	कृषि शैक्षिक भ्रमण	268
	परिशिष्ट – 1	269–270
	परिशिष्ट – 2	271–275

खण्ड – अ
सैद्धान्तिक

इकाई–1
अध्याय – 1
शस्य विज्ञान, मृदा एवं बीज
(Agronomy, Soil and Seed)

1. शस्य विज्ञान (Agronomy)

परिभाषा (Definition)

विज्ञान की वह शाखा जिसमें फसल उत्पादन व मृदा प्रबन्धन के सिद्धान्तों तथा क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है – शस्य विज्ञान कहलाती है। शस्य विज्ञान (Agronomy) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द एग्रोनोमस (AGRONOMOS) से हुई है। शब्द दो शब्दों के युग्म से बना है : एग्रोस (AGROS) + नोमोस (NOMOS)। एग्रोस का अर्थ है भूमि (Field)तथा नोमोस का अर्थ है प्रबन्धन। विज्ञान की इस शाखा में भूमि प्रबन्धन के साथ–साथ फसल उत्पादन भी आधुनिक व श्रेष्ठ विधियों का संयोजन है। अतः व्यापकता में यह कहना उचित होगा कि शस्य विज्ञान भूमि प्रबन्धन व फसलोत्पादन के सिद्धान्तों का अध्ययन करने वाली विज्ञान की महत्त्वपूर्ण शाखा है।

महत्त्व व कार्य क्षेत्र (Importance and Scope)

शस्य विज्ञान को कला, विज्ञान व व्यवसाय के रूप में जाना जाता है। कृषि सम्पूर्ण जनसंख्या के जीवन का आधार है। भारतवर्ष में जनसंख्या का एक बड़ा भाग सीधे–सीधे कृषि व्यवसाय से जुड़ा है जिसमें फसलोत्पादन प्रमुख है। कृषि विज्ञान में शस्य विज्ञान का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि खेत में उगायी जाने वाली सभी प्रकार की फसलों के उत्पादन का विज्ञान शस्य विज्ञान है।

शस्य विज्ञान में जल, वायु, भूमि एवं पौधे के वातावरण को प्रभावित करने वाले सभी कारकों का क्रमबद्ध अध्ययन एवं अनुसंधान होता है। शस्य विज्ञान द्वारा भूमि प्रबन्ध, बीज, खाद–उर्वरक, सिंचाई, खरपतवार नियंत्रण, पौध संरक्षण, आदि की फसल उत्पादन प्रयोग हेतु जानकारी मिलती हैं। शस्य विज्ञान विषय में समाहित ज्ञान व विज्ञान के माध्यम से

फसलोत्पादन को सरलता व सुगमता से सम्पादित कर अधिक से अधिक उपज ली जा सकतीहै। मानव व पशुओं की मूल आवश्यकता – खाद्यान्न, पशुचारा व वस्त्रों की आपूर्ति एक जटिल विषय है। शस्य विज्ञान सिद्धान्तों के माध्यम से फसलों की उत्पादकता में अभिवृद्धि करके इन आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है। शस्य विज्ञान एक गतिक विषय है। ज्ञान के अभ्युदय के साथ–साथ पौध, पारिस्थितिकी व कृषि क्रियाओं के विकास से फसल उपज व गुणवत्ता में वृद्धि तथा प्राकृतिक संसाधनों के प्रबन्धन ने शस्य विज्ञान को परम्परागत दायरे से बाहर निकाल कर एक नया स्वरूप प्रदान किया है। साठ के दशक में हरित क्रान्ति के सूत्रपात के बाद नई किस्मों तथा नवीन सिंचाई, उर्वरक व पौध संरक्षण प्रबन्धन का युग प्रारम्भ हुआ जिसमें शस्य विज्ञान की महती भूमिका रही। कालान्तर में जलवायु परिवर्तन व बिगड़े मृदा स्वास्थ्य के प्रसंग में फसल व मृदा प्रबन्धन में बदलाव की आवश्यकता महसूस की गई। इसी संदर्भ में शस्य विज्ञान विषय का अहम योगदान रेखांकित हुआ। शस्य विज्ञान द्वारा कर्षण, उन्नत बीज, खाद व उर्वरकों, सिंचाई व खरपतवार प्रबन्धन, फसल संरक्षण, कटाई, गहाई, भण्डारण व प्रक्रमण जैसे जटिल विषयों का समाधान कर ना केवल खाद्य सुरक्षा प्राप्त की जा सकती है अपितु अधिक उत्पादन कर आय का टिकाऊ स्रोत बनाया जा सकता है। साथ ही कृषि के माध्यम से उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति सुनिश्चितता के साथ–साथ रोजगार के अवसरों को बढ़ाया जा सकता है। अतः शस्य विज्ञान के निम्न क्षेत्र निर्धारित किये जा सकते हैं।

शस्य विज्ञान की आवश्यकता निम्न क्षेत्रों में है :–

1.कृषि उत्पादन में
2.नियोजन में
3.व्यवसाय में
4.उद्योग में।

1. कृषि उत्पादन में : फसलोत्पादन कृषि का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। किसी भी राष्ट्र की प्रगति का प्रथम सूचक है वहाँ का खाद्यान्न उत्पादन, उत्पादकता एवं खाद्य सुरक्षा। विभिन्न फसलों की खेती में शस्य क्रियाओं का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। खेत की तैयारी, उन्नत किस्मों का चुनाव, बुआई, पोषक तत्व प्रबन्धन, खरपतवार प्रबन्धन, सिंचाई प्रबन्धन, पौध संरक्षण, कटाई, गहाई व भण्डारण जैसे महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन उचित तरीके से करना शस्य विज्ञान की सीमा में आते हैं। दूसरे शब्दों में उचित शस्य प्रबन्धन ही फसलोत्पादन का आधार है। अनेकों प्रयोगों के सारांश को संजोते हुए प्रत्येक फसल की क्षेत्रवार अथवा जलवायु के अनुसार उन्नत कृषि विधियाँ (Improved package of practices) तैयार कर फसलोत्पादन को वैज्ञानिक आयाम दिया गया है। राष्ट्र की बढ़ती जनसंख्या के अनुरूप खाद्यान्न उत्पादित करके ही खाद्य सुरक्षा का लक्ष्य साधा जा सकता है। अविकसित देशों में किसान फसल जीवन निर्वाह के लिए उगाते हैं– वे अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु या भोजन के लिए अन्न प्राप्त करने के लिए खेती करते हैं। जबकि विकासशील देशों में कुछ किसान अधिकतम मुनाफे के उद्देश्य से तथा कुछ किसान जीवन निर्वाह के लिए फसल उत्पादन करते हैं।

2. नियोजन में : हमारे राष्ट्र में वर्तमान में अनेक कृषि विश्वविद्यालय कृषि शिक्षा, शोध व प्रसार में रत है। यहाँ से जिस मानव संसाधन को विकसित किया जा रहा है उन्हें अनेक प्रकार के रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं, जैसे कि –

(i) कृषि में शिक्षण, अनुसंधान या प्रसार कार्य हेतु
(ii) बैंक में कृषि सलाहकार / कृषि अधिकारी हेतु
(iii) उर्वरक कम्पनियों में जैसे इफको, कृभको आदि में शस्य विज्ञान हेतु
(iv) नींदानाशी रसायन बनाने वाली कम्पनियों में
(v) पौध वृद्धि हेतु हारमोन्स, ऑक्सीजन, या कृषि में काम आने वाले पदार्थ / रसायन बनाने वाली कम्पनियों में।

3. व्यवसाय में : एक कृषि स्नातक जिसे शस्य विज्ञान की सिद्धि प्राप्त है, कृषि जनित व्यवसाय में एक सफल व्यक्तित्व साबित हो सकता है। कृषि से जुड़े कुछ व्यवसाय जहाँ शस्य विज्ञान अहम योगदान देता है, निम्नानुसार है –

(i) एग्रो इण्डस्ट्रीज
(ii) खाद, बीज एवं कृषि दवाओं, यंत्रों आदि का व्यापार
(iii) कृषि पैदावार का लेनदेन का व्यापार

4. उद्योग में : भारत की अर्थव्यवस्था के तीन स्तम्भ हैं– कृषि, व्यापार व उद्योग। ऐसे कई उद्योग हैं जिनमें कच्चे माल की आपूर्ति कृषि उत्पादन से ही सम्भव है। अन्य शब्दों में शस्य विज्ञान ज्ञान पर आधारित फसलोत्पादन उद्योग जगत का पूरक है। ऐसे कुछ उद्योग निम्नानुसार हैं–

(अ) विभिन्न उद्योगों के लिए कच्चे माल की पूर्ति हेतु फसलें उगाकर जैसे –

(i) डेयरी उद्योग के लिए – चारे की फसलें
(ii) गुड़, शक्कर, उद्योग के लिए – गन्ना, चुकन्दर की फसलें
(iii) वस्त्र उद्योग के लिए – कपास की फसल
(iv) बीड़ी, सिगरेट उद्योग के लिए – तम्बाकू की फसल
(v) दवा उद्योग के लिए – औषधीय पौधे उगाकर
(vi) मसाला उद्योग के लिए – जीरा, धनिया, हल्दी, मिर्च, अजवायन आदि फसलें।

(ब) फसल उत्पादन में प्रयोग किये जाने वाले साधनों के लिए नये उद्योग

(i) खाद–उर्वरक उद्योग
(ii) बीज उत्पादन उद्योग
(iii) पौध संरक्षण रसायन उद्योग
(iv) पौध वृद्धि कारक रसायन उद्योग
(v) नींदानाशी रसायन उद्योग
(vi) सिंचाई के साधनों / यंत्र निर्माण उद्योग
(vii) कृषि में प्रयोग होने वाले यंत्र, औजार आदि के उद्योग

2. मृदा उर्वरता एवं उत्पादकता (Soil Fertility and Productivity)

मृदा उर्वरता (Soil Fertility)

पादप वृद्धि के लिए अनुकूल दशाओं में मृदा द्वारा आवश्यक पोषक तत्वों को प्राप्य रूप, उचित मात्रा तथा उपयुक्त सन्तुलन में प्रदान करने की क्षमता को मृदा उर्वरता कहते हैं।

उपजाऊ भूमि के लिए आवश्यक तत्वों के साथ–साथ भूमि की भौतिक दशा, जल एवं वायु का अनुपात, जीवाणुओं की क्रियाशीलता तथा उपयुक्त तापक्रम का होना भी आवश्यक है। सामान्यतया उपजाऊ मृदायें उत्पादक होनी चाहिए किन्तु यह तथ्य सभी दशाओं में सत्य नहीं है। मौसम की प्रतिकूल दशाओं जैसे कि– ओले, पाला, तूफान तथा बीमारियों आदि द्वारा फसल नष्ट हो जाए तो भूमि उपजाऊ होते हुए भी उत्पादक नहीं कहलाएगी।

मृदा उर्वरता को प्रभावित करने वाले कारक

(अ) प्राकृतिक कारक (Natural factors)

ये वे कारक हैं जो मृदा निर्माण को प्रभावित करते हैं। ये कारक निम्नलिखित हैं –

1. **पैतृक पदार्थ (Parent material) :** मृदा की उर्वरता पैतृक पदार्थ पर निर्भर करती है। यदि पैतृक पदार्थ में पौधों के पोषक तत्व अधिक हैं तो उनसे निर्मित मृदायें प्रायः उपजाऊ होती हैं। अम्लीय आग्नेय चट्टानों और बालू पत्थर के अपक्षय द्वारा बलुई मृदाओं का निर्माण होता है। इनमें क्षार की मात्रा कम पायी जाती है। इन मृदाओं की उर्वरता अपेक्षाकृत कम होती है। क्षारीय और अवसादी चट्टानों के अपक्षय से भारी मृदाओं का निर्माण होता है, जिनमें क्षार की मात्रा अधिक पायी जाती है और इन मृदाओं की उर्वरता भी अधिक होती है।
2. **स्थलाकृति (Topography) :** ढालू पहाड़ी क्षेत्रों की मृदाएँ अपक्षालन एवं मृदा क्षरण के कारण कम उपजाऊ होती हैं। निचले भागों की मृदाओं में ऊँचे स्थानों की मृदाओं के पोषक तत्व एवं कार्बनिक पदार्थ पानी के साथ बहकर एकत्रित हो जाते हैं, इसलिए ये मृदायें अधिक उपजाऊ होती हैं। इस प्रकार पहाड़ी प्रदेशों एवं अन्य ऊँचे–नीचे स्थानों की मृदा उर्वरता मैदानी एवं समतल भूमि की अपेक्षा कम होती है।
3. **मृदा आयु (Soil age) :** मृदा आयु के साथ मृदा उर्वरता में कमी आ जाती है। पुरानी मृदाओं में अधिक अपक्षय, लगातार फसलों के उगाने, मृदा क्षरण एवं अपक्षालन के कारण उनकी उर्वरता नवनिर्मित मृदाओं की अपेक्षा कम होती है।
4. **जलवायु (Climate) :** अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में अपक्षालन क्रिया द्वारा अधिकांश घुलनशील पोषक तत्व

निचले संस्तरों में चले जाते हैं, जिससे मृदा की ऊपरी सतह की उर्वरता कम हो जाती है। इसी प्रकार कम वर्षा वाले क्षेत्रों में भूमि के क्षारीय होने का भय रहता है। अधिक तापक्रम मृदा के कार्बनिक पदार्थ का विघटन शीघ्रता एवं सरलता से कर देता है, जिससे इन क्षेत्रों की मृदा उर्वरता कम हो जाती है। अधिक तेज व शुष्क वायु के कारण भी मृदा क्षरण होता है, जिससे मृदा की उपजाऊ क्षमता घट जाती है।

5. **मृदा प्रोफाइल की गहराई (Depth of soil profile) :** गहरी मृदा उथली मृदा की अपेक्षा अधिक उपजाऊ होती है। गहरी मृदाओं में पौधों की जड़ें अधिक गहराई तक जाकर अच्छी प्रकार फैल जाती हैं और अधिक मात्रा में जल व पोषक तत्व अवशोषण कर सकती हैं। उथली मृदाओं में सूखे की स्थिति में पौधे पानी की कमी महसूस करने लग जाते हैं जिससे पौधों की वृद्धि उचित रूप में नहीं हो पाती है।

6. **मृदा की भौतिक दशा (Physical condition of soil) :** मृदा की भौतिक दशा इस प्रकार होनी चाहिए कि उसमें पौधों की बढ़वार हो सके तथा वायु एवं जल संचार पर्याप्त हो। मृदा की भौतिक दशा अच्छी होने पर उसकी जल धारण क्षमता, जीवाणुओं की क्रियाशीलता तथा जीवांश पदार्थों की सड़न बढ़ जाती है एवं जड़ों का विकास अच्छा होता है। बलुई मृदाओं में रंध्राकाश (Pores) बड़े होते हैं जिससे जल के साथ पोषक तत्व बड़ी शीघ्रता से नीचे की ओर चले जाते हैं। इस कारण इन मृदाओं की उर्वरता कम हो जाती है। इसके विपरीत बारीक कणों वाली मृदाओं जैसे सिल्ट और क्ले की उर्वरता अधिक होती है।

7. **मृदा अपरदन (Soil erosion) :** मृदा कटाव से मिट्टी के साथ–साथ पौधों के आवश्यक तत्व भी बह जाते हैं, जिससे मृदा की उर्वरता कम हो जाती है।

8. **मृदा में उपस्थित पोषक तत्वों की मात्रा (Quantity of available nutrients in soil) :** यह देखा गया है कि विभिन्न प्रकार की मृदाओं में अन्तर्निहित पोषक तत्वों की मात्रा अलग–अलग होती है। कुछ मृदाओं में नाइट्रोजन की कमी पायी जाती है तो कुछ में फॉस्फोरस की। कुछ मृदाओं में किसी एक विशेष तत्व की अधिकता भी पायी जाती है। जिन मृदाओं में अन्तर्निहित तत्वों की मात्रा अधिक होती है उनकी उर्वरता भी अधिक होती है।

(ब) कृत्रिम कारक (Artificial factors)

1. **जलाक्रान्ति (Water logging) :** जब मृदा में फसल की आवश्यकता से अधिक जल का भराव होता है और इसके निकास का उचित प्रबन्ध नहीं होता है तो मृदा में वायु की कमी हो जाती है। इस स्थिति में विनाइट्रीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। परिणामस्वरूप मृदा उर्वरता में कमी हो जाती है। अधिक पानी भरने से मृदा की भौतिक दशा भी खराब हो जाती है तथा आवश्यक पोषक तत्व अपक्षालन द्वारा जड़ क्षेत्र से नीचे चले जाते हैं।

2. **फसल प्रणाली (Cropping system) :** यदि एक निश्चित भूभाग पर प्रति वर्ष एक ही फसल उगाई जाती है तो यह फसल प्रति वर्ष निश्चित तत्वों का शोषण करती रहती हैं जिसके फलस्वरूप इन तत्वों की मृदा में कमी हो जाती है व उर्वरता कम हो जाती है। सघन खेती करने से मृदा उर्वरता में शीघ्र गिरावट आ जाती है। जबकि वैज्ञानिक ढंग से फसल चक्र के अनुसार फसलें उगाने पर मृदा की उर्वरता बनी रहती है। फसल चक्र में दाल वाली फसलें उगाने से मृदा उर्वरता बढ़ती है।

3. **मृदा पी.एच. (Soil pH) :** मृदा उर्वरता एवं पौधों को पोषक तत्वों की प्राप्यता मृदा पी.एच. द्वारा प्रभावित होती है। अधिक अम्लीय मृदा में कैल्शियम और मैग्नीशियम की मात्रायें कम रहती हैं तथा लोहा, एल्यूमिनियम, मैंगनीज व तांबा की इतनी अधिकता हो जाती है कि इनका पौधों पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इसके विपरीत क्षारीय मृदाओं में कैल्शियम व मैग्नीशियम की मात्रा अधिक तथा लोहा, मैंगनीज व तांबे की प्राप्यता कम हो जाती है। इस प्रकार इन मृदाओं की उर्वरता भी कम होती है।

4. **मृदा सूक्ष्म जीव (Soil micro-organisms) :** मृदा में उपस्थित मुख्य सूक्ष्म जीव शैवाल, कवक, एक्टीनोमाइसिटीज तथा जीवाणु हैं। शैवाल में मृदा में वायु संचार को बढ़ाती है जिससे नाइट्रोजन का स्थिरीकरण होता है। कवक तथा एक्टीनोमाइसिटीज जटिल कार्बनिक पदार्थों का विच्छेदन कर ह्यूमस बनाने में सहायता करते हैं। ये मृदा में कार्बनिक पदार्थों को संचित करके मृदा उर्वरता को बनाये रखते हैं। राइजोबियम जीवाणु वायुमण्डल की नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करके पौधों को प्राप्य अवस्था में प्रदान करते हैं। इस प्रकार भूमि में सूक्ष्म जीव जितने अधिक क्रियाशील होंगे उतनी ही अधिक भूमि उपजाऊ होगी।

5. **मृदा में कार्बनिक पदार्थ की मात्रा (Organic matter content in soil) :** कार्बनिक पदार्थ सड़ने पर पौधों के लिए आवश्यक पोषक तत्व प्रदान करते हैं। अतः जिन मृदाओं में कार्बनिक पदार्थ की मात्रा अधिक होती है उनकी उर्वरा शक्ति भी अधिक होती है। चिकनी मृदा बलुई मृदा की अपेक्षा अधिक उपजाऊ होती है।

6. **मृदा जुताई की विधि व समय (Method and time of ploughing) :** ढालू खेतों की जुताई ढाल के लम्बवत् करने से मृदा कटाव कम होता है और पोषक तत्व पानी

के साथ बहकर खेत से बाहर नहीं जाते हैं। आवश्यकता से अधिक जुताई करना हानिकारक होता है क्योंकि अधिक ताप से कार्बनिक पदार्थ जल जाता है तथा भौतिक दशा पर कुप्रभाव पड़ता है। भूमि को उचित गहराई तक समय पर जोतने से उसकी उर्वरा शक्ति में वृद्धि होती है।

मृदा उत्पादकता (Soil Productivity)

मृदा उत्पादकता का अभिप्राय उसकी प्रति हैक्टर पैदावार देने की क्षमता से है। इसको साधारणतया रुपयों में या प्रति हैक्टर उपज के रूप में व्यक्त हैं। उत्पादन कई वृद्धि कारकों के पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर करता है। अधिकतम उत्पादन के लिए सभी कारकों का पौधों की वृद्धि के लिए उपयुक्त दशा में होना अति आवश्यक है। सभी कारकों में फसल उत्पादन के लिए मुख्य कारक मृदा है।

कोई भी उपजाऊ भूमि उत्पादक हो यह आवश्यक नहीं है लेकिन उत्पादक भूमि के लिए इसका उपजाऊ होना आवश्यक है। यदि भूमि उपजाऊ नहीं है तो वह पौधों को आवश्यक तत्व प्रदान करने में असमर्थ है। परिणामस्वरूप उपज घट जाती है और भूमि की उत्पादन क्षमता कम हो जाती है। इसके विपरीत भूमि उत्पादक न होते हुए उपजाऊ हो सकती है जैसे – भूमि पर फसल खड़ी है यह भूमि की उर्वरा शक्ति को दर्शाती है, लेकिन अगर फसल प्रतिकूल दशाओं के कारण नष्ट हो जाये तो भूमि उपजाऊ होते हुए भी उत्पादक नहीं मानी जायेगी। इसलिए भूमि की उत्पादकता का अधिक या कम होना केवल उसकी उर्वरा शक्ति पर ही निर्भर नहीं करता बल्कि सभी दशाओं की अनुकूलता व प्रतिकूलता पर भी निर्भर करता है।

मृदा उत्पादकता को प्रभावित करने वाले कारक

1. **मृदा उर्वरता (Soil fertility) :** मृदा में यदि पौधों की वृद्धि के लिए सभी आवश्यक पोषक तत्व उचित मात्रा, अनुपात एवं प्राप्य अवस्था में उपस्थित होते हैं तो मृदा उपजाऊ होती है और उसकी उत्पादकता भी अधिक होती है।
2. **मृदा की भौतिक दशा (Physical status of soil) :** मृदा की उपयुक्त भौतिक दशा में पौधों की वृद्धि अच्छी होती है जिससे पैदावार अधिक होती है। मृदा की संरचना, कणाकार, जल धारण क्षमता, वायु संचार आदि मुख्य भौतिक गुण हैं।
3. **मृदा की स्थिति (Soil location) :** अन्य कारकों के समान होने पर शहर के पास वाली मृदा अधिक उत्पादक होती है क्योंकि शहर के पास होने के कारण उत्पादकों को फसल को शहर में बेचने की सुविधा मिल जाती है और अधिक मूल्य प्राप्त होता है।
4. **उत्पाद की माँग (Product demand) :** किसी वस्तु का उत्पादन समान हो और माँग बढ़ती है तो उस वस्तु का प्रति इकाई मूल्य बढ़ जाता है जिससे लाभ अधिक होगा, फलस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि होगी।
5. **यातायात के साधन (Transport facility) :** यातायात की अच्छी सुविधा होने पर उत्पादन व्यय कम होगा तथा लाभ अधिक होगा, फलस्वरूप उत्पादकता में वृद्धि होगी।
6. **अन्य कारक (Other factors) :** अन्य कारक जैसे मौसम की प्रतिकूल दशा, कीट तथा बीमारियों का आक्रमण, जानवरों द्वारा फसलों को नुकसान पहुँचाना, समय पर कृषि–क्रियाएँ नहीं करना आदि मृदा की उत्पादकता को कम करते हैं।

मृदा उर्वरता एवं उत्पादकता में अन्तर

मृदा उर्वरता	मृदा उत्पादकता
1. मृदा उर्वरता का सम्बन्ध पौधों के आवश्यक पोषक तत्वों की उचित मात्रा, सही अनुपात एवं उपलब्ध कराने की क्षमता से है।	1. मृदा उत्पादकता का सम्बन्ध प्रति हैक्टर भूमि से फसल उत्पादन क्षमता से है।
2. उर्वर मृदा उत्पादक हो भी सकती है और नहीं भी।	2. उत्पादक मृदा हमेशा उर्वर होगी।
3. मृदा की भौतिक दशा, रासायनिक स्थिति, पौधों के पोषक तत्वों की मात्रा व उनका सन्तुलन मृदा उर्वरता को निर्धारित करते हैं।	3. मृदा की उर्वरता, परिवहन व्यय, उपज की माँग तथा फसल पैदा करने में व्यय मृदा उत्पादकता को निर्धारित करते हैं।
4. मृदा उर्वरता की प्रयोगशाला में जाँच की जा सकती है।	4. मृदा उत्पादकता की जाँच खेत में प्राप्त उत्पादन से कर सकते हैं प्रयोगशाला में नहीं।
5. मृदा उर्वरता मृदा उत्पादकता का एक मुख्य अंग है। उर्वरता के अन्तर्गत आर्थिक नियम, माँग, पूर्ति, उत्पादन व्यय व उपज के मूल्य का विचार नगण्य है।	5. मृदा उत्पादकता एक व्यापक शब्द है, जिसके अन्तर्गत भौतिक क्रियायें व आर्थिक नियम सम्मिलित हैं।

3. मृदा क्षरण एवं संरक्षण (Soil Erosion and Conservation)

प्रति वर्ष कुछ प्राकृतिक शक्तियों, मुख्य रूप से जल एवं वायु द्वारा मृदा की ऊपरी परत बहकर या उड़कर दूसरे स्थानों पर स्थानान्तरित होती रहती है। इसके साथ ही पेड़–पौधे जितना पोषक पदार्थ मृदा से अपने भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं उसका कई गुना अधिक पोषक पदार्थ मृदा से बहकर या उड़कर नष्ट हो जाता है। इसलिए मृदा क्षरण को रोकने के लिए मृदा का

संरक्षण किया जाना चाहिए ताकि पौधों को मृदा से आवश्यक पोषक तत्वों की आपूर्ति होती रहे तथा मृदा उर्वरा शक्ति भी बनी रहे।

"भौतिक रूप से मिट्टी के कणों का अपने स्थान से हटने की क्रिया को मृदा क्षरण कहते हैं।" मृदा का पृथक्करण तथा परिवहन मृदा क्षरण कहलाता है। अधिकांश दशाओं में जल परिवहन कारक होता है लेकिन हवा भी यह कार्य करती है। "मृदा को विभिन्न क्षरण शक्तियों द्वारा बहने तथा कटने से बचाने की क्रिया को मृदा संरक्षण कहते हैं।"

मृदा क्षरण के प्रकार : प्रकृति में दो प्रकार से मृदा क्षरण होता है –

1. **प्राकृतिक क्षरण (Natural erosion) :** वनस्पति से ढकी हुई मृदा के प्राकृतिक रूप से हवा तथा जल द्वारा लगातार और धीरे–धीरे क्षरण को प्राकृतिक क्षरण कहते हैं। यह क्षरण मृदा निर्माण तथा मृदा विनाश की क्रियाओं में सदैव साम्य रखता है। इससे कोई विशेष हानि नहीं होती क्योंकि परिवर्तन में बहुत समय लगता है। इस क्षरण को मनुष्य द्वारा नहीं रोका जा सकता है।
2. **त्वरित क्षरण (Accelerated erosion) :** जब भूमि की वनस्पति को पशुओं द्वारा चराकर, खोदकर या जोतकर समाप्त कर दिया जाता है तो भूमि वनस्पति–विहीन हो जाती है। ऐसी मिट्टी में पानी व हवा के विघ्न द्वारा अलग होने की गति मृदा निर्माण से कहीं ज्यादा होती है। इस प्रकार के मृदा क्षरण को त्वरित क्षरण कहते हैं।

मृदा क्षरण दो शक्तियों के द्वारा होता है – 1. जल 2. वायु

1. **जल द्वारा क्षरण (Water Erosion)**

आवरण रहित नग्न भूमि पर जब वर्षा की बूँदें गिरती हैं तो उनकी चोट से मृदा कण तितर–बितर हो बिखर जाते हैं और गंदले पानी के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार खेत की उपजाऊ मिट्टी का जल के साथ क्षरण हो जाता है। जल द्वारा मृदा के कटने व बहने की क्रिया को जलीय क्षरण कहते हैं। जल द्वारा मृदा क्षरण निम्न प्रकार का होता है –

(अ) **बौछार क्षरण (Spalash erosion) :** यह मृदा क्षरण की प्रारम्भिक अवस्था है। जब वर्षा की बूँदें जमीन पर गिरती हैं तो ये मृदा कणों को मूल स्थान से छिन्न–भिन्न कर देती हैं। इससे भूमि की जल प्रवेश क्षमता भी कम हो जाती है। यह क्षरण वर्षा की बूँदों के आकार एवं गहनता से प्रभावित होता है।

(ब) **परत क्षरण (Sheet erosion) :** बूँदों द्वारा कणों के बिखरने के पश्चात् वर्षा का जल पूर्ण सतह पर मिट्टी की पतली तह को अपने साथ बहा ले जाता है। इस प्रकार खेत की उपजाऊ मृदा की ऊपरी तह समान रूप से खेत से बह जाती है। इसको परत–क्षरण कहते हैं। यह क्षरण आँखों से तो दिखाई नहीं देता है लेकिन होता बहुत हानिकारक है।

(स) **रिल क्षरण (Rill erosion) :** परत क्षरण समतल भूमि में होता है लेकिन पूरा खेत बिल्कुल समतल तो होता नहीं, उसमें कहीं न कहीं ढाल जरूर होता है। जब पानी ढाल की ओर बहने लगता है तो खेत में छोटी–छोटी नालियाँ बन जाती हैं। ये नालियाँ धीरे–धीरे चौड़ी होने लगती हैं, हालांकि ये नालियाँ जुताई के समय समाप्त हो जाती हैं। नर्म व तुरन्त जोते गये खेत में यह क्षरण ज्यादा होता है। ढलान वाली व खाली भूमि में भी यह क्षरण ज्यादा होता है।

(द) **अवनालिका क्षरण (Gully erosion) :** यह रिल–क्षरण की बढ़ती अवस्था है। जब ढाल अधिक होता है तो रिल क्षरण द्वारा बनायी गई नालियाँ इतनी चौड़ी और गहरी हो जाती हैं कि उपजाऊ मिट्टी के कटने के बाद अधो मृदा भी कटने लगती है। इस प्रकार के कटाव को अवनालिका या नालीदार क्षरण कहते हैं। ये नालियाँ साधारण जुताई आदि के द्वारा समाप्त नहीं होती हैं। इन मृदाओं में कृषि कार्य करना कठिन होता है।

जलीय क्षरण को प्रभावित करने वाले कारक

1. **जलवायु (Climate) :** वर्षा की गहनता, अवधि तथा आवृत्ति का मृदा क्षरण पर सीधा प्रभाव पड़ता है। यदि वर्षा की गहनता कम हो तो ज्यादा समय तक वर्षा होने पर भी क्षरण कम होता है। इसी प्रकार गहनता के साथ थोड़े समय में होने वाली वर्षा से भी क्षरण अधिक नहीं होता है। यदि वर्षा की मात्रा और गहनता दोनों ही अधिक हो तो मृदा क्षरण अधिक होगा। अधिक तापक्रम मूल पदार्थों के रासायनिक एवं भौतिक अपक्षय में सहायक होता है जिससे भूमि तथा चट्टानों में टूट–फूट होती हैं। इस कारण क्षरण शुरू हो जाता है।
2. **स्थलाकृति (Topography) :** ढालू भूमि पर क्षरण ज्यादा होता है, क्योंकि पानी के बहने की गति तेज होती है। उसकी मिट्टी काटने व बहाने की शक्ति बढ़ जाती है। अधिक ढाल पर जल को भूमि में सोखने का कम समय मिलता है। ढाल की लम्बाई जितनी ज्यादा होगी उतना ही कटाव ज्यादा होगा।
3. **मृदा गुण (Soil characteristics) :** बलुई मृदा के कणों का बिखराव ज्यादा होता है, जबकि मटियार भूमि के कण आपस में अधिक दृढ़ता के साथ चिपके रहते हैं। ऊसर भूमि पानी में शीघ्र घुल जाती है और पानी के साथ बह जाती है। बलुई मृदा पानी को कम सोख पाती है। लेकिन मटियार भूमि में कार्बनिक पदार्थ की मात्रा अधिक होने से जल शोषण क्षमता और कणों को बाँधने की क्षमता बढ़

जाती है, जिससे पानी के बहाव द्वारा कम कटती है।

4. **वनस्पति का प्रभाव (Plant effect) :** जितने अधिक पेड़–पौधे उतना ही अधिक जल मिट्टी द्वारा सोखा जायेगा। पेड़ व घास की जड़ें मृदा कणों को आपस में बाँधे रखती हैं और पत्तियाँ वर्षा की बूँदों को मृदा कणों से टकराने से पहले ही रोक देती हैं। इस प्रकार वनस्पति भूमि क्षरण को कम करने में सहायक होती है।

5. **मानवीय कारक (Human factor) :** मनुष्य द्वारा खेती का सही ढंग न अपनाने से भी मृदा क्षरण अधिक होता है। ढालू भूमियों पर ढाल की दिशा में कृषि कार्य करना, नदी किनारे तक खेती करना, खाद का प्रयोग किये बिना लम्बे समय तक एक ही फसल उगाना आदि ऐसे मानवीय कारक हैं, जो जलीय क्षरण को बढ़ावा देते हैं।

जलीय क्षरण को रोकने की विधियाँ : वे विधियाँ जो भू–क्षरण रोकने तथा जल संरक्षण के लिए अपनायी जाती हैं, मृदा संरक्षण विधियाँ कहलाती हैं। वे मुख्यतया निम्न हैं –

1. **मृदा संरक्षण की जैविक विधियाँ (Biological methods)**

(अ) **सस्य सम्बन्धी विधियाँ (Agronomic methods)**

1. **समोच्च खेती (Contour farming) :** समान ऊँचाई की भूमि पर बनी हुई रेखा को कन्टूर कहते हैं। समस्त कृषि कार्य और फसलों की बुआई ढाल के विपरीत करते हैं। यदि ढाल अधिक है तो कन्टूर की दूरी कम होगी और यदि ढाल कम हो तो कन्टूर के आपस की दूरी अधिक हो सकती है। ढालू जमीन पर कन्टूर बनाने से वर्षा का पानी रूक–रूक कर आगे बढ़ता है जिसे मृदा द्वारा सोख लिया जाता है और बाहर कम बह पाता है। अतः मृदा क्षरण नहीं होता है।

2. **भू–परिष्करण (Tillage) :** भू–परिष्करण की सही विधियाँ और औजारों के अपनाने से मृदा की संरचना ठीक हो जाती है। बारानी क्षेत्रों में गहरी जुताई करनी चाहिए ताकि खरपतवार नष्ट हो जाये तथा मृदा में पानी का अवशोषण अधिक हो। इससे भू–क्षरण कम हो पाता है।

3. **पलवार (Mulching) :** खेत को घास तथा पौधों के डंठलों द्वारा ढक कर मृदा क्षरण को काफी कम किया जा सकता है। पलवार वर्षा की बूँदों का मृदा पर सीधे प्रहार को कम करता है तथा जड़ें, तने, पत्तियाँ आदि मृदा की सतह पर पानी बहने के वेग को कम करते हैं। साथ ही मृदा संरचना को भी सुधारते हैं।

4. **फसल चक्र (Crop rotation) :** मृदा संरक्षण के लिए अपनाये गये फसल चक्रों में यह सिद्धान्त रखा जाता है कि अधिकाधिक समय तक घास एवं दलहनी फसलों के मिश्रण से भूमि को आच्छादित रखा जाये। उपयुक्त फसल चक्र अपनाने से क्षरण कम होता है। जल का अच्छा संरक्षण हो जाता है और मिट्टी का उपजाऊपन भी सुधरता है।

5. **पट्टियों में फसल बोना (Sowing of crops in strips):** इस प्रणाली में फसलें ढाल के विपरीत समानान्तर पट्टियों में भू–क्षरण अवरोधी (घनी उगने वाली फसलें) तथा निराई–गुड़ाई चाहने वाली फसलें एकान्तर पट्टियों में उगायी जाती हैं। जिससे ऊपर से बहकर आयी मिट्टी और पानी रूकते रहते हैं और क्षरण नहीं हो पाता है।

(ब) **घास सम्बन्धी उपाय (Grass related measures) :** उगायी गई क्षेत्रीय फसलों के मध्य घास की पट्टियाँ बो देने से मृदा संरक्षण में मदद मिलती है। फसल चक्र में अन्य फसलों के साथ घास को भी उगाने की विधि को ले फार्मिंग (Lay farming) कहते हैं। यह विधि मृदा एवं जल संरक्षण में सहायक होती है। अगर बड़े क्षेत्र में क्षरण की समस्या हो तो उर्वरकों की उपयुक्त मात्रा डालते हुए कुछ समय तक घासें ही उगानी चाहिए। मुख्य घासें ब्लू पैनिक, नेपियर, दूब, अंजन आदि हैं।

(स) **वृक्षारोपण (Tree plantation) :** वृक्ष मृदा क्षरण के रोकने के अच्छे साधन हैं। वृक्ष वर्षा की बूँदों को सीधे जमीन पर नहीं गिरने देते तथा पानी की चोट को स्वयं सहन करते हैं। जमीन पर पानी के बहाव को रोकते हैं। वृक्षों की पत्तियाँ मल्च का काम करती हैं और भूमि को जीवांश भी प्रदान करती हैं जिससे मृदा की भौतिक दशा में सुधार होता है।

2. **मृदा संरक्षण की यांत्रिक विधियाँ (Mechanical methods)**

(अ) **क्यारी या थाला बनाना :** बेसिन लिस्टर (Basin lister) की सहायता से कन्टूर के समानान्तर थालों का निर्माण करते हैं यह थाला जल को रोककर उसके बहाव की गति कम कर देता है और जल संरक्षण में सहायक होता है।

(ब) **अधो–भूमि की गहरी जुताई :** सब सोइलर (Sub-soiler) की सहायता से कठोर परत को तोड़कर मृदा की जल शोषित एवं जल धारण क्षमता को बढ़ाते हैं जिससे वर्षा के जल का संरक्षण किया जा सकता है।

(स) **कन्टूर टैरेस बनाना :** जब ढालू भूमि पर खेती की जाती है तो खेत टैरेस या चबूतरे की भांति बनाये जाते हैं जिससे जुताई, बुआई आदि बराबर टुकड़ों पर हो सके। ये टैरेस बहाव को सीधा ढाल की ओर रोकते हैं, जल शोषण को बढ़ाते हैं, अतिरिक्त जल को नाली द्वारा बाहर निकाल देते हैं, अधिक ढालू भूमि को खेती योग्य बनाते हैं तथा मृदा क्षरण को नियंत्रित करते हैं।

(द) **कन्टूर खाई बनाना :** 60 से.मी. चौड़ी, 30 से.मी. गहरी तथा उपयुक्त लम्बाई की खाइयाँ उचित अन्तराल पर खोदी जाती हैं इन खाइयों में पेड़ों की रोपाई की जाती है।

2. **वायु द्वारा क्षरण (Wind Erosion)**

तेज हवा या आँधी से मृदा कण एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने की क्रिया को वायवीय क्षरण कहते हैं। यह क्षरण शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों से ज्यादा होता है जहाँ वनस्पति नहीं के बराबर पाई जाती है। राजस्थान का उत्तर–पश्चिमी क्षेत्र मरूस्थल के रूप में होने से वर्षा बहुत कम होती है और प्राकृतिक वनस्पति का अभाव है। मार्च से जून तक तेज हवाएँ चलती हैं जिनके कारण यह क्षेत्र वायु क्षरण से प्रभावित है। जो वनस्पति है भी, उस पर अनियंत्रित व अत्यधिक पशुओं की चराई व कृषि के गलत तरीके अपनाने से यह समस्या बढ़ती ही जा रही है। इस क्षरण द्वारा लाखों टन उपजाऊ मिट्टी उड़कर बाहर चली जाती है और मृदा उर्वरता का ह्रास हो जाता है। वायु द्वारा मृदा का परिवहन तीन प्रकार से होता है –

(अ) **उच्छलन (Saltation) :** जब हवा का सीधा दबाव मृदा कणों पर पड़ता है तो मुख्यतः 0.1 से 0.5 मि.मी. व्यास वाले कण अपने स्थान से ऊपर उछलने लगते हैं और थोड़े चलकर नीचे गिर जाते हैं। मृदा कणों के इस तरह छोटे–छोटे उछालों की क्रिया को उच्छलन कहते हैं। मृदा क्षरण में भार की दृष्टि से 50–75 प्रतिशत भाग इस क्रिया द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है।

(ब) **निलम्बन (Suspension) :** इस क्रिया में मृदा के और भी छोटे कण जिनका व्यास 0.1 मि.मी. यो इससे कम होता है, हवा के साथ उड़कर वातावरण में लटके रहते हैं और हवा की गति के साथ हजारों कि.मी. दूर तक स्थानान्तरित हो जाते हैं।

(स) **सतह–सर्पण (Surface creep) :** मृदा कण जिनका व्यास 0.5 मि.मी. से अधिक होता है जो वायु की गति के साथ ऊपर नहीं उठ सकते हैं, भूमि सतह पर रेंगकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित हो जाते हैं। इस क्रिया को सतह–सर्पण कहते हैं।

वायु द्वारा मृदा क्षरण को प्रभावित करने वाले कारक

1. **जलवायु (Climate) :** शुष्क जलवायु वाले क्षेत्रों में जहाँ कम वर्षा, अधिक ताप व वायु की गति तेज हो तो वायु क्षरण अधिक होगा। इसके विपरीत आर्द्र एवं शीतोष्ण जलवायु में वायु क्षरण कम होता है।

2. **मृदा (Soil) :** मृदा के भौतिक गुण जैसे कणाकार, घनत्व तथा कार्बनिक पदार्थ की मात्रा, नमी की मात्रा आदि वायु द्वारा क्षरण को प्रभावित करते हैं। क्ले मृदाओं में जीवांश की मात्रा अधिक होने व चिकनी सतह के कारण क्षरण कम होता है। लेकिन बलुई मृदाओं की सतह खुरदरी व कण एक–दूसरे से अलग रहते हैं। अतः वायु द्वारा क्षरण अधिक होता है।

3. **वनस्पति (Vegetation) :** वनस्पति से आच्छादित मृदाओं में वायु क्षरण नहीं के बराबर होता है लेकिन वनस्पतिविहीन मृदाओं में क्षरण अधिक होता है।

4. **स्थलाकृति (Topography) :** ढालू भूमियों में समतल भूमियों की अपेक्षा मृदा क्षरण अधिक होता है।

वायवीय क्षरण नियंत्रण के सिद्धान्त

वायु द्वारा मृदा क्षरण रोकने के सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

1. वायु के वेग को कम करना,
2. मृदा कण समूह का आकार बढ़ाना, तथा
3. मृदा सतह को नम रखना।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर वायवीय क्षरण को निम्नलिखित विधियों द्वारा रोका जा सकता है –

1. **कृषि क्रियाएँ :**
   - **i)** मृदा में जीवांश खादों का प्रयोग करना चाहिए।
   - **ii)** मृदा में हरी खाद वाली फसलों का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि ये फसलें उर्वरता बढ़ाने, कणों को बाँधकर रखने तथा नमी की मात्रा संचित रखने में सहायक होती हैं।
   - **iii)** मृदा सतह पर पलवार (Mulch) का प्रयोग करना चाहिए।
   - **iv)** भू–परिष्करण (Tillage) द्वारा मृदा वाष्पीकरण कम करके नमी बनाये रखनी चाहिए।
   - **v)** फसल चक्र (Crop rotation) में दाल वाली फसलें तथा घासों को सम्मिलित करना चाहिए, क्योंकि ये मृदा संरक्षी फसलें हैं जो मृदा क्षरण को कम करती हैं।
   - **vi)** भूमि को पड़ती नहीं छोड़ना चाहिए।
   - **vii)** पशुओं की चराई बन्द कर देनी चाहिए, ताकि भूमि पर घास हमेशा बनी रह सकें।

2. **वायुरोधी वृक्ष पट्टियाँ :** वायु की गति मन्द करने के लिए जिस दशा से हवायें आती हैं उनके समकोण विपरीत दिशा में वृक्षों, झाड़ियों तथा घासों की सुनियोजित पट्टियाँ लगाते हैं। ये पट्टियाँ मृदा क्षरण को काफी कम कर देती हैं और सतह से वाष्पीकरण को रोकती हैं। इनकी कई आकृतियाँ हो सकती हैं लेकिन सबसे अच्छी पट्टी पिरेमिड आकार की होती है। जिसमें अन्दर की लाइन में शीघ्र बढ़ने वाले, दूसरी लाइन में कम बढ़ने वाले व तीसरी लाइन में सबसे कम बढ़ने वाले पेड़ या घासें होती हैं। इस प्रकार हवा आने की दिशा में छोटे वृक्ष, बीच में थोड़े बड़े व हवा जाने वाली दिशा में सबसे बड़े वृक्ष लगाये जाते हैं। पट्टियों की आपस में दूरी 3–4 मीटर एवं पेड़ से पेड़ की दूरी 1–2 मी. रखी जाती है। सघनता को ध्यान में रखते

हुए पट्टियों में वृक्षों की ऐसी जातियाँ जिनमें कम से कम वायु निकल सके, प्रयोग में लाई जाती हैं। इसके लिए बबूल, नीम, शीशम, जामुन, इमली, बेर, अमलताश आदि प्रमुख वृक्ष हैं।

3. **मिट्टी के टीलों को आच्छादित रखना :** मिट्टी के टीलों पर क्षेत्रीय झाड़ियाँ लगा देनी चाहिए जो कि पलवार (Mulch) का काम करती हैं तथा मिट्टी के उड़ने में बाधा डालती हैं जिससे टीले एक ही जगह स्थिर रहते हैं। उदाहरण के लिए खीप, झड़बेरी, फोग, बुई आदि झाड़ियाँ उपयोगी पाई गयी हैं।

4. अन्य : रेगिस्तानी क्षेत्र में उगने वाले पेड़, झाड़ियाँ तथा घासें वायु क्षरण रोकने में सहायक हैं–

वृक्ष (Trees)

खेजड़ी (*Prosopis cineraria*)
शीशम (*Dalbergia sissoo*)
रोहिड़ा (*Tecomella undulata*)
विलायती बबूल (*Prosopis juliflora*)
इज़राइली बबूल (*Acacia tortalis*)

झाड़ियाँ (Shrubs)

खींप (*Leptodenia pyrotechnica*)
फोग (*Calligonum polygonoides*)
अरण्डी (*Ricinus communis*)
झरबेरी (*Zizyphus rotundifolia*)

घासें (Grasses)

सेवन (*Lasiurus sindicus*)
अंजन घास (*Cenchrus ciliaris*)

4. बीज (Seed)

फसलोत्पादन में बीज का सर्वोपरि स्थान है। फसल उत्पादन की सफलता मुख्य रूप से गुणवत्ता युक्त बीजों के प्रयोग पर निर्भर करती है। कृषि उत्पादन में अन्य आदानों जैसे सिंचाई, खाद, शाकनाशी, कवकनाशी, कीटनाशी इत्यादि की सफलता भी बीज की गुणवत्ता एवं ओज क्षमता पर आधारित होती है। यदि बीज की स्थिति संदिग्ध है तो अन्य आदानों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता क्योंकि बीज सही एवं विश्वसनीय नहीं होगा तो फसल उत्पादन के अन्य सभी प्रयास विफल हो जाते हैं। अतः अधिक उपज लेने के लिए उत्तम किस्म के बीजों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। अभी देश के किसानों को 12 प्रतिशत उन्नत बीज ही उपलब्ध हो रहा है इसलिए गुणवत्ता युक्त बीजों के उत्पादन एवं वितरण को बढ़ाने की आवश्यकता है।

बीज की परिभाषा (Definition of seed)

दाना, फल, पत्ती, जड़ अथवा तने का वह भाग जो अपने समान रूप के स्वस्थ पौधे को जन्म देता है बीज कहलाता है। तकनीकी दृष्टि से पुष्प के परिपक्व बीजाण्ड को ही बीज कहते हैं जिसमें सूक्ष्म भ्रूण व भ्रूणपोष सुरक्षात्मक आवरण से ढका रहता है। साधारण शब्दों में हम कह सकते हैं कि जीवित भ्रूण वाला दाना ही बीज है जो बुवाई के काम आता है।

उत्तम बीज के गुण (Characteristics of good quality seed) : वह किस्म जो स्थानीय किस्म के मुकाबले 10–15 प्रतिशत अधिक उपज देती हो एवं विभिन्न प्रकार की जलवायु व मिट्टी के प्रति अनुकूल हो तथा निश्चित समय पर परिपक्व अवस्था में पहुँचती हो, उन्नत किस्म कहलाती है। उन्नत किस्म के बीज में निम्न गुण होने चाहिए –

1. **आनुवंशिक शुद्धता (Genetic purity) :** उत्तम बीज का मुख्य लक्षण उसकी आनुवंशिक शुद्धता है। अतः शुद्ध व प्रमाणित बीज में अपनी किस्म के अनुरूप आकार–प्रकार, रंग–रूप एवं वजन के सभी लक्षण पाये जाने चाहिए। बीज आकार व रंग में एक समान व चमकीले होने चाहिए।
2. **भौतिक शुद्धता (Physical purity) :** उत्तम बीज भौतिक रूप से शुद्ध होना चाहिए। उसमें अन्य फसलों, किस्मों तथा खरपतवार के बीजों की मिलावट नहीं होनी चाहिए। बीज में कंकर–पत्थर, मिट्टी, कूड़ा–कचरा, फसल के अवशेष, भूसा आदि भी नहीं होने चाहिए। मिलावट होने से खेत में वांछित फसल व किस्म के पौधों की संख्या घट जाती है, खरपतवार के पौधे फसल से प्रतियोगिता करते हैं जिससे उपज कम प्राप्त होती है व उत्पादन की गुणवत्ता घट जाती है।
3. **बीज ओज (Seed vigour) :** बीज ओज से तात्पर्य बीज की उम्र, आकृतिक तथा क्रियात्मक स्वस्थ्यता से है जिसमें तीव्रता से समान अंकुरण व पौधों का विकास होता है। उत्तम बीज में पर्याप्त ओज होता है, जिससे पौधे की बढ़वार तेज गति से होती है। बीज ओज अच्छा नहीं होने पर पौधों की बढ़वार धीमी गति से होती है जिससे फसल की उपज व गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। पुराने बीजों की अंकुरण शक्ति कम होती है अर्थात् उम्र के साथ ओज घटता जाता है।
4. **उच्च अंकुरण क्षमता (High germinability) :** उत्तम बीज में उच्च अंकुरण क्षमता होनी चाहिए। अंकुरण क्षमता का खेत में उगे पौधों की संख्या एवं फसल की उपज से सीधा सम्बन्ध है। बीज की सही मात्रा, उसकी अंकुरण प्रतिशत के आधार पर तय होती है। इसलिए अंकुरण क्षमता की जानकारी करके ही बीजों की बुआई करनी चाहिए जिससे खेत में वांछित संख्या में पौधे मिल सके। यह सर्वमान्य है कि कम आयु वाले (नये) चमकदार, स्वस्थ तथा सुडौल बीजों का अंकुरण पुराने, बदरंग, कटे–फटे रोगग्रस्त बीजों की अपेक्षा अधिक होता है। कुछ प्रमुख फसलों के बीजों की न्यूनतम अंकुरण क्षमता इस प्रकार है –
5. **नमी की मात्रा (Moisture content) :** उत्तम बीजों में

	फसलों का नाम	न्यूनतम अंकुरण क्षमता
1.	गेहूँ, जौ एवं चना	85 प्रतिशत
2.	धान, ज्वार, तिल, बरसीम, रिजका	80 प्रतिशत
3.	बाजरा, मूंग, मोठ, उड़द, अरहर, चंवला	75 प्रतिशत
4.	मूँगफली, सोयाबीन, सूरजमुखी, ग्वार	70 प्रतिशत
5.	कपास	65 प्रतिशत

$$\text{बीज की अंकुरण प्रतिशतता} = \frac{\text{अंकुरित बीजों की संख्या}}{\text{बोये गये बीजों की संख्या}} \times 100$$

निर्धारित मात्रा से अधिक नमी नहीं होनी चाहिए। अधिक आर्द्रता के कारण बीज में कवक/कीट आदि का प्रकोप हो जाता है जिससे अंकुरण क्षमता कम हो जाती है तथा बीज ओज पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अनाज के बीजों में भण्डारण के समय नमी 12 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए।

6. **रोगमुक्तता (Free from diseases) :** बीज निरोग, रोगाणु एवं कीट व्याधि प्रकोप रहित होने चाहिए। रोग एवं कीटग्रस्त बीज की अंकुरण क्षमता कम होती है। कई रोगों के विषाणु–जीवाणु बीजों के साथ लगे होते हैं जिससे अंकुरित होते ही पौधे रोग/कीट ग्रस्त हो जाते हैं। इसलिए उत्तम बीज सभी प्रकार के रोगों से मुक्त होना चाहिए।

7. **परिपक्वता (Maturity) :** उत्तम बीज पूर्णरूप से परिपक्व, साफ तथा सुडौल आकार का होना चाहिए। पूर्णरूप से परिपक्व बीज चमकीला, साफ एवं भरा हुआ होता है जबकि अपरिपक्व बीज सिकुड़े हुए, छोटे तथा बदरंग होते हैं। अपरिपक्व बीजों में अंकुरण कम होता है तथा पौधे प्रारम्भ से ही छोटे तथा कमजोर रह जाते हैं। उनमें जलवायु तथा मृदा की प्रतिकूल दशाओं, खरपतवार, कीट तथा रोगों से संघर्ष करने की क्षमता भी कम होती है। अतः अच्छी प्रकार से परिपक्व, साफ, गुद्देदार तथा सुडौल आकार का बीज ही बोना चाहिए।

8. **वास्तविक उपयोगिता मान (Real value) :** अच्छे बीज का वास्तविक उपयोगिता मान 75 प्रतिशत से कम नहीं होना चाहिए। यह अच्छे बीज का महत्वपूर्ण गुण है।

$$\text{वास्तविक उपयोगिता मान} = \frac{\text{अंकुरण प्रतिशत} \times \text{शुद्धता प्रतिशत}}{100}$$

9. **बीज की जीवन क्षमता (Seed longivity):** उत्तम बीज में जीवित भ्रूण होना चाहिए जिसमें अंकुरण क्षमता होती है। बीज में उपस्थित भ्रूण विभिन्न कारणों से क्षतिग्रस्त हो जाता है तो उसकी जीवन क्षमता नष्ट हो जाती है। बीज के कट जाने, गल जाने, रोग के प्रभाव या भण्डारण के दोषों के कारण भ्रूण की जीवन क्षमता नष्ट हो सकती है। अतः बीज को बोने से पहले प्रयोग द्वारा उसकी जीवन क्षमता ज्ञात करना लाभदायक रहता है।

बीजोत्पादन (Seed Production)

वैज्ञानिकों द्वारा उन्नत किस्मों का उत्पादन एवं विकास निरन्तर किया जा रहा है। प्रारम्भिक अवस्था में विकसित उन्नत बीज की मात्रा अत्यन्त सीमित होती है। अतः यह आवश्यक है कि निर्धारित मापदण्डों की पालना करते हुए इन बीजों का गुणन किया जाना चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार उन्नत किस्मों के बीज सभी किसानों को समय पर उपलब्ध हो सके। उन्नत बीजों का गुणन प्रायः राजकीय फार्म, विश्वविद्यालय के कृषि फार्म एवं प्रगतिशील कृषकों के खेतों पर प्रमाणित बीज उत्पादन कार्यक्रम के अन्तर्गत किया जाता है। किसी भी फसल के उत्तम बीज प्रयोगशाला से किसानों तक निम्नलिखित उन्नत बीजों की चार श्रेणियों (बीजों के प्रकार) में उत्पादित होकर पहुँचता है। इनका विवरण निम्न प्रकार है –

1. **मूल केन्द्रक बीज या न्यूक्लियस सीड (Nucleous seed) :** मूल केन्द्रक बीज किसी उन्नत किस्म के बीजों की वह प्रारम्भिक मात्रा है जो सम्बन्धित पादप प्रजनक के पास होती है। यह बीज शत–प्रतिशत शुद्ध होता है। इनका उत्पादन पादप–प्रजनक की देख–रेख में किया जाता है।

2. **प्रजनक बीज या ब्रीडर सीड (Breeder seed) :** न्यूक्लियस सीड के गुणन के बाद जो बीज प्राप्त होता है वह ब्रीडर सीड कहलाता है। आनुवंशिक एवं भौतिक दृष्टि से यह बीज भी शत–प्रतिशत शुद्ध होता है तथा पादप प्रजनक की देख–रेख में कृषि अनुसंधान केन्द्रों पर उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार के बीजों की थैली पर सुनहरे पीले रंग का टैग लगा रहता है और यह आधार बीज का स्रोत होता है।

3. **आधार बीज (Foundation seed) :** प्रजनक बीज से जो बीज पैदा किया जाता है उसे आधार बीज कहते हैं। आधार बीज का उत्पादन बीज प्रमाणीकरण संस्था की देख–रेख में किया जाता है। इसकी आनुवंशिक शुद्धता 98 प्रतिशत तक होती है। इस प्रकार के बीजों की थैली पर सफेद रंग का टैग लगा रहता है और यह प्रमाणित बीज का स्रोत होता है।

4. **प्रमाणित बीज (Certified seed) :** आधार बीज से प्रमाणित बीज उत्पन्न किया जाता है। इसका उत्पादन प्रमाणीकरण संस्था की देख–रेख में किया जाता है और यह प्रमाण पत्र दिया जाता है कि इसकी आनुवंशिक व भौतिक शुद्धता, अंकुरण प्रतिशत एवं आर्द्रता मात्रा आदि प्रमाणीकरण मानकों के अनुरूप है। इस प्रकार के बीजों की थैली पर नीले रंग का टैग लगा रहता है और यह किसानों को फसल उत्पादन के लिए बेचा जाता है।

उत्तम बीज उत्पादन की वैज्ञानिक तकनीक

बीज उत्पादन कार्यक्रम एक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत तैयार किये गये आधार बीज का गुणन कृषकों द्वारा कृषकों के लिए किया जाता है। बीज उत्पादन प्रक्रिया एक ऐसी वैज्ञानिक विधि है जिसके द्वारा आनुवंशिक शुद्धता, उच्च अंकुरण क्षमता, रोग रहित व अधिक पैदावार की क्षमता वाले बीजों का उत्पादन किया जाता है। इसके लिए प्रमाणीकरण प्रक्रिया के मापदण्डों की पालना करनी होती है। प्रत्येक फसल के लिए भिन्न–भिन्न पृथक्करण दूरी एवं बीज के न्यूनतम मापदण्ड निर्धारित किये हुए हैं जिनका पालन अत्यन्त आवश्यक है। अतः कृषक को बीज उत्पादन कार्यक्रम में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए ताकि उत्तम गुणवत्तायुक्त बीजों का उत्पादन हो सके।

फसल	पृथक्करण दूरी (मीटर)	
	आधार बीज	प्रमाणित बीज
जौ, गेहूँ, जई व धान	3	3
मक्का की संकुल किस्में	400	200
संकर मक्का	600	300
ज्वार	200	100
चना	10	5
सोयाबीन, मूंगफली	3	3

1. **बीज का चुनाव :** बीज उत्पादन हेतु प्रजनक / आधार / प्रमाणित बीज ही प्रयोग में लेना चाहिए एवं इसमें अन्य बीजों का मिश्रण नहीं होना चाहिए। बीज मान्यता प्राप्त बीज उत्पादक संस्थानों या विश्वविद्यालयों अथवा मान्यता प्राप्त संस्थानों से ही क्रय करना चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बीज की किस्म कृषि जलवायु खण्ड में सिफारिश की गई हो तथा उपयुक्त पैदावार देती हो। बीजों को बीज जनित रोगों से बचाव हेतु फफूंदनाशी, कीटनाशी एवं शाकाणु संवर्ध से अवश्य उपचारित करें। बीजों के खाली कट्टे, टैग, लेबल, बिल इत्यादि को सुरक्षित रखें जिससे प्रमाणीकरण संस्था द्वारा मांगने पर प्रस्तुत किये जा सके।

2. **पृथक्करण दूरी व खेत का चयन (Isolation distance and field selection) :** आनुवंशिक शुद्धता को बनाए रखने के लिए फसल की किन्हीं दो किस्मों के मध्य निश्चित दूरी बनाये रखना आवश्यक है। यह दूरी पृथक्करण दूरी (Isolation distance) कहलाती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस फसल का बीज उत्पादन कार्यक्रम ले रहे हैं उसके चारों ओर एक निर्धारित दूरी तक दूसरे खेतों में वह फसल नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक फसल के लिए बीज उत्पादन हेतु अलग–अलग पृथक्करण दूरी की सिफारिश की गयी है क्योंकि कुछ फसलों में परपरागण होता है तथा कुछ फसलों में स्वपरागण होता है। अतः बीजोत्पादन हेतु खेत के चयन में यह ध्यान रखें कि फसल के लिए उपयुक्त पृथक्करण दूरी उपलब्ध है अन्यथा परपरागण से बीजों की आनुवंशिक शुद्धता नहीं रह पायेगी। प्रमुख फसलों की पृथक्करण दूरी सारणी के अनुसार है।

बीज उत्पादन के लिए विभिन्न फसलों की पृथक्करण दूरी (Isolation distance)

खेत का चयन करते समय यह भी ध्यान रखें कि खेत में पिछले मौसम में उस फसल को न उगाया गया हो जिसका बीज उत्पादन लिया जा रहा है, क्योंकि कुछ फसलों के बीज कटाई के समय खेत में गिर जाते हैं तथा दूसरे मौसम में उग आते हैं जिससे फसल में अन्य किस्मों का मिश्रण हो जाता है। अतः खेत स्वैच्छिक उगे पौधों से मुक्त होना चाहिए।

3. **उन्नत सस्य क्रियाएँ :** बीज उत्पादन में सभी उन्नत सस्य क्रियाओं एवं कीट व रोग नियंत्रण की अनुमोदित सिफारिशों का अनुसरण करना चाहिए जैसे –

(अ) बुआई पूर्व सीड ड्रिल को अच्छी तरह से साफ कर लें तथा यह निश्चित कर लें कि सीड ड्रील में कोई अन्य बीज नहीं है।

(ब) सिफारिशानुसार सन्तुलित उर्वरकों का प्रयोग करें।

(स) फसल की क्रान्तिक अवस्थाओं पर सिंचाई अवश्य करें।

(द) फसल में उचित समय पर निराई–गड़ाई अवश्य करें ताकि बीजों में खरपतवार के बीजों का मिश्रण न हो।

(य) समय–समय पर खेत का निरीक्षण करते रहें तथा अन्य किस्मों के पौधों व अन्य भिन्न पौधों को वानस्पतिक, फूलों के रंग, फलियों के आकार आदि में भिन्नता के आधार पर उखाड़कर खेत से बाहर फेंक देना चाहिए। यह क्रिया रोगिंग (Rouging) कहलाती है। रोगिंग इस तरह करनी चाहिए जिससे बीजों की गुणवत्ता एवं आनवंशिक शुद्धता का स्तर निर्धारित मापदण्डों से कम न हों। जिस फसल एवं किस्म का बीज उत्पादन कार्यक्रम लिया गया है उसके अतिरिक्त खेत में अन्य फसल, अन्य किस्म, असमान पौधे, रोग ग्रस्त पौधे एवं खरपतवार का एक भी पौधा नहीं होना चाहिए।

(र) आवश्यकतानुसार पौध संरक्षण उपाय करें।

(ल) फसल की उचित समय (बीज के पूर्ण पकने) पर कटाई करें।

4. **गहाई :** गहाई करते समय निम्न बातों का अवश्य ध्यान रखें जिससे बीज की भौतिक शुद्धता बनी रहे।

(अ) खलिहान को अच्छी प्रकार साफ कर लें।

(ब) गहाई मशीन को खलिहान पर ले जाने से पूर्व भलीभांति साफ कर यह सुनिश्चित कर लें कि मशीन में अन्य फसलों व किस्मों के बीज नहीं है।

(स) थ्रेसर का आर.पी.एम. निश्चित कर लें जिससे बीज टूटे नहीं।

(द) जहाँ तक संभव हो बीज हेतु नई बोरियाँ ही काम में लें। यदि पुरानी बोरियाँ काम में लेनी हो तो उनको पलटकर झाड़ लें एवं अन्य बीजों को निकाल लें।

(य) बीज को बोरों में भरने से पूर्व निर्धारित नमी तक सुखा लेना चाहिए।

5. विधायन एवं भण्डारण : उत्तम बीज की गुणवत्ता उसके सावधानीपूर्वक किये गये विधायन एवं भण्डारण पर बहुत निर्भर करती है। गहाई करने के बाद बीज को बोरियों में भरकर विधायन केन्द्रों पर प्रसंस्करण (Processing) हेतु भेजा जाता है। विधायन क्रिया में बीज को अच्छी प्रकार सुखाकर मशीनों द्वारा साफ कर वर्गीकृत किया जाता है व आवश्यक बीजोपचार के पश्चात् उपयुक्त आकार के कट्टे व थैलियों में भरकर प्रपत्र के साथ सिल दिया जाता है। वर्गीकरण द्वारा एक ही आकार एवं वजन के पुष्ट बीजों का चयन कर अन्य छोटे, कटे एवं हल्के बीजों को निकाल दिया जाता है। सफाई प्रक्रिया में भौतिक अशुद्धियों और अवांछित एवं आपत्तिजनक खरपतवार के बीजों को अलग कर देते हैं। बीजों को उचित नमी पर बोरों में भरकर गोदाम में रखें। भण्डारण उपरान्त गोदाम को धूमीकरण कर बन्द कर दें। समय–समय पर गोदाम का निरीक्षण करते रहना चाहिए।

इस प्रकार प्रमाणित बीज का उत्पादन भी एक प्रकार का विज्ञान है जिसके लिए वैज्ञानिक दक्षता आवश्यक है। अतः बीज उत्पादन के लिए प्रमाणीकरण संस्था की देख–रेख की आवश्यकता होती है। इसलिए भारत में यह कार्य राष्ट्रीय बीज निगम तथा राजस्थान में राजस्थान राज्य बीज निगम करती है।

बीज की सुषुप्तावस्था (Seed Dormancy)

सुषुप्तावस्था अथवा प्रसुप्ति काल बीज की वह अवस्था है जब इसकी सक्रिय वृद्धि कुछ काल के लिये निलम्बित हो जाती है। यह निलम्बन अल्प अथवा दीर्घ काल के लिये हो सकता है। वास्तविकता में सुषुप्तावस्था का अभिप्राय है कि पूर्णतः परिपक्व बीज अन्य सभी परिस्थितियों के सामान्य होने पर भी अंकुरित नहीं हो पाता है जो अन्यथा अंकुरण के लिये आवश्यक होती है। सुषुप्तावस्था में बीज की स्वयं की संरचनात्मक या रासायनिक अथवा कार्यिकीय विशिष्टताओं के कारण अंकुरण नहीं हो पाता है।

सुषुप्तावस्था के प्रकार

उत्पत्तिनुसार सुषुप्तावस्था तीन प्रकार की मानी गई है –

1. प्राथमिक सुषुप्तावस्था (Primary dormancy)
2. द्वितीयक सुषुप्तावस्था (Secondary dormancy)
3. बलकृत सुषुप्तावस्था (Enforced dormancy)

प्राथमिक सुषुप्तावस्था (Primary dormancy)

यह एक प्रकार से प्राकृतिक सुषुप्तावस्था है जिसका सम्बन्ध बीज की स्वयं की कार्यिकीय विशेषताओं से है। जब फसल पकने लगती है तो कुछ बीज शुष्क भार के आधार पर परिपक्वता प्राप्त कर लेते हैं परन्तु ये अंकुरित होने योग्य नहीं होते हैं। दूसरे शब्दों में ये बीज सुषुप्तावस्था काल में ही है। ऐसी सुषुप्तावस्था बीज के शुष्क भण्डारण से दूर की जा सकती है। यह सुषुप्तावस्था बीज कवच **(Seed coat)**की कठोरता, भ्रूण **(Embryo)**के अल्प विकास, प्रकाश आवश्यकता अथवा रासायनिक कारणों से हो सकती है।

द्वितीयक सुषुप्तावस्था (Secondary dormancy)

यह एक प्रकार से प्रेरित सुषुप्तावस्था (Induced dormancy) है। सामान्य परिस्थितियों के अभाव में बीज अंकुरित नहीं हो पाता है। अतः असामान्य परिस्थितिवश बीज सुषुप्तावस्था प्राप्त कर लेता है।

बलकृत सुषुप्तावस्था (Imposed/ Enforced dormancy)

इस प्रकार की सुषुप्तावस्था बीजों के मृदा में अधिक गहराई में चले जाने के कारण होती है। इसके मुख्य कारण है प्रतिकूल तापक्रम, प्रकाश का पूर्ण अभाव, कार्बन–डाईऑक्साइड की अधिकता व मृदा का अधिक भार। जैसे ही ये बीज मृदा के ऊपर की ओर आते हैं ये अंकुरण योग्य हो जाते हैं। बलकृत सुषुप्तावस्था अधिकांशतः खरपतवार के बीजों में उत्पन्न होती है। अंकुरण हेतु आवश्यकताओं जैसे नमी (Moisture) व गैसों (Gases) के प्रति अपारगम्य होते हैं, जिससे बीज अंकुरित ना होकर सुषुप्त हो जाता है। पूर्ण भ्रूण विकास से पूर्व ही कठोर कवच निर्माण से भी बीजों में सुषुप्तावस्था आ जाती है।

कई प्रकार के पादप अंतःस्राव (Plant hormones) व अंकुरण निरोधी (Germination inhibitors) व अन्य जैव रसायन बीज के आवरण, भ्रूण या भ्रूणपोष में उपस्थित होते हैं तथा ये भी सुषुप्तावस्था को नियंत्रित करते हैं।

बीज सुषुप्तावस्था को भंग करने की विधियाँ

सुषुप्तावस्था को भंग करने की विधि व समय सुषुप्तावस्था के कारण व प्रकार पर निर्भर करती है। ऐसे कृत्रिम उपचार निम्न हो सकते हैं –

1. प्रकाश से उपचार (Light treatment)

2. ताप से उपचार
   (i) तापीय एकान्तरण (Alternating temperature)
   (ii) शीतन (Chilling)
   (iii) उच्च ताप (High temperature)
3. पश्य परिपक्वन (Post maturation)
4. क्षय चिह्न (Scarification)
   (i) भौतिक (Physical)
   (ii) रासायनिक (Chemical)
5. रसायनों से उपचार उदाहरणार्थ वृद्धि नियामक जैसे कि जिब्बरलिंस, साइटोकाइनिंस व इथालीन, पादप उत्पाद, श्वसन निरोधक ऑक्सीकारक, नाइट्रोजन/सल्फर युक्त यौगिक।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. विज्ञान की वह शाखा जिसमें फसल उत्पादन व मृदा प्रबन्धन के सिद्धान्तों व क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है, शस्य विज्ञान कहलाती है।
2. शस्य विज्ञान द्वारा कर्षण, उन्नत बीज, खाद व उर्वरक, सिंचाई व खरपतवार प्रबन्धन, पौध संरक्षण, कटाई, गहाई, भण्डारण व प्रक्रमण का समाधान किया जाता है।
3. मृदा उर्वरता को प्राकृतिक कारक एवं कृत्रिम कारक प्रभावित करते हैं।
4. फसल उत्पादन की अनुकूल परिस्थितियों में किसी मृदा की फसल पैदा करने की क्षमता को मृदा उत्पादकता कहते हैं। इसे साधारणतया रुपयों में या प्रति हैक्टर उपज के रूप में मापते हैं।
5. उत्पादक मृदा निश्चित रूप से उर्वर होती है परन्तु उर्वर मृदा सदैव उत्पादक नहीं हो सकती।
6. भूमि के कणों को अपने स्थान से हटने एवं अन्यत्र स्थानान्तरित होने की क्रिया को मृदा क्षरण कहते हैं। मृदा क्षरण दो प्रकार का होता है (1) प्राकृतिक क्षरण, (2) त्वरित क्षरण।
7. मृदा को विभिन्न क्षरण शक्तियों द्वारा काटने एवं स्थानान्तरित होने से बचाने के उपायों को मृदा संरक्षण कहते हैं।
8. बीज चार प्रकार के होते हैं यथा (अ) केन्द्रक बीज (ब) प्रजनक बीज (स) आधार बीज एवं (द) प्रमाणित बीज। किसी भी फसल का उत्तम बीज प्रयोगशाला से किसानों तक उपरोक्त चार चरणों में उत्पादित होकर पहुँचता है।
9. बीजोत्पादन में आनुवंशिक शुद्धता को बनाये रखने के लिए फसल की किन्हीं दो किस्मों के मध्य एक निश्चित दूरी बनाये रखना आवश्यक है जिसे पृथक्करण दूरी कहते हैं। भिन्न–भिन्न फसलों के लिए अलग–अलग पृथक्करण दूरी होती है।
10. सुषुप्तावस्था बीज की वह अवस्था है जब इसकी सक्रिय वृद्धि कुछ काल के लिए निलम्बित हो जाती है, जिससे बीज का अंकुरण नहीं हो पाता है। ये प्राकृतिक, द्वितीयक अथवा बलकृत होती है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. एग्रोनोमी किस भाषा के शब्दों से बना है –
   (अ) ग्रीक (ब) जर्मन
   (स) भारतीय (द) अंग्रेजी
2. मृदा उर्वरता को प्रभावित करने वाला प्राकृतिक कारक है –
   (अ) पैतृक पदार्थ (ब) जलाक्रान्ति
   (स) मृदा पी.एच. (द) मृदा जुताई का ढंग
3. मृदा उत्पादकता को प्रभावित करने वाले कारक हैं –
   (अ) मृदा उर्वरता (ब) मृदा की भौतिक दशा
   (स) मृदा की स्थिति (द) उपरोक्त सभी
4. निम्न में से कौनसा वृक्ष रेगिस्तानी क्षेत्रों में पाया जाता है जो वायु क्षरण को रोकने में सहायक है –
   (अ) खेजड़ी (ब) सेवन
   (स) अंजन (द) न्यूटन्स
5. आधार बीज का स्रोत है –
   (अ) केन्द्रक बीज (ब) प्रजनक बीज
   (स) प्रमाणित बीज (द) इसमें से कोई नहीं
6. प्रमाणित बीज पर किस रंग का टैग लगा रहता है?
   (अ) पीले रंग का (ब) सफेद रंग का
   (स) नीले रंग का (द) काले रंग का

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

7. शस्य विज्ञान को परिभाषित कीजिए।
8. शस्य विज्ञान की आवश्यकता किन क्षेत्रों में है?
9. मृदा उत्पादकता को परिभाषित कीजिए।
10. मृदा क्षरण की परिभाषा लिखिये।
11. मृदा क्षरण को रोकने के लिए उगाये जाने वाले वृक्षों के नाम लिखें।
12. स्थलाकृति का जल क्षरण से क्या सम्बन्ध है?
13. बीज की परिभाषा लिखिये।
14. पृथक्करण दूरी से क्या अभिप्राय है?
15. बलकृत सुषुप्तावस्था क्या होती है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

16. कृषि में शस्य विज्ञान की क्या भूमिका है?
17. शस्य विज्ञान कला, विज्ञान व व्यवसाय का संयोजन क्यों

कहलाता है?

18. मृदा उर्वरता एवं उत्पादकता में अन्तर लिखिए।
19. वायु द्वारा क्षरण की प्रक्रिया को समझाइये।
20. मृदा संरक्षण में पलवार (Mulching) का क्या महत्त्व है?
21. बीजोत्पादन के लिए बीज का चयन करते समय किन–किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?
22. बीज के विभिन्न प्रकारों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

23. मृदा उर्वरता से क्या अभिप्राय है? इसको प्रभावित करने वाले कारकों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
24. वायवीय क्षरण का राजस्थान में क्या महत्त्व है?वायु द्वारा क्षरण को रोकने की विभिन्न विधियों का वर्णन कीजिये।
25. मृदा संरक्षण की परिभाषा लिखिये। जलीय क्षरण के परिपेक्ष्य में सस्य सम्बन्धी विधियों की विवेचना कीजिए।
26. उत्तम बीज के गुण एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

उत्तरमाला

1. (अ) 2. (अ) 3. (द) 4. (अ) 5. (ब) 6. (स)

अध्याय – 2
जैविक खेतीः परिभाषा, महत्त्व एवं भविष्य
(Organic Farming – Definition, Importance and Future)

जैविक कृषि में सर्वप्रथम ''कृषि'' या फार्म को एक पूर्ण जीवित संगठन के रूप में देखा जाता है। इस संगठन के महत्वपूर्ण अंग हैं खेत, पशु, उद्यान, जड़ी–बूटी, मित्र–कीट और स्वयं मनुष्य। सभी अंग मिलकर ''कृषि'' का संतुलन बनाये रखते है। यदि इन सभी अंगों में से किसी एक को भी स्थान न दिया गया तो समन्वय बिगड़ना स्वाभाविक है। जिस प्रकार एक जीवित संगठन में विभिन्न प्रकार के रासायनिक तत्वों एवं यौगिकों के संयोजन से अंग तंत्र एवं कई अंग तंत्रों के संयोजन से शरीर की रचना होती है और किसी भी एक अवयव के असंतुलित होने से पूरा शरीर असंतुलित हो जाता है। उसी प्रकार से जैविक कृषि में संतुलन की अवस्था बनाये रखने के लिये इसके समस्त घटकों यथा मृदा, पशु, वातावरण, उद्यान आदि का समन्वय बनाये रखना अति आवश्यक है। इस प्रकार जैविक कृषि तीन मुख्य उद्देश्यों–पर्यावरणीय स्वास्थ्य, आर्थिक समृद्धि और सामाजिक तथा आर्थिक समता का संयोजन करती है।

परिभाषा

अंतर्राष्ट्रीय जैविक कृषि गतिविधि संघ (आई.एफ.ओ.ए.एम.) के अनुसार ''जैविक कृषि एक उत्पादन प्रणाली है, जो कि मृदा, पारिस्थितिकी परितंत्रों और लोगों के स्वास्थ्य को बनाए रखती है। यह प्रतिकूल प्रभावों वाले आदानों के उपयोग की बजाय, पारिस्थितिक प्रक्रियाओं, जैव विविधता और स्थनीय परिस्थितियों के अनुकूलित चक्र पर निर्भर करती है।'' जैविक कृषि, साझा पर्यावरण को लाभान्वित करने के लिए परंपरा, नवाचार और विज्ञान को जोड़ती है और इसमें शामिल सभी के लिए निष्पक्ष संबंधों और एक अच्छी गुणवत्ता वाले जीवन को बढ़ावा देती है।

खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) के अनुसार– जैविक खेती एक व्यापक एवं सम्पर्ण उत्पादन प्रबंधन पद्धति है जो जैव विविधता, जैविक चक्र एवं मृदा की जैविक क्रियाओं के माध्यम से शस्य–पारिस्थितिकी तंत्र के स्वास्थ्य में प्रोत्साहन एवं वृद्धि करती है। यह पद्धति क्षेत्रीय परिस्थितियों एवं स्थानीय अनुकूलित तंत्र के मध्यनजर बाहरी निवेश के आदानों के बजाए प्रक्षेत्र आधारित आदानों के उपयोग एवं प्रबंधन विधियों पर निर्भर करती है। इस पद्धति में उत्पादन कार्यों के निष्पादन हेतु संश्लेषित पदार्थों के उपयोग के बजाए जहाँ तक संभव हो शस्य क्रियाओं जैविक एवं यांत्रिक विधियों के प्रयोग से कार्य किए जाते हैं।

राष्ट्रीय जैविक उत्पादन कार्यक्रम (NPOF) के अनुसार – जैविक खेती फार्म की रचना एवं प्रबंधन कर एक पारिस्थितिकी तंत्र का निमार्ण करने की पद्धति है जिससे संश्लेषित बाह्य आदानों जैसे कि रासायनिक उर्वरकों एवं पेस्टीसाइड्स के उपयोग से बिना टिकाऊ उत्पादकता प्राप्त की जा सके।

प्रमाणित जैविक कृषि

जैविक खेती को सुचारू रूप से पारदर्शी एवं उपभोक्ताओं से जोड़ने के लिए दुनिया भर में नियम कायदे बनाए हैं जिससे कि उपभोक्ताओं को प्रमाणिक रूप से जैविक उत्पाद मिल सके।

प्रमाणित जैविक कृषि में 'जैविक' शब्द एक 'लेबलिंग' मानक है जो यह दर्शाता है कि मान्यता प्राप्त संस्थाओं के द्वारा जैविक कृषि के स्वीकृत फसल उत्पादन अथवा प्रसंस्करण प्रणाली सम्बन्धित निर्धारित मानकों का उत्पादनकर्ता द्वारा पूरी तरह से पालन किया गया है। प्रमाणीकृत जैविक कृषि के तहत एकफार्म या भू–भाग के जैविक प्रमाणीकरण के लिए प्रार्थी या उत्पादक को जैविक मानकों का चरणबद्ध तरीके से अनुसरण करना होता है। ये मानक मुख्यतः निम्न बातों को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं–

- संश्लेषित रासायनिक कृषि आदानों जैसे उर्वरक, कीटनाशक तथा रोगनाशक पदार्थो के प्रयोग का कृषि उत्पादन में प्रतिबन्ध।
- ऐसे फार्मो या भूमि का उत्पादन में उपयोग जो पिछले कम से कम 2 या 3 वर्षो तक रसायनों से मुक्त रहा है।
- जैविक उत्पादों का अप्रमाणित उत्पादों से भौतिक रूप से पृथक्करण बनाये रखना।
- समय–समय पर ऐसे फर्मो/उत्पादन इकाईयों का प्रमाणीकरण संस्था द्वारा निरीक्षण व अंकेक्षण कार्य।

अवधारणा

मूल रूप से "जैविक खेती" भारतीय पद्धति है। जैविक खेती भारतवर्ष की सनातन प्राचीनतम कृषि उत्पादन पद्धति रही है। ऋषि पाराशर ने बताया – ''जंतुनाम जीवनम् कृषि'' अर्थात् कृषि का आधार भूमि में रहने वाले सूक्ष्म जीवाणु हैं। जैविक खेती जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है जीवों के सहारे की जाने वाली जीवन्त खेती है। आधुनिक जैविक खेती का सिद्धान्त सर्वप्रथम सर अल्बर्ट हावर्ड ने 1930 के दशक में इंग्लैण्ड में प्रतिपादित किया। इसे तीस व चालीस के दशक में पौध उद्योग संस्थान (आई.पी.आई.) के सर अल्बर्ट हावर्ड के कार्यदल ने आधुनिक

आयाम दिया। उन्होंने जैविक कम्पोस्ट आधारित कृषि को अपनाने पर बल दिया।

'आर्गेनिक फार्मिंग' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम लार्ड वाल्टर नार्थबोर्न ने 1940 में अपनी पुस्तक 'लुक टु दी लेण्ड' में किया था। मुख्यतया जैविक खेती की शुरूआत 1930 के दशक में यूरोप से हुई। 1924 में आस्ट्रिया के दार्शनिक डॉ. रूडोल्फ स्टेनर ने एक वैकल्पिक कृषि के रूप में 'बायोडाइनेमिक खेती' की विचारधारा का प्रतिपादन किया जो बाद में विश्व के कई देशों में व्यावसायिक रूप से अपनाई जाने लगी। लगभग इसी दौरान स्वीटजरलैण्ड और जर्मनी में डॉ. हंस मुलर ने ऐसी कृषि पद्धति का प्रतिपादन किया जिसमें फार्म को संसाधनों एवं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने वाली कृषि पद्धति पर जोर दिया गया।

लेडी एव वेलफोर ने 30 साल तक अनुसंधान कर यह बताया कि खाद्य पदार्थ उत्पादन की विधियों या पद्धतियों का, खाद्य गुणवत्ता तथा मानव एवं मृदा स्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी विचारधारा पर अमेरिका में रोडेल फेमिली द्वारा विस्तृत कार्य किया गया तथा उन्होंने 1947 में मृदा एवं स्वास्थ्य फाउन्डेशन नामक संगठन की स्थापना की। सन् 1963 में आर. कार्सन द्वारा लिखित "साइलेण्ट स्प्रिंग" नामक पुस्तक प्रकाशित होने के पश्चात् पौध एवं जीवनाशी रसायनों के दुष्परिणामों के मामले उजागर हुए तथा इससे प्रभावित होकर जैविक कृषि में रसायनों के प्रयोग पर विशेष नियम समावेशित किए गए।

1980 व 1990 के दशकों में प्रकृति, जैव विविधता संरक्षण, पशु कल्याण, सामाजिक न्याय इत्यादि पहलुओं को कृषि पद्धतियों की कार्यप्रणाली व व्यवसाय दक्षता से जोड़ा जाने लगा जिसका महत्व चहुँमुखी ग्रामीण विकास के सम्बन्ध विशेष रूप से देखा जाने लगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रचलित कृषि पद्धतियों में नए–नए पहलू जुड़ते गये और उनके समाधान स्वरूप स्थान, समय एवं विचारधारा के आधार पर विभिन्न वैकल्पिक कृषि पद्धतियों का विकास होने लगा। इन वैकल्पिक कृषि पद्धतियों को जैविक कृषि, पारिस्थितिकीय कृषि, बायोडायनेमिक, प्राकृतिक, टिकाऊ, ऋषि कृषि, यौगिक खेती, जीरो बजट नेचुरल फार्मिंग, वेगानिक्स, अग्निहोत्र कृषि, परमाकल्चर इत्यादि नामों से पुकारा जाने लगा। लेकिन 1972 में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय जैविक कृषि आन्दोलन फेडरेशन द्वारा जैविक कृषि के सिद्धान्तों, नियमों एवं कार्य प्रणाली को क्रमबद्ध कर दिया गया है जो लगभग सभी देशों के साथ–साथ विश्व खाद्य एवं कृषि संगठन, रोम तथा विश्व व्यापार संगठन द्वारा मान्यता प्राप्त है।

मूलरूप से कई चिन्तक एवं वैज्ञानिक इसे हरित क्रान्ति के दुष्प्रभावों के फलस्वरूप विकसित वैकल्पिक कृषि पद्धति के रूप में देखते है तो अन्य मानव स्वास्थ्य, पर्यावरण संरक्षण तथा जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभावों से निपटने के लिए आवश्यक अच्छी कृषि क्रियाओं की ''बास्केट ऑफ टेक्नोलाजी'' के रूप में मानते हैं। आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ''प्रकृति की और लौटो'' के मुददे पर गहन चिन्तन हो रहा है। खाद्य एवं कृषि संगठन, रोम ने वर्श 2014 को ''मृदा स्वास्थ्य वर्ष'' घोषित किया है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली ''परिवार कृषि'' पर जोर दे रहा है, राष्ट्रीय स्तर पर ''मृदा स्वास्थ्य कार्ड'' का बड़ा अभियान चलाया जा रहा है। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर ''राष्ट्रीय परम्परागत कृषि मिशन'' की शुरूआत वर्ष 2015–16 में की गई।

योजना आयोग की सिफारिश के अनुसार भारत के कुल कृषित क्षेत्रफल का 10–15 प्रतिशत क्षेत्रफल जैविक कृषि में लाया जा सकता है। विश्व के अन्य देशों के समान ही भारत में जैविक खेती को बढ़ावा देने की परिस्थितियाँ विद्यमान हैं।

जैविक खेती के सिद्धान्त

अंतराष्ट्रीय जैविक कृषि गतिविधि संघ (इंटरनेशनल फैडरेशन ऑफ ऑर्गेनिक एग्रीकल्चर मूवमेंट्स) के अनुसार जैविक खेती के चार सिद्धांत हैं:

- स्वास्थ्य का सिद्धांतः मृदा, पादप (फसल), पशु और मानव स्वास्थ्य को लगातार बनाए रखना एवं साथ ही उसमें वृद्वि करना। यदि मृदा का स्वास्थ्य अच्छा होगा तभी उसमें उगने वाली फसलों का स्वास्थ्य भी अच्छा होगा। इसी प्रकार यदि पशु अथवा मानव इन स्वस्थ पादपों (फसलों) का सेवन करेंगे तो उनका स्वास्थ्य भी अच्छा होगा।
- पारिस्थितिकी का सिद्धांतः जैविक खेती पारिस्थितिकी एवं सजीव पद्धतियों ओर चक्रों पर आधारित होनी चाहिए। जैविक खेती इन पारिस्थितिक चक्रों के साथ कार्य करें और साथ ही इनकी निरन्तरता बनाए रखने में भी सहायक होनी चाहिए।
- निष्पक्षता अथवा न्याय संगतता का सिद्धांतः जैविक खेती पर्यावरण में उपस्थित सभी जीवों के पारस्परिक संबंधों को सुदृढ़ करने पर विशेष बल देती है, जिससे कि किसी भी जीव के साथ अन्याय न हो और साथ ही उसका अत्यधिक दोहन भी न हो।
- सेवा का सिद्धांतः जैविक खेती को एक जिम्मेदारी के साथ किया जाना चाहिए, जिससे कि वर्तमान जनसंख्या और आने वाली पीढ़ियों के स्वास्थ्य हितों की अवहेलना न हो और साथ ही पर्यावरण स्वास्थ्य पर भी कोई बुरा प्रभाव न पड़े।

जैविक खेती के उद्देश्य

1. जीवन धारण करने योग्य कृषि प्रणाली विकसित करना जिससे भविष्य में आवश्यक मात्रा में पोषक खाद्य उत्पादन हो सके।
2. आत्मनिर्भर कृषि प्रणाली विकसित करना जो वास्तव में हमारे अपने संसाधनों में उपलब्ध सस्ते संसाधनों पर आधारित हों।

3. रासायनिक खेती के विकल्प के रूप में टिकाऊ खेती का विकास तथा जल स्रोतों एवं मिट्टी को प्रदूषण मुक्त रख स्वस्थ पर्यावरण का निर्माण करना।
4. उत्पादन लागत में कमी लाकर टिकाऊ खेती के तरीकों के विकास द्वारा खेती एवं कृषक को स्वावलम्बी बनाना।

जैविक खेती का महत्त्व

जैविक कृषि न केवल भूमि के स्वास्थ्य, बल्कि मानव–मात्र के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयोगी पद्धति है। इसकी बहुपक्षीय उपयोगिताओं को निम्नानुसार देखा जा सकता है–

भूमि की उर्वराशक्ति में टिकाऊपन

जैविक पद्धति में प्रयुक्त की जाने वाली विभिन्न खादें तथा तकनीकें न केवल भूमि को पोषक तत्व उपलब्ध करवाती हैं अपितु भूमि की संरचना तथा जलधारण क्षमता में भी वृद्धि करती हैं। इससे भूमि के स्वास्थ्य तथा गुणवत्ता में सुधार होता है।

पशुधन में बढ़ोतरी

पशुधन का महत्व बढ़ते मशीनीकरण एवं बदलती जीवनशैली से कम होता जा रहा है। बिना पशुधन के कृषि में टिकाऊपन बनाए रखना संभव नहीं है और न ही लाभकारी है। जैव विविधता की दृष्टि से भी यह एक अच्छा संकेत नहीं माना जा सकता। इसके विपरित जैविक पद्धति में पशुधन को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यह माना गया है कि एक एकड़ क्षेत्र में जैविक खेती के लिए एक या इससे अधिक पशुधन उपलब्ध हो तो बेहतर है।

बाह्य आदानों की लागत में कमी

जैविक पद्धति में किसान अधिकतर इनपुट जैसे–खादें तथा कीटनाशक अपने स्थानीय स्रोतों से ही बना लेता है जिसमें विभिन्न कृषि आदानों पर होने वाली लागत में कमी आती है। यद्यपि श्रम लागत में बढ़ोतरी होती है।

वातावरण की शुद्धता

परम्परागत पद्धति में प्रयुक्त किए जाने वाले हानिकारक रसायन न केवल पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं बल्कि ये कृषि हेतु लाभदायक जीवों को भी नष्ट कर देते हैं। जैविक पद्धति में इनका संतुलन बना रहता है तथा इनकी संख्या में भी बढ़ोतरी होती है।

मानव स्वास्थ्य के लिए लाभकारी

परम्परागत कृषि पद्धति में खेती हेतु प्रयुक्त किए जा रहे रसायनों के कारण वायु तथा भूमि प्रदूषण खतरनाक स्तर तक पहुँच गए है। यही नहीं इनके प्रयोग से उत्पादित होने वाले अनाज, सब्जियों तथा फलों में भी विभिन्न रसायनों के अवशेष प्राप्त हो रहे हैं। जो मानव स्वास्थ्य के लिये ''धीमा जहर'' साबित हो रहे हैं। जैविक पद्धति अपनाकर इस बिना रसायन युक्त खाद्य प्राप्त कर सकते हैं तथा इनके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली बीमारियों से भी रक्षा होगी।

कम पानी की आवश्यकता

जीवांश खादों के प्रयोग से भूमि को सिंचाई की अपेक्षाकृत कम आवश्यकता पड़ती है क्योंकि ये खादें भूमि की जल धारण क्षमता को बढ़ाती हैं। इस प्रकार सिंचाई की अपेक्षाकृत कम व्यवस्था होने पर भी किसान अच्छी फसल ले सकते है।

कृषि उत्पाद की गुणवत्ता

अधिकांशतः लोग यह जानते है कि वर्तमान में किसान दो प्रकार की पैदावार लेते हैं:– टिकाऊ तथा बिकाऊ। इनमें से टिकाऊ प्रकार की फसल का उपयोग वे स्वयं के लिये करते हैं जबकि बिकाऊ प्रकार की फसल वे बाजार के उद्देश्य से तैयार करते हैं।

मृदा में आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति

जैविक खादों के उपयोग से फसल को सभी 17 आवश्यक तत्वों की पूर्ति एक साथ हो जाती है। जहाँ अधिकांश रासायनिक उर्वरक केवल नाइट्रोजन, फॉस्फोरस तथा पोटाश पर ही केन्द्रित रहते हैं।

जैविक उत्पाद का लाभकारी मूल्य

वर्तमान में अधिकांशः उपभोक्ता रासायनिक विधियों द्वारा पोषित एवं सुरक्षित खाद्यानों तथा उत्पादों के सेवन से होने वाली हानियों के प्रति सचेत हो गए हैं, फलतः ''आर्गेनिक उत्पादों'' के नाम से अलग से दुकानें/बाजारें लगने लगी हैं जिनके लिए जागरूक उपभोक्ता 10 से 30 प्रतिशत तक अधिक मूल्य देने के लिये तैयार रहते हैं। इस प्रकार बाजार को ध्यान रखते हुए फसल का चुनाव कर जैविक पद्धति से खेती करने के अवसर का लाभ लिया जा सकता है।

भारत में जैविक खेती की उपयोगिताः– भारत में जैविक कृषि के प्रोत्साहन के लिए भारत सरकार तथा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद का विशेष जोर है जिसके प्रमुख कारणों को नीचे रेखांकित किया गया है।

1. हरित क्रांति की सूत्रधार फसलों गेहूँ– धान के उच्च उत्पादन स्तर के लिए अपनाई गई रसायनिक एवं सघन पद्धति के दुष्प्रभाव अब खुलकर सामने आ रहे हैं। यह उत्पादन स्तर भूमिगत जल संसाधनों के अत्यधिक इस्तेमाल व भूमि के बहुत ज्यादा दोहन की कीमत पर प्राप्त किया गया। इसके परिणामस्वरूप भूमिगत जलस्तर तेजी से गिरता जा रहा है और भूमि की उर्वरा शक्ति कम होती जा रही है। इन फसलों में खरपतवार, कीट और बीमारियों में वृद्धि के साथ–साथ इनमें रसायन रोधी क्षमता विकसित हो रही हैं। इन सबके कारण किसान को उत्पादन स्तर बनाए रखने के लिए पहले से कहीं ज्यादा व्यय करना पड़ता है जो सीधे तौर पर फसल के लागत मूल्य को बढ़ाने के साथ–साथ मुनाफा कम करता जा रहा है।

2. गेहूँ– धान के लगातार उत्पादन से भूमि और पौधों में कुछ विशेष तत्वों जैसे सल्फर, लोहा, ताँबा, फॉस्फोरस, मैंगनीज

आदि की कमी होने लगी है जिसके फलस्वरूप पशुओं में उत्पादन और प्रजनन क्षमता प्रभावित हो रही है। इसका प्रभाव पशुपालकों को आर्थिक नुकसान के रूप में सहन करना पड़ रहा है।

1. "दीर्घावधि उर्वरक प्रयोग" पर अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो चुका है कि बिना खादों व कार्बनिक पदार्थों के उपयोग व केवल उर्वरकों के बलबूते पर फसल की अधिकतम उपज को लगातार बनाए रखना असंभव है।
2. हमारे देश की बढ़ती खाद्यान्न आवश्यकता व कुल पोषक तत्वों की उत्पादन क्षमता का आकलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे देश की पोषक तत्वों की माँग व खपत में लगभग 8 से 10 मिलियन टन का अंतर है। अगर वर्तमान स्तर का खाद्यान्न उत्पादन बनाए रखना है तो पोषक तत्वों के वैकल्पिक स्रोतों पर विचार करना होगा तथा किसानों को इनके प्रयोगों के बारे में जानकारी देनी होगी।
3. बढ़ते हुए प्रतिस्पर्धा के युग में कृषि उपज को लागत प्रभावी बनाने की आवश्यकता है। इसके लिए कम कीमत वाले संसाधनों का उपयोग कर टिकाऊ उत्पादन करना।
4. राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निरन्तर माँग, बाजार के स्वरूप में परिवर्तन के कारण किसानों की बाजार में पहुँच, गुणात्मक उपज का उचित मूल्य एवं मूल्य नीतियों तथा निजी कम्पनियों के व्यापार तरीकों व माध्यमों की उचित जानकारी पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता बढ़ती जा रही है।
5. विश्व व्यापार सघं के नियमों का भारत में धीरे–धीरे क्रियात्मक रूप लेने से कृषि उपज के गुणात्मक स्वरूप पर उपभोक्ता, निजी कम्पनियों व व्यापारिक वर्ग का ध्यान आकर्षित होने से कृषि विधियों, खाद, बीज, सिंचाई इत्यादि घटकों के प्रयोग में एक विशेष सावधानी रखने का संकेत चारों तरफ फैल रहा है।
6. कृषि निर्यात की संभावनाओं तथा डब्ल्यू.टी.ओ. व्यापार नीति के चलते हमें गेहूँ, धान, आर्गेनिक मसाले इत्यादि के निर्यात के लिए इन फसलों की अच्छी माँग वाली किस्मों के अलावा इनकी गुणवत्ता भी अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप रखनी होगी। हमारे यहाँ उगाए जाने वाले कृषि उत्पाद जैसे फल, सब्जी, जीरा आदि गुणवत्ता, सफाई व फाइटा सेनेटेरी उपायों के अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप नहीं होते।

भारत में जैविक खेती का भविष्य

भारत में सन् 1993 में कृषि मंत्रालय द्वारा गठित तकनीकी समिति ने पहली बार सैद्वान्तिक रूप से यह अनुमोदित किया कि भारत में रासायनिक पदार्थों के खेती में अधिक उपयोग को हतोत्साहित करना चाहिए तथा क्रमबद्ध तरीके से इनका उपयोग कम किया जाना चाहिए तथा जैविक कृषि के सिद्वान्तों को लागू करना चाहिए। अप्रैल, 2000 में वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय, भात सरकार द्वारा राष्ट्रीय जैविक उत्पादन कार्यक्रम की शुरूआत की गई। सरकार द्वारा 1 जुलाई, 2001 से ऑर्गेनिक प्रोडक्ट प्रमाणीकरण के लिए चार संस्थाओं, स्पाइस बोर्ड, टी बोर्ड, कॉफी बोर्ड एवं एपीडा को अधिकृत एजेन्सी बनाया गया। दसवीं पंचवर्षीय योजना के तहत भारत सरकार ने जैविक खेती को राष्ट्रीय प्राथमिकता क्षेत्र घोषित किया। वर्ष 2004 में राष्ट्रीय जैविक खेती केन्द्र, गाजियाबाद (उत्तरप्रदेश) में स्थापित किया गया। 18 जनवरी, 2016 को सिक्किम को देश का प्रथम जैविक राज्य घोषित किया गया। राष्ट्रीय टिकाऊ कृषि मिशन (NMSA), परम्परागत कृषि विकास योजना (PKVY), राष्ट्रीय कृषि विकास योजना (RKVY), एकीकृतबागवानी विकास मिशन (MIDH), राष्ट्रीय तिलहन बीज एवं ऑयल पाम मिशन (NMOOP) तथा भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के जैविक खेती नेटवर्क परियोजना के माध्यम से जैविक खेती को विभिन्न अनुसंधान एवं विस्तार कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया जा रहा है।

वर्तमान में जैविक खेती विश्व के लगभग 179 देशों में 509 लाख हैक्टर भूमि पर 24 लाख कृषकों द्वारा की जा रही है (FiBL & IFOAM Year Book 2017)। जैविक खेती का विस्तार हो रहा है। वर्ष 2015–16 में भारत में जैविक खेती के अंतर्गत कुल 57.1 लाख हेक्टेयर प्रमाणित क्षेत्र था। जिसमें से 42.2 लाख हेक्टेयर वन्य/जंगली और 14.9 लाख हेक्टेयर कर्षित क्षेत्र था। वर्ष 2015–16 में 13.5 लाख टन जैविक उत्पादों का उत्पादन किया गया। मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, उत्तराखंड, केरल, कर्नाटक, असम, सिक्किम और अन्य उत्तर–पूर्वी राज्य जैविक खेती को अपनाने वाले प्रमुख राज्य हैं। इसमें सोयाबीन, कपास, गन्ना, तिलहन, दलहन, बासमती धान, मसाले, चाय, फल, सूखे फल, सब्जियाँ, कॉफी और उनसे प्राप्त मूल्य संवर्धित उत्पाद शामिल हैं।

भारत में निम्न कारणों से जैविक खेती की प्रचुर संभावनाएँ हैं–

1. **संसाधनों की उपलब्धता** – देश की विविध जलवायु, अपार प्राकृतिक सम्पदा, समृद्ध पशुधन, उपभोक्ता बाजार, रासायनिक उर्वरकों के प्रति इकाई क्षेत्र में कम खपत, इत्यादि के कारण देश में जैविक खेती की प्रचुर संभावनाएँ हैं। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में श्रम की उपलब्धता सस्ती व आसान होने से भारतीय जैविक उत्पाद विश्व स्तर पर अधिक प्रतिस्पर्धी सिद्ध हो सकते हैं।
2. **प्रति इकाई क्षेत्र में पेस्टीसाइड एवं उर्वरकों की कम मात्रा का उपयोग** – भारत में अधिकतर छोटे और मध्यम श्रेणी के कृषकों के खेतों पर प्रति इकाई क्षेत्रों में रासायनिक उर्वरकों उवं अकार्बनिक पदार्थों की खपत

अन्य देशों की तुलना में कम है। भारत का वर्ष 2014 में औसत उर्वरक एवं पेस्टीसाइड की खपत क्रमाशः 128 किग्रा./हे. तथा 310 ग्राम प्रतिहेक्टेयर था। इसी प्रकार नत्रजन, फॉस्फोरस एवं सूक्ष्म तत्वों पोटाश की पोषक तत्व उपयोग दक्षता 33, 15 एवं 20 प्रतिशत थी जो कि कम है। साथ ही देश के पहाड़ी व उत्तर–पूर्वी राज्यों में जहाँ उर्वरक उपयोग 25 से 50 किग्रा. प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष है, ऐसे क्षेत्र में कृषकों के खेतों पर जैविक खेती से अधिक फायदा लिया जा सकता है। भारत में आज भी कई गाँवों में कृषक परम्परागत पद्धति से खेती कर रहे हैं जिसमें फसलों के साथ पशुपालन, वानिकी व चरागाह प्रबंधन में सामंजस्य से जीवन यापन कर रहे हैं। ऐसे किसान जैविक खेती के घटकों को अपनाकर बिना रसायनों के खेती कर लाभ ले सकते हैं।

3. **कार्बनिक अवशिष्टों की उपलब्धता** – भारत में काफी मात्रा में प्रतिवर्ष कार्बनिक अवशिष्टों का उत्पादन होता है। देश में प्रतिवर्ष उपलब्ध 280 मिलियन टन गोबर, 273 मिलियन टन फसल अवशेष, 6351 मिलियन टन कूड़ा–करकट तथा 22 मिलियन हेक्टेयर में उगाई जाने वाली दलहनी फसलों का उचित उपयोग कर जैविक माध्यम से फसलों की पोषक तत्वों की माँग पूरी की जा सकती है।
4. **निर्यात की संभावना** – भारत में विविध जलवायु के कारण गुणवत्तायुक्त फसलें जैसे मसाले, औषधीय एवं संगधीय फसलें, बासमती व अन्य चावल, फल, सब्जियाँ, कपास, चाय, कॉफी, ड्यूरम (काठिया) गेहूँ आदि की जैविक खेती की जाकर तथा उनका निर्यात कर विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है। इस प्रकार जैविक खेती से प्राकृतिक संसाधन सुरक्षित रख कर देश को स्वावलम्बी बना सकते हैं।
5. **प्रमाणीकरण संस्थाओं की उपलब्धता** – जैविक खेती की मुख्य समस्या है जैविक उत्पादों का प्रमाणीकरण। जैविक उत्पादों का विदेशी प्रमाणीकरण संस्थाओं द्वारा प्रमाणीकरण की प्रक्रिया काफी महंगी पड़ती है। परन्तु आज देश में 26 से ज्यादा संस्थाओं को सरकार ने अधिकृत कर जैविक प्रमाणीकरण के कार्य को सुविधाजनक कर दिया है। साथ ही सहभागिता गारण्टी पद्धति से आम किसान भी बहुत कम लागत में जैविक प्रमाणीकरण करवा सकता है।

2.2 जीवांश खाद एवं उनकी उपयोगिता

जल, वायु तथा प्रकाश के अतिरिक्त जीवों के लिए प्रकृति की सबसे महान देन भूमि है। यदि भूमि की उर्वरता एवं उत्पादकता कम रहेगी तो उत्पादन कम हो सकता है। इसलिए हमको धरती–माता की भूख मिटाने के लिए कोई कसर नहीं रखनी चाहिए। धरती माता के सपूत, जो धरती की हर प्रकार की भूख–प्यास की चिन्ता करते हैं, धरती–माता के धन के सच्चे अधिकारी हैं।'' – महात्मा गाँधी

एक लोकोक्ति है ''खाद पड़ें तो खेत, नहीं तो मिट्टी रेत'' अर्थात् खेत खाद से ही बनता है नहीं तो केवल मिट्टी रेत ही है। अतः खाद से ही खेत की उत्पादन क्षमता बढ़ती है।

खाद– पौधों को आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति के लिए वे सभी कार्बनिक पदार्थ जो भूमि में मिलाये जाने पर, भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाते हैं, खाद कहलाते हैं।

खाद का अभिप्राय प्राकृतिक पदार्थों से है। इनमें पशु–पक्षियों का मल–मूत्र, पेड़–पौधे, घास–चारा आदि के अवशेष सम्मिलित होते हैं। स्थूल कार्बनिक खादों में गोबर की खाद, कम्पोस्ट, हरी खाद आदि व सान्द्रित कार्बनिक खादों में खलियाँ, हड्डी की खाद आदि आते हैं।

खाद शब्द की उत्पत्ति संभवतया संस्कृत के शब्द 'खाद्य' से हुई, जिसका अर्थ भोजन से है। भोजन संतुलित एवं पूर्ण हो, तभी पेड़–पौधे अपनी वृद्धि एवं विकास पूर्णरूपेण कर सकते हैं। ऐसा संतुलित एवं पूर्ण भोजन पौधों को केवल जीवांश खाद से ही प्राप्त हो सकता है।

जीवांश शब्द का सन्धि विच्छेद है– जीव + अंश। अतः जीवांश खाद उस खाद को कहते हैं, जिसमें जीव का अंश हो, ऐसी खाद को प्राकृतिक या जैविक या कार्बनिक खाद भी कहते हैं। जीवांश खाद में मुख्यतः गोबर की खाद, हरी खाद, कम्पोस्ट, खली की खाद, हड्डी की खाद, पोल्ट्री खाद, मछली की खाद, रक्त की खाद, मानव विष्टा की खाद आदि आती है। जैविक उर्वरक जैसे राइजोबियम, एजोटोबेक्टर, नील हरित शैवाल आदि भी जीवांश खाद ही हैं।

जीवांश खादों की उपयोगिता

सघन खेती में समन्वित पौध पोषण प्रणाली का एक महत्वपूर्ण स्थान है। भारत में ही नहीं अपितु विश्व में कृषि उत्पादन में 50 प्रतिशत वृद्वि रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से ही हुई। वर्तमान समय में उच्च विश्लेषण उर्वरकों जैसे यूरिया, डाइअमोनियम फॉस्फेट और म्यूरेट ऑफ पोटाश के अधिक प्रचलन के कारण मृदा में गौण व सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी आ रही है। भारत में 47 प्रतिशत मृदाओं में जस्ता, 11.5 प्रतिशत में लोहा, 4.8 प्रतिशत में ताँबा तथा 4 प्रतिशत मृदाओं में मैंगनीज की कमी है जिनका प्रभाव फसलों पर पड़ रहा है। दलहन, तिलहन तथा अधिक उपज देने वाली फसलों में गन्धक प्रयोग आवश्यक हो गया है। भारतीय मृदाओं में जैविक कार्बन की सर्वत्र कमी है। जीवांश खादें जैसे गोबर की खाद, हरी खाद, जैव उर्वरक, कम्पोस्ट आदि मृदा उर्वरता बनाये रखने, उत्पादन को स्थिर रखने एवं पोषक तत्वों का सही परिणाम प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। जीवांश खादों का प्रभाव न केवल एक फसल तक ही सीमित नहीं रहता है बल्कि उनका प्रभाव 2–3 वर्षों तक रहता है जीवांश खादों के उपयोग से मृदा में जैविक कार्बन स्तर में भी सुधार आता है।

पौधों को अपना जीवन पूर्ण करने के लिए 17 पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है जोकि केवल उर्वरकों के प्रयोग से पूर्ण नहीं की जा सकती है। आवश्यक मात्रा में जीवांश खादों के प्रयोग से प्रमुख तत्वों के साथ–साथ गौण व सूक्ष्म पोषक तत्वों की पूर्ति भी आसानी से हो जाती है। जैविक खेती में फसल को पोषक तत्वों की आपूर्ति के लिए संश्लेषित उर्वरकों का प्रयोग वर्जित है अतः जैविक खेती पूर्णतया कार्बनिक या जीवांश खादों पर ही निर्भर है। इसलिए जैविक खेती में जीवांश खादों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

जीवांश खाद के उपयोग से मृदा की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक तीनों ही अवस्थाओं में सुधार होता है। इसकी उपयोगिता निम्न बिंदुओं से स्पष्ट है–

(i) मृदा की भौतिक अवस्था पर प्रभाव

1. भूमि की संरचना में सुधार होता है। रेतीली हल्की मिट्टी सघन तथा दानेदार संरचना की हो जाती है। भारी भूमि हल्की तथा भुरभुरी हो जाती है।
2. मृदा की जलधारण क्षमता में वृद्धि होती है।
3. मृदा में वायु संचार में वृद्धि होती है।
4. पानी व वायु द्वारा मृदा अपरदन कम हो जाता है, जिससे मृदा संरक्षण होता है।
5. मृदा ताप नियंत्रण में रहता है।
6. पौधों की जड़ों का विकास अच्छा होता है।
7. भूमि में जल निकास अच्छा हो जाता है।

(ii) मृदा की रासायनिक अवस्था पर प्रभाव

1. पौधों को सभी आवश्यक पोषक तत्वों की पूर्ति के साथ–साथ हारमोन्स व एन्टीबायोटिक्स की भी प्राप्ति होती है जो विशेष लाभकारी होते हैं।
2. क्षारीय मृदा का पी.एच. मान कम हो जाता है।
3. मृदा की क्षारीयता तथा लवणीयता में सुधार होता है।
4. मृदा में कार्बन की मात्रा बढ़ जाती है।
5. मृदा में पाये जाने वाले विषैले पदार्थों का प्रभाव कम हो जाता है।
6. जीवांश खाद के उपयोग व अपघटन से मृदा में स्थिर तत्व विलेयशील होकर पौधों को आसानी से उपलब्ध होते हैं।
7. मृदा की उभय प्रतिरोधी क्षमता बढ़ती है।
8. मृदा की धनायन विनिमय क्षमता में वृद्धि होती है।

(iii) मृदा की जैविक अवस्था पर प्रभाव

1. मृदा में लाभदायक जीवाणुओं की संख्या में वृद्धि होती है।
2. जीवाणुओं की क्रियाशीलता में वृद्धि होने के कारण पौधों को पोषक तत्व प्राप्त होते रहते हैं।
3. जीवांश खादें सूक्ष्म जीवों के लिए भोजन व उर्जा प्रदान करती हैं जिससे सूक्ष्म जीवों द्वारा मृदा में होने वाली क्रियाएँ जैसे– नाइट्रीकरण, अमोनीकरण (ऑक्सीकरण) तथा नाइट्रोजन स्थिरीकरण में बढ़ोतरी हो जाती है।
4. मृदा में वायु से नाइट्रोजन का स्थिरीकरण तीव्र गति से होने लगता है।
5. जीवाणु जटिल पदार्थों को विच्छेदित कर आयनिक रूप में पौधों को उपलब्ध कराते हैं।

अतः जीवांश खाद के उपयोग से मृदा की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक अवस्थाओं में सुधार होने पर मृदा से फसलों का टिकाऊ उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। कार्बनिक खादों के साथ–साथ रासायनिक उर्वरकों के संतुलित उपयोग से न केवल अधिकतम उपज ली जा सकती है, बल्कि दीर्घ अवधि तक इनके प्रयोग से भूमि के उर्वरता स्तर में भी सुधार किया जा सकता है।

जीवांश खाद का वर्गीकरण – जीवांश खादों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है–

- स्थूल कार्बनिक खादें – ऐसी जीवांश खादों में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा अधिक एवं पोषक तत्वों की मात्रा कम होती है। जैसे – गोबर की खाद, कम्पोस्ट, वर्मीकम्पोस्ट, हरी खाद, मानव विष्ठा, चिड़ियों की बीट, अपवक, गंदे नालों की खाद, मैले की खाद आदि।
- सान्द्र कार्बनिक खादें – ऐसी जीवांश खादों में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा कम एवं पोषक तत्वों की मात्रा अधिक होती है। जैसे – खलियाँ, हड्डी का चूरा, सूखा रक्त, मछली की खाद आदि।

2.3 जीवांश खादें बनाने की विधि एवं प्रयोग

2.3.1. गोबर की खाद

गोबर की खाद का प्रयोग हमारे देश में प्राचीन काल से हो रहा है। गोबर की खाद से तात्पर्य ऐसी खाद से है जिसमें घरेलु पशुओं (गाय, भैंस, बैल, भेड़, बकरी, ऊँट आदि) के ठोस तथा द्रव मल–मूत्र से सनी बिछावन (पुआल, भूसा, चारा, पेड़–पौधों की पत्तियाँ, रेत आदि) को गड्ढों में सड़ाकर तैयार किया जाता है।

गोबर की खाद के मुख्य घटक – गोबर की खाद के तीन मुख्य घटक (अवयव) गोबर, मूत्र और बिछावन हैं।

1. **गोबर** – पशुओं के मल (गोबर) के ठोस पदार्थ में कई अघुलनशील व बिना पचे पदार्थ होते है। इसके अतिरिक्त 0.3–0.7 प्रतिशत नाइट्रोजन, 0.25 प्रतिशत फॉस्फोरस व 0.3–0.5 प्रतिशत पोटेशियम तथा कुछ गौण व सूक्ष्म पोषक तत्व आदि होते है।
2. **मूत्र** – मूत्र का मुख्य अवयव यूरिया है, यह 2 प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त मूत्र में अनेक रासायनिक पदार्थ घुलनशील अवस्था में होते हैं। मूत्र में नाइट्रोजन 0.4–1.35 प्रतिशत, फॉस्फोरस 0.05–0.10 प्रतिशत व पोटेशियम 0.5–2.0 प्रतिशत होता है।

3. **बिछावन** – पशुओं के मूत्र को शोषित करने के लिये बिछावन का प्रयोग करते है। बिछावन में पौधे के लिये आवश्यक पोषक तत्व भी उपलब्ध अवस्था में पाये जाते हैं। बिछावन से खाद के ढ़ेर में वायु का संचार अच्छा होता है, जिससे जीवाणुओं की क्रियाशीलता बढ़ती है तथा खाद सड़ने में मदद मिलती है।

गोबर की खाद में पोषक तत्व – गोबर की खाद में सभी पोषक तत्व जैसे– नाइट्रोजन, फॉस्फोरस, पोटेशियम, कैल्शियम, मैग्नीशियम, गंधक, लोहा, ताँबा, जस्ता, मैंगनीज आदि पाये जाते हैं।

गोबर की खाद में मुख्य तत्वों की मात्रा – नाइट्रोजन 0.5 प्रतिशत, फॉस्फोरस 0.25 प्रतिशत एवं पोटेशियम 0.5 प्रतिशत।

गोबर की खाद में उपस्थित तत्वों की मात्रा, पशुओं की किस्म, पशुओं की आयु, उनके भोजन, कार्य, बिछावन व खाद संग्रह करने की विधि पर निर्भर करती है।

गोबर की खाद तैयार करने की विधि –

1. **वर्तमान प्रचलित विधि** – हमारे देश में गोबर की खाद तैयार करने की वर्तमान प्रचलित विधि दोषपूर्ण है। इससे प्राप्त खाद में पोषक तत्वों की मात्रा कम होती है व खाद की गुणवत्ता निम्न स्तर की होती है। मिट्टी द्वारा सोखा गया मूत्र तथा बचा हुआ चारा ढेर के रूप में खुले गड्ढों में इकट्ठा कर लेते हैं। अधिकांश गोबर को ईंधन के रूप में काम में लिया जाता है।
2. **संशोधित गड्ढा विधि** –इस विधि से खाद बनाने के लिये एक पशु के लिए 1.10 मीटर गहरा, 2.0 मीटर चौड़ा व 3. 0 मीटर लम्बा गड्ढा एक वर्ष के लिए पर्याप्त रहता है। पशुओं की संख्या अधिक होने पर गड्ढों की गहराई, लम्बाई व चौड़ाई बढ़ाने की अपेक्षा उनकी संख्या बढ़ाना उचित रहता है। रेतीली भूमि में गड्ढे पक्के बनाने चाहिए जिससे पोषक तत्वों का ह्रास रिसकर न हों। चिकनी भूमि में पक्के व कच्चे दोनों प्रकार के गड्ढे बनाये जा सकते है। गड्ढे छायादार व ऊँचे स्थान पर बनाने चाहिये जिससे वर्षा का पानी गड्ढो में न भरे।

   सर्वप्रथम गड्ढे के पैंदे में 10–20 सेमी. की परत चारे या बिछावन की लगानी चाहिये। इसके बाद गोबर व मूत्र की 75–100 सेमी. परत डालनी चाहिए। तीसरी परत पुनः बिछावन की 75–100 से.मी. मोटी डालें। इस क्रम में गड्ढे की भराई भूमि सतह से 50 सेमी. ऊँचाई तक करें। इसके बाद ढेर को समतल कर 10 सेमी. मिट्टी की परत से गड्ढे को बन्द कर देना चाहिए। गड्ढे में खाद 5–6 माह में सड़कर तैयार हो जाता है।
3. **ट्रेंच विधि** – इस विधि में 6.0 मीटर लम्बाई, 1.5 मीटर चौड़ाई व 1.0 मीटर गहराई की ट्रेंच (खाई या नाली) तैयार की जाती है। इस विधि में ट्रेंच की लम्बाई बढ़ाई जा सकती है, परन्तु गहराई नहीं बढ़ाते है। इस विधि में बिछावन, मल–मूत्र आदि को गड्ढे के आधे भाग में भरते हैं। जब गड्ढे का आधा भाग भरते–भरते भूतल से आधा मीटर ऊँचा हो जाता है तो उसे गोलाकार या डोम आकार का रूप देकर गोबर तथा मिट्टी के मिश्रण से लेप देते हैं।

   आधा भाग भर जाने के पश्चात् गड्ढे के दूसरे भाग को भर कर इसी प्रकार लेप करते हैं। इस विधि की विशेषता यह है कि जब तीन माह में दूसरा ढ़ेर बनता है तब तक पहले ढ़ेर की खाद सड़कर प्रयोग के लिये तैयार हो जाती है। इस तरह एक ही गड्ढे से पूरे वर्ष सड़ी हुई खाद खेत मे देने के लिए प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार तैयार की गई खाद में नाइट्रोजन की मात्रा भी अधिक होती है।

सड़ी हुई गोबर की खाद की पहचान– अच्छी सड़ी हुई गोबर का कोई भी घटक अलग से नही दिखाई देता है, खाद में किसी तरह की दुर्गन्ध नहीं आती है, खाद भुरभुरी तथा उसका रंग हल्का भूरा होता है।

गोबर के खाद की प्रयोग विधि – साधारणतया सभी फसलों में 10–15 टन प्रति हेक्टेयर व सब्जियों में 20–25 टन प्रति हेक्टेयर गोबर की खाद की मात्रा प्रयोग में लेते हैं। बुआई के 3–4 सप्ताह पूर्व अच्छी सड़ी हुई गोबर की खाद का प्रयोग करते हैं। खेत में खाद को समान रूप से बिखेरकर हल से जुताई करके मिट्टी में मिलाते हैं। खेत में खाद डालने के बाद ज्यादा समय तक खुले में नही छोड़ना चाहिए अन्यथा खाद से नाइट्रोजन का ह्रास होता है। यदि खेत में कुछ समय के लिए खाद को खुला छोड़ना हो तो छोटी–छोटी ढेरियाँ नहीं करके बड़े ढेर के रूप में ही खाद को खेत में खुला छोड़ें।

2.3.2. कम्पोस्ट

कम्पोस्टिंग एक जैव–रासायनिक क्रिया जिसमें वायवीय तथा अवायवीय जीवाणु कार्बनिक पदार्थो को विघटित कर बारीक खाद बनाते हैं। यह पूर्ण सड़ा हुआ कार्बनिक पदार्थ की कम्पोस्ट कहलाता है। भारत में तैयार किया जाने वाला कम्पोस्ट इस प्रकार है –

1. **फार्म अवशिष्टों से तैयार कम्पोस्ट** – इसमें खरपतवार, फसल अवशेष, पशुओं का बचा हुआ चारा, पेड़–पौधों की पत्तियाँ आदि काम में लिये जाते हैं।
2. **शहर व कस्बों के अवशिष्ट से तैयार कम्पोस्ट** – यह शहर का मल, कूड़ा–करकट अन्य कार्बनिक कचरा आदि से तैयार किया जाता है।

कम्पोस्ट बनाने की विधियाँ

1. इन्दौर विधि
2. बंगलौर विधि
3. नेडेप विधि

1. **इन्दौर विधि** – यह विधि ए. होवार्ड तथा यशवन्त डी. वाड के द्वारा **''इन्स्टीट्यूट ऑफ प्लांट न्यूट्रीशन''** इन्दौर में वर्ष 1924 से 1931 के मध्य विकसित की गई। इस कारण इसको इन्दौर विधि कहते हैं। इस विधि में पशुओं के गोबर, फसलों व पौधों के अवशेष तथा अन्य अवशिष्टों का प्रयोग कर कम्पोस्ट तैयार की जाती है।

इस विधि में कम्पोस्ट वायवीय दशा में चार माह में तैयार हो जाती है।

विधि – इन्दौर विधि से कम्पोस्ट बनाने की विधि इस प्रकार है –

1. **गड्ढे का आकार** – गड्ढे की लम्बाई 10 फीट या आवश्यकतानुसार बढ़ा सकते हैं। गड्ढे की चौड़ाई 6–8 फीट रखते हैं तथा गहराई 2–3 फीट रखते हैं। गड्ढे की गहराई 3 फीट से अधिक नहीं रखनी चाहिए। गड्ढा सदैव ढालू जगह पर बनाना चाहिए।

2. **कम्पोस्ट बनाने के लिये आवश्यक सामग्री** –
   (अ) पौधों व फसलों के अवशेष, खरपतवार, गन्ने की पत्तियाँ, लकड़ी की राख, धान की चूरी आदि मिश्रण।
   (ब) पशुओं की गोबर बिछावन सहित।
   (स) पशुओं के मूत्र से सोखी हुई मिट्टी भी कम्पोस्ट में काम में लेते हैं।
   (द) लकड़ी की राख, जो कम्पोस्ट की अम्लीयता कम करती है तथा पोटाश की मात्रा बढ़ाती है।

3. **गड्ढ़ा भरने की विधि** – गड्ढे के प्रत्येक भाग में अपशिष्ट अलग–अलग परत में भरते है। पहली परत में पशुशाला से इकट्ठे किये गये कचरे की 3 इंच माटी परत रैक की सहायता से फैला देते हैं। अगर लकड़ी की राख उपलब्ध हो तो पशु मूत्र व कीचड़ के साथ उसके ऊपर फैला दें। उसके ऊपर 2 इंच मोटी गोबर की परत बिछाकर उसके ऊपर हल्की मिट्टी बिखेर देते हैं। पूरी सामग्री को गीला करने के लिए पर्याप्त मात्रा में पानी का छिड़काव करते हैं। इस प्रकार परत के बाद परत लगाते हुये गड्ढे को भरते है। गड्ढे को तब तक भरते रहें जब तक पूरी सामग्री की परत जमीन से एक फीट ऊपर तक न हो जाए। गड्ढे की लम्बाई के तीन–चौथाई भाग के भरने में 6–7 दिन से अधिक समय नहीं लगाना चाहिये तथा एक–चौथाई भाग को पलटने के लिए खाली रखना चाहिए। अन्त में बिछावन के साथ तथा पशु मूत्र की एक परत लगानी चाहिए। सुबह–सायं पानी का छिड़काव करें तथा इसे तीन बार दोहरायें। इस प्रकार कूड़े–करकट तथा गोबर द्वारा प्रचुर मात्रा में पानी सोख लिया जाता है तथा इसका प्रारम्भ हो जाता है, जिससे ढेर धीरे–धीरे सिकुड़ने लगता है। पूरे खाद को हफ्ते मे एक बार पलट दें। पहली, दूसरी व तीसरी पलटाई के समय पानी से भली भाँति गीला करते रहें।

4. **कम्पोस्ट को पलटना** – जीवाणुओं द्वारा विघटन के लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण सामग्री को भली–भाँति पलटकर मिला दिया जाए, ताकि वायु व नमी प्रचुर मात्रा में मिल सके। गड्ढों में सामग्री दबकर भूमि की सतह तक आ जायें तब गड्ढा भरने के 10–15 दिन बाद पूरा अपशिष्ट पलट दें। इस क्रिया में ऊपर का अपशिष्ट नीचे व नीचे का अपशिष्ट ऊपर आ जाता है। इसके बाद पानी का अच्छी प्रकार छिड़काव कर अपशिष्ट को नम कर लें। पहली पलटाई के बाद दूसरी पलटाई 15 दिन बाद करें तथा अन्तिम पलटाई दो माह बाद करें। तीन माह बाद अच्छी कम्पोस्ट तैयार हो जाती है।

वर्षा ऋतु में इस पद्धति से कम्पोस्ट जमीन के ऊपर ढेर बनाकर भी तैयार की जा सकती है लेकिन ढेर की ऊँचाई 2 फीट से अधिक नहीं होनी चाहिए।

2. **बैंगलोर विधि** – इस विधि का विकास सी.एन. आचार्य ने इण्डियन इन्सटीट्यूट ऑफ साइन्स, बैंगलोर में किया। यह एक अवायुवीय विधि है तथा इस विधि का प्रयोग शहरी क्षेत्रों में खाद बनाने के लिए किया जाता है। इस विधि की मुख्य विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत खाद की पलटाई नहीं की जाती है।

   इस विधि से खाद तैयार करने के लिए सर्वप्रथम खाइयाँ या ट्रेंच तैयार की जाती है। ट्रैचों का आकार शहर की आबादी पर निर्भर करता है। ट्रेंच की तली में 8'' से 10'' मोटी अवशेष पदार्थों की एक तह बिछाई जाती है। इसके ऊपर मानव विष्टा की 2'' मोटी तह बिछाते हैं । कचरा एवं विष्टा की एक तह के बाद दूसरी तह लगाते हुए भूतल से लगभग एक फुट ऊँचा कर लेते हैं। इसके बाद इसको 2.5 सेमी. मिट्टी की परत से ढक कर गोबर से लिपाई कर देते हैं। इस विधि में इन्दौर विधि की अपेक्षा श्रम की आवश्यकता कम होती है। इस विधि में पूर्ण विघटित खाद की मात्रा इन्दौर विधि से ज्यादा प्राप्त होती है।

3. **नेडेप कम्पोसट** – यह विधि महाराष्ट्र के कृषक नाडेप काका द्वारा विकसित की गई। इस विधि में निम्न सामग्री काम में ली जाती है।
   (अ) फार्म अवशेष, अपशिष्ट, कम्पोस्ट बनाने के लिये आवश्यक सामग्री– कपास व अरहर के डंठल, गन्ने की पत्तियाँ आदि करीब 1400–1500 किग्रा.।
   (ब) पशुओं की गोबर–90–100 किग्रा. (8–10 टोकरी)।
   (स) सूखी छनी मृदा– 1750 किग्रा. (120 टोकरी, पशुमूत्रयुक्त मिट्टी अधिक लाभकारी होती है)।
   (द) पानी मौसम अनुसार (वर्षा में कम तथा शुष्क मौसम में प्रचुर मात्रा में 1500–2000 लीटर होती है)।

   इस विधि में पशुओं के गोबर का कम प्रयोग किया जाता है। इस विधि में वायवीय प्रक्रिया द्वारा कार्बनिक पदार्थो का विघटन होता है तथा कम्पोस्ट तैयार होने में 90–120 दिन का समय लगता है। इस विधि से तैयार कम्पोस्ट में 0.5 –1.5 प्रतिशत नाइट्रोजन, 0.5–0.9 प्रतिशत फॉस्फोरस व 1.2–1.4 प्रतिशत पोटाश होता है।

नेडेप कम्पोस्ट टैंक – ईटें या पत्थर आदि से जमीन के ऊपर टैंक (होदी) तैयार की जाती है। टैंक का आकार आयताकार जिसके अन्दर की लम्बाई 10 फीट, चौड़ाई 6 फीट तथा ऊँचाई 9 फीट रखते हैं। टैंक की दीवार 9 इंच मोटी होनी चाहिए। ईंटों की जुड़ाई मिट्टी से करते है,

सिर्फ टैंक की ऊपरी ईंटें सीमेन्ट से जोड़ते है जिससे टैंक गिरने का डर न रहें। हवा के आवागमन के लिए टैंक की चारों दीवारों में 7 इंच चौड़े छेद छोड़ने चाहिए। ईंट की दो परत के बाद तीसरी परत को जोड़ते समय प्रत्येक ईंट की जुड़ाई के बाद 7 इंच का छेद छोड़कर जुड़ाई करते हैं। इस प्रकार तीसरी, छठी तथा नवीं परत में छेद रखते हैं। यह छिद्र एकान्तर में छोड़े जाते हैं, एक के ऊपर दूसरा छिद्र न आये यह ध्यान रखना चाहिए। टैंक के अन्दर व बाहर की दीवारों और फर्श को टैंक भरने से पूर्व गोबर व मिट्टी के मिश्रण से भली प्रकार लीप देना चाहिए। टैंक सूखने के बाद ही प्रयोग में लायें।

टैंक भरने की विधि – टैंक भरने से पूर्व गोबर के घोल का छिड़काव टैंक के नीचे तथा दीवारों के अन्दर कर लेना चाहिए। टैंक की भराई 48 घण्टों में पूर्ण कर लेनी चाहिए अन्यथा कम्पोस्ट बनने की प्रक्रिया में बाधा आती है।

प्रथम परत (वानस्पतिक पदार्थ) – पहली 6 इन्च की परत फार्म के वानस्पतिक अवशेषों से भर देनी चाहिए, जो करीब 100 किग्रा. होते हैं।

दूसरी परत (गोबर का घोल) – गोबर या गोबर की लेही (करीब 4–5 किग्रा. गोबर को 125–150 लीटर पानी में घोल) का पहली परत पर एकसार छिड़काव करते हैं।

तीसरी परत (साफ सूखी छनी मिट्टी) – इस परत में 50–60 किग्रा. (4–5 टोकरी) साफ सूखी छनी मिट्टी की परत एकसार बिछा देते हैं तथा इसके ऊपर पानी का छिड़काव कर गीला कर लेते हैं।

इस प्रकार के तीन क्रमों में टैंक में परत बनाते रहते हैं जब तक ढेर टैंक दीवारों से 1.5 फीट ऊपर तक न आ जाये। साधारणतया 11–12 तहों में टैंक भर जाता है। टैंक के ऊपरी भाग को झोपड़ीनुमा आकार देते हैं। टैंक भरने के बाद ढक देते है तथा 3 इंच मोटी मिट्टी की परत (करीब 300–400 किग्रा. मिट्टी) की सहायता से अच्छी तरह बन्द कर देते हैं। इस बात का ध्यान रखें की टैंक के ढेर में दरार न पड़े क्योकि दरारों से गैस निकलती रहती है इसलिये इसके ऊपर पुनः लीपन करते रहें।

दूसरी भराई –15–20 दिन बाद कूड़ा–करकट दबकर नीचे बैठ जाता है तथा टैंक करीब 8–9 इंच तक खाली हो जाता है इसको उपरोक्त क्रमानुसार तीन परतों में भरकर गोबर व मिट्टी से लीप देना चाहिए। इस विधि से कम्पोस्ट तैयार होने में 3–4 माह का समय लगता है। कम्पोस्ट में 15–20 प्रतिशत नमी बनाये रखने के लिए गोबर व पानी के मिश्रण का छिड़काव करें, जिससे खाद में आवश्यक पोषक तत्व संरक्षित रह सकें।

साधारणतया एक टैंक से 160–175 घन फीट कम्पोस्ट जिसका वजन 3 टन के करीब होता है, प्राप्त होता है।

कम्पोस्ट प्रयोग विधि – सिफारिशानुसार (सामान्यता फसलों में 10–15 टन प्रति हेक्टेयर, सब्जियों में 20–25 टन प्रति हेक्टेयर) कम्पोस्ट की मात्रा को बुआई के 3–4 सप्ताह पूर्व खेत में डालकर हल चलाकर मिट्टी में भली–भाँति मिला लेना चाहिए।

2.3.3. वर्मीकम्पोस्ट

केंचुओं द्वारा कृषि अवशिष्ट को पचाकर उत्तम किस्म का कम्पोस्ट बनाया जाता है, जो वर्मीकम्पोस्ट कहलाता है। केचुएँ के अपशिष्ट मल, उनके कोकून सभी प्रकार के लाभकारी सूक्ष्म जीवाणु, मुख्य एवं सूक्ष्म पोषक तत्व और विघटित जैविक पदार्थो का मिश्रण वर्मीकम्पोस्ट कहलाता है। प्रकृति ने केंचुओं को अद्भुत क्षमता प्रदान की है। वे स्वयं के भार से अधिक मल–मूत्र का त्यागकर उत्कृष्ट कोटि का कम्पोस्ट बना सकते है। वर्मीकम्पोस्ट बना सकते है। वर्मीकम्पोस्ट में 1.2–2.5 प्रतिशत नाइट्रोजन, 1.6–1.8 प्रतिशत फॉस्फोरस तथा 1.0–1.5 प्रतिशत पोटाश की मात्रा पाई जाती है। इस कम्पोस्ट में एक्टीनोमाइसिटीज की मात्रा गोबर की खाद की तुलना में 8 गुना अधिक पाई जाती है। इसके अतिरिक्त वर्मीकम्पोस्ट में सूक्ष्म पोषक तत्व संतुलित मात्रा में तथा एन्जाइम व विटामिन भी पाये जाते हैं।

केंचुओं के प्रकार – प्रकृति में लगभग 700 किस्म के केचुएँ पाये जाते हैं। इनमें से 293 प्रजातियों को लाभकारी पाया गया है। मुख्यतया तीन प्रकार के केचुएँ अधिक लाभकारी हैं।

1. **एपिजिक** – ये भूमि में एक मीटर की गहराई तक ही जाते हैं और कृषि अपशिष्टों को अधिक खाते हैं। वर्मीकम्पोस्ट बनाने में इन्हीं केंचुओं का प्रयोग किया जाता है। इनकी कुछ प्रजातियाँ है। पेरेनिप्स, आर्वोशीकोली, फेरेटिमा इलोन्गेटा, आईसीनिया फोईटिडा आदि।
2. **इन्डोजिक** – ये केंचुएँ भूमि में गहरी सुरंग बनाते हैं (3 मीटर से अधिक) ये केंचुएँ कृषि अपशिष्टों को कम व मिट्टी को अधिक खाते हैं। यह किस्म जल निकास में उपयोगी है।
3. **डायोजिक** – ये केंचुएँ 1–3 मीटर की गहराई पर रहते हैं एवं दोनो प्रजातियों के बीच की श्रेणी में आते हैं।

राजस्थान की परिस्थितियों से आइसीनिया फोईटिड़ा प्रजाति के केंचुएँ सबसे उपयुक्त पाये गये है। लम्बाई 3–4 इंच और वजन आधा से एक ग्राम तक होता है। ये लाल रंग के होते है जो 90 प्रतिशत कार्बनिक पदार्थ व 10 प्रतिशत मिट्टी खाते हैं। तापमान, नमी एवं खाद्य पदार्थो की उपयुक्त परिस्थितियों के केंचुएँ चार सप्ताह में वयस्क होकर प्रजनन योग्य हो जाते है। एक केंचुआ एक सप्ताह में 2–3 कोकून देता है एवं एक

कोकून में तीन से चार अण्डे होते है। इस तरह एक प्रजनन केंचुआ 6 माह में 250 केंचुएँ पैदा कर सकता है।

वर्मीकम्पोस्ट बनाने की विधि – वर्मीकम्पोस्ट बनाने के लिए ऐसे स्थान का चुनाव करते हैं जो ऊँचा तथा छायादार हो। छाया नहीं होने की स्थिति में वर्मीबेड के ऊपर छप्पर डाल कर छाया करनी चाहिए, क्योकि केंचुओं को अधिक प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है। केंचुएँ अंधेरे में अधिक क्रियाशील रहते है। प्रजनन एवं खाद निर्माण क्रिया के लिये 30 प्रतिशत नमी 25–30° सेल्सियस तापमान आवश्यक है।

वर्मीकम्पोस्ट बनाने के लिए बेड (क्यारी) की लम्बाई 40–50 फीट और चौड़ाई 3–4 फीट रखते हैं। लम्बाई व चौड़ाई को आवश्यकतानुसार कम या ज्यादा कर सकते हैं, परन्तु वर्मीकम्पोस्ट तैयार होने पर उसको एकत्र करने में सुविधा के लिए चौड़ाई 4 फीट तक ही रखते हैं। आवश्यकतानुसार एक छप्पर के नीचे एक से अधिक क्यारियाँ बना सकते है। क्यारी में मामूली सड़ा हुआ भूसा, तिनके, कड़वी, जूट आदि को सतह पर 3 इंच की मोटाई में तह लगाकर बिछौना बनाया जाता है। बिछावन को पानी से नम कर दिया जाता है। इस बिछावन पर 2 इंच मोटाई की एक परत कम्पोस्ट या गोबर की बिछाई जाती है और पुनः इस परत को पानी से नम कर देते है। इस परत पर वर्मीकम्पोस्ट, जिसमें केंचुएँ व कोकून होते हैं, डाल दी जाती है। इस परत के ऊपर गोबर व मामूली सड़ा हुआ कृषि अपशिष्ट पदार्थ मिलाकर बिछा दिया जाता है। इस तरह परतों की कुल ऊँचाई लगभग डेढ़ फीट तक हो जाती है। इसको टाट या घास–फूस से ढक दिया जाता है। इस ढ़ेर पर समय–समय पर पानी का छिड़काव करना चाहिये। उचित परिस्थितियों में वर्मीकम्पोस्ट 60 दिन में बनकर तैयार हो जाता है। वर्मीकम्पोस्ट तैयार हो जाने पर पानी का छिड़काव बन्द कर देते है जिससे केंचुएँ क्यारी में नीचे की परत में चले जाते है। उसके बाद ऊपर से वर्मीकम्पोस्ट को इकट्ठा कर लेते हैं।

वर्मीकम्पोस्ट के लाभ –

1. वर्मीकम्पोस्ट देशी खाद की तुलना में अधिक श्रेष्ठ किस्म का होता है। इसमें गोबर की खाद तुलना में अधिक मात्रा में पोषक तत्व पाये जाते है।
2. वर्मीकम्पोस्ट के उपयोग से मृदा की जलधारण क्षमता बढ़ जाती है अतः भूमि का कटाव रूकता है।
3. वर्मीकम्पोस्ट में एक्टीनोमाइसिटीज की मात्रा देशी खाद की तुलना में 8 गुणा अधिक होने से फसलों में रोग प्रतिरोधकता बढ़ती है।
4. वर्मीकम्पोस्ट के उपयोग से खेत मे हयूमस की मात्रा बढ़ती है।
5. वर्मीकम्पोस्ट के उपयोग से खेत में खरपतवार व दीमक का प्रकोप कम होता है।
6. केंचएँ ऑक्सीन नामक हार्मोन्स का स्राव करते हैं जो पौधों की वृद्धि एवं रोगरोधी क्षमता बढ़ाता है।
7. वर्मीकम्पोस्ट टिकाऊ खेती के लिए बहुत महत्वपूर्ण है तथा यह जैविक खेती की दिशा में एक नया कदम है।

प्रयोग विधि – वर्मीकम्पोस्ट का उपयोग विभिन्न फसलों में अलग–अलग मात्रा में किया जाता है। खेत की तैयारी के समय 2.5–3.0 टन प्रति हेक्टेयर की दर से प्रयोग कर जुताई कर मिला लेते हैं। खाद्यान्न फसलों में 5–6 टन प्रति हेक्टेयर वर्मीकम्पोस्ट प्रयोग किया जाता है। वर्मीकम्पोस्ट भुरभुरा होने के कारण कृषक इसका उपयोग बुआई के समय ऊर कर भी करते है।

2.3.4. हरी खाद

दलहनी अथवा अदलहनी फसलों को हरी अवस्था में मृदा मे जीवांश पदार्थ एवं पोषक तत्वों की मात्रा बढ़ाने के उद्देश्य से खेत में जुताई कर दबाने की प्रकिया को हरी खाद कहते हैं। हरी खाद के लिये प्रयुक्त फसलों का मृदा में अपघटन (विच्छेदन) होता है। जिसके फलस्वरूप मृदा में जीवांश पदार्थ व विभिन्न पोषक तत्वों की मात्रा बढ़ती है। हरी खाद्य के प्रयोग से मृदा की रासायनिक, भौतिक व जैविक दशाओं पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। कृषक गोबर का उपयोग ईंधन के रूप में करता है अतः खेत में उचित मात्रा में गोबर की खाद व कम्पोस्ट का प्रयोग नहीं कर पाता है। अतः हरी खाद सस्ती, सर्वोत्तम और मृदा उर्वरता बनाए रखने के लिए उपयुक्त जीवांश खाद है। हरी खाद में पाये जाने वाले पोषक तत्व इसके बाद उगाई जाने वाली फसलों को आसानी से उपलब्ध हो जाते है।

हरी खाद बनाने की विधियाँ – भारत में विभिन्न राज्यों की जलवायु और मृदाएँ अनेक प्रकार की हैं। जलवायु और मृदा के अनुसार ही हरी खाद भी विभिन्न प्रकार से बनाई जाती है। उत्तरी व पश्चिमी भारत में हरी खाद की फसल उसी खेत में उगाकर दबाई जाती है। पूर्वी व मध्य भारत में हरी खाद की फसल मुख्य फसल के साथ बुआई कर तैयार की जाती है। दक्षिणी भारत में हरी खाद की फसल को खेत की मेड़ों पर उगाया जाता है या पेड़ व झाड़ियों की कोमल टहनियाँ, शाखाएँ व पत्तियों को इकट्ठा करके मृदा में दबाया जाता है। सामान्यतः हरी खाद निम्न विधियों से बनाई जाती है–

1. **खेत में हरी खाद की फसल उगाकर मृदा में दबाना –** इस विधि में हरी खाद बनाने के लिए जिस खेत मे हरी फसल उगाते है, उसी खेत में उसे पलटकर दबा देते है। इस विधि में हरी खाद के लिए दलहनी या अदलहनी फसल की बुआई की जाती है। फसल उन्हीं क्षेत्रों में उगाई जाती है जहाँ सिंचाई की पर्याप्त सुविधा हो। नमी अभाव में हरी खाद की फसल न तो वृद्धि कर सकती है, न ही दबाने पर सड़ पाती है। हरी खाद हेतु शीघ्र पकने वाली फसलें जैसे–ढेंचा, ग्वार, मूँग, उड़द, सनई, लोबिया आदि की बुआई कर पुष्पावस्था में खेत में दबा देते है।

2. **हरी खाद की हरित पर्ण विधि** – इस विधि में पेड़ों व झाड़ियों की कोमल (हरी) शाखाएँ, टहनियाँ व पत्तियाँ अन्य खेत या क्षेत्र से तोड़कर वाँछित खेत की मृदा में जुताई कर दबाते हैं। पौधों के कोमल भाग में थोड़ी नमी होने पर भी वे सड़ जाते हैं। इस विधि से हरी खाद उन क्षेत्रों में बनाते है जहाँ कि वार्षिक वर्षा कम होती है। इस विधि में अन्य खेत में उगाई गई हरी खाद की फसल को भी काटकर वांछित खेत में डालकर मृदा में दबा देते हैं। बहुत से पौधों को खेत की मेड़ों और बेकार भूमि में हरी पत्तियों के उद्देश्य से उगाया जाता है। इन पेड़ों और झाड़ियों की हरी पत्तियों को तोड़कर या काटकर खेत में डाल देते है। मिट्टी पलटने वाले हल से जुताई कर इन पत्तियों को मृदा के अन्दर दबा देते हैं। इस प्रकार की पत्तियाँ दलहनी व अदलहनी दोनों प्रकार के पौधों को प्रयोग कर सकते है। उदाहरण – सुबबूल, करंज, सदाबहार, अमलताष, सफेद आक आदि।

हरी खाद की फसल के आवश्यक गुण –

1. फसल शीघ्र बढ़ने वाली होनी चाहिए।
2. फसल में पत्तियों व शाखाओं की संख्या अधिक हो, जिससे प्रति हेक्टेयर अधिक मात्रा में कार्बनिक पदार्थ मिलाया जा सकें।
3. फसल के वानस्पतिक भाग मुलायम हों, ताकि वह आसानी से सड़ सकें।
4. फसल फलीदार (दलहनी) होनी चाहिए, जिससे उसके पौधों की जड़ों में ग्रन्थियाँ होने के कारण राइजोबियम द्वारा वायुमण्डल से नाइट्रोजन का मृदा में स्थिरीकरण हो सके।
5. फसल गहरी जड़ प्रणाली की हो, जिससे मिट्टी भुरभुरी बन सकें और मृदा में गहराई से पोशक तत्व ग्रहण कर पौधे में संचित कर सके।
6. हरी खाद की फसल ऐसी होनी चाहिये जो कम उपजाऊ भूमि में भी सफलतापूर्वक उगाई जा सके।
7. फसल में कीटों व बीमारियों का प्रकोप कम होता हो।
8. फसल कम अवधि की हो।
9. फसल को ज्यादा खाद व उर्वरक की आवश्यकता न हो।
10. फसल–चक्र में हरी खाद की फसल का उचित स्थान हो।
11. फसल को कम पानी की आवश्यकता हो।

हरी खाद के लिए उपयुक्त फसलें –हरी खाद के लिए प्रयोग मे लाई जाने वाली फसलों को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं– दलहनी एवं अदलहनी फसलें।

1. **दलहनी फसलें** – दलहनी या फलीदार फसलें हरी खाद के लिये उपयुक्त रहती हैं, क्योकि इन फसलों की जड़ो की ग्रन्थियों में उपस्थित राइजोबियम जीवाणु वायुमण्डल से नाइट्रोजन ग्रहण करते हैं। साथ ही इन फसलों की वानस्पतिक बढ़वार भी अच्छी होती है तथा इनकी जड़ें भी गहरी जाती है व फसल अवधि भी कम होती है।

सनई – इसका प्रयोग उत्तरी भारत में किया जाता है। यह बुआई के 6–8 सप्ताह बाद मिट्टी में पलट दी जाती है। लगभग 50 किग्रा. नाइट्रोजन तथा 280 क्विंटल हरा वानस्पतिक पदार्थ प्रति हेक्टेयर इस फसल से प्राप्त हो जाता है।

ढेंचा – हरी खाद के रूप में ढेंचा का प्रमुख स्थान है। यह फसल ऊसर भूमियों के सुधार में भी काम में ली जाती है। 45 दिन में फसल को खेत में पलट दिया जाता है। इससे लगभग 75 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर प्राप्त हो जाती है।

ग्वार – भारत के उत्तरी और पश्चिमी भागों में जहाँ वर्षा कम होती है ग्वार हरी खाद के लिए प्रयोग किया जाता है। इससे लगभग 65 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर प्राप्त हो जाती है।

लोबिया – खरीफ ऋतु में पौधों की अच्छी बढ़वार होने के कारण ही खाद के लिए यह महत्वपूर्ण फसल है। इससे 150 क्विंटल हरा पदार्थ तथा 50 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है।

2. **दलहनी फसलें**– ये फसलें मिट्टी में नाइट्रोजन स्थिरीकरण तो नहीं करती हैं, किन्तु विलय नाइट्रोजन का संरक्षण अवश्य करती है तथा मृदा में कार्बनिक पदार्थ की मात्रा में वृद्धि करती हैं, जिनसे मृदा में सुधार होता है। हरी खाद के लिए अदलहनी फसलों में मक्का, जौ, ज्वार आदि का प्रयोग किया जाता है। कई बार खरीफ में खेत में खरपतवार उगने देते है तथा उनमें बीज बनने से पूर्व ही खेत में पलट दिया जाता है। हमारे देश में हरी खाद हेतु अदलहनी फसलों का प्रचलन नहीं है।

हरी खाद प्रयोग करने की तकनीकी – हरी खाद की फसल से उचित लाभ प्राप्त करने के लिए इसके प्रयोग करने की विधि का ज्ञान आवश्यक है। हरी खाद में खेतों में दबाने और अगली फसल की बुआई के मध्य इतना अन्तर होना चाहिए कि हरी खाद से प्राप्त पोषक तत्व अगली फसल को प्राप्त हो सकें।

1. **जलवायु और मृदा** – खरीफ में हरी खाद वाली फसलों के लिए गर्म और नम जलवायु उपयुक्त है। सामान्यतः 50 से 60 सेमी. से अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में हरी खाद की फसलों की वृद्धि अच्छी होती है। फसल के अपघटन के लिए उपयुक्त तापमान 25 से 35 सेल्सियस होता है। रबी में हरी खाद की फसलों को शुष्क व ठण्डी जलवायु की आवश्यकता होती है। हरी खाद के लिए बलुई हल्की दोमट मृदा से लेकर लवणीय व कम उपजाऊ मृदा उपयुक्त होती है।

सारणी – विभिन्न मृदाओं में उगाई जाने वाली हरी खाद की फसलें

मृदा	फसलें
भारी मृदा व जल प्लावित दशा	ढेंचा, सनई
अच्छे जल निकास वाली बलुई दोमट मृदा, लवणीय व क्षारीय मृदा	मूंग, उड़द, ग्वार, सनई, ढेंचा
शुष्क क्षेत्रों की हल्की बलुई दोमट मृदा	ग्वार, उड़द, मूंग, लोबिया

2. **खेत की तैयारी** – हरी खाद के लिए खेत की विशेष तैयारी की आवश्यकता होती है। एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से करने के बाद पाटा चलाकर खेत समतल कर देते हैं।

3. **बीज बुआई** – हरी खाद के लिए बोई जाने वाली मुख्य फसलों की बीज दर इस प्रकार है।

फसल	बीज दर (किग्रा./हे.)	फसल	बीज दर (किग्रा./हे.)
सनई	50–60	मूंग, उड़द	15–20
ढेंचा	60–80	लोबिया	45–50
ग्वार	20–25		

राजस्थान में हरी खाद की फसलों की बुआई वर्षा प्रारम्भ होते ही कर देते हैं। सिंचित क्षेत्रों में रबी की फसल कटते ही अप्रैल से जून तक पलेवा देकर हरी खाद फसलों की बुआई करते हैं।

4. **खाद व उर्वरक** – हरी खाद के लिए बोई जाने वाली दलहनी फसलों की अच्छी बढ़वार के लिए बुआई के समय 20 किग्रा. नाइट्रोजन व 40 किग्रा. फॉस्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से देनी चाहिए। अदलहनी फसलों को नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर उपयोग ली जानी चाहिए। दलहनी फसलों में फॉस्फोरस की उपस्थिति में राइजोबियम जीवाणु अधिक क्रियाशील रहते हैं अतः नाइट्रोजन का यौगिकीकरण अच्छी प्रकार से होता है। फॉस्फोरस जैविक पदार्थ से मिलकर इस प्रकार यौगिक बनाता है कि अगली फसल को फॉस्फोरस सुगमता से उपलब्ध हो जाता है।

5. **सिंचाई** – सिंचित क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार फसल की सिंचाई करें। यदि सिंचाई से साधन उपलब्ध न हो तो वर्षा ऋतु में ही हरी खाद की फसल की बुआई करें।

6. **फसल को खेत में पलटना** – फसल की एक विशेष अवस्था पर पलटाई करने से भूमि को अधिकतम नाइट्रोजन व जीवांश पदार्थ मिलते हैं। फसल में जब पुष्पन प्रारम्भ हो जाये तथा उसकी टहनियाँ कोमल, रसीली, बिना रेशेदार और उस पर अधिकतम पत्तियाँ हो तब पलटना चाहिए। खरीफ में फसल को पलटने का कार्य अगस्त के प्रथम सप्ताह में कर लेना चाहिए। सामान्यतः ढेंचा तथा सनई को क्रमशः 45 व 50 दिन बाद पलटते हैं।

हरी खाद की फसल में पाटा चलाकर फसल को गिरा देते है। तत्पश्चात् मिट्टी पलटने वाले हल से फसल को खेत में दबा देते है। बलुई मृदाओं में फसल को गहराई तक तथा भारी मृदाओं में कम गहराई पर दबाते हैं। शुष्क मौसम की दशा मे फसल को गहराई पर तथा आर्द्र मौसम में कम गहराई पर दबाते है।

7. **हरी खाद का अपघटन** – हरी खाद से प्राप्त जीवांश पदार्थ के पूर्ण अपघटन में सूक्ष्म जीवाणुओं का बड़ा महत्व है। ये सूक्ष्म जीवाणु पहले हरे पदार्थों को सड़ाकर अमोनीकरण करते हैं और अन्त में नाइट्रेट को सुलभ अवस्था में उपलब्ध कराते हैं।

5. **हरी खाद की पलटाई और आगामी फसल में अन्तराल** – हरी खाद की फसल को खेत में पलटने और आगामी फसल के मध्य अन्तर जीवांश पदार्थ के अपघटन पर निर्भर करता है। सामान्यतः हरी खाद की पलटाई के डेढ़–दो माह बाद अगली फसल की बुआई करते हैं।

2.4 जैव उर्वरक – प्रकार एवं उपयोग विधि

जैव उर्वरक जीवित एवं प्रभावशील कृषि उपयोगी सूक्ष्म जीवों का वह उत्पाद है जिसके माध्यम से पर्यावरणीय मित्रता के साथ पौध पोषक तत्वों की उपलब्धता को बढ़ाकर फसल उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। जैव उर्वरको में उपस्थित सूक्ष्म जीवों के माध्यम से वायुमण्डलीय नत्रजन का अधिक से अधिक मात्रा में स्थिरीकरण किया जा सकता है, अन्य अनुपलब्ध पौध पोषक तत्वों को घुलनशील कर या उनका अवशोषण क्षमता बढ़ाकर मृदा में उपलब्ध कराया जा सकता है, विभिन्न हारमोन्स

या अन्य पौध वृद्धिकारक पदार्थो के उत्सर्जन के द्वारा अच्छी पौध वृद्धि सुनिश्चित की जा सकती है एवं विभिन्न कार्बनिक पदार्थो को शीघ्र अपघटित किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप फसलोत्पादन की लागत में कमी की जा सकती है। अतः टिकाऊ फसलोत्पादन के लिए जैव उर्वरकों का विशेष महत्त्व है।

यह सुनिश्चित है कि बिना सूक्ष्म जीवाणुओं के योगदान के कृषि उत्पादन भी असम्भव है। मुख्य पौध पोषक तत्वों में नत्रजन का विशेष हिस्सा है एवं एक हेक्टेयर भूमि के ऊपर लगभग 80,000 टन नत्रजन उपस्थित है लेकिन यह पौधों के लिये उपलब्ध नहीं है। प्रकृति में उपलब्ध सूक्ष्म जीवाणु वायुमंडल में उपलब्ध इस नत्रजन को स्थिरीकरण करके पौधों को उपलब्ध कराते हैं।

टिकाऊ कृषि में मृदा स्वास्थ्य के रखरखाव, पर्यावरण संरक्षण तथा पौधों को पोषक तत्व आपूर्ति के लिए जैव उर्वरक एक महत्त्वपूर्ण विकल्प है। जैविक खेती में भी जैव उर्वरकों का काफी महत्व हैं, क्योंकि जैविक खेती में रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग वर्जित है।

जैव उर्वरक – परिभाषा

जैव उर्वरक एक उत्पाद है जो सूक्ष्म जीवों की जीवित एवं सुषुप्त जैव कोशिकाओं जैसे बैक्टिरिया, कवक, एक्टिनोमाइसिटिज, शैवाल आदि एकल या समन्वित समूह है जो किसी वाहक जैसे ठोस पदार्थ (लिग्नाइट अथवा कोयला) या द्रव्य में मिश्रित होता है जो नत्रजन स्थिरीकरण, अनुपलब्ध पौध पोषक तत्वों को पौधो को उपलब्ध कराने, पादप बढ़वार पदार्थो को स्रावित करने एवं साथ ही मृदा की क्रियाशीलता एवं गुणवत्ता तथा पौधों के स्वास्थ्य में वृद्विकरने में उपयोगी है।

जैव उर्वरकों के लाभ – जैव उवरकों के उपयोग से होने वाले लाभ निम्नानुसार है–

1. जैव उर्वरक पौधों को नाइट्रोजन व फॉस्फोरस की आपूर्ति करते हैं।
2. ये पोषक तत्वों के सस्ते स्रोत हैं।
3. कुछ जैव उर्वरकों जैसे एजोटोबेक्टर, एजोला व नीलहरित शैवाल, हार्मोन्स, विटामिन आदि का स्राव करते हैं जिससे पौधों की वृद्धि पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।
4. इनके उपयोग से फसलों की उपज में 20–40 प्रतिशत तक वृद्वि होती है।
5. कुछ जैव उर्वरक एन्टीबायोटिक उत्पन्न करते हैं जिससे मृदा जनित रोगों का प्रभाव कम होता है।
6. इनके उपयोग से मृदा की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों में सुधार होता है।
7. नील हरित शैवाल व एजोला नाइट्रोजन के अतिरिक्त सूक्ष्म पोषक तत्व जेसे लोहा, ताँबा, मैंगनीज, जस्ता आदि उपलब्ध कराते हैं।

जैव उर्वरकों का वर्गीकरण

जैव उर्वरकों में खाद तथा उर्वरकों की तरह पोषक तत्त्व नहीं होते हैं (अजोला के अलावा) लेकिन ये पोषक तत्वों को घुलनशील करने, उनको गतिमान करने, अवशोषण करने तथा वाहन करने में मदद करते हैं। जैव उर्वरकों को कई बार बायो–इनओकुलेन्ट (Bio-inoculant) या सूक्ष्म जीवाणु कल्चर (Bio-culture) के नाम से भी पुकारा जाता हैं। जैव रसायन क्रियाओं तथा विशेष पोषक तत्व के प्रति अनुक्रिया के आधार पर जैव उर्वरकों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है।

(अ) नाइट्रोजन स्थिरीकरण करने वाले जीवाणु

- **सहजीवी (Symbiotic)** – सहजीवी नाइट्रोजन स्थिरीकरण को तीन समूहों में विभक्त किया गया है।
  1. दलहनी फसलों के साथ सहजीवी, उदाहरण – राइजोबियम, बैक्टीरिया
  2. दलहनी फसलों के अलावा पौधों के साथ सहजीवी, उदाहरण– एजोस्पाइरिलम, एसीटोबैक्टर
  3. ऐजोला फर्न के साथ सहजीवी, उदाहरण – एनाबिना
- **मुक्तजीवी (Free living)**– मुक्तजीवी को दो भागों में विभक्त किया जाता हैः
  1. बैक्टीरिया जिनमें परपोषित एवं प्रकाश–संश्लेषी हैं, उदाहरण – ऐजोटोबेक्टर, कलोस्ट्रीडियम, क्लेबसियला
  2. नीली हरी शैवाल जो कि प्रकाश संश्लेषी है।

(ब) फास्फोरस रूपान्तरण

- **फास्फोरस विलयकारी जीवाणु** – जो कि अपनी वृद्वि के दौरान कार्बनिक या अकार्बनिक अम्ल बनाते हैं जो कि फॉस्फोरस की विलेयता को बढ़ाकर पौधों को उपलब्ध कराते हैं, जैसे कि बैक्टीरिया (पी.एस.बी.) एवं कवक।
- **सहजीवी कवक** – कवक पौधों की जड़ों के साथ सहजीवी संबंध बनाकर मृदा में उपलब्ध फॉस्फोरस के उद्ग्रहण में सहायक होते हैं। साधारणतया फॉस्फोरस विलेयता में इनका योगदान नहीं होता है। उदाहरण – वेसिकूलर अरबस्कूलर

(स) कम्पोस्ट उत्प्रेरक

कम्पोस्ट के बनाने के लिए उपयोग किये गये कार्बनिक पदार्थों के अपघटन में परपोषी जीवाणुओं का उपयोग किया जाता है जो कि कार्बनिक पदार्थों के कार्बन–नाइट्रोजन अनुपात को कम करने में सहायक होते हैं और उनमें उपस्थित तत्वों की उपलब्धता को बढ़ाते है। ये जीवाणु बैक्टीरिया, कवक एवं ऐक्टिनोमायसिटीज होते हैं। इनमें ट्राइकोडर्मा, सेल्सूलोमोनास, पेसिलियोमाइसीज, एस्परजिलस आदि प्रमुख है।

(द) पौध वृद्धिकारक राइजोबेक्टिरिया (PGPR)

ये जीवाणु पोषक तत्व प्रदान नहीं करते हैं अपितु हार्मोन उत्पादन, पौध कोशिका में विशिष्ट आयन वहन तथा संरक्षण रसायनों के उत्सर्जन के माध्यम से पौध वृद्धि को बढ़ाने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए सूडोमोनास बैक्टीरिया।

(त) जिंक विलयकारी जैव उर्वरक

मिट्टी में सूक्ष्म पोषक तत्वों जैसे जिंक को आसानी से उपलब्ध कराने के लिए बेसिलस सुबिटिलिस, थायोबोसिलस थायोक्सिडंस और सैकोरोमांइस स्पीसिज सूक्ष्मजीवों को जैव–उर्वरक के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है।

(य) पोटेशियम विलयकारी जैव उर्वरक

पोटेशियम संचलन को बढ़ाने के लिए केले के राइजोस्पेयर से जीवाणु पृथक और विकसित किया गया है जिससे पोटेशियम का आसानी से पौधों द्वारा अवशोषण किया जा सकता है। फ्रैटुरिया ऑरेंटिया की एक नई जीवाणु प्रजाति जो एक बायोइनोकुलर है जिसके प्रयोग से पोटाश उर्वरक का उपयोग कम किया जा सकता है।

उर्वरक नियंत्रण आदेश, 1985 के अनुसार प्रति ग्राम सूखे वाहक में जीवाणुओं की संख्या (राइजोबियम/एजेटोबेक्टर/एजोस्पाइरीलियम/एसीटोबेक्टर/फॉस्फोरस घुलनशील बैक्टिरिया/पोटेशियम मोबिलाइजिंग बैक्टीरिया/जिंक विलयकारी बैक्टीरिया) कम से कम 1×10^{7} या प्रति मिलीलीटर द्रव्य वाहक में जीवाणुओं की संख्या 1×10^{8} होनी चाहिए।

नाइट्रोजन स्थिरीकरण करने वाले जीवाणु

राइजोबियम – यह एक जीवाणु है जो दलहनी फसलों की जड़ों पर पाई जाने वाली ग्रन्थियों में रहता है। ये जीवाणु वायुमण्डल से नाइट्रोजन का अवशोषण कर उसका स्थिरीकरण करते हैं जो अन्ततः पौधों को उपलब्ध होती है। राइजोबियम कल्चर सबसे अधिक उपयोग होने वाला जैविक उर्वरक है। यह केवल दलहनी फसलों में ही प्रयोग किया जाता है। राइजोबियम की विशेष प्रजाति ही दलहनी फसल की एक विशेष प्रजाति के साथ जड़ ग्रन्थियाँ बनाते है जिसे क्रॉस इनआकूलेशन (Cross inoculation group) समूह कहा जाता है जो कि फ्रेड एवं साथियों द्वारा 1932 में प्रतिपादित किया गया है। राइजोबिया तथा दलहन फसलों की आपस में जड़ ग्रन्थियाँ बनाने की विशेषता के आधार पर तीन जीवाणु वंशों यथा राइजोबियम, ब्राडिराइजोबियम एवं एजोराइजोबियम के क्रॉस इनआकूलेशन समूह का वर्गीकरण या विवरण निम्न तालिका–1 में दिया गया है।

1. **एजोटोबेक्टर** – यह जीवाणु स्वतंत्र रूप से मृदा में रहते हैं। ये बैक्टीरिया ग्राम नेगेटिव है। ये पौधों की जड़ क्षेत्र के समीप रहते हुए वायुमण्डल से नाइट्रोजन ग्रहण कर उसका स्थिरीकरण करते हैं। इस जैव उर्वरक का प्रयोग गैर दलहनी फसलों जैसे गेहूँ, जौ, मक्का, सब्जियों आदि में किया जाता है।
2. **एजोस्पाइरिलम**– यह एक वायु प्रिय जीवाणु है जो मृदा में स्वतंत्र रहकर वातावरणीय नाइट्रोजन का स्थिरीकरण कर पौधों को उपलब्ध करवाते हैं। इस जैव उर्वरक का उपयोग चावल, ज्वार, गन्ना, बाजरा, सब्जियों आदि में किया जाता है।

नाइट्रोजनधारी जैव उर्वरकों की उपयोग विधि – नीलरहित शैवाल तथा एजोला के अलावा सभी जैव उर्वरकों का निम्न प्रकार प्रयोग किया जाता है।

1. बीज उपचार

राइजोबियम, एजोटोबैक्टर, एजोस्पाइरिलम एवं फास्फेट

तालिका 1: दलहनी फसलें एवं क्रॉस इनआकूलेशन समूह

राइजोबियम समूह	राइजोबियम प्रजाति	फसल
राइजोबियम : तीव्र वृद्धि करने वाले	राइजोबियम मेलीलोटी	रिजका, मेथी, सैंजी
	राइजोबियम लेग्यूमिनोसेरम	मटर, मसूर
	राइजोबियम फेजियोलाई	राजमा, सेम, मोठ
	राइजोबियम ट्राइफोली	बरसीम
	राइजोबियम लोटी	तिपतिया घास (लोटस स्पीसीज)
	राइजोबियम फ्रेडी	सोयाबीन (ग्लीसीन मेक्स, ग्लीसीन सोजा)
ब्राडिराइजोबियम धीमी वृद्धि करने वाले	ब्राडिराइजोबियम जापोनिकम	सोयाबीन
	ब्राडिराइजोबियम एलकानी	सोयाबीन
	ब्राडिराइजोबियम स्पीसीज "लोबिया"	लोबिया, मूंग, उड़द, चना, अरहर, मूँगफली, इत्यादि।
एजोराइजोबियम तीव्र वृद्धि करने वाले	एजोराइजोबियम कौलिनोडेन्स	ढेंचा (सेसबानिया रोसट्राटा)

विलयकारी जैव उर्वरकों (पी.एस.बी. कल्चर) के प्रयोग के लिए बीज उपचार विधि ही सुविधाजनक, सस्ती, उत्तम एवं अधिक प्रचलन में है। सामान्यतः 10 से 12 किग्रा. बीज को उपचारित करने के लिए एक पैकेट (200 ग्राम) जैव उर्वरक पर्याप्त होता है। बीज उपचार निम्न प्रकार से करें –

- आधा लीटर पानी में 50 ग्राम गुड़ को घोलकर उबालें। घोल ठण्डा हो जाने पर 200 ग्राम जीवाणु खाद को इसमें मिलावें ।
- इसके बाद घोल को 10–12 किलो बीज के ढेर पर धीरे धीरे डालकर हाथों से मिलाएं जिससे कि जैव उर्वरक अच्छी तरह और समान रूप से बीजों पर चिपक जाये।
- इस प्रकार तैयार उपचारित बीज को छाया में सुखाकर तुरन्त बुआई कर दें।

1. पौध/जड़ उपचार

रोपाई की जाने वाली फसलों जैसे टमाटर, गोभी, बैगन, मिर्च, प्याज आदि के लिए यह विधि सर्वोत्तम है। इस विधि में जैव उर्वरकों की मात्रा बीज उपचार की अपेक्षा कुछ ज्यादा लगती है परन्तु जड़ उपचार विधि द्वारा अधिक संख्या में जीवाणु पौध जड़ों पर चिपक कर जड़ों के पास पहुँच जाते हैं जिससे उपचारित पौध रोपाई पर पौध वृद्धि अच्छी होती है। पौध/जड़ उपचार निम्न प्रकार से करें –

- जीवाणु खाद का जड़ोपचार द्वारा प्रयोग रोपाई वाली फसलों में करते हैं।
- इसके लिए 4 किलोग्राम जैव उर्वरक का 20–25 लीटर पानी में घोल बनायें।
- एक हैक्टर के लिए पर्याप्त पौध की जड़ों को 20–25 मिनट तक उपरोक्त घोल में डुबोकर रखें।
- इसके बाद उपचाारित पौध को छाया में रखें तथा यथाशीघ्र रोपाई कर दें।
- बर्तन में बचे हुए घोल में मिट्टी या राख या कम्पोस्ट खाद अच्छी तरह से मिलाकर खेत में मिट्टी मिला दें, बाहर न फेकें।

3. मृदा उपचार

इस विधि द्वारा एजोटोबैक्टर, एजोस्पाइरिलम एवं फास्फेट विलयकारी जैव उर्वरकों (पी.एस.बी. कल्चर) का प्रयोग सभी खाद्यान्नों की फसलों, तिलहन फसलों, सब्जी फसलों, फूलों आदि में किया जा सकता हैं। मृदा उपचार निम्न प्रकार से करें –

- मृदा उपचार के लिए 50 किलोग्राम मिट्टी या कम्पोस्ट खाद में 5 किलोग्राम जीवाणु खाद को अच्छी तरह मिलाएं।
- इस मिश्रण को एक हेक्टेयर क्षेत्रफल में बुआई के समय या बुआई से 24 घण्टे पहले समान रुप से छिड़के और बुआई कर दें।

4. कंद उपचार –

1 किग्रा. कल्चर का 40–50 लीटर पानी में घोल तैयार करते हैं। घोल में आलू, लहसुन, गन्ना आदि के टुकड़ों को 10 मिनट तक डुबोकर बुआई करते हैं।

नील हरित (काई शैवाल)– इसे सायनोबैक्टिरिया भी कहते हैं। यह पानी की सतह पर पाई जाने वाली उपयोगी व लाभदायक काई है, जो नीले–हरे रंग की होती है। यह सूर्यप्रकाश में अपना भोजन स्वयं बनाकर, वायुमण्डल की नत्रजन का स्थिरीकरण कर पौधों को उपलब्ध कराती है लेकिन यहाँ यह जान लेना चाहिए कि सभी शैवाल नत्रजन का स्थिरीकरण करने में सक्षम नहीं होते। ऐसी नील हरित शैवाल जिनमें एक विशेष संरचना हिटरोसिस्ट पाई जाती है, नाइट्रोजन स्थिरीकरण करने में सक्षम है। यह शैवाल 25–30 किग्रा. नाइट्रोजन का प्रति हेक्टेयर यौगिकीकरण करती है। इसका उपयोग धान के खेतों में किया जाता है। इसकी कुछ मुख्य प्रजातियाँ है एनाबिना, नोस्टॉक, साइटोनिया, आसीलेटोरिया आदि।

नील हरित शैवाल का उत्पादन– इसके उत्पादन के लिए एक गड्ढा बनाकर पॉलीथीन बिछा देते है या 6" × 3" × 9" आकार की गेल्वेनाइज्ड लोहे की चद्दर की ट्रे बनवा लेते हैं। 6" × 3" × 9" आकार के गड्ढे में पॉलिथीन बिछाने के बाद 10 किग्रा. भुरभुरी मिट्टी तथा 200 ग्राम सुपर फॉस्फेट डालकर 6" पानी भर देते है। जब मिट्टी पैंदे में बैठ जाये तो मृदा आधारित नील हरित शैवाल के कल्चर को 250 ग्राम लकड़ी के बुरादे के साथ मिलाकर 100 ग्राम प्रति गड्ढे के हिसाब से उपचारित करते है। यदि गड्ढे में हरी काई दिखाई दे तो 0.05 प्रतिशत कॉपर सल्फेट के घोल का छिड़काव करना चाहिए। 10–15 दिनों के बाद गड्ढों के ऊपर काई की एक मोटी परत कालीन की तरह पानी के ऊपर तैरने लगती है। इस काई को या तो एकत्रित कर लेते हैं या गड्ढों का पानी पूर्ण रूप से सूखने देते हैं और नील हरित काई को सूखी पपड़ी के रूप में एकत्र कर पॉलीथीन की थैलियों में भर लेते हैं।

प्रयोग विधि – इसका उपयोग धान की रोपाई के 7 दिन बाद करते हैं तथा जिस खेत में इसका उपचार करते हैं उसमें पानी स्थिर एवं 8–10 सेमी. हमेशा भरा रहना चाहिए। खेत में 8–12 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से नील हरित शैवाल का छिड़काव करते है। कल्चर डालने के बाद 4–5 दिनों तक पानी स्थिर रहना चाहिए।

एजोला – एजोला पानी में तैरने वाली एक प्रकार की फर्न है जो इसकी पंखुड़ियों में उपस्थित नीली हरी काई ऐनाबिना के साथ सह जीवन द्वारा वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का यौगिकीकरण करती है। एजोला कल्चर के उपयोग से पता चला है कि इसमें 40 से 100 किलोग्राम नाइट्रोजन/हेक्टेयर यौगिकीकृत हो सकती है। भारत में एजोला की पाठ्यक्रम/इकाई 3 प्रजाति एजोला पिन्नेटा पाई जाती है। लेकिन इसकी नाइट्रोजन स्थिरीकरण क्षमता कम होने के कारण धान की फसल में एजोला माइक्रोफिला तथा एजोला केरोलिनिआना का उपयोग किया जाता है। एजोला प्रतिदिन 1. 0–1.5 किग्रा. प्रति हेक्टेयर तक नाइट्रोजन जमा करने की क्षमता

रखता है। 20–25 दिन के भीतर इससे प्रति हेक्टेयर औसतन 20–40 किग्रा. नाइट्रोजन प्राप्त होती है।

एजोला उत्पादन विधि – अच्छी तरह तैयार खेत में 5 मी. × 2 मी. आकार की क्यारियाँ बनाकर उसमें 5–10 सेमी. पानी भर देते हैं। इसके बाद 0.5–1.5 टन प्रति हेक्टेयर (50–100 ग्राम प्रति वर्ग मीटर) के हिसाब से ताजा स्वस्थ एजोला क्यारियों में डालते हैं। 15–20 दिन बाद एजोला की एक मोटी तह बन जाने पर इसका 1 भाग बांस की सहायता से निकाल लेते है और शेष भाग को फिर बढ़ने देते हैं। 100 वर्ग मीटर क्षेत्र से प्रति सप्ताह 10 किग्रा. एजोला प्राप्त हो सकता है। एजोला की अच्छी बढ़वार हेतु प्रति सप्ताह 5–8 किग्रा. सुपर फॉस्फेट प्रति हेक्टेयर की दर से डालते हैं।

प्रयोग विधि – एजोला का उपयोग धान के खेत में रोपाई के पहले हरी खाद के रूप में या रोपाई के बाद धान के साथ इसका संवर्धन किया जाता है। प्रथम विधि में इसका प्रयोग केवल उन्हीं क्षेत्रों में सम्भव है जहाँ रोपाई के पहले पर्याप्त पानी उपलब्ध हो। खेत को तैयार कर छोटी–छोटी क्यारियों में बाँट कर 5–10 सेमी. भर देते हैं। क्यारियों में 1.0–2.0 टन प्रति हेक्टेयर की दर से एजोला डाल देते हैं। 10 किग्रा. सुपर फॉस्फेट प्रति हेक्टेयर की दर से तीन बराबर भागों में खेत में डालें। 15–20 दिन बाद एजोला की मोटी तह बन जाने पर खेत से पानी निकाल कर हल चलाकर एजोला को मिट्टी में मिला दें। बाद में धान की रोपाई कर दें।

धान के साथ एजोला प्रयोग के लिए 0.5–1.0 टन एजोला प्रति हेक्टेयर की दर से रोपाई के एक सप्ताह बाद खेत में डालें। 20–25 दिन बाद एजोला की मोटी तह बन जाती है। इसको मिट्टी में मिला दें। मिट्टी में नहीं मिलाने पर एजोला अपने आप सड़ जाता है और फसल को पर्याप्त लाभ देता हैं।

फॉस्फोरस विलेयक जैव उर्वरक (पी.एस.बी.)

फॉस्फोरस विलेयक जैव उर्वरक सूक्ष्म जीवाणुओं का एक ऐसा कल्चर है जिसमें अविलेय फॉस्फोरस को विलेय बनाने की क्षमता पायी जाती है। वैसे तो बहुत से जीवाणु, एक्टीनोमाइसीट्स एवं कवक में फॉस्फोरस की विलेयता बढ़ाने के गुण पाये जाते हैं लेकिन जैव उर्वरक निर्माण के लिए कुछ गिने चुने वंश के सूक्ष्म जीवाणु ही औद्योगिक स्तर पर प्रयोग में लाये जाते हैं। इसके लिए 4 किलोग्राम जैव उर्वरक का 20–25 लीटर पानी में घोल बनायें।

प्रयोग विधि – पी.एस.बी./पी.एस.एम. कल्चर का उपयोग भी एजोटोबेक्टर या राइजोबियम की तरह ही बीज, भूमि उपचार व पौध उपचार के रूप में किया जाता है जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

माइकोराइजा – यह एक विशेष प्रकार का कवक होता है जो बहुशाखीय लम्बे तंतुओं से बना होता है। पौधों तथा दाल फसलों की जड़ों में इसके तंतु प्रवेश कर जाते हैं। तंतुओं का वह भाग जो जड़ों के बाहर रहता है मिट्टी से लगातार फॉस्फोरस अवशोषित करता रहता है। यह फॉस्फोरस तंतुओं के अन्दर गति कर पौधों की जड़ क्षेत्र के अन्दर पहुँच जाता है। कवक व पौधों की जड़ों के बीच सह–जीविता होती है जिससे कवक मृदा से जल एवं खनिज लवणों को अवशोषित कर पौधों को प्रदान करता है तथा पौधे कवक को कार्बनिक भोज्य पदार्थ प्रदान करते हैं। **उदाहरण**– अरबूस्कूलर माइकोराइजा का उपयोग मक्का में किया जाता है।

मिश्रित जैव उर्वरक

सामान्यतः नत्रजन स्थिरीकरण या स्फुर घोलक जैव उर्वरकों का अलग–अलग उपयोग अनुशंसित है परन्तु प्रयोगों द्वारा यह पाया गया है कि मिश्रित जैव उर्वरक जिसमें नत्रजन स्थिरीकारक स्फुर घोलक, पौध वृद्विबढ़वार में सहायक जड़ीय जीवाणु (पी.जी.पी.आर) एवं वेम (VAM) फफूंद के संयुक्त मिश्रण का उपयोग करने से गैर दलहनी, दलहनी एवं तिलहन फसलों की बढ़वार में अच्छी वृद्विहोती है। नत्रजन एवं स्फुर जनित रासायनिक उर्वरकों की खपत में लगभग 10–25 प्रतिशत की बचत होती है एवं इनकों कार्बनिक पदार्थो के साथ उपयोग किया जाये तो फसलोत्पादन पर और अच्छा प्रभाव पड़ता है। इस जैव उर्वरकों का प्रभावी एवं धनात्मक योगदान विभिन्न फसलों जैसे मिर्च, कपास, उड़द, सोयाबीन, अरहर आदि पर भी देखने को मिला है।

तरल जैव उर्वरक

आजकल ठोस वाहक के स्थान पर तरल वाहक का उपयोग बढ़ रहा है। तरल जैव उर्वरक या लिक्विड बायो फर्टिलाइजर ऐसा तरल ससपेंशन हैं जिनमें खेती के लिहाज से उपयोगी जीवाणु होते है। मृदा उर्वरता के प्रबंधन और पोषक तत्वों की निरंतर उपलब्धता बनाये रखने हेतु तरल जैव–उर्वरकों जैसे – राइजोबियम, एजोटोबैक्टर, फास्फोरस, पोटाश एवं जिंक

सारणीः फॉस्फोरस को घुलनशीन अवस्था में बदलने वाले सूक्ष्म जीव

क्र.सं.	जैव उर्वरक के प्रकार	प्रयुक्त सूक्ष्म जीवाणु
1.	फॉस्फोरस घोलक बेक्टीरिया (पीएस.बी.)	बेसीलस मेगाथिरियम, बेसिलस पोलीमिक्सा, सुडोमोनास स्ट्राइटा आदि
2.	फॉस्फोरस घोलक फफूंद (पीएस.एफ.)	एसपरजिलस अवामोरी, एसरजिलस केन्डीडस आदि
3.	फॉस्फोरस घोलक एक्टीनोमाइसिटिज (पी.एस.ए.)	स्ट्रेप्टोमाइसिज स्पीशिज

घोलक जीवाणु आदि अत्यंत उपयोगी आदान है। स्थानीय जलवायु के आधार पर कुछ ऐसे सूक्ष्म जीवों द्वारा तरल उर्वरक तैयार किये जा रहे हैं, जो अलग–अलग स्थान और जलवायु में कारगर सिद्ध हुए हैं। अनेक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि जहाँ रासायनिक खादों का उपयोग नहीं होता है वहाँ ये जीवाणु आदान अधिक प्रभावी हैं। इस जैव उर्वरक का उपयोग पर्यावरण के अनुकूल है और रासायनिक उर्वरक का उपयोग सीधे 15 से 40 प्रतिशत कम कर देता है। इसे बगैर किसी खास इंतजाम के लंबे समय तक रखा जा सकता है तथा ठोस वाहक जैव उर्वरकों की तुलना में इसकी सग्रंहण जीवन अवधि एक से दो वर्ष तक हो सकती है। इस लिक्विड बायो फर्टिलाइजर के उपयोग से भारतीय किसानों को जैविक फसल उगाने में सहायता मिलेगी और वे अंतरराष्ट्रीय बाजार की प्रतिस्पर्धा में टिक सकेंगे।

तरल जैव–उर्वरक की उपयोग विधियाँ

1. **बीज उपचार :** 1 किलो बीज को 5 मिली. तरल जैव–उर्वरक के साथ मिलाते हैं, और बीजों को बुआई के पहले उपचारित कर छाया में सूखने के लिए रख दे।
2. **जड़ / पौध उपचार :** 50 मिली. तरल जैव–उर्वरक को 1 ली. पानी में मिलाते हैं, और जड़ो को 15 से 20 मिनट घोल में डुबोये रखने के बाद बुआई करें।
3. **मिट्टी उपचार :** मुख्य क्षेत्र और पौधघर में एक एकड़ में 250 मिली. जैव–उर्वरक को 100 किलो मिट्टी के साथ मिलाते हैं एवं खेत में मिला देते हैं।
4. **बूंद–बूंद सिंचाई :** बूंद–बूंद एवं फव्वारा सिंचाई विधि से तरल जैव उर्वरक प्रयोग करने के लिए एक हेक्टेयर में 1 ली. जैव–उर्वरक को डालते हैं।

तरल जैव–उर्वरकों के प्रयोग में सावधानियाँ

- जैव–उर्वरकों को नामांकित फसल के लिये ही उपयोग में लेना चाहिये।
- जैव–उर्वरकों को उपयोग से पहले बोतल को अच्छे से हिलाकर बीजोपचार करें।
- जैव–उर्वरकों को ठण्डी जगह पर रखें और धूप एवं गर्मी से बचाये।
- जैव–उर्वरकों और रासायनिक उर्वरकों को एक साथ मिलाकर प्रयोग ना करें।
- जैव–उर्वरकों को उसको अंतिम तिथि से पहले ही उपयोग में ले।
- बीजों को पहले फफूंदनाशक फिर कीटनाशक तथा अंत में जैव–उर्वरक से उपचारित करें।

जैव उर्वरकों के व्यापारिक उत्पादन के जाति विशेष के जीवाणु कोशिकाओं की जीवित दशा में आपूर्ति के लिए ठोस या तरल वाहकों का उपयोग किया जाता है।

तरल जैव उर्वरकों में तरल मीडिया (पानी या तरल आधारित पदार्थ), एडिटिक स्टेबलाइजर एवं स्टीकर पदार्थों (पॉलीविनाइल पायरलिडोन, पोलीविनाइल अल्कोहल) गिलसरोल, मिथाइल सेलुलोज, सोडियम एल्जीनेट गोंद आदि का उपयोग किया जाता है। इस कारण तरल जैव उर्वरक की संग्रहण जीवन अवधि एक वर्ष से ज्यादा तथा जीवाणु कोशिकाओं की सजीवता अधिक तापमान (45° सेन्टीग्रेड तक) पर भी बनी रहती है।

2.5 कृषि पंचांग (Krishi Panchang)

भारतीय चिन्तन और जीवन शैली आदिकाल से प्रकति सापेक्ष रहे हैं। भारतीय जीवन दृष्टि में ज्ञान–विज्ञान की अभिव्यक्ति भी अध्याय दर्शन से होती है। शास्त्र–पुराणादि में भारत में प्राचीनकाल से ही मुहूर्त देखकर कृषि कार्य करने का प्रचलन रहा है। कृषक ग्रह, नक्षत्रों व चन्द्रमा की स्थिति को देखकर फसल की बुआई, कटाई, फसल का चुनाव आदि कृषि कार्य करते थे। परन्तु शनैः शनै यह ज्ञान समाप्त होता गया। सन् 1924 मे विद्वान दार्शनिक डॉ. रूडोल्फ स्टेनर ने एक वैकल्पिक कृषि के रूप में बॉयोडायनेमिक खेती की विचार धारा का प्रतिपादन किया, जो बाद में विश्व के कई देशों में व्यवसायिक रूप से अपनायी जाने लगी। बॉयोडायनेमिक खेती को जैव गति की कृषि भी कहा जाता है जिसमें नक्षत्रों की गति के आधार पर कृषि क्रियाओं का क्रमवार वैज्ञानिक विधि से अपनाने पर जोर दिया जाता है जिससे आकाशीय / नक्षत्रीय ऊर्जा का प्रभाव वनस्पति / पौधों के भागों जैसे जड़ पत्ती, फल एवं बीज पर पड़ता है और पैदावार में गुणोत्तर वृद्धि प्राप्त की जा सकती है। प्रतिवर्ष नक्षत्रों की गति के आधार पर जैव गतिकीय कृषि एवं बागवानी पंचांग तैयार किया जाता है जिसके अनुसार कृषि कार्य उपयुक्त समय पर करने से लाभ होता है। रूडोल्फ स्टेनर के अनुसार प्रत्येक खेत प्राणी के समान जीवित माध्यम है।

यह वैज्ञानिक तथ्य है कि पृथ्वी पर उपस्थित जल को चन्द्रमा अपनी ओर आकर्षित करता है। पौधों की कोशिकाओं में जल प्रमुखता से पाया जाता है। अतः यह माना जा सकता है कि चन्द्रमा की गतिविधियों का प्रभाव निश्चित रूप से पौधों पर पड़ता है। भूमि में उपलब्ध जल का प्रभाव फसल पौधो पर पड़ता है। भूमि में उपलब्ध जल का फसल उत्पादन के लिये अत्यधिक महत्व है। विश्व में कई देशों जैसे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, जर्मनी आदि में प्रतिवर्ष कृषि पंचांग प्रकाशित हो रहा है जिसका उपयोग वहाँ के कृषक कृषि कार्यो में करके बेहतर फसल उत्पादन कर रहे हैं। कृषि पंचांग मूलतः चन्द्रमा की गति पर आधारित है। भारत में विक्रम संवत मास, पक्ष और तिथि कृषि पंचांग के प्रमुख अंग हैं।

चन्द्रमा की विभिन्न अवस्थाएँ (चन्द्रकलाएँ : तिथि)

प्रथम पक्ष (शुक्ल पक्ष) – चन्द्रमा की गति अन्धकार से प्रकाश की ओर गति होती है। प्रारम्भ में सूर्य एवं पृथ्वी के बीच अवस्थित चन्द्रमा की बाहरी पृथ्वी फलक की ओर गतिमान होता है। लगभग 7 दिनों (प्रथम भाग) में चन्द्र मध्य बिन्दु तक पहुँचकर

अर्द्ध प्रकाशित होता है तथा अगले 7 दिनों (द्वितीय भाग) में चन्द्र बाहरी बिन्दु तक पहुँचकर पूर्ण प्रकाशित होता है जिसे पूर्णिमा कहते हैं।

द्वितीय पक्ष (शुक्ल पक्ष) – इस कला में चन्द्रमा पुनः अपनी पुर्व स्थिति में पहुँचने के लिये गतिमान होता है तथा अगले 7 दिनों (तृतीय भाग) में चन्द्रमा का आधा भाग सूर्य की तरफ होता है एवं आधा भाग अंधकारमय होता है। अन्तिम 7 दिनों (चतुर्थ भाग) में चन्द्रमा पूर्णतः सूर्य और पृथ्वी के बीच पहुँच जाता है व पूर्ण अन्धकारमय हो जाता है। इसे अमावस्या कहते हैं।

व्यक्त भावनाओं एवं आस्थाओं के पीछे व्यापक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इसी भारतीय वैज्ञानिक संस्कृति का एक उदाहरण है भारत में विभिन्न कार्यो को सम्पादित करने के लिये पंचाग का उपयोग किया जाता है। भारतीय ऋषि–मुनियों एवं शास्त्र वेत्ताओं ने यह माना कि जल, जमीन, वायुमण्डल तथा अग्नि तत्व तथा नक्षत्र मनुष्य जीवन तथा इससे सम्बधित क्रियाओं को प्रभावित करता है जिनको सही रूप से परिभाषित कर मानव जीवन को बेहतर बनाया जा सकता है। भारतीय पंचांग तिथिवार श्रेष्ठ, शुभ, प्रिय, अशुभ, आदि सम्भावित खगोलीय एवं सृष्टिगत प्रभावों का मानव जीवन में लागू करने की सिफारिशें एवं गहरी जीवन दृष्टि का संकलन है। आधुनिक उपकरणों एवं तकनीकों के विकास के साथ आज का विज्ञान भारतीय पंचांग या केलेण्डर का आंकलन कर इस ज्ञान की वैज्ञानिक अवधारणा को पुनर्स्थापित कर रहा है।

इसी अनुसार भारत में कृषि के विभिन्न कार्यो को सम्पन्न करने के लिये नक्षत्र एवं वायुमण्डलीय प्रभावों के शुभ तथा अशुभ तिथि, वार, घड़ी एवं अनुभवजन्य प्रथाओं का उपयोग किया जाता है। इस केलेण्डर या पंचांग का उपयोग प्रकृति को लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभावों का सार्वभौमिक लाभ लेकर कृषि को अधिक कल्याणकारी एवं पोषक बनाया जा सकता है। विश्व आधुनिक कृषि वैज्ञानिकों ने कृषि पंचांग का महत्व प्रतिपादित किया है।

एक बार शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष की गति करने में चन्द्रमा को 29.5 दिन का समय लगता है। जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

कृषि कार्य में महत्व

1. पूर्णिमा के समय चन्द्र का सर्वाधिक आकर्षण जल तत्व पर होता है। पृथ्वी और पौधों के अन्दर का जल चन्द्र की इस अवस्था में ऊपर की ओर गतिमान होता है और उच्चतम स्तर पर होता है। चन्द्रमा के इस प्रभाव से वातावरण में आर्द्रता होती है। अतः यदि पूर्णिमा के 48 घण्टे पूर्व बीजों की बुआई की जाये तो अंकुरण में वृद्धि होती है तथा पौधे निरोगी रहते हैं।
2. पूर्णिमा के समय अधिक आर्द्रता होने के कारण फफूंद तथा अन्य सूक्ष्म जीवाणुओं का प्रकोप अधिक होता है अतः फसल की कटाई इस समय नही करनी चाहिये।
3. अमावस्या के समय नमी कम होती है इसलिये ऐसे समय कटाई की जाये तो फसलोपरान्त होने वाली हानि कम होती है। बीज व दाने स्वस्थ व स्वादिष्ट होते हैं।

चन्द्र उत्तरायण एवं दक्षिणायन पक्ष

चन्द्रमा 27.3 दिन में एक बार उत्तरायाण एवं दक्षिणायन की गति पूर्ण करता है। यह अवस्था चन्द्रमा के शुक्ल व कृष्ण पक्ष से भिन्न होती है।

चन्द्र उत्तरायण पक्ष का कृषि कार्य में महत्व

1. चन्द्र उत्तरायण की अवस्था में पृथ्वी की ऊपरी सतह पर क्रियाशीलता में बढ़ोतरी होती है। जल तत्व पौधों में ऊपर की ओर गति करता है जिससे फसल के कायिक भाग पत्ती, तना, फल एवं फूल में वृद्धि होती है।
2. इस अवस्था में पत्तीदार फसलो की कटाई, फलों की तुड़ाई, कलम लगाना तथा चारे की कटाई करना उत्तम रहता है।
3. बीजों की बुआई इस अवस्था में करने से अंकुरण अच्छा होता है तथा रोग की सम्भावना कम रहती है।

चन्द्र दक्षिणायन पक्ष का कृषि कार्य में महत्व

1. चन्द्र दक्षिणायन की अवस्था में ब्रह्माण्डीय शक्तियों का प्रभाव मृदा की सतह से नीचे के भाग पर संकेन्द्रित होता है जिससे भूमि क्रिया शीलता में वृद्धि होती है। अतः इस अवस्था में कन्द फसलों जैसे अश्वगन्धा, सफेद मूसली आदि की गुणवक्ता एवं उत्पादन में वृद्धि होती है।
2. सींग की खाद बनाना, निकालना, खेत में ड़ालना, कम्पोस्ट बनाना व खेत में मिलाना, जुताई करना, निराई – गुड़ाई करना आदि कार्यो के लिये यह समय सर्वोतम है। हरी खाद बनाना, पलटना व सिंचाई के लिये भी यह उपयुक्त समय है।

पृथ्वी से चन्द्रमा की अति निकटता या अति दूरी

चन्द्रमा अपनी कक्षा में पृथ्वी के चारों ओर अण्डाकार कक्ष में घूमता है। अतः चन्द्र लगभग 7 दिन के अन्तराल से पृथ्वी के अति पास या अति दूर होता है। जब चन्द्रमा पृथ्वी से अति दूर होता है तो इसे (अपभू) कहते हैं। जब चन्द्रमा पृथ्वी के अति पास होता है तो इसे (उपभू) कहते हैं। इस समय बोये गये बीजों से कमजोर पौधे बनते हैं। इस दोनों ही स्थितियों में कोई भी कृषि कार्य नही करना चाहिये।

2.6 कीट एवं रोगों का जैविक नियन्त्रण–सामान्य जानकारी (Biological Control of Insect and Diseases - General Introduction)

फसलों की कीटों एवं रोगों से सुरक्षा करना सफल फसल प्रबन्धन का एक महत्वपूर्ण अंग है। कीटों एवं रोगों द्वारा फसलों की उपज में 10 से 100 प्रतिशत तक हानि हो सकती है। ऐसा आँकलन किया गया है कि उपज में होने वाले कुल नुकसान में कीटों से 26 प्रतिशत तथा रोगों से 20 प्रतिशत हानि होती है। अतः विभिन्न रासायनिक तथा अरासायनिक विधियों से कीट एवं रोगों का प्रबन्धन करना आवश्यक है। लोकसभा की स्टेण्डिंग कमेटी ऑन एग्रीकल्चर (2015–16) के अनुसार हमारे देश में वर्ष 2013–14 में पेस्टीसाइड की कुल खपत 57353 मेट्रिक टन थी। जबकि राजस्थान में इनकी मात्रा 2736 मेट्रिक टन थी। हमारे देश में पेस्टीसाइड की अधिकतर मात्रा को विदेशों से आयात किया जाता है। वर्ष 2013–14 में 512209 लाख रूपये का 77376 मेट्रिक टन (तकनीकी श्रेणी) पेस्टीसाइड का आयात किया गया। हमारे देश की कृषि में पेस्टीसाइड का उपयोग बढ़ रहा है।

रसायन आधारित फसल संरक्षण पर अधिक केंद्रित करने पर फसल सुरक्षा तो होती है लेकिन कई दीर्घकालीन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जैसे – खाद्यानों में हानिकारक रसायनों के अवशेष, लाभदायक कीटों व सूक्ष्म जीवों का नष्ट होना, पर्यावरण प्रदूषण, आदि। खाद्य एवं कृषि उत्पादों में पेस्टीसाइड अवशेष का मिलना एवं पेस्टीसाइड के असंतुलित उपयोग से आमजन में उत्कृष्ट कृषि क्रियाओं (EAP) द्वारा उत्पादित कृषि उत्पादों की तरफ रूझान बढ़ रहा है। साथ ही पर्यावरण के संरक्षण तथा खेती में लागत कम करने हेतु अरासायनिक विधियों से कीटों एवं रोगों का नियन्त्रण पर जोर दिया जा रहा है।

प्रकृति में जितने हानिकारक कीटों का उद्भव होता है, लाभकारी कीट एवं मित्र जीव भी उससे कई गुना ज्यादा मौजूद है। आवश्यकता है उनको पहचानने, संग्रहण करने व उपयोग करने की। वेदों में भी कहा गया है जीव जीवस्य भोजनम् – प्राकृतिक मित्र जीवों एवं वानस्पतिक कीटनाशकों के द्वारा कीट एवं व्याधि नियन्त्रण कम खर्चीला, प्रभावी व स्थायी उपाय है तथा पर्यावरण पर भी इनका विपरीत प्रभाव नही पड़ता है। कीट एवं व्याधि नियन्त्रण की जानकारी काफी प्राचीन है। हजारों साल पूर्व से ही चीन में नींबू कुल के पौधों के हानिकारक कीटों के विरूद्ध चीटियों का प्रयोग किया जाता था, जबकि यमन में चीटियों का प्रयोग खजूर के हानिकारक कीटों के विरूद्ध होता था। जैविक खेती में संश्लेषित रसायनों का प्रयोग वर्जित होता है अतः जैविक खेती में प्राकृतिक मित्र जीवों व वानस्पतिक कीटनाशकों का प्रयोग किया जाता है।

जैविक खेती में फसलों में कीट एवं व्याधि नियन्त्रण हेतु निम्न विधियों का प्रयोग किया जाता है–

1. **सस्य नियन्त्रण** – स्वच्छता, भू–परिष्करण, उचित फसल चक्र, बुआई के समय में परिर्वतन, उचित पोषक, तत्व प्रबन्धन, प्रपंच फसलें, मिश्रित फसलें, कटाई–छँटाई, आदि।
2. यान्त्रिक नियन्त्रण –हाथ से पकड़कर नष्ट करना, पौधों को झाड़कर, खाई खोदना, कीट प्रपंच अवरोध लगाना, पौधो के चारों ओर जाली लगाना आदि।
3. जैविक नियन्त्रण –परजीव्याभ, परभक्षी कीट, रोगाणु, सूत्रकृमि, विशाणु आदि।
4. वानस्पतिक कीटनाशकों का प्रयोग –नीम, करंज, लहसुन आदि।

कीट व्याधि नियन्त्रण के जैविक उपाय

हानिकारक जीवों की रोकथाम व उनके प्रभाव को कम करने या उनको नष्ट करने के लिये इनके प्राकृतिक शत्रुओं का उपयोग करना ही जैविक जीवनाशक या जैविक नियन्त्रण कहलाता है। कीट एवं व्याधियों के जैविक नियन्त्रण के घटक निम्न हैं –

1. **रीढ़धारी शिकारी जीव** – कुछ रीढ़धारी जीव हानिकारक कीटों को पकड़कर भक्षण करते हैं जिससे उनकी संख्या सीमित रहती है। इन जीवों में मछलियाँ, सर्प, मेढ़क, पक्षी, आदि मुख्य हैं। परन्तु इनका जैविक नियन्त्रण के रूप में प्रयोग कम ही हुआ है। उदाहरण – चने के खेत मे फली छेदक के नियन्त्रण हेतु मांसाहारी पक्षियों का उपयोग किया जाता है। चिड़ियो को आकर्षित करने के लिए एक हेक्टेयर क्षेत्र में 200 लकड़ी की खपच्चियाँ 40–50 सेमी. ऊँचाई पर लगायें। या T आकार के अड्डे लगायें।
2. **परभक्षी कीट** – प्रकृति में कई प्रकार के परभक्षी मित्र कीट हानिकारक कीटों को खाकर अपना जीवनयापन करते हैं। इनमें मुख्य परभक्षी कीट निम्न हैं –
   (i) क्राइसोपिड्स – क्राइसोपिड्स एक परभक्षी कीट है जो मुलायम शरीर वाले कीट चैपा, थ्रिप्स, जैसिड्स, फुदका, मिलीबग, सफेद मक्खी एवं लेपिडोप्टेरा गण के कीटों के अण्डों व सूंडियों को खाते हैं। भारत में इनकी 21 जातियाँ पाई जाती हैं, जिसमें 4 मुख्य हैं। फसलों में 50,000 सूंडियाँ प्रति हेक्टेयर एवं फलदार वृक्षों में 10–20 सूंडियाँ प्रति पेड़ छोड़ते हैं।
   (ii) कोक्सीनेला स्पीशीज – यह परभक्षी कीट सभी प्रकार के माहू/ चैपा का भक्षण करते हैं। ये कीट खेत में छोड़ने के एक सप्ताह के भीतर माहू को समाप्त कर देते हैं। इस कीट के वयस्क एवं शिशु दोनों ही रस चूसक कोमल नाशीजीवों का भक्षण कर उनकी प्राकृतिक रोकथाम करते हैं।

उदाहरणतः कोक्सीनेला सप्टमपंकटेटा, मिनोकाईल्स, सेक्समेकूलेट्स, क्रिप्टोलियम, ब्रूम्स, आदि

रेडुवीड् बग्स– राईनोकोरस्, कोरेनस् आदि ये परभक्षी बग विभिन्न सुण्डियों का भक्षण कर उनकी प्राकृतिक रोकथाम करती हैं।

3. **परजीवी कीट** – जैविक नियन्त्रण में परजीवी कीटों का महत्वपूर्ण स्थान है।

हानिकारक कीटों की विभिन्न अवस्थायें जैसे

अण्डे, सुण्डी, शंकू एवं प्रौढ़ अवस्था अनेक प्रकार के परजीवों के माध्यम से प्राकृतिक रूप से नियन्त्रित होती हैं।

अण्ड परजीव्याभ ट्राईकोग्रामा, टिलोनोमस आदि

अण्ड–सुण्डी परजीव्याभ चिलोनस्

सुण्डी परजीव्याभ कोटेसिया, ब्रेकोन, किलियोनिस, कैम्पोलेटिस, आईसोटिमा, स्टेनोब्रेकन आदि

शंकू परजीव्याभ – प्लेटीगैस्टर,

रस चूसक कीटों के परजीव्याभ–इपीरिकेनिया, एनकार्सिया, एल्पोट्रोपा आदि

(i) ट्राइकोग्रामा – यह एक अण्ड परजीवी है जो हानिकारक कीटों विशष तौर से लेपीडोप्टेरा गण के कीटों के अन्दर अपने अण्डे देता है। ट्राइकोग्रामा के एक कार्ड पर लगभग 16000–20000 पोश्य कीटों के परजीवी अण्डे होते हैं। यह कीट आकार मे बहुत छोटे होते हैं जो केवल 5–7 मीटर तक उड़ सकते हैं। फसलों में ट्राइकोग्रामा का उपयोग गन्ने में जड़, तना एवं शीर्ष भेधक, कपास मे बॉलवार्म, बैंगन में फल छेदक तथा धान एवं टमाटर में तना छेदक के नियन्त्रण के लिए किया जाता है। भारत में पेस्टीसाइड का उपयोग 600 ग्राम प्रति हैक्टेयर है। यह मात्रा अन्य विकसित देशों की अपेक्षा कम है लेकिन बढ़ती लागत 50,000–1,50,000 अण्डे (2.5–7.5 ट्राइकोकार्ड) प्रति हेक्टेयर 2 से 6 बार प्रयोग करते हैं।

(ii) इपीरिकेनिया – इस परजीवी का उपयोग गन्ना में पायरिला के प्रभावी नियन्त्रण हेतु किया जाता है।

4. **फफूंद** – फफूंद जैविक जीवनाशी का एक बड़ा समूह है। फफूंद की अनेक जातियाँ कीटों को नष्ट करने में सक्षम हैं। फाइकोमाइसीटिज, एस्कोमाइसीटिज, बेसिडियोमाइसीटिज वर्ग के विभिन्न फफूंद जीवनाशी के रूप में प्रयोग किये जा सकते है। प्रतिरोधी फफूंद का उपयोग फफूंदजनित रोगों के निवारण में किया जाता है।

   ट्राइकोडर्मा – यह एक मित्र फफूंद है जो मृदा में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार की हानिकारक फफूंदों के प्रबन्धन में महत्वपूर्ण योगदान देती है। जैविक खेती में इस समूह की फंफूदों का महत्व और भी बढ़ जाता है। ट्राइकोडर्मा को बीज, जड़ एवं भूमि उपचार में अनुमोदित मात्रा में प्रयोग किया जाता है। बीजोपचार हेतु 6–8 ग्राम ट्राईकोडर्मा प्रति किग्रा. बीज की दर से प्रयोग करते हैं। इसका उपयोग चने में उखटा, मूंगफली में कॉलर रोट, सोयाबीन में जड़ सड़न आदि के नियन्त्रण हेतु किया जाता है।

5. **जीवाणु** – कीटों और फसल रोगों के नियन्त्रण में जीवाणुओं का उपयोग सफलतापूर्वक व्यापारिक रूप से हो रहा है। बैसीलस थूरिन्जेन्सिस (बी.टी.) एक प्रचलित कीटनाशी है जो लेपीडोप्टेरा, डिप्टेरा, कोलिओप्टेरा गण के कीटो का प्रभावी नियन्त्रण करता है। विभिन्न फसलों में इन गणों के कीटों के नियन्त्रण के लिए फसल की उपयुक्त अवस्था पर बी.टी. का 1.0 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव किया जाता है।

6. **विषाणु** – अभी तक 7 कुल के विषाणु कीटों को मारने में सक्षम पाये गये हैं। इनमें से बेकुलो विरीडी कुल के विषाणुओं पर अधिक कार्य हुआ है। इस कुल मे एन.पी.वी. (न्यूक्लियर पॉलीहेड्रोसिस वायरस) व जी.वी. (ग्रेनुलोसिस वायरस) प्रमुख हैं। उदाहरण – चने मे फली छेदक के नियन्त्रण हेतु हेलिकोवर्पा एन.पी.वी. 250 एल.ई. का 750 मिली. प्रति हेक्टेयर छिड़काव किया जाता है।

7. **सूत्रकृमि** – सूत्रकृमि कीटों पर बाह्य एवं आन्तरिक रूप से परजीवी होते हैं। फसलों के हानिकारक कीटों को मारने में स्टेनरनिमेटिडी कुल व हेटरोरेवेटिडी के सूत्रकृमि मुख्य हैं। जिनका प्रयोग विभिन्न सुण्डियों की रोकथाम हेतु किया जाता है। राइटाइडीस, पैनग्रोलेम्स और नेयोएप्लेवसना जाति के सूत्रकृमि का प्रयोग मक्का में तना छेदक, चने में फली छेदक तथा धान में तना छेदक कीटों की रोकथाम हेतु किया जाता है।

8. **प्रोटोजोआ** – विभिन्न प्रकार के प्रोटोजोआ कीटों में संक्रमण फैलाते हैं। नोजेमा जाति के प्रोटोजोआ को टिड्डे के नियन्त्रण में सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है।

वानस्पतिक उत्पादों से कीट–व्याधि नियन्त्रण

भारत वर्ष में विभिन्न वनस्पतियों का उपयोग औषधियों और अन्न भण्डारण में तथा फल व फूल के रख रखाव हेतु प्राचीन काल से ही हो रहा है। वनस्पति के किसी भाग जैसे जड़, तना, पत्तियाँ, फल, फूल, बीज, आदि का प्रयोग कर कीट व व्याधि की रोकथाम की जाती है। पौधे अपनी द्वितीयक उपापचय क्रियाओं में टरपेनोइड, एल्केलॉइड, फ्लेवेनोइड, अमीनों अम्ल आदि रसायन उत्पन्न करते हैं जो कि कीटों में प्रतिकर्षण व खाने में अरूचि पैदा करते है। यही रसायन पौधों को कीट एवं व्याधियों से सुरक्षा प्रदान करते हैं।

हमारे देश में कई पौधे जैसे नीम, करंज, तम्बाकू, सीताफल, क्राइसेंथेमम, लहसुन आदि पाये जाते है जिनके विभिन्न उत्पादों से फसलों में कीट–व्याधियों का नियन्त्रण आसानी से किया जा सकता है।

1. **नीम** – नीम व नीम उत्पादों का फसलों में कीट व व्याधियों के नियन्त्रण में उपयोग नया नहीं है। हमारे देश में नीम की पत्तियों का प्रयोग अनाज भण्डारण में अनादि काल से किया जा रहा है। हालांकि 1959 में जर्मनी के कीट वैज्ञानिक ने बताया कि सूडान में नीम एक मात्र ऐसा वृक्ष पाया गया जो असंख्य टिड्डियों के आक्रमण भी से बचा रहा। नीम के सभी भाग पत्तियाँ, तना, फूल, फल, छाल तथा बीज में कीटनाशक गुण पाये जाते हैं।

अनुसंधानों से यह निष्कर्श निकाला जा चुका है कि नीम के उत्पाद कीटों की 200 से अधिक प्रजातियों की विभिन्न अवस्थाओं को प्रभावित करते हैं। नीम की खली का उपयोग

करने से मृदा की उर्वरा शक्ति तो बढ़ती ही है साथ में कई भूमिगत कीटों जैसे दीमक आदि से फसल की सुरक्षा होती है। नीम की पत्ती या निम्बोली के 10 प्रतिशत घोल का छिड़काव करने से कई कीटों की रोकथाम होती है। जैसे– मक्का व ज्वार में तना छेदक, चने में फली छेदक आदि।

विश्वभर में नीम का प्रयोग पादप रोग नियन्त्रण में भी किया जाने लगा है। नीम के तेल का उपयोग चने में लगने वाले उखटा रोग जनक जैसे राइजोक्टोनिया सोलेनाई व स्केलेरोशियम रोल्फसाई की रोकथाम के लिए सफलतापूर्वक किया जा चुका है। निम्बोली का प्रयोग चूर्णिल आसिता जैसे रोग के नियन्त्रण के लिये सफलतापूर्वक किया जा चुका है।

नीम के उत्पादों में 100 से ज्यादा प्रभावकारी रासायनिक तत्व पाये जाते हैं। इन तत्वों में लिमोनोइड तत्वों का समूह (ट्राइटरपीनोइट्स) मुख्य है जिसमें अजाडेरोच्टिन, निम्बिन, निम्बिडिन, सेलानिन, सेलानोल, क्विरसेटिन आदि तत्व प्रमुख हैं। नीम के बीजों में अजाडेरेच्टिन मुख्य तत्व है। नीम के बीजों में लगभग 2 से 6 प्रति किलो दाना अजाडेरेच्टिन पाया जाता है। इसके कारण नीम में कड़वापन होता है। नीम की बीजों में उपलब्ध टिग्निक एसिड के कारण नीम तेल में विशेष गन्ध आती है। नीम के गुणों को देखते हुए, अमेरिका की राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी ने वर्ष 2002 प्रकाशित रिपोर्ट में लिखा कि ''नीम'' वैश्विक समस्याओं का हल करने वाला वृक्ष है।

भूरा–हरा फुदका व चने की इल्ली के नियन्त्रण हेतु तम्बाकू की पत्तियों के घोल का छिड़काव प्रभावी पाया गया है।

3. **करंज** – करंज एक अति प्राचीन भारतीय वृक्ष है। इसकी खली का उपयोग भूमिगत कीटों के नियन्त्रण हेतु किया जाता है। करंज के तेल व पत्तियों के रस से धान के कई कीट नियन्त्रित किये जा सकते हैं।
4. **सीताफल** – सीताफल के तने व पत्तियों में कई तरह के एल्केलोइड पाये जाते हैं। इसका रस दीमक व अन्य कीटों को प्रभावी रूप से नियन्त्रित करता है। दाल वाली फसलों के बीजों को सीताफल उत्पाद से उपचारित कर भण्डारित करने पर अधिक समय तक कीटों से सुरक्षा मिलती है।
5. **लहसुन** – लहसुन एक औषधीय फसल है। इसमें कीटनाशी व जीवाणुनाशी गुण पाये जाते हैं। लहसुन के 2 प्रतिशत घोल के छिड़काव से फसलों में चूसक कीटों का नियन्त्रण किया जा सकता है। इसी प्रकार लहसुन के घोल के छिड़काव से जीवाणु रोगों का भी नियन्त्रण होता है।

कीट एवं व्याधियों का भौतिक नियन्त्रण

1. **प्रकाश प्रपंच का उपयोग** – सफेद (दूधिया) प्रकाश की ओर कीड़े आकर्षित होते हैं। इसलिए खेत में मर्करी लाईट अथवा बल्ब लगा दिया जाता है, जो फसल ऊँचाई से सिर्फ आधा फीट की ऊँचाई पर हो तथा उसके पास पानी का ड्रम अथवा मटका रख दिया जाता है। रात में कीड़े प्रकाश की ओर आकर्षित होते हैं एवं पानी में गिर जाते हैं। यह प्रकाश रात्रि को सिर्फ 7 बजे से 10 बजे तक ही करना चाहिये। इसके बाद मित्र कीट उड़ते है। अतः प्रकाश रहने पर उनके मरने की सम्भावना रहती है।
2. **फैरोमेन ट्रेप का उपयोग** – फैरोमेन ट्रेप कार्बनिक रसायन (गंध) प्रपंच है। इसमें उपलब्ध रसायन नर पतंगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये गंध वातावरण में

क्र.सं.	नीम उत्पाद	बायोपेस्टीसाइड तैयार करने की विधि
1.	नीम बीज सत (NSKE)	50 ग्राम नीम के 3 से 8 माह पुराने बीज का पाउडर को 1 लीटर पानी में रातभर भिगोकर घोल को छानकर छिड़काव करें।
2.	नीम पत्ती सत (NLE)	1 किलोग्राम नीम की हरी पत्तियों को 5 लीटर पानी में रातभर भिगोने के बाद चटनी/पेस्ट बनाकर छान लें तथा छिड़काव करें।
3.	नीम तेल	20 से 30 मिलीलीटर नीम का तेल प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें।
4.	नीम खली सत (Neem Cake Extract)	100 ग्राम नीम की खली को एक लीटर पानी में मिलाकर रातभर भिगोने के बाद छान कर निकाले घोल की 1 मिलीलीटर मात्रा को एक लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें।

(Neem, a Tree for Solving Global Problems)

1. **क्राइसेंथेमम** – क्राइसेंथेमम के सूखे फूल आदिकाल से कीटनाशक के रूप में उपयोग मे लाये जा रहे हैं। भारत में कीटनाशी के रूप में इसका उपयोग सब्जी व फलों तक ही सीमित है।
2. **तम्बाकू** – तम्बाकू में पाया जाना वाला निकोटिन कीटनाशक के रूप में कार्य करता है तम्बाकू की पत्तियों का रस सरसों में माहू, कपास की सफेद मक्खी, थ्रिप्स व बालवर्म को प्रभावी रूप से नियन्त्रित करता है। धान में

छोड़ता है। गंध से आकर्षित नर पंतगे ट्रेप में आकर फंस जाते हैं। नर पतंगो के नियन्त्रण के लिए प्रति हेक्टेयर 5–7 ट्रेप लगाना आवश्यक होता है। ट्रेप का ल्यूर 15 दिन में बदलते रहना चाहिए ताकि पतंगे नियमित रूप से आकर्षित होते रहें।

कीट एवं व्याधि नियन्त्रण में गौ–मूत्र का उपयोग

गौ–मूत्र को वेदों में अमृत तुल्य बताया गया है यह माना जाता है कि गौ–मूत्र जितना पुराना उतना उपयोगी होता है। गौ–मूत्र का उपयोग शरीर एवं दिमाग को परिष्कृत करने, रोग निवारक, बायोपेस्टीसाइड पौध वृद्धि कारक तथा मृदा गुणवत्ता पोषक के रूप में किया जाता है। गौ–मूत्र के विभिन्न गुणों पर अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर कई पेटेन्ट जारी किए जा चुके हैं।

प्राचीन काल से ही गौ–मूत्र को कृषि तथा मानवजीवन में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गौ–मूत्र में आयरन, कैल्शियम, फॉस्फोरस, पोटाश, सोडियम, कॉपर, कार्बोनिक अम्ल व लेक्टोज पाया जाता है। गौ मूत्र से बनी दवाओं का प्रयोग मनुष्यों की विभिन्न बीमारियों के इलाज में भी किया जाता है। गौ–मूत्र को संक्रमण दूर करने वाला माना गया है। अनुसंधान द्वारा यह पाया गया है कि गौ–मूत्र में कीटनाशी का गुण होता है जिससे पौधे स्वस्थ व निरोगी रहते हैं।

गौ–मूत्र में लगभग 95 प्रतिशत पानी, 2.5 प्रतिशत यूरिया तथा 2.5 पोषक तत्व, लवण, हारमोन्स तथा एन्जाइम पाये जाते हैं। इसमें कॉपर, चांदी तथा सोने के कणों के अलावा एस्ट्रोजन, कोर्टिकोस्टेरॉइड तथा कीटोस्टेरॉइड भी पाये जाते है। गौ–मूत्र के 5 से 15 प्रतिशत सान्द्रता के घोल का सीधा छिड़काव तथा अन्य पौधों के सत जैसे– तुलसी, आम, धतूरा, आदि के साथ मिलाकर इसका प्रयोग फसलों में कवकनाशी, जीवाणुनाशी तथा कीटनाशी के रूप में किया जाता है।

2.7 टिकाऊ खेती की सामान्य जानकारी

परिचय

राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दीर्घावधि उर्वरक अनुसंधान व प्रयोगों के आधार पर 1980 के दशक से विभिन्न कृषि विशेषज्ञों ने किसानों द्वारा लगातार अधिक मात्रा में उर्वरक, पानी व एक ही प्रकार की फसल चक्र व उननत किस्म लेने से भूमि की उर्वरता में गिरावट, उपज तथा वातावरण पर दुष्प्रभाव के संकेत दिए थे। इसी के समानान्तर 1972 में स्टॉकहोम (स्वीडन) मे हुए प्रथम विश्व पर्यावरण सम्मेलन के कारण वातावरण व पारिस्थितिकीय टिकाऊपन पर अन्तर्राष्ट्रीय सोच जागने लगी। यहाँ पर सभी देशों से यह अपेक्षा जताई गई कि कृषि या पर्यावरण के क्षेत्र में ऐसा कोई अचानक परिवर्तन न किया जाए जिससे पर्यावरण पर दुष्प्रभाव पड़े। हमारे देश में गेहूँ व चावल में ज्यादा उर्वरक, पानी व अच्छे बीज के उपयोग में गिरावट होने लगी तथा खाद्यान्नों की आंशिक घटक उत्पादकता (Partial Factor Productivity) में गिरावट होने लगी। सेम, लवणयता, खरपतवारों व पानी एवं जमीन के प्रदूषण की समस्या बढ़ने लगी। इसके साथ ही 1992 में रियो डी जनेरियो (ब्राजील) में हुए दूसरे पृथ्वी सम्मेलन में टिकाऊपन की समस्या पर अन्तर्राष्ट्रीय सोच प्रकट होने पर सभी देशों ने उन सभी कृषि क्रियाओं को कृषि उत्पादन तकनीकों में समावेश करने पर विशेष ध्यान देना शुरू कर दिया जो फसल उत्पादन, भूमि की उर्वरता व वातावरण की सुरक्षा के साथ–साथ किसानों के लिए लम्बे समय तक फायदेमंद भी रहे तथा कृषि उत्पादन में टिकाऊपन कायम रहे।

टिकाऊ खेती

टिकाऊपन (Sustainability) का शब्दिक अर्थ है "किसी घटक की उत्पादन क्षमता को लंबे समय तक निरन्तर बनाए रखना"।

आमतौर पर इस सिद्वान्त को अगर कृषि से जोड़ दिया जाए तो इसका अर्थ है कि ऐसी कृषि पद्धति जो भूमि की उत्पादकता व लाभप्रदता में कोई विशेष परिवर्तन किए बगैर उत्पादन को बरकरार रखें। विश्व पर्यावरण और विकास आयोग और उसकी आर्थिक विकास एवं पर्यावरण सलाहकार समिति की रिपोर्टों में इस बात का बल दिया गया है कि कृषि एवं आर्थिक विकास तथा इसमें प्रयुक्त होने वाली नई तकनीकों को पर्यावरण सुरक्षा से जोड़ना होगा। इस परिप्रेक्ष्य में टिकाऊ खेती कृषि की ऐसी पद्धति है जिसमें पर्यावरण को बिना क्षति पहुँचाए खेती की पैदावार बढ़ती रहे तथा यह स्थिति लम्बे समय तक कायम रहे। ऐसी प्रणाली में उत्पादकता का मापदण्ड निम्नलिखित तरह से आंका गया है:–

$$\text{उत्पादकता} = \frac{\text{उत्पादन का मान} + \text{प्राकृतिक धरोहरों पर प्रभाव}}{\text{निवेश का मान}}$$

परिभाषा

टिकाऊ खेती एक कृषि पद्धति है जिसमें कृषि संसाधनों का इस प्रकार सफल प्रबंधन किया जाता है जिससे मानव की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें, साथ ही पर्यावरण में सुधार हो या गिरावट न आए और प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा हो सके।

टिकाऊपन के मानक

टिकाऊ खेती के निर्धारण के लिए निम्नलिखित तीन महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं का समावेश होना अति आवश्यक है:–

1. **दक्षता** – टिकाऊ खेती के लिए यह आवश्यक है कि उपलब्ध संसाधनों का दक्षता से उपयोग हो। प्रति इकाई संसाधन के उपयोग पर अधिक से अधिक उत्पादन मिले। दक्षता इंगित करती है कि प्रक्षेत्र पर उपलब्ध सभी संसाधनों का बुद्धिमता व संतुलित रूप से इष्टतम उपयोग हो।

2. **पर्यावरण** – कृषि उत्पादन को बढ़ाने वाली पद्धतियाँ या इसमें प्रयुक्त होने वाले संसाधनों का इस प्रकार उपयोग करें जिससे कि प्राकृतिक संसाधनों का कम से कम ह्रास हो एवं पर्यावरण का पूरा संरक्षण हो अर्थात् मुख्य रूप से मृदा, जल, जलवायु, उर्जा तथा पोषक तत्वों की प्रभावकारी एवं गुणकारी स्थिति बनी रहे।

3. **समय** – टिकाऊपन की कोई समय सीमा नहीं है। यह अनन्त है। दीर्घावधि तक कृषि की नई तकनीकों का प्रभावकारी व गुणकारी स्वभाव कायम रखने से टिकाऊपन बना रहता है। आधुनिक खेती के तौर–तरीके लाभकारी जरूर हैं लेकिन थोड़े समय के लिए। दीर्घावधि के लिए खेती को लाभकारी, टिकाऊ खेती के सिद्वान्तों व प्रणालियों को अपनाकर ही बनाया जा सकता है।

टिकाऊ खेती के सिद्धान्त

टिकाऊ खेती ऐसी कृषि क्रियाओं, तकनीकों व विधियों का समावेश है जो कृषि की दक्षता, पर्यावरण संरक्षण एवं मानवीय आवश्यकता के साथ दीर्घ काल तक सामंजस्य बनाए रखती हैं। टिकाऊ खेती के मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं :–

1. सभी कृषि कार्यकलापों को क्रियान्वित करने के समय इस बात से सजग रहना चाहिए कि कहीं कोई विधि प्राकृतिक संतुलन के किसी घटक पर विपरीत या प्रतिस्पर्धातमक प्रभाव नहीं डाल रही है यह कृषि–पारिस्थितिकी के घटकों में समांजस्यकारी होनी चाहिए।
2. परम्परागत व देशज कृषि तकनीकों को परिष्कृत करने के बजाए नई तकनीकों के साथ इसका सामंजस्य प्रेरित करना।
3. सभी उत्पादक एवं लाभप्रद कृषि क्रियाओं के समावेश पर जोर देना।
4. प्रकृतिक संसाधनो का संरक्षण करने वाले सभी पुरानी व नई तकनीकों को कृषि कार्यकलापों में अधिकाधिक सम्मिलित करना।
5. स्वास्थ्य व सुरक्षा को पूरा ध्यान देने वाली होनी चाहिए।
6. कम लागत वाली कृषि तकनीकों व नवीनीकृत संसाधनों पर अधिक बल देना।
7. दीर्घकाल तक प्राकृतिक संतुलन व मानव आवश्यकता का ध्यान रखें।
8. यह एक निरन्तर व गतिमान पद्वति है अतः नई तकनीकों व ज्ञान के आधार पर समय व स्थान के अनुसार परिवर्तनशील है।

टिकाऊ खेती के घटक : खेती को टिकाऊ बनाने के लिए निम्न घटकों का समावेश करना आवश्यक है।

1. **फसल विविधिकरण** – इसमें फसल चक्र, मिश्रित फसल एवं अन्तर्शस्य खेती एवं फसल पद्धति के सिद्धान्तों के अनुसार फसलों का चुनाव एवं उत्पादन किया जाता है।
2. **आनुवांशिक विविधता** – कृषि जलवायु एवं मौसमजन्य नुकसान को कम करने तथा एकल जीन बहुलता के खतरे को कम करने हेतु अलग–अलग आनुवांशिकी के पेड़–पौधों एवं जीवों का चुनाव कर उत्पादन करने पर जोर दिया जाता है।
3. **समन्वित पोषक तत्व प्रबंधन** – विभिन्न जैविक एवं अजैविक स्रोतों तथा प्रबंधन कारकों के उचित समन्वय द्वारा बेहतर एवं सम्यक तरीके से फसलों की पोषण आवश्यकता पूरी की जाती है। साथ ही मृदा उत्पादकता भी बनाए रखी जाती है।
4. **समन्वित नाशीजीव प्रबंधन** – भौतिक एवं शस्य क्रियाओं, जैविक, पारिस्थितिकीय, रासायनिक एवं वर्जन पद्धतियों का समावेश कर पर्यावरण पर विपरीत प्रभाव डाले बिना कीटों एवं रोगों एवं हानिकारक जीवों का नियंत्रण एवं प्रबंधन किया जाता है।
5. **समन्वित जल प्रबंधन** – जल संग्रहण एवं संरक्षण, जल वितरण, जल पुर्नभरण तथा सिंचाई की अधिक प्रभावी विधियों एवं जलसंग्रहण क्षेत्र प्रबंधन द्वारा जल के अधिकतम सदुपयोग एवं पुनर्भरण के सिद्धान्तों को अपनाया जाता है।
6. **उर्जा प्रबंधन** – नवीनीकरण उर्जा के वैकल्पिक स्रोतों का टिकाऊ खेती में समावेश करने पर जोर दिया जाता है। बायोगैस, बायोमास, सौर एवं वायुजनित ऊर्जा संसाधनों का कृषि प्रबंधन में समावेश किया जाता है।
7. **उन्नत तकनीकों का ज्ञान** – कृषि की उन्नत तकनीकों एवं उत्पादों के सामाजिक, पर्यावरणीय एवं आर्थिक प्रभावों के बारे में नवीनतम जानकारी के सतत् अर्जन से कृषि उत्पादन में टिकाऊपन लाया जा सकता है।
8. **सूचना प्रबंधन**– खेती से संबंधित नई तकनीकों, बाजार, योजनाओं, विषय विशेषज्ञ तथा कन्सलटेन्सी संबंधी सेवाओं के बेहतर उपयोग के लिए क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सूचनाओं की जानकारी आवश्यक है इसके लिए ई–लर्निंग, ई–मार्केट, रिमोट सेन्सिंग, इन्टरनेट, मोबाईल एप, जीपीएस आदि तकनीकों का इस्तेमाल कर खेती के प्रबंधन को दक्ष बनाया जा सकता है।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

1. आधुनिक खेती के प्रतिकूल प्रभावों के कारण टिकाऊ खेती की अवधारणा का जन्म हुआ।
2. आज विश्व में जैविक खेती, बायोडायनेमिक खेती, अग्निहोत्र, ऋषि खेती, परमाकल्चर, इत्यादि का प्रचलन

बढ़ रहा है। इन सभी का उद्देश्य एक ही है– कृषि उपज में टिकाऊपन के साथ ही प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण।

3. जैविक खेती मुख्यतया फसल–चक्र, फसल अवशेष, जीवांश खाद, दलहनी फसल, हरी खाद, खनिज पदार्थों एवं जैविक कीट व व्याधि नियंत्रण पर निर्भर करती है।
4. जैविक खेती में फार्म को एक जीवित संगठन के रूप में माना जाता है।
5. जैविक उत्पाद के व्यवसायीकरण हेतु जैविक उत्पाद प्रमाणीकरण होना आवश्यक है।
6. जैविक खेती में फसल को पोषक तत्वों की आपूर्ति जीवांश/कार्बनिक खादों से की जाती है।
7. गोबर की खाद में 0.5 प्रतिशत नाइट्रोजन, 0.25 प्रतिशत फॉस्फेरस व 0.50 प्रतिशत पोटाश होता है।
8. कम्पोस्ट फार्म अवशिष्टों व शहर–कस्बों के अवशिष्टों से तैयार की जाती है।
9. इन्दौर विधि ए. होवार्ड व यशवन्त डी. वाड द्वारा विकसित की गई है।
10. नेडेप विधि महाराष्ट्र के कृषक नाडेप काका द्वारा विकसित की गई है।
11. वर्मीकम्पोस्ट बनाने हेतु एपिजिक किस्म के केंचुएँ काम में लिये जाते हैं।
12. एक प्रजनन केंचुआ 6 माह में 250 केंचुएँ पैदा कर देता है।
13. नाइट्रोजन जैव उर्वरक है– राइजोबियम, एजोटोबेक्टर, एजोस्पिरिलम, नील हरित शैवाल, एजोला आदि तथा फॉस्फोरस जैव उर्वरक पी.एस.एम./पी.एस.बी. व माइकोराइजा हैं।
14. राइजोबियम का उपयोग दलहनी फसलों में किया जाता है।
15. नील हरित शैवाल व एजोला का उपयोग धान में किया जाता है।
16. एजोटोबेक्टर व एजोस्पिरिलम जैव उर्वरको का प्रयोग अदलहनी फसलों में किया जाता है।
17. पी.एस.एम./पी.एस.बी. का प्रयोग सभी प्रकार की फसलों व सब्जियों में किया जाता है।
18. जैव उर्वरकों का प्रयोग बीज उपचार, मृदा उपचार पौध उपचार व कन्द उपचार के लिये किया जाता है।
19. डॉ. रूडोल्फ स्टेनर ने बॉयोडायनेमिक खेती की विचारधारा का प्रतिपादन किया।
20. बॉयोडायनेमिक खेती को जैवगतिकी कृषि भी कहते हैं।
21. कृषि पंचांग मूलतः चन्द्रमा की गति पर आधारित होता है।
22. पूर्णिमा के 48 घण्टे पूर्व बीजों की बुआई की जाये तो अंकुरण दर में वृद्धि होती है। इस दिन अधिक आर्द्रता के कारण फफूंद तथा अन्य सूक्ष्म जीवाणुओं का प्रकोप अधिक होता है।
23. अमावस्या पर फसल की कटाई करने पर फसलोपरान्त होने वाली हानि कम होती है।
24. चन्द्र उत्तरायण अवस्था में बुआई करने पर अंकुरण अच्छा होता है। इस अवस्था में पत्तीदार फसलों की कटाई, फलों की तुड़ाई, कलम लगाना तथा चारे की कटाई करना उत्तम रहता है।
25. चन्द्र दक्षिणायन अवस्था में कन्दवाली फसलों की गुणवत्ता व उत्पादन में वृद्धि होती हैं। यह अवस्था खाद बनाने व खेत में डालने तथा जुताई के लिये सर्वोत्तम है।
26. जैविक खेती में कीट एवं व्याधि नियन्त्रण हेतु सस्य नियन्त्रण, यान्त्रिक नियन्त्रण, जैविक नियन्त्रण, वानस्पतिक उत्पाद का प्रयोग, आदि उपाय काम में लिये जाते हैं।
27. फसलों में कीट व व्याधि के जैविक नियन्त्रण हेतु परजीव्याभ, परभक्षी, रोगाणु, जीवाणु, विषाणु, प्रोटोजोआ आदि का उपयोग किया जाता है
28. जैविक नियन्त्रण हेतु क्राइसोपीड्स व कोक्सीनेला प्रमुख परभक्षी कीट हैं।
29. ट्राइकोग्रामा व एपीकार्निया जैविक नियन्त्रण के प्रमुख परजीवी कीट है।
30. ट्राइकोडर्मा एक फफूंद है जो विभिन्न फसलों में बीज एवं मृदा उपचार हेतु काम में ली जाती है।
31. *बैसिलस थूरिन्जेन्सिस* (बी.टी.) एक प्रचलित जैव कीटनाशी है जो लेपीडोप्टेरा, डिप्टेरा व कोलिओप्टेरा कुल के कीटों का नियन्त्रण करती है।
32. एन.पी.वी. व जी.वी. जैविक नियन्त्रण हेतु मुख्य विषाणु है।
33. कीट–व्याधि की रोकथाम हेतु मुख्यतः नीम, करंज, क्राइसेंथेमम, लहसुन, गौ–मूत्र आदि उत्पाद काम में लिए जाते हैं।
34. टिकाऊ खेती एक कृषि पद्धति है जिसमें कृषि संसाधनों का इस प्रकार सफल प्रबंधन किया जाता है जिससे मानव की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें, साथ ही पर्यावरण में सुधार हो या गिरावट न आए और प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा हो सके।
35. टिकाऊ खेती ऐसी कृषि क्रियाओं, तकनीकों व विधियों का समावेश है जो कृषि की दक्षता, पर्यावरण संरक्षण एवं मानवीय आवश्यकता के साथ दीर्घ काल तक सामंजस्य बनाए रखती हैं।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. ऑर्गेनिक फार्मिंग शब्द का प्रयोग प्रथम बार किसने किया?
   (अ)हावर्ड ने (ब) फार्सन ने
   (स)नार्थबोर्न ने (द) वेलफोर ने
2. जैविक खेती में उपयोग लिया जाता है।
   (अ)जीवांश खाद (ब) रासायनिक उर्वरक
   (स) शाकनाशी (द) कीटनाशी
3. गोबर की खाद में कितने प्रतिशत नाइट्रोजन पाया जाता है–
   (अ) 0.5 (ब) 0.75
   (स) 0.25 (द) 1.0
4. हरी खाद के लिये ढेंचे की प्रति हेक्टेयर बीज दर रखते हैं–
   (अ) 60–80 किग्रा. (ब) 40–50 किग्रा.
   (स) 90–100 किग्रा. (द) 100–120 किग्रा.
5. जीवांश खाद से मृदा की कौनसी अवस्था पर प्रभाव पड़ता है?
   (अ) जैविक (ब) रासायनिक
   (स) भौतिक (द) उपरोक्त सभी
6. भारत में कितने प्रतिशत मृदाओं में जस्ते की कमी है?
   (अ) 47 (ब) 12
   (स) 64 (द) 58
7. चने के बीजों को कौनसे जैव उर्वरक से उपचारित करते है।
   (अ) राइजोबियम (ब) एजोटोबेक्टर
   (स) एजोला (द) एजोस्पिरिलम
8. एजोला का उपयोग कौनसी फसल में करते है।
   (अ) गेहूँ (ब) जौ
   (स) मक्का (द) धान
9. बॉयोडायनेमिक खेती की विचारधारा का प्रतिपादन किया–
   (अ) रोडेल फेमिली (ब) डॉ. रूडोल्फ स्टेनर
   (स) हंस मूलर (द) लेडी एवं वेलफोर
10. चन्द्र दक्षिणायन अवस्था में कौन सी फसलों की गुणवत्ता में वृद्धि होती है।
    (अ) फूल (ब) चारा
    (स) अनाज (द) कन्द
11. जैविक नियन्त्रण हेतु परभक्षी कीट है।
    (अ) क्राइसोपिड्स (ब) ट्राइकोग्रामा
    (स) ट्राइकोडर्मा (द) एन.पी.वी
12. एपीकार्निया का उपयोग कौन सी फसल में किया जाता है?
    (अ) गेहूँ (ब) मक्का
    (स) धान (द) गन्ना
13. प्रथम विश्व पर्यावरण सम्मेलन कहाँ आयोजित किया गया?
    (अ) नई दिल्ली (ब) रियो–डी–जेनेरियो
    (स) स्टॉकहोम (द) वाशिंगटन
14. निम्नलिखित में से कौनसा मानक टिकाऊ खेती के निर्धारण के लिए महत्त्वपूर्ण है?
    (अ) पर्यावरण (ब) सूचना प्रबंधन
    (स) आनुवांशिक विविधता (द) ऊर्जा प्रबंधन

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

15. जैविक खेती की संक्षेप में व्याख्या कीजिए।
16. जैविक खेती के उद्देश्य पर प्रकाश डालिए।
17. जैविक खेती के महत्त्व के बारे में संक्षेप में लिखिये।
18. गोबर की खाद के मुख्य घटक क्या हैं?
19. नेडेप विधि द्वारा तैयार वर्मीकम्पोस्ट में नाइट्रोजन व फॉस्फोरस की मात्रा लिखिए।
20. वर्मीकम्पोस्ट किस प्रजाति के केंचुएँ द्वारा तैयार की जाती है?
21. जीवांश खाद भूमि की संरचना में कैसे सुधार करती है?
22. खाद की परिभाषा लिखिए।
23. मक्का के लिये कौनसा नाइट्रोजनधारी जैव उर्वरक काम में लेते हैं?
24. धान के खेत में एजोला की कितनी मात्रा प्रयोग करते है?
25. कृषि पंचांग किस पर आधारित है?
26. पूर्णिमा के 48 घण्टे पूर्व बुआई करने पर क्या होता है?
27. बैसिलस थूरिन्जेन्सिस जीवाणु कौनसे गण कीटों का नियन्त्रण करते है?
28. किन्हीं दो परभक्षी कीटों के नाम लिखिए।
29. कीट व्याधि नियन्त्रण हेतु दो महत्वपूर्ण वनस्पतियों के नाम लिखिये।
30. टिकाऊपन के निर्धारण मानकों के नाम लिखिए।
31. टिकाऊ कृषि के घटकों के नाम लिखिए।
32. टिकाऊपन उत्पादकता का सूत्र लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

33. आधुनिक जैविक खेती की उत्पत्ति कहाँ से हुई?
34. राजस्थान में जैविक उत्पाद को प्रमाणीकरण करने के लिए अधिकृत संस्था का नाम लिखिए।

35. हरी खाद को खेत में पलटने की विधि लिखिये।
36. गोबर की खाद बनाने की संशोधित गड्ढा विधि का उल्लेख कीजिए।
37. वर्मीकम्पोस्ट के लाभ लिखिये।
38. जीवांश खाद के उपयोग से मृदा की रासायनिक अवस्था पर होने वाले प्रभाव पर प्रकाश डालिए।
39. जीवांश खाद मृदा की जैविक अवस्था में कैसे सुधार करती है?
40. जीवांश खाद पर टिप्पणी लिखिए।
41. जैव उर्वरको के लाभ बताइये।
42. माइकोराइजा क्या है?
43. एजोला की उपयोग विधि लिखिए।
44. बॉयोडायनेमिक खेती क्या है?
45. चन्द्र उत्तरायण पक्ष में कौनसे कृषि कार्य करने चाहिए?
46. टिकाऊपन किसे कहते हैं?
47. टिकाऊ कृषि की परिभाषा लिखिए।
48. टिकाऊ कृषि में पर्यावरण के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
49. जैविक नियन्त्रण के महत्व पर प्रकाश डालिए।
50. ट्राइकोडर्मा के उपयोग पर विवरण लिखिए।
51. कीट नियन्त्रण में ट्राइकोग्रामा के उपयोग का संक्षिप्त विवरण लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

52. भारत में जैविक खेती के भविष्य के बारे में विस्तारपूर्वक टिप्पणी लिखिये।
53. जैविक खेती का वर्णन निम्न बिंदुओं के आधार पर कीजिये–
    (अ) जैविक खेती के उद्देश्य
    (ब) जैविक खेती की अवधारणा
    (स) भारत मेंजैविक खेती का भविष्य
54. वर्मीकम्पोस्ट बनाने की विधि का वर्णन कीजिये।
55. नेडेप विधि से कम्पोस्ट कैसे बनाया जाता है। सविस्तार वर्णन करें।
56. गोबर की खाद बनाने की ट्रेन्च विधि पर विस्तार से प्रकाश डालें।
57. हरी खाद प्रयोग की तकनीकी का वर्णन करें।
58. जीवांश खाद का मृदा पर प्रभाव निम्न बिंदुओं के आधार पर कीजिये–
    (अ) जैविक अवस्था
    (ब) रासायनिक अवस्था
    (स) भौतिक अवस्था
59. विभिन्न जैव उर्वरकों के प्रकार एवं उनकी प्रयोग विधि पर संक्षिप्त में प्रकाश डालिये।
60. कृषि पंचांग के महत्व पर प्रकाश डालिये तथा चन्द्रमा की विभिन्न अवस्थाओं का कृषि कार्य में महत्व के बारें में लिखिये।
61. फसलों में कीट व्याधि नियन्त्रण के जैविक उपायों की व्याख्या कीजिये।
62. वानस्पतिक उत्पादों द्वारा फसलों के कीट–व्याधि नियन्त्रण पर प्रकाश डालिये।
63. टिकाऊ खेती के सिद्धान्तों का विवरण लिखिये।
64. टिकाऊ खेती के घटकों पर प्रकाश डालिये।

उत्तरमाला :

1. (स), 2. (अ), 3. (अ), 4. (अ), 5. (द), 6. (अ),
7. (अ), 8. (द), 9. (ब), 10. (द), 11. (अ), 12. (द)
13. (स), 14. (अ)

अध्याय – 3
सिंचाई (Irrigation)

कृषि उत्पादन की दृष्टि से समुचित सिंचाई व्यवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वर्तमान में कृषि आदान (Inputs) में सिंचाई सबसे महत्वपूर्ण है। विश्व के जल स्रोतों में आई पानी की कमी से हम सभी परिचित हैं। अतः उपलब्ध जल की प्रत्येक बूँद से अधिक से अधिक उत्पादन लेने के प्रयास किये जा रहे हैं।

सिंचाई की परिभाषा (Definition of Irrigation)

पौधों की वृद्धि के लिये मृदा में आवश्यक नमी संभरण हेतु कृत्रिम रूप से पानी देने की क्रिया को सिंचाई कहते हैं।

सिंचाई के उद्देश्य (Objectives of Irrigation)

(1) पौध वृद्धि हेतु मृदा में आवश्यक नमी की पूर्ति हेतु।

(2) फसल को अल्पावधि सूखे से बचा कर उत्पादन सुनिश्चित करने हेतु।

(3) पौध वृद्धि हेतु फसल छत्र (Crop canopy) के ऊपर अल्प वायुमण्डल (Micro atmosphere) को ठण्डा रख कर उसे पौध वृद्धि के लिये अनुकूल बनाने हेतु।

(4) कर्षण परत (Plough layer) को नरम कर उसे कर्षण क्रियाओं हेतु अनुकूल बनाने हेतु।

(5) मृदा में स्थित लवणों के निक्षालण (Leaching) करने या उसे तनु (Dilute) करने हेतु।

(6) फसलों को पाले (Frost) से बचाने हेतु।

फसल में सिंचाई कब करें (Scheduling of Irrigation)

फसलों में उपयुक्त समय पर सिंचाई करने के लिए निम्नलिखित आधार अपनाये जा सकते हैं–

(i) पौधों के आधार पर

सिंचाई का समय पौधों में जल की मात्रा या जल विभव मापकर, पौधों में जल की कमी से उत्पन्न लक्षणों को देखकर व पौधों की उचित क्रान्तिक अवस्थाएँ (Critical stages) जानकर कर सकते हैं –

(अ) पौधों की बाह्य स्थिति देखकर : प्रातःकाल एवं दोपहर के समय खेत में जाकर पौधों का अवलोकन करना चाहिए। यदि प्रातःकाल दो तीन दिन तक लगातार पत्तियाँ मुरझाई हुई दिखाई दें, तो सिंचाई करना आवश्यक है।

(ब) पौधों की पत्तियों में जल मात्रा या जल विभव (Leaf water potential) मापकर : पौधों की पत्तियों की स्फीति एवं उनमें वर्तमान जल विभव या जल की मात्रा को सही मापकर सिंचाई करें तो यह विधि सिद्धान्त रूप से सबसे उपयुक्त है।

(स) पत्तियों का तापमान मापकर (Leaf temperature) : जब मृदा व पौधों में पानी की कमी होने लगती है तो पत्तियों के पर्ण रन्ध्र (Stomata) आंशिक व पूर्णतया बन्द

सारणी : सिंचाई के लिए फसलों की क्रान्तिक अवस्थाएँ

क्र. सं.	फसल	क्रान्तिक अवस्थाएँ
1.	गेहूँ	शीर्ष जड़ निकलना (Crown root initiation), कल्ले फूटान (Late tillering), गाँठ अवस्था (Late jointing), बालिया निर्माण (Ear emergence), दाने की दूधिया अवस्था (Milk stage) व दाना पकने की अवस्था (Dough stage)
2.	जौ	बुवाई के 30 दिन बाद, दाने भरते समय
3.	चना, सरसों, अलसी	फूल आने से पहले, फलियां बनते समय
4.	आलू	अंकुरण के समय, कन्द बनने का प्रारम्भिक समय
5.	गन्ना	अंकुरण, कल्ले निकलते समय, बढ़वार के समय
6.	कपास	डोडे वाली शाखायें बनते समय, फूल आते समय, डोडे बनेतसमय
7.	तम्बाकू	चुंटाई के समय
8.	मूँगफली	सुइयाँ बनने से मूँगफली बनना शुरू होते तक
9.	धान	कल्ले निकलते समय, फूल आने से पहले व फूल आते समय
10.	मक्का	नरमंझरी आते समय, भुट्टे बनते समय

हो जाते हैं जिससे वाष्पोत्सर्जन में कमी आती है व पत्तियों का तापमान बढ़ जाता है। इस विधि में इन्फ्रा रेड थर्मामीटर की सहायता से फसल की सतह का तापमान मापकर सिंचाई का निर्धारण करते हैं।

(द) फसलों की क्रान्तिक अवस्थाओं (Critical stages) के आधार पर : फसलों में कुछ अवस्थाएँ ऐसी होती हैं जिन पर पानी की कमी हो जाये तो पौधों को बहुत क्षति पहुँचती है और उपज काफी कम होती है। पौधों की ऐसी अवस्था को ही सिंचाई के आधार पर क्रान्तिक अवस्था कहते हैं।

(ii) मृदा नमी के आधार पर

मृदा में उपलब्ध जल की ऊपरी सीमा क्षेत्र क्षमता (Field capacity) तथा निचली सीमा स्थाई म्लानि बिन्दु (Permanent wilting point) कहलाती है। इन दोनों के मध्य मृदा जल की मात्रा ही पौधों को उपलब्ध होती है। इसे प्राप्य जल (Available water) कहते हैं। वाष्पीकरण व वाष्पोर्त्सन के कारण धीरे–धीरे मृदा नमी का ह्रास होता रहता है और अस्थाई म्लानि बिन्दु की अवस्था आने लगती है, जिससे पौधों की वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, इस अवस्था से पूर्व ही फसल में सिंचाई करना आवश्यक है।

फसलों में सिंचाई कितनी करें? (How much to irrigate?)

फसल उत्पादन में सिंचाई समय का जितना महत्व है उतना ही फसल की आवश्यकतानुसार सिंचाई की मात्रा का भी है। इसलिए किसी फसल में कितनी सिंचाई और एक सिंचाई में कितने जल की मात्रा दी जाये, यह जानना आवश्यक है। किसी फसल के लिए जल की मात्रा की आवश्यकता विभिन्न कारकों पर निर्भर करती है। इनमें फसल की किस्म, भूमि की किस्म, बुआई का समय, जलवायु आदि प्रमुख हैं। विभिन्न फसलों के लिए सिंचाई की जल माँग अलग–अलग होती है जो पौधों की क्रान्तिक अवस्थाओं के समय सिंचाई पर निर्भर करती है। विभिन्न फसलों में सिंचाई की संख्या व समय तथा जल माँग सारणी ... में दी गई है।

सारणी : विभिन्न फसलों की जल माँग

फसल	जल माँग (मि.मी.)	फसल	जल माँग (मि.मी.)
धान	900–2500	मूँगफली	500–700
गेहूँ	450–650	कपास	700–1300
गन्ना	1500–2500	सोयाबीन	450–700
आलू	500–700	मक्का	500–800

सिचाई की विधियाँ

चौकेबार द्रोणी सिंचाई विधि (Check Basin Irrigation Method)

खेतों में सिंचाई हेतु यह सर्वाधिक प्रचलित विधि है। इस विधि के अन्तर्गत खेत का समतलीकरण कर उसे वर्गाकार अथवा आयताकार क्यारियों में विभाजित कर दिया जाता है। इन क्यारियों को चौकेबार (Check basin) कहते हैं। खेत में ढाल अनुसार क्यारियों में जल प्रवाह हेतु नालियाँ बनाई जाती हैं। प्रत्येक चौकेबार में आवश्यकतानुसार पानी भरा जाता है।

लाभ

1. सममतल भूमि पर अनियंत्रित आप्लवन विधि की अपेक्षा अधिक जल उपयोग दक्षता प्राप्त की जाती है। 2. अपवाह व अन्तः स्त्रवण जैसी समस्याओं में कमी आती है। 3. खेत में जल वितरण समान होता है। 4. सरल विधि है।

सीमाएँ

1. खेत में पानी प्रवाह हेतु बनाई गई नालियों से भूमि का बड़ा भाग बुआई के काम नहीं आता है।
2. नालियों से खेत में मशीनों के उपयोग में कठिनाई व निराई–गुड़ाई मे व्यवधान उत्पन्न होता है।
3. पृष्ठीय जल निकास बाधित होता है।
4. खेत में अपेक्षाकृत समतलीकरण होना आवश्यक होता है।
5. खेत की तैयारी में अधिक मजदूर चाहिये।

बोर्डर पट्टी सिंचाई विधि (Border Strip Irrigation Method)

इस विधि में खेत के ढाल की दिशा में लम्बी–लम्बी पट्टियां समानान्तर रूप से बनाई जाती है। प्रत्येक पट्टी में ऊपर की ओर से पानी छोड़ा जाता है जो कि महीन परत के रूप में निचले सिरे की ओर बहता हुआ आता है। प्रत्येक पट्टी की लम्बाई व चौड़ाई जल बहाव, ढलान प्रतिशत व भूमि की बनावट अनुसार होती है। यह विधि पास–पास बोई जाने वाली फसल जैसे गेहूँ इत्यादि के लिये उपयुक्त है।

लाभ

1. आसान विधि है।
2. अधिक जल मात्रा व प्रवाह को आसानी से प्रयुक्त किया जा सकता है।
3. निराई–गुड़ाई व मशीनों के प्रयोग में सुगमता होती है।
4. मेड़ों व नालियों के रख–रखाव में कम खर्चा होता है।
5. जल निकास की व्यवस्था करना आसान होता है।

सीमाएँ

1. ऊबड़–खाबड़ स्थलाकृति की भूमि में यह विधि अपनाना सम्भव नहीं है।

2. धान जैसी फसलों में इस विधि से सिंचाई करना सम्भव नहीं है।
3. यदि जल प्रवाह व मात्रा कम हो तो इस विधि से सिंचाई सम्भव नहीं है।
4. बोर्डर की सम्पूर्ण चौड़ाई में एक समान जल प्रवाह कठिन है।

कूंड सिंचाई विधि (Furrow Irrigation Method)

यह विधि पंक्तियों में बोई जाने वाली फसलों जैसे मक्का, ज्वार इत्यादि के लिये उपयोगी होती है। अधिक ढाल वाले क्षेत्रों में ढाल की आड़ी दिशा में समोच्य रेखा पर बनाए जाते हैं।

लाभ

1. वाष्पन द्वारा जल ह्रास व पपड़ी बनने की की समस्या नहीं होती है।
2. कम मजदूरों की आवश्यकता होती है।
3. चौकेबार विधि की अपेक्षा खेत का कम भाग मेड़ व नालियों के काम आता है।

सीमाएँ

1. अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में मृदा अपरदन की सम्भावना रहती है।
2. मेड़ों पर लवण एकत्रित होकर पौध वृद्धि पर विपरीत प्रभाव डाल सकते हैं।
3. बलुई मृदा हेतु उपयुक्त नहीं है।
4. पानी के दक्ष नियंत्रण हेतु कुशल मजदूर चाहिये।

अवपृष्टीय या अधोभूमि सिंचाई (Sub-Surface Irrigation)

कुछ स्थानों पर भूमि व स्थलाकृति की प्राकृतिक परिस्थितियाँ पौधों की जड़ों में जल की प्रयुक्ति भूमि की सतह के नीचे से करने के लिये अनुकूल होती है। इसमें धरातल के नीचे पर एक निश्चित गहराई पर कृत्रिम जल स्तर बनाए रख कर फसल को जल आपूर्ति की जाती है। जल खुली नालियों या रन्ध्रयुक्त पाइपों द्वारा की जाती है।

बौछारी सिंचाई विधि (Sprinkler Irrigation Method)

इस विधि में पानी को बौछार अथवा वर्षा के रूप में वितरित किया जाता है। इस सिंचाई प्रणाली में पम्प द्वारा मुख्य व शाखा पाइप लाइनों में पहुँचाया जाता है जहाँ से वे राइजर **(Riser)** के ऊपरी सिरे पर लगे घूर्णी बौछार यंत्र **(Rotating sprinkler head)** द्वारा फुहार के रूप में फसल के ऊपर गिरता है।

लाभ

1. बौछारी प्रणाली पृष्टीय विधियों की अपेक्षा सुगम व सरल है।
2. समस्त जमीन फसल उगाने के काम आती है जबकि पृष्टीय भूमि का कुछ भाग मेढ़ बनाने के काम आता है।
3. मेढ़ न होने से यंत्रीकरण सम्भव है।
4. हल्की व बलुई मृदाओं में जहाँ बार–बार पानी देना पड़ता है, बौछारी विधि अधिक उपयोगी है।
5. चूंकि खेत तक पानी पाइपों से पहुंचता है अतः रास्ते के जल ह्रास **(Conveyance loss)** नहीं होते हैं।
6. मृदा पर पपड़ी बनने की समस्या नहीं होती है।
7. फसलों का पाले से स्वतः बचाव हो जाता है।
8. सिंचाई के साथ उर्वरक भी दिया जा सकता है।
9. यह विधि पौधों को वातावरण में आर्द्रता बनाए रखने में सहायक होती है।

सीमाएँ

1. अधिक जल माँग वाली फसलों के लिये उपयुक्त नहीं है।
2. छोटे खेतों में अधिक लागत बैठती है।
3. अधिक वायु गति होने पर जल वितरण असमान होकर दक्षता घटती है।
4. पानी साफ नहीं होने की स्थिति में घूर्णी बौछार यंत्र अवरूद्ध हो सकती है।
5. लवणीय जल हेतु उपयुक्त विधि नहीं है।
6. आरम्भिक खर्च अधिक है।
7. पर्याप्त तकनीकी ज्ञान आवश्यक है।

बूँद–बूँद सिंचाई विधि (Drip Irrigation System)

इस विधि का विकास इज़राइल से हुआ है। यह विधि शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में जहाँ वर्षा कम होती है, मिट्टी बलुई है व वाष्पन–वाष्पोत्सर्जन द्वारा जल ह्रास अधिक होता है अत्यन्त उपयोगी है। ड्रिप सिंचाई द्वारा जल प्रत्येक पौधे की जड़ के पास बूँद–बूँद टपकता है। इससे जड़ क्षेत्र में संतृप्तावस्था बनी रहती है तथा वहाँ पानी की कमी नहीं रहती है। इस विधि द्वारा उद्यानों, सब्जियों, पंक्तियों में बोई जाने वाली फसलों जैसे गन्ना, कपास इत्यादि में सिंचाई की जाती है।

लाभ

1. पौधों की जड़ों में पर्याप्त नमी होने से अच्छी उपज प्राप्त की जा सकती है।
2. पौधों के बीच सूखा रहने से खरपतवार की समस्या नहीं होती है।
3. सिंचाई के साथ–साथ एक ही बार में उर्वरक भी दिया जा सकता है।
4. सिंचाई हेतु कम मानव श्रम चाहिये।
5. कीट–व्याधि की समस्या कम होती है क्योंकि पौधों के पास का वातावरण आर्द्र नहीं होता है।
6. बार–बार सिंचाई करने से लवणों का निक्षालण हो जाता है।
7. कम पानी की आवश्यकता होती है।
8. जल उपयोग दक्षता अधिक होती है।

सीमाएँ

1. प्रारम्भिक व्यय अधिक होता है।
2. कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होती है।

3. उत्सर्जक (Emitter) का छिद्र छोटा होने से मिट्टी के कणों, जीवांश पदार्थ के रेशे व लवण के कणों से बन्द हो सकते है।
4. अत्यधिक भारी मृदाओं की अन्तः स्पंदन दर कम होने से जल एकत्रित होने की समस्या हो सकती है।
5. प्लास्टिक से बनी पार्श्व नालिकाएं चूहे व अन्य जीव नष्ट कर सकते हैं।
6. वार्षिक फसलों में बार–बार लगाना व हटाना पड़ता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. सिंचाई निर्धारण वह प्रक्रिया है जिससे यह ज्ञात करते हैं कि फसल में सिंचाई कब की जाये, कितनी गहरी की जाये और किस विधि से की जाये।
2. फसलों में उपयुक्त समय पर सिंचाई निम्न आधार पर निर्धारित की जाती है –**(i)** पौधों के आधार पर, **(ii)** मृदा नमी के आधार पर, व **(iii)** मौसम के आधार तथा अन्य प्रचलित विधियों द्वारा।
3. पौधों के आधार पर पौधों की बाह्य स्थिति देखकर, पत्तियों में जल विभव मापकर, पत्तियों का तापमान ज्ञात कर व क्रान्तिक अवस्थाओं पर सिंचाई का निर्धारण करते हैं।
4. फसल की क्रान्तिक अवस्थाएँ सिंचाई निर्धारण का एक महत्वपूर्ण आधार है।
5. सिंचाई की प्रमुख चार विधियाँ हैं – पृष्ठीय, अधोभूमि, बौछारी व बूँद–बूँद।
6. पृष्ठीय विधियों में चौकेबार द्रोणी **(Check basin)** सर्वाधिक प्रचलित विधि है।
8. बौछारी व बूँद–बूँद सिंचाई विधियाँ कुशल श्रमिकों द्वारा प्रभावी होती है व इनमें सिंचाई दक्षता अधिक होती है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. क्षेत्र क्षमता पर जल की उपलब्धता होती है –
   (अ) 100 प्रतिशत (ब) 50 प्रतिशत
   (स) 0 प्रतिशत (द) उपरोक्त में से कोई नहीं
2. गेहूँ में सिंचाई की सबसे महत्वपूर्ण क्रान्तिक अवस्था है –
   (अ) फूल आते समय (ब) शीर्ष जड़ जमने पर
   (स) दूधिया अवस्था पर (द) दाना पकते समय
3. व्यावहारिक दृष्टि से किस विधि से सिंचाई निर्धारण सबसे सरल है –
   (अ) पत्तियों का तापमान माप कर
   (ब) फसलों की क्रान्तिक अवस्था आधार पर
   (स) पत्तियों में जल विभव आधार पर
   (द) मृदा नमी माप कर
4. निम्न में से सिंचाई की सबसे कम दक्ष विधि है –
   (अ) चौकेबार द्रोणी (ब) बौछारी
   (स) बूँद–बूँद (द) अनियंत्रित आप्लावन
5. किस सिंचाई विधि का विकास इज़राइल में हुआ है –
   (अ) बूँद–बूँद (ब) बौछारी
   (स) कूंड सिंचाई (द) बोर्डर पट्टी
6. निम्न में से किस सिंचाई विधि में रास्ते में जल ह्रास नहीं होता है –
   (अ) बौछारी (ब) बोर्डर पट्टी
   (स) चौकेबार द्रोणी (द) कूंड
7. यह सिंचाई विधि अधिक जल माँग वाली फसलों के लिए उपयुक्त नहीं है –
   (अ) बोर्डर पट्टी (ब) चौकेबार द्रोणी
   (स) कूंड विधि (द) बौछारी

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

8. गेहूँ की जल माँग कितनी है?
9. सिंचाई को परिभाषित कीजिए।
10. मक्का की सिंचाई की क्रान्तिक अवस्थाएं क्या हैं?
11. अनियंत्रित आप्लवन से क्या अभिप्राय है?
12. अवपृष्टीय सिंचाई क्या है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

13. निम्न फसलों में कितनी व कब–कब सिंचाई करें?
   (अ) गेहूँ (ब) सरसों
   (स) चना (द) मूँगफली
14. सिंचाई के लिए विभिन्न फसलों की क्रान्तिक अवस्थाएँ लिखिये।
15. सिंचाई के उद्देश्य क्या है?
16. चौकेबार द्रोणी सिंचाई विधि के लाभ व सीमाएँ क्या है?
17. सिंचाई की कूंड विधि के लाभ व सीमाएँ उल्लेखित कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

18. सिंचाई समय निर्धारण करने की पौधों व मृदा नमी आधारित विधियों का वर्णन कीजिये।
19. सिंचाई हेतु बौछारी व बूँद–बूँद विधियों को समझाइये तथा इनके लाभ व सीमाएँ उल्लेखित कीजिए।

उत्तरमाला

1. (अ) 2. (ब) 3. (ब) 4. (द) 5. (अ) 6. (अ) 7. (द)

अध्याय – 4
खरपतवार (Weed)

परिभाषा

खरपतवार वे पौधे हैं जो अनचाहे स्थान व अनचाहे समय पर उगते हैं **(Weeds are the plants growing out of place and out of time)**।

खरपतवारों की विशेषताएँ (Characteristics of weeds)

खरपतवारों में फसल के पौधों की अपेक्षा उगने, बढ़ने, विस्तृत क्षेत्र में फैलाव की क्षमता आदि अधिक पाई जाती है। जिनका मुख्य कारण खरपतवारों में निम्नलिखित विशेषताओं का पाया जाना है–

1. **बीज उत्पादन अधिक होना :** खरपतवारों में प्रति पौधा बीज संख्या अधिक होने से इनका प्रसार बहुत शीघ्रता से होता है।
2. **अधिक गहरी जड़ें होना :** खरपतवारों की जड़ें फसल के पौधों की अपेक्षा अधिक गहराई तक जाती हैं तथा गहराई पर जाकर पोषक तत्व व नमी का अवशोषण करती हैं।
3. **बीजों की अधिक जीवन क्षमता :** खरपतवार के बीजों की अंकुरण शक्ति फसल के बीजों की अपेक्षा अधिक होती है। इनकी जीवन क्षमता लम्बे समय तक मृदा में पड़े रहने के बावजूद बनी रहती हैं।
4. **फसल व खरपतवार के बीजों में समानता :** कुछ खरपतवारों के बीज आकार, आकृति, रंग में फसल के बीजों से इतने अधिक मिलते हैं कि इन्हें अलग से पहचान पाना अत्यन्त कठिन होता है। सत्यानाशी खरपतवार के बीज सरसों से, आकार व आकृति में अत्यधिक मिलते हैं।
5. **बीजों पर सुरक्षा आवरण :** बहुत से खरपतवार जैसे सत्यानाशी, गोखरू आदि पर कांटे, सख्त बाल ऐसे आवरण पाये जाते हैं जिससे मनुष्य व पशु इनके नजदीक नहीं जाते, इस तरह वे अपनी सुरक्षा कर लेते हैं।
6. **वानस्पतिक प्रजनन :** खरपतवारों को यदि बीज बनने से पहले नष्ट कर दे तो भी वे विभिन्न वानस्पतिक भागों द्वारा अपना प्रसारण कर लेते हैं। उदाहरणार्थ मोथा–ट्यूबर्स द्वारा।
7. **प्रत्येक प्रकार की मृदा में वृद्धि करना :** खरपतवार विभिन्न प्रकार की मृदाओं अम्लीय, क्षारीय, लवणीय, जलमग्न या बंजर मृदाओं में भी अपनी वृद्धि कर लेते हैं।
8. **मनुष्य के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव :** बहुत से खरपतवार अपने कड़वे स्वाद व एलर्जिक प्रभाव के कारण मनुष्य के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव डालते हैं। पार्थेनियम (गाजर घास) के सम्पर्क में आने पर मनुष्यों को एलर्जी, चर्म रोग, एक्जिमा, दमा आदि जानलेवा बीमारियाँ हो जाती हैं।
9. **शीघ्र प्रकीर्णन :** खरपतवारों के बीज फसलों के बीजों से इतने हल्के होते हैं कि वायु द्वारा शीघ्र एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित हो जाते हैं। इसके अलावा खरपतवारों के बीजों पर पाये जाने वाले हुक, बाल, कांटे भी पशुओं द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित होकर प्रकीर्णन में सहायक होते हैं।
10. **कीट रोग प्रतिरोधक क्षमता की अधिकता :** खरपतवार के पौधों में कीट–रोग आक्रमण सहने की क्षमता फसल के पौधों से अधिक पाई जाती है।
11. **खरपतवार–फसल प्रतियोगिता :** खरपतवार के बीजों का अंकुरण व पौधों की बढ़वार फसल के पौधों की अपेक्षा शीघ्रता से होती है। ये फसल के पौधों से प्रकाश, नमी, पोषक तत्व व स्थान आदि के लिए संघर्ष करते हैं।
12. **प्रतिकूल जलवायु से अप्रभावित :** खरपतवार प्रतिकूल जलवायु दशाओं से अप्रभावित रहते हैं।
13. **खाद–पानी की न्यून आवश्यकता :** खरपतवार के पौधों को जल व खाद (पोषक तत्वों) की न्यून आवश्यकता रहती है।
14. **शीघ्र वृद्धि व शीघ्र परिपक्वता :** खरपतवार तेजी से बढ़ते हैं और शीघ्र परिपक्व हो जाते हैं। गेहूँसा (फैलेरिस माइनर) और जंगली चौलाई के पौधे शीघ्र बढ़ कर 60 से 70 दिन में बीज उत्पादन करके अपना जीवन चक्र पूर्ण कर लेते हैं।

खरपतवारों का वर्गीकरण (Classification of Weeds)

खरपतवारों का वर्गीकरण उनकी आयु, बीज पत्र, फसल–खरपतवार सम्बन्ध, पत्तियों की बनावट, मृदा व जलवायु के आधार पर किया जा सकता है।

1. जीवन चक्र के आधार पर खरपतवारों का वर्गीकरण : जीवन चक्र के आधार पर खरपतवारों को तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है :–

(अ) **एक वर्षीय खरपतवार (Annual weeds) :** ये खरपतवार एक वर्ष या उससे भी कम अवधि में अपना जीवन चक्र पूर्ण कर लेते हैं। इस वर्ग के खरपतवारों को पुनः दो उपवर्गों में विभाजित किया गया है –

(i) **खरीफ के खरपतवार :** इस वर्ग के खरपतवार वर्षा के आरम्भ में उगते हैं और अपना जीवन चक्र खरीफ की फसलों के साथ ही पूरा कर लेते हैं। जैसे– पत्थर चट्टा, जंगली चौलाई, लहसुवा आदि।

(ii) **रबी के खरपतवार :** इस वर्ग के खरपतवार रबी की फसलों के साथ सितम्बर या अक्टूबर माह में उगना प्रारम्भ कर देते हैं और अपना जीवन चक्र अप्रैल माह तक पूर्ण कर लेते हैं। जैसे– कृष्णनील, प्याजी, जंगली जई, बथुआ, गेहूँसा आदि।

(ब) **द्विवर्षीय खरपतवार (Biennial weeds) :** इस वर्ग के खरपतवार अपना जीवन चक्र दो वर्षों में पूरा करते हैं। प्रथम वर्ष में ये खरपतवार अपनी वानस्पतिक वृद्धि करते हैं, दूसरे वर्ष बीज उत्पादन करते हैं। जैसे– जंगली गाजर, जंगली गोभी।

(स) **बहुवर्षीय खरपतवार (Perennial weeds) :** इस वर्ग के खरपतवार कई वर्षों में अपना जीवन चक्र पूरा करते हैं। एक बार उग कर हर वर्ष वृद्धि करते रहते हैं। अधिकांशतः इनकी वृद्धि राइजोम, बल्ब, ट्यूबर्स आदि वानस्पतिक भागों द्वारा होती है। उपयुक्त जलवायु में ये बीज उत्पादन भी करते हैं। इन्हें पुनः दो उपवर्गों में वर्गीकृत किया गया है –

(i) **काष्ठिल खरपतवार (Woody weeds) :** इस उपवर्ग में बहुवर्षीय झाड़ियाँ आती हैं जैसे झरबेरी।

(ii) **शाकीय खरपतवार (Herbacious weeds) :** इस उपवर्ग में आने वाले खरपतवारों के तने व शाखायें मुलायम होते हैं। जैसे– मोथा, हिरणखुरी, अमरबेल।

2. **बीज पत्र के आधार पर वर्गीकरण :** बीज पत्रों के आधार पर खरपतवारों के दो उपवर्ग हैं–

(अ) **एक बीजपत्री खरपतवार (Monocot weeds) :** इन खरपतवारों के बीज एक पत्री होते हैं इसलिए इनके बीज दाल की भांति दो दालों में विभक्त नहीं होते। जैसे मोथा, कांस, दूब घास, प्याजी, गेहूँसा।

(ब) **द्विबीजपत्री खरपतवार (Dicot weeds) :** इस वर्ग के खरपतवारों के बीजों को दाल की भांति दो दालों में विभक्त कर सकते हैं। जैसे– बथुआ, हिरणखुरी, मकोय, सत्यानाशी, जंगली चौलाई आदि।

3. **खरपतवार–फसल सम्बन्ध के आधार पर वर्गीकरण (On the basis of weed-crop association) :** इस वर्गीकरण के अनुसार खरपतवारों को निम्न वर्गों में विभाजित किया गया है –

(अ) **निरपेक्ष खरपतवार (Absolute weeds) :** इस वर्ग के अन्तर्गत वे सभी खरपतवार आते हैं जो उपज को कम कर देते हैं। इसमें एकवर्षीय, द्विवर्षीय व बहुवर्षीय सभी प्रकार के खरपतवार सम्मिलित हैं जैसे– कृष्णनील, मोथा, हिरणखुरी, गाजर घास आदि।

(ब) **सापेक्ष खरपतवार (Relative weeds) :** इस वर्ग में फसलों के वे पौधे जिनकी किसान खेत में बुआई नहीं करता है तथा वे स्वतः ही उग जाते हैं, सापेक्ष खरपतवार कहलाते हैं। जैसे गेहूँ के खेत में चना, सरसों, मटर का पौधा उग जाये तो इसे सापेक्ष खरपतवार कहते हैं। यह समस्या अशुद्ध बीज की बुआई से उत्पन्न होती है।

(स) **नकलची अथवा अनुकारी खरपतवार (Mimicry weeds) :** ये खरपतवार अपनी बाह्य आकारिकी में फसल के पौधों से इतना अधिक मिलते जुलते हैं कि इन्हें फसल के पौधों से अलग पहचान कर पाना भी कठिन होता है इसलिए इन्हें नकलची खरपतवार कहते हैं। जैसे– गेहूँ की फसल में गेहूँसा (गुल्ली डण्डा) तथा धान की फसल में सावा।

(द) **विशेष सूक्ष्म जलवायु के खरपतवार (Special micro-climate weeds) :** कुछ खरपतवारों को विशेष जलवायु परिस्थितियों की आवश्यकता वृद्धि व विकास के लिए होती है। जैसे कासनी खरपतवार ठण्डी व नम जलवायु में अपनी वृद्धि करता है।

(य) **अवांछित खरपतवार (Rogue weeds) :** जब फसल की अन्य किस्म का पौधा बिना बोये खेत में उग जाता है तो उसे अवांछित खरपतवार कहते हैं जैसे– गेहूँ की सोनालिका किस्म में लोक–1 के पौधे बिना बोये उग जायें तो लोक–1 किस्म का पौधा अवांछित खरपतवार कहलाएगा। ऐसे अनिश्चित किस्म के पौधों को उखाड़ने की क्रिया रोगिंग कहलाती है।

(र) **परजीवी खरपतवार (Parasitic weeds) :** कुछ खरपतवार फसल विशेष पर परजीवी होते हैं जैसे कि रिजके पर अमरबेल, तम्बाकू पर ओरोबेन्की व बाजरा में स्ट्राइगा।

4. **पत्तियों की बनावट के आधार पर वर्गीकरण :** इस आधार पर खरपतवारों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है –

(अ) **चौड़ी पत्ती वाले खरपतवार (Broad-leaved weeds):** इस श्रेणी के खरपतवारों की पत्तियाँ चौड़ी होती हैं। जैसे– बथुआ, कृष्णनील, हिरणखुरी, बायसुरी, मकोय, जंगली चौलाई, लहसुआ आदि।

(ब) **संकरी पत्ती वाले खरपतवार (Narrow-leaved weeds) :** इस वर्ग के खरपतवारों की पत्तियाँ संकरी होती हैं। जैसे– मोथा, दूब घास, कांस, गेंहूसा, जंगली जई आदि।

5. **मृदा व जलवायु के आधार पर वर्गीकरण :** इस श्रेणी में विशेष भूमि व जलवायु की स्थितियों में उगने वाले खरपतवार आते हैं। इन्हें तीन उपवर्गों में वर्गीकृत किया गया है–

(अ) **जलमग्न भूमियों के खरपतवार (Weeds of waterlogged soils) :** ये खरपतवार ऐसे क्षेत्रों में पाये जाते हैं जहाँ पर अधिकतर समय पानी भरा रहता है। जैसे– नदियों, तालाबों, नहरों व निचले खेतों में जहाँ पानी भरा रहता है, पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ– जलकुम्भी, जंगली धान आदि।

(ब) **शुष्क क्षेत्र के खरपतवार (Dryland weeds) :** ये खरपतवार जल की कमी वाले क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इन खरपतवारों की जड़ें गहरी, पत्तियाँ कम व मोटी, तने पर कांटे पाये जाते हैं जिसकी वजह से ये कम पानी में भी आसानी से वृद्धि करते हैं। जैसे–झरबेरी, नागफनी, जवासा, बायसुरी आदि।

(स) **कृषि क्षेत्र के खरपतवार (Weeds of cultivated land) :** इस वर्ग में वे सभी खरपतवार सम्मिलित है जो फसलों के साथ उगकर उनकी उपज काफी कम कर देते हैं। जैसे– बथुआ, प्याजी, कृष्णनील, हिरणखुरी, जंगली चौलाई आदि।

(द) **अकृषित क्षेत्र के खरपतवार (Weeds of non-agricultural areas) :** सड़कें, रेलमार्ग, गोदाम, औद्योगिक क्षेत्रों में उगने वाले खरपतवार जैसे–लेन्टाना केमरा, कांस, गाजर घास आदि।

6. **प्रजनन विधियों के आधार पर खरपतवारों का वर्गीकरण**

(अ) **बीज से उत्पन्न होने वाले के खरपतवार :** इनका प्रजनन केवल बीजों द्वारा ही होता है। उदाहरणार्थ– प्याजी, कृष्णनील, सत्यानाशी, गेहूंसा, जंगली जई, लहसुआ आदि।

(ब) **वानस्पतिक भाग से उत्पन्न होने वाले खरपतवार :** इस वर्ग के खरपतवार वानस्पतिक भागों द्वारा ही प्रजनन करते हैं। ये खरपतवार अपनी भूमिगत जड़ों, तनों, राइजोम, बल्ब, कन्द, पत्तियों द्वारा वृद्धि व जनन करते हैं। जैसे– दूब घास, मोथा आदि।

(स) **बीज व वानस्पतिक भागों द्वारा पैदा होने वाले खरपतवार :** इस वर्ग के खरपतवार बीज व वानस्पतिक अंगों से अपनी उत्पत्ति करते हैं।

खरपतवारों द्वारा हानियाँ (Losses caused by Weeds)

भारतीय कृषि में फसलों को कीट, रोग, खरपतवार, त्रुटि पूर्ण भण्डारण, चूहों आदि कारकों द्वारा भारी हानि पहुंचायी जा रही है। इसमें से सर्वाधिक 30–35 प्रतिशत हानि अकेले खरपतवारों द्वारा होती है।

खरपतवार फसलों के पौधों के साथ भोजन, जल, स्थान, प्रकाश आदि के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। इसके साथ–साथ ये फसलों के लिए हानिकारक रोग व कीटों को शरण देकर क्षति पहुँचाते हैं। खरपतवारों द्वारा मात्रात्मक हानि के साथ–साथ फसल उत्पादों की गुणवत्ता में भी कमी आ जाती है जिससे किसान को उसके उत्पाद (Product) का सही मूल्य भी बाजार में नहीं मिल पाता। खरपतवार फसल उत्पादन पर निम्न प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव डालकर हानि पहुँचाते हैं।

1. **फसल उत्पादन पर प्रभाव :** खरपतवार फसल प्रतियोगिता में अधिकांशतः खरपतवार फसलों की अपेक्षा अधिक प्रकाश, जल, पोषक तत्व आदि ग्रहण कर लेते हैं, जिससे उपज में भारी कमी आती है।
2. **फसल उत्पादों की गुणवत्ता में कमी :** खरपतवारों से केवल फसल की उपज में ही कमी नहीं आती बल्कि इनसे प्राप्त उपज की गुणवत्ता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जैसे सरसों में सत्यानाशी के बीज मिल जाने से सरसों के तेल में दुर्गन्ध आने लगती है। उसका प्रभाव जहरीला (Toxic) हो जाता है, जो मानव में ड्रोप्सी नामक रोग पैदा करता है।
3. **पशुधन उत्पादों की मात्रा व गुणवत्ता में कमी :** कई खरपतवार पशुओं व उनसे प्राप्त उत्पादों पर बुरा प्रभाव डालते हैं। जंगली प्याजी या जंगली लहसुन पशुओं द्वारा चर लेने से उनके दूध में दुर्गन्ध आने लगती है, जो दूध से तैयार पदार्थों जैसे– घी, मक्खन, पनीर आदि में भी बनी रहती है।
4. **मृदा नमी में कमी :** खरपतवार मृदा में नमी की मात्रा को अवशोषित करके फसलों को हानि पहुँचाते हैं।
5. **भूमि के मूल्य में कमी :** जिन मृदाओं में खरपतवार अधिक पाये जाते हैं, उनकी मृदा उत्पादकता में गिरावट आ जाती है। इन मृदाओं का उपजाऊपन नष्ट हो जाता है। इससे प्रभावित खेत से न केवल उपज कम मिलती है बल्कि प्राप्त उत्पादों का मूल्य भी कम प्राप्त होता है जिससे भूमि का मूल्य गिर जाता है।
6. **खरपतवार कीट व रोगों को शरण देते हैं :** कुछ खरपतवारों पर फसलों के रोगाणु व कीट शरण लेकर फसलों को क्षति पहुँचाते हैं।
7. **कृषि यंत्रों, मशीनों व पशुओं की क्षमता में ह्रास :** जिन क्षेत्रों में खरपतवारों का प्रकोप अधिक रहता है वहां इनकी रोकथाम के लिए खेत में बार–बार जुताइयाँ व निराई–गड़ाई आदि कर्षण क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। इससे बार–बार कृषि यंत्रों, मशीनों, पशुओं आदि से अधिकतम कार्य लेना पड़ता है। कृषि यंत्र व मशीनों में घिसावट होने से उनकी क्षमता शीघ्र कम हो जाती है। पशुओं की क्षमता से अधिक श्रम करवाने से उनके स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।
8. **सिंचाई जल की हानि :** खरपतवार नहर, तालाब व सिंचाई की नालियों में उगकर पानी के बहाव में अवरोध

उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त ये जल को अवशोषित कर लेते हैं।

9. **खरपतवार मनुष्यों के लिए घातक :** कुछ खरपतवार मनुष्य के लिए इतने घातक है कि इनके प्रभाव से मृत्यु तक हो सकती है। सरसों के बीज में सत्यानाशी के बीज मिल जाने से तेल में जहरीला प्रभाव **(Toxic effect)**हो जाता है। पार्थेनियम (गाजर घास) के पौधे के स्पर्श मात्र से मनुष्य की त्वचा में भयंकर जलन, खुजली व एलर्जी होने लगती है।

10. **पशु स्वास्थ्य के लिए घातक :** चरागाह व चारे की फसलों में उत्पन्न अनेक खरपतवार पशु स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालते हैं, बरू घास के कल्ले फूटते समय पशुओं द्वारा चर लेने पर जहरीला प्रभाव पड़ सकता है।

11. **किसान के जीवन स्तर पर प्रभाव :** खरपतवारग्रस्त क्षेत्रों में किसान को अपनी सारी ऊर्जा खरपतवार नियंत्रण के तरीकों के लिए यंत्र, मशीनें, शाकनाशी दवाइयाँ खरीदने एवं श्रमिकों की व्यवस्था पर लगानी पड़ती है जिसका सीधा प्रभाव किसान की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है।

12. **अन्य हानियाँ :** अकृषित भूमि से खरपतवार कृषि क्षेत्रों में फैल कर खेतों में फसलों को हानि पहुँचाते हैं। फार्म हाऊस, खाई आदि में पनपने वाले खरपतवार सांप, बिच्छु आदि जहरीले जन्तुओं का आश्रय स्थल बन जाते हैं।

खरपतवारों के लाभ (Benefits of Weeds)

1. **मृदा संरक्षण में सहायक :** खरपतवार मृदा संरक्षण में सहायक हैं। इनकी जड़ें मृदा कणों को बांध कर इकट्ठा रखती हैं। इससे मृदा संरक्षण में सहायता मिलती है।

2. **चारे के रूप में खरपतवारों का उपयोग :** विभिन्न खरपतवार जैसे दूब घास, बथुआ, सेंजी आदि पशुओं हेतु पौष्टिक चारे के रूप में कम मात्रा में काम लिये जाते हैं।

3. **खरपतवारों की औषधीय महत्ता :** अनेक खरपतवार औषधीय महत्व के होते हैं। आयुर्वेद में खरपतवारों के अनेक पौधों के चिकित्सीय प्रयोग का उल्लेख मिलता है। खरपतवारों से अनेक रोगों के उपचार हेतु दवाइयाँ बनाई जाती है।

4. **खरपतवारों का आर्थिक महत्व :** कांस खरपतवार का उपयोग सदियों से हम मकानों के छप्पर बनाने में करते आये हैं। लैमन घास की पत्तियों से निकाले तेल का प्रयोग आजकल सौन्दर्य प्रसाधनों में किया जाने लगा है। कांस के मजबूत तने (Culm) मूड्डे, फर्नीचर आदि तैयार करने के काम आते हैं।

5. **मृदा सुधार हेतु :** दलहनी खरपतवारों की जड़ों में पाई जाने वाली जीवाणु ग्रन्थियाँ मृदा में नाइट्रोजन स्थिरीकरण करती है। इससे मृदा की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। सैंजी, सत्यानाशी, अडूसा जैसे खरपतवारों का प्रयोग तो क्षारीय मृदा सुधार में भी किया जाता है।

6. **खरपतवारों का सजावट के रूप में प्रयोग :** कुछ खरपतवार जैसे लैन्टाना कैमरा (जरायन) का उपयोग सड़क किनारे व बगीचों में सजावटी रूप से बाड़ (Hedge) लगाने के रूप में किया जाता है।

7. **जैविक कीट–रोग नियंत्रण में :** कुछ खरपतवारों का उपयोग जैविक कीट रोग नियंत्रण में किया जाने लगा है जैसे हुल हुल खरपतवार के पौधे से आने वाली तीक्ष्ण गंध कीटों को दूर रखने में सहायक है।

8. **अन्य उपयोग :** बथुआ, जंगली चौलाई तथा लेहसुआ खरपतवारों का प्रयोग पौष्टिक शाक–सब्जी के रूप में किया जाता है। मोथा खरपतवार के ट्यूबर अगरबत्ती बनाने में काम आते हैं। कासनी खरपतवार के बीजों को कॉफी के बीजों के साथ पीस कर कॉफी का स्वाद बढ़ाया जाता है।

खरपतवार विस्तार (Weed Dispersal)

खरपतवारों के बीज व वानस्पतिक भागों का एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुगमता से व बिना किसी यत्न के पहुँचना उनके विस्तार का प्राकृतिक तरीका है। ऐसे प्राकृतिक तरीके से विस्तार के कारण खरपतवार प्रकृति में अपना वर्चस्व बनाए हुए है।

बीज द्वारा विस्तार

(अ) **वायु द्वारा :** कई खरपतवारों के बीज में संरचनात्मक रूपान्तरण पाए जाते हैं, जिससे वे एक स्थान से दूसरे स्थान तक वायु के साथ उड़ कर पहुँच जाते हैं।

(ब) **जल द्वारा :** जलीय खरपतवारों के बीज व पौधे के वानस्पतिक भाग पानी के वेग व धारा के साथ वितरित हो जाते हैं। उदाहरण – जलकुम्भी।

(स) **पशुओं व चिड़ियों द्वारा :** कई खरपतवारों के बीज पशुओं व चिड़ियाओं द्वारा ग्रहण कर लिये जाते हैं। ये बीज उनकी विष्ठा व बीठ के माध्यम से या उससे निर्मित खाद द्वारा नए स्थानों तक पहुँच जाते हैं।

(द) **मानव :** मानव की लापरवाही से खरपतवार बीज व वानस्पतिक भाग एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँच जाते हैं। उदाहरणार्थ – मशीन के पहियों की सफाई नहीं करने से उन पर चिपके हुए बीज नए खेतों तक पहुँच जाते हैं।

(य) **खाद :** बिना सड़ी हई खाद के प्रयोग से उनमें निहित खरपतवारों के बीज नए खेत में पहुँच जाते हैं।

खरपतवार गुणन (Weed Multiplication)

खरपतवार का गुणन अथवा प्रजनन मुख्यतः दो माध्यमों से होता है (i) बीज द्वारा व (ii) वानस्पतिक भाग द्वारा।

बीज द्वारा : अनेक एक व द्विवर्षीय खरपतवार जीवन चक्र में वानस्पतिक वृद्धि के उपरान्त प्रजननीय प्रावस्था में जाकर बीज का निर्माण करते हैं। यह बीजोत्पादन अल्प से लेकर प्रचुर मात्रा में होता है।

वानस्पतिक भाग द्वारा : खरपतवारों का वानस्पतिक गुणन तने या जड़ों के अंश/टुकड़े या उनके निम्न विशिष्ट रूपान्तरणों से होता है।

1. प्रकन्द व जड़ स्कन्ध (Rhizome and root stocks)
2. उपरि भूस्तारी (Runner)
3. अन्तःभूस्तारी (Sucker)
4. भूस्तारिका (Offset)
5. कन्द (Tuber)
6. शल्क कन्द (Bulb)
7. जड़ (Root)

इसके अतिरिक्त अमरबेल का गुणन उसके तार जैसे तने के टूटे हुए टुकड़े से हो जाता है जबकि गाजर घास की पुष्प–कलिकाओं **(Floral buds)**से भी नए पौधों का प्रजनन होता है।

खरपतवार नियंत्रण (Weed Control)

सर्वप्रथम खरपतवार नियंत्रण के मुख्य सिद्धान्तों को जानना आवश्यक है।

खरपतवार नियंत्रण के सिद्धान्त (Principles of Weed Control)

1. **खरपतवारों की प्रकृति (Nature of weeds) :** रेगिस्तानी खरपतवारों की रोकथाम के लिए यदि खेत में पानी भर दें तो वे नष्ट हो जायेंगे। जलमग्न भूमियों के खरपतवार नष्ट करने हेतु खेत को कुछ समय सूखा छोड़ दें या जल निकास कर दें तो जलीय खरपतवार नष्ट हो जायेंगे।
2. **खरपतवारों के जीवन चक्र (Life cycle of weeds) :** एक वर्षीय खरपतवारों को फूल आने या बीज बनने से पहले ही नष्ट करना रोकथाम में सहायक रहेगा अर्थात् अंकुरण होते ही खेत की जुताई कर देने से जड़ें भूमि में पुनःस्थापित नहीं हो पायेगी।
3. **सुषुप्तावस्था का ज्ञान (Knowledge of dormancy stage) :** कुछ खरपतवारों के बीजों की सुषुप्तावस्था लम्बी अवधि तक होती है।
4. **खरपतवारों की सहनशीलता (Susceptibility of weeds) :** चौड़ी पत्ती वाले खरपतवार 2, 4–डी प्रयोग से नष्ट हो जाते हैं किन्तु संकरी पत्ती वाले खरपतवार नष्ट नहीं होते। इसलिए इस शाकनाशी रसायन का प्रयोग दलहनी, तिलहनी आदि चौड़ी पत्ती वाली फसलों में नहीं किया जा सकता।
5. **जनन विधियाँ (Propagation methods) :** कुछ खरपतवार जो बीज द्वारा ही जनन करते हैं जैसे जंगली चौलाई, जवासा, कृष्णनील, सत्यानाशी, प्याजी आदि। अतः इनके पौधों को यदि बीज बनने से पूर्व ही नष्ट कर दें तो इन खरपतवारों की रोकथाम संभव है। जो खरपतवार वानस्पतिक अंगों से जनन करते हैं, उन्हें खेत की गहरी जुताई करके खुला छोड़ देने पर नियंत्रित किया जा सकता है। जैसे मोथा, दूब घास आदि।

उन्नत शस्य विधियों द्वारा खरपतवार नियंत्रण

उन्नत शस्य क्रियाओं को निम्न बिन्दुओं में रेखांकित किया जा सकता है।

1. **जातीय उपयुक्तता :** ऐसी जातियां उगनी चाहिए जो क्षेत्र की मृदा व जलवायु के अनुकूल हो। इससे फसल का अंकुरण बढ़वार अच्छी होगी तथा वह खरपतवारों से पहले निकलेगी। साथ ही, जब खरपतवार निकलेंगे तो इससे उनकी बढ़वार रोकने में सहायता मिलेगी।
2. **बोने की तिथि व पौधों की संख्या :** फसलों को सही समय पर बोने से बढ़वार सर्वाधिक होती है। देर से बोने पर बढ़वार कम हो जाती है, और खरपतवारों का प्रकोप अधिक हो जाता है। खरीफ में मानसून आगमन से कुछ समय पूर्व बुवाई कर देने से खरपतवारों का प्रकोप कम होता है।
3. **कटाई व चराई :** यह समस्या अधिकतर चरागाहों की है। कई बार अधिक चराई से वहाँ खरपतवार पुनः छा जाते हैं। अतः चरागाह में क्रमिक चराई ही की जानी चाहिए। साथ ही सही अवस्था में ही चराई की जानी चाहिए।
4. **फसल चक्र :** कुछ खरपतवार फसल विशेष में ही उगते हैं और यदि किसी खेत में लगातार वही फसल ली जाए तो उस खरपतवार को फैलने में सहायता मिलती है। अतः ऐसे खेतों में फसल चक्र में बदलाव कर खरपतवार नियंत्रण किया जा सकता है।
5. **मृदा जल सम्बन्ध :** फसल को उसके मृदा व जल सम्बन्धी आवश्यकता के अनुसार ही उगाना चाहिए। इससे वह अधिक ओजपूर्ण होती है और उसमें खरपतवारों से प्रतियोगिता करने की अधिक शक्ति पाई जाती है।
6. **अन्तराशस्य :** जिन फसलों में कतार से कतार की दूरी अधिक होती है तथा आरम्भिक बढ़वार भी धीरे हो, ऐसे खेतों में खरपतवार तीव्रता से बढ़ते हैं। ऐसी परिस्थिति में कतारों के बीच तेजी से बढ़ने वाली व कम समय में पकने वाली फसलों का अन्तरासस्यन कर खरपतवार की

समस्या को कम किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर मक्का व कपास के बीच दलहनी फसलें।

7. **मृदा उर्वरता :** यह सर्वविदित है कि पोषकों से युक्त मृदा में फसल व खरपतवार दोनों ही तेजी से बढ़वार करते हैं। यदि खरपतवारों को एक बार नष्ट कर दिया जाए तो फसल पोषकों के उपलब्ध होने के कारण तेजी से फैलती है व बढ़ती है और बाद में निकलने वाले खरपतवारों को दबा देती है।

8. **मृदा की पी.एच. :** कुछ खरपतवार अम्लीय तथा कुछ अन्य क्षारीय मृदा में भी उगने की क्षमता रखते हैं अतः बुआई पूर्व ऐसी मृदाओं का बुझे हुए चूने अथवा जिप्सम से उपचार कर पी.एच. मान को सुधारने का प्रयास किया जाना चाहिए जिससे फसल अच्छी बढ़वार कर सके।

9. **नवीन कर्षण क्रियाएँ :** शून्य व न्यून कर्षण क्रियाओं जैसी विधियों को अपनाकर गेहूं के क्षेत्रों में आईसोप्रोट्यूरोन रोधी गुल्ली डण्डा जैसे खरपतवारों को नियंत्रित किया जा सकता है।

10. **छाया करना :** कई फसलें अंकुरण के तुरन्त बाद तेजी से वृद्धि करती हैं जिससे कतारों के बीच की जगह भर जाती है और वहाँ खरपतवार नहीं निकल पाते। अगर वे निकलते भी हैं तो प्रकाश के अभाव में क्षीण व दुर्बल होते जाते हैं तथा फसल पर कुप्रभाव डालने में असमर्थ होते हैं।

भौतिक व यांत्रिक नियंत्रण

निम्न विधियों को अपना कर खरपतवारों को नियंत्रण में रखा जा सकता है।

1. **हाथ से उखाड़ना :** छोटे क्षेत्रफल पर खरपतवारों को नष्ट करने की यह उत्तम विधि है। इस विधि में अधिक समय लगता है। यह विधि अधिक घने पौधे तथा नर्सरी आदि के खरपतवार निकालने के लिए प्रयोग में लाई जाती है। इस विधि को एकवर्षीय खरपतवारों को समाप्त करने के लिए प्रयोग करते हैं।

2. **निराई करना :** इस विधि में खुरपी से खरपतवार की निराई की जाती है। इस छोटे क्षेत्रफल पर उद्यानों गृहवाटिका नर्सरी तथा छोटे खेतों के खरपतवारों को निकालने के लिए विशेष उपयुक्त है।

3. **गुड़ाई करना :** इस विधि से कुदाली, फावड़ा, हैण्ड हो तथा बैलों तथा ट्रेक्टर से चलने वाले हैरो या कल्टीवेटर का प्रयोग किया जाता है। इस क्रिया से अधिकतर एकवर्षीय खरपतवार भी आंशिक रूप से नष्ट हो जाते हैं, परन्तु पुनः उग जाते हैं। अतः बार–बार गुड़ाई करनी पड़ती है।

4. **कर्षण क्रिया :** सभी प्रकार के खरपतवारों को कर्षण द्वारा काफी हद तक नष्ट किया जा सकता है। इस बात के काफी प्रमाण प्राप्त है कि कर्षण का मुख्य उद्देश्य खरपतवारों को नष्ट करना ही है।

5. **छंटाई करना :** इस विधि का मुख्य उद्देश्य खरपतवार के पौधों का काटकर इनकी वृद्धि तथा बीजोत्पादन रोकना है। इनका प्रयोग बंजर भूमि, चारागाह, सड़क, बस्ती, नहर के किनारे उगे खरपतवारों के नियंत्रण हेतु किया जाता है। पौधों को बार–बार काटने से इनमें संचित भोज्य पदार्थ समाप्त हो जाता है जिससे पौधों की वृद्धि रूक जाती है।

6. **जलाना :** यह विधि बंजर भूमियों, अन्य अकृषित भूमियों के खरपतवारों को नष्ट करने के लिए उपयोगी है। इसमें आग की लपटों से भूमि की ऊपरी सतह पर पड़े अंकुरण शक्ति खो देते हैं।

7. **पानी भरना (जल पल्लवन) :** ऐसे स्थान जहाँ पर्याप्त मात्रा में पानी उपलब्ध हो वहाँ इस विधि का प्रयोग बहुवर्षीय खरपतवारों को नियन्त्रण करने के लिए किया जाता है। इस विधि का प्रयोग बंजर भूमियों के खरपतवार नष्ट करने के लिए किया जाता है।

8. **पलवार (Mulch) :** पलवार का उद्देश्य विभिन्न साधनों से भूमि को इस प्रकार ढक देना है कि भूमि के तल पर प्रकाश एवं वायु का प्रवेश अवरूद्ध हो जाये। अजीवित पदार्थों द्वारा दबा देने की क्रिया द्वारा खरपतवारों के पौधों तक सूर्य के प्रकाश को पहुँचने से रोका जाता है ताकि उनमें संश्लेषण की क्रिया न हो सके और भोज्य पदार्थों के अभाव में वे कमजोर होकर नष्ट हो जाएँ।

9. **मृदा सौरीकरण (Soil solarization) :** इस विधि में अप्रैल–मई के माह में ऐसा खेत जहाँ नमी हो, पारदर्शी प्लास्टिक की शीट से ढक दिया जाता है। इस प्लास्टिक के नीचे मृदा का तापमान सामान्यतः 8–10 डिग्री सेन्टीग्रेड बढ़ जाता है, जिससे कि कई खरपतवारों के बीज झुलस कर नष्ट हो जाते हैं।

रासायनिक नियंत्रण (Chemical control)

रसायनों का प्रयोग द्वितीय विश्व युद्ध 1945 के बाद ही शुरू हुआ जब 2,4–डी व एम.सी.पी.ए. (MCPA) अस्तित्व में आये।

परिभाषा : शाकनाशी रसायन (Herbicides) : वे रासायनिक पदार्थ जो खरपतवारों को नष्ट करने में या उनकी बढ़वार को रोकने में सहायक होते हैं, शाकनाशी रसायन कहलाते हैं।

(1) शाकनाशियों का वर्गीकरण (Classification of herbicides) : शाकनाशियों को उनके गुण व विशेषताओं व प्रभाव के आधार पर निम्न भागों में वर्गीकृत किया गया है –

(अ) वरणात्मक व अवरणात्मक शाकनाशी
(ब) मृदा सक्रिय व पत्र सक्रिय शाकनाशी
(स) सम्पर्क व स्थानान्तरित शाकनाशी

(द) मृदा जीवाणु नाशक व मृदा धूमक शाकनाशी

(अ) वरणात्मक व अवरणात्मक शाकनाशी (Selective & Non-selective herbicides)

वरणात्मक शाकनाशी : ये वे रसायन हैं जो किसी जाति विशेष के पौधों को ही नष्ट करते हैं परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य किसी पौधे को कोई हानि नहीं पहुँचाते। इनका प्रयोग फसलों के साथ उगे खरपतवारों को नष्ट करने में किया जा सकता है। जैसे 2,4–डी के प्रयोग से गेहूँ की फसल में चौड़ी पत्ती वाले सभी खरपतवार नष्ट हो जाते हैं, गेहूँ की फसल को कोई नुकसान नहीं पहुँचता।

अवरणात्मक शाकनाशी : इनका प्रयोग बंजर भूमियों, औद्योगिक परिसरों, सड़क व नहर किनारे उगे बहुवर्षीय खरतवार नष्ट करने के लिए किया जाता है। उदाहरण – डाइक्वाट, पैराक्वाट, ग्लाइफोसेट।

(ब) मृदा सक्रिय व पत्र सक्रिय शाकनाशी (Soil active and foliage active herbicides)

मृदा सक्रिय शाकनाशी : इन रसायनों का प्रयोग फसल की बुआई से पूर्व या खरपतवारों के अंकुरण अवस्था में ही मृदा में मिलाकर करते हैं। इसके लिए खेत की भली–भांति जुताइयाँ करके मृदा को भुरभुरा बना लेते हैं। इनका प्रभाव प्रयोग के 4–6 सप्ताह बाद तक बना रहता है। उदाहरण – एट्राजीन, एलाक्लोर, पेन्डिमिथेलिन, फ्लूक्लारेलिन।

पत्र सक्रिय शाकनाशी : इन रसायनों का प्रयोग सीधे पौधे पर पर्णीय छिड़काव के रूप में किया जाता है। उदाहरण – 2,4–डी, आईसोप्रोट्यूरोन, पिनोक्साडेन, सलफोसल्फ्यूरॉन, पेराक्वेट, ग्लाइफोसेट।

(स) सम्पर्क शाकनाशी व स्थानान्तरित शाकनाशी (Contact herbicides & translocated herbicides)

सम्पर्क शाकनाशी : इस प्रकार के शाकनाशी रसायन पौधे के उसी भाग पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं जो भाग इनके सम्पर्क में आता है। अतः इन शाकनाशियों के प्रयोग के समय ध्यान रखते हैं कि खरपतवार के सभी भागों (पत्ती, तना, शाखा) पर इनका छिड़काव हो जाये। उदाहरण – पैराक्वेट, डाइक्वेट।

स्थानान्तरित शाकनाशी : इन शाकनाशियों का प्रयोग पौधे के किसी भी भाग पर किया जावे तो प्रत्येक अंग में फैल कर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। पत्तियों पर छिड़कने से प्रभाव जड़ों तक होता है। उदाहरण – 2,4–डी, आइसोप्रोट्यूरोन, ग्लाइफोसेट।

(द) मृदा जीवाणुनाशक एवं मृदा धूमक शाकनाशी (Soil sterilants and fumigants)

मृदा जीवाणुनाशक : मृदा में वनस्पति के साथ–साथ सभी जीवाणुओं को नष्ट करते हैं। इनका प्रभाव मृदा में 4 माह से 24 माह तक बना रहता है। उदाहरण – डाइयूरॉन, सिमेजिन, एट्राजिन।

मृदा धूमक : इन शाकनाशियों की गैस या वाष्प मृदा में फैलकर वनस्पति को नष्ट करती है। इनका प्रभाव मृदा में एक माह तक बना रहता है। उदाहरण – कार्बन–डाई–सल्फाइड, मिथाइल ब्रोमाइड।

(2) शाकनाशी रसायन प्रयोग करने का समय : शाकनाशी रसायनों को फसलों में निम्न समयानुसार प्रयोग किया जाता है –

1. **बुआई या रोपाई पूर्व (Pre-sowing stage) :** फसल की बुआई या रोपाई से पहले शाकनाशी रसायन का प्रयोग इस विधि से करते हैं। खेत की भलीभांति जुताइयाँ करके मृदा को भुरभुरा बना लेते हैं। मृदा में नमी अवश्य होनी चाहिए जिससे शाकनाशी को भलीभांति मृदा में मिलाया जा सके। उदाहरण – दलहनी व तिलहनी फसलों में फ्लूक्लोरेलिन 1 कि.ग्रा. मात्रा बुआई से पहले 800–1000 लीटर पानी में घोलकर मृदा में प्रति हेक्टेयर छिड़काव करना।
2. **बुआई के बाद अंकुरण से पहले (Pre-emergence stage) :** इस विधि में फसल की बुआई के तुरंत बाद व फसल तथा खरपतवार दोनों के अंकुरण से पहले शाकनाशी रसायन खेत में प्रयोग करते हैं। उदाहरण – ज्वार, बाजरा, मक्का आदि फसलों हेतु एट्राजिन 0.5 कि. ग्रा. मात्रा प्रति हेक्टेयर व सभी तिलहनों व दलहनों में पेन्डिमिथेलिन 0.75 – 1.0 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से अंकुरण से पहले प्रयोग करें।
3. **अंकुरण के बाद प्रयोग (Post-emergence stage) :** वे शाकनाशी रसायन जो फसल व खरपतवार दोनों के उगने के बाद छिड़के जाते हैं। इनका प्रयोग उचित समय पर एवं फसल के अनुसार किया जाता है। उदाहरण – गेहूँ में आइसोप्रोट्यूरोन 1 कि.ग्रा. मात्रा गेहूँसा, जई, हेतु बुआई के 30–35 दिन बाद 600–800 लीटर पानी में मिलाकर प्रति हेक्टेयर छिड़काव करें।
4. **ले–बाई प्रयोग (Lay-by application) :** इस विधि का प्रयोग खड़ी फसल में आखिरी निराई–गुड़ाई के बाद करते हैं। उदाहरण – गेहूँ की फसल में 2,4–डी का प्रयोग।

(3) रासायनिक विधि से खरपतवार नियंत्रण के लाभ

(i) वर्षा ऋतु में लगातार या एक या दो दिन के अन्तर से वर्षा होने पर खेत में निराई–गुड़ाई कर पाना संभव नहीं होता ऐसे में रसायनों द्वारा खरपतवार नियंत्रण संभव है।

(ii) भौतिक या यांत्रिक विधि से खरपतवार नियंत्रण तभी संभव होता है जब खरपतवारों के 3–4 पत्तियाँ आ जायें,

जबकि रासायनिक विधि द्वारा अंकुरण की अवस्था में ही खरपतवार नियंत्रण संभव है।

(iii) फसलों में पाये जाने वाली नकलची (Mimicry) या अनुकारी खरपतवार जैसे गेहूँ में गेहूँसा, धान में जंगली धान को यांत्रिक विधि से निकालना आसान नहीं, जबकि रासायनिक विधि द्वारा नियंत्रण आसानी से संभव है।

(iv) शाकनाशी प्रयोग से बहुवर्षीय व काष्ठीय खरपतवारों को सरलता या सुगमतापूर्वक नष्ट किया जा सकता है।

(v) जिन क्षेत्रों में मृदा कटाव (Soil erosion) की समस्या अधिक है वहाँ रासायनिक विधि से खरपतवार नियंत्रण प्रभावशाली रहेगा।

(vi) यंत्रों द्वारा खरपतवार नियंत्रण के लिए फसलों को उचित फासले पर कतारों में बोना जरूरी है, जबकि रासायनिक विधि का प्रयोग छिटकवां ढंग से बोई गई फसलों पर भी कर सकते हैं।

(vii) असमतल खेतों में रासायनिक विधि से खरपतवार नियंत्रण यांत्रिक विधि की अपेक्षा सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

(viii) रासायनिक खरपतवार नियंत्रण में फसलों की जड़ों को हानि नहीं होती, जबकि यांत्रिक विधि से प्रायः निराई–गुड़ाई के समय जड़ें कटने का भय बना रहता है।

(ix) श्रमिकों की आवश्यकता अपेक्षाकृत कम पड़ती है।

(x) फसल उत्पादन लागत घट जाती है, जिससे किसान को प्रति इकाई क्षेत्रफल से अधिक लाभ प्राप्त होता है।

5. रासायनिक विधियों की सीमायें (Limitations of chemical methods)

(अ) किसान को शाकनाशी रसायन के प्रभाव व प्रयोग विधि सम्बन्धी तकनीकी जानकारी न होना।

शाकनाशी	फसल/सामान्य उपयोग	मात्रा (सक्रिय तत्व किग्रा./हे.)	समय
2,4–डी (ईथाइल एस्टर) 2,4-D (ethyl ester)	गेहूँ (चौड़ी पत्ती वाले खरपतवार हेतु)	0.50	बुआई से 30–35 दिन बाद
एलाक्लोर Alachlor	सोयाबीन, मक्का	2.0 2.5	रोपाई से 3–7 दिन में
एट्राज़ीन Atrazine	मक्का, गन्ना	0.50	अंकुरण पूर्व
ब्युटाक्लोर Butachlor	धान	1.0-1.5	रोपाई से 3–7 दिवस में
क्लोमाजोन Clomazone	सोयाबीन	1.0-1.5	अंकुरण पूर्व
डाइयूरोन Diuron	कपास	0.50-1.5	अंकुरण पूर्व
फ्लुक्लोरेलिन Fluchloralin	तिलहन, दलहन	0.75-1.00	बुआई पूर्व मृदा में मिला कर
ग्लाइफोसेट Glyphosate	अकृषि क्षेत्र/कुल वनस्पति नष्ट करने हेतु	0.3% घोल	खरपतवार अंकुरण उपरान्त
ईमेज़ीथापायर Imazethapyr	सोयाबीन, मूंगफली, उड़द, मूंग	0.10	बुआई से 15–20 दिन बाद
आइसोप्रोटयूरोन Isoproturon	गेहूँ (घासीय खरपतवार हेतु)	0.75-1.0	बुआई से 30–35 दिन बाद
मेटोलाक्लोर Metolachlor	तिलहन, दलहन	0.75-1.0	अंकुरण पूर्व
मेट्रीब्यूज़ीन Metribuzin	सोयाबीन, टमाटर	0.25-030	अंकुरण पूर्व/बुआई से 15–20 दिन बाद
मेटसल्फुरॉन Metsulfuron	गेहूँ (चौड़ी पत्ती वाले खरपतवार हेतु)	0.002-0.004	बुआई से 30–35 दिन बाद
ऑक्सीफ्लुरफेन Oxyfluorfen	आलू	0.15	अंकुरण पूर्व
पेराक्वेट Paraquat	अकृषि क्षेत्र/कुल वनस्पति नष्ट करने हेतु/रिजका	0.1-0.2% घोल	खरपतवार अंकुरण उपरान्त
पेंडीमिथेलिन Pendimethalin	तिलहन/दलहन/मसाला फसल/कपास	0.75-1.0	अंकुरण पूर्व
सल्फोसल्फुरोन Sulfosulfuron	गेहूँ (घासीय खरपतवार हेतु)	0.025-0.030	बुआई से 30–35 दिन बाद

(ब) हमारे देश में जलवायु, भूमि व वनस्पति की भिन्नता होने से केवल एक ही प्रकार के शाकनाशी रसायन द्वारा खरपतवार नियंत्रण संभव नहीं है।

(स) किसानों द्वारा मिश्रित शस्योत्पादन अपनाने से भी इसमें बाधा आती है।

(द) मृदा व फसलों पर होने वाले दुष्प्रभावों के कारण शाकनाशी रसायनों के प्रयोग में कमी आ रही है।

(य) कृषि जोतों का आकार छोटा होने से किसान द्वारा गृह श्रमिकों से निराई–गुड़ाई करवाकर खरपतवार नियंत्रण अधिक लाभकारी हो जाता है।

(र) रसायनों के गलत प्रयोग करते समय कोई स्वचालित सूचक **(Signal)** न होने से किसान को फसलों में इसके दुष्प्रभाव का तुरंत पता नहीं चलता, इससे जब कुप्रभाव को देखकर किसान शाकनाशी का प्रयोग रोकता है तब तक काफी हानि हो चुकी होती है।

भारतवर्ष में प्रयुक्त चुनिन्दा शाकनाशी व शाकनाशी मिश्रण

जैविक नियंत्रण

जैव नियंत्रण परजीवियों, परभक्षियों तथा रोगाणुओं की वह क्रिया है जो दूसरे जीवों की संख्या या घनत्व को उस औसत से कम कर देती है जो उनका अनुस्थिति में रहता है। इस प्रकार खरपतवारों के जैव नियंत्रण का उद्देश्य खरपतवारों की संख्या को परजीवियों की सहायता से इस सीमा तक कम करना है जिससे उनसे होने वाली हानि को रोका जा सकें। यह कार्य खरपतवारों में कीटों, पौधों तथा रोगाणुओं को उत्पन्न कराकर किया जाता है।

प्राकृतिक शत्रुओं (जैव अभिकर्ता) के प्रकार : खरपतवार के प्राकृतिक शत्रु अनेक प्रकार के होते हैं जिनमें से प्रमुख कीट हैं। कीटों का इस्तेमाल अनेक खरपतवारों के नियंत्रण हेतु व्यापक रूप से किया जाता है। ये कीट मुख्यतः लेपिडोप्टेरा, हेमीप्टेरा, कोलियोप्टेरा, डिप्टेरा, हाइमिनोप्टेरा और थाइसेनोप्टेरा जातियों के होते हैं। इन अभिकर्ताओं में ये गुण होने चाहिये :

1. मेजबान विशेष को छोड़कर ये अन्य पौधों पर आकृष्ट नहीं होना चाहिए।
2. इनका गुणन तीव्रता से होना चाहिये।
3. कम समय में अधिक से अधिक नुकसान पहुँचाना चाहिये तथा जहाँ तक सम्भव हो ये मेजबान पौधे के फूल व कलियों को नष्ट करने में योग्य होना चाहिये जिससे कि मेजबान पौधों का गुणन भी अवरूद्ध हो जाये।
4. नये स्थान पर शीघ्रता से जम जाना चाहिये।

जैव नियंत्रण की सफलता के उदाहरण

विश्व के कृषि इतिहास में जैव नियंत्रण के माध्यम से निम्न खरपतवारों को नियंत्रण करने में सफलता पाई है।जैसे कि– खरपतवार लेन्टाना केमेरा को जैव अभिकर्ता क्रोसीडोसीमा लेन्टाना से एवं खरपतवार पारथेनियम हिस्टीरोफोरस (गाजर घास) को जाइगोग्रामा बाइकोलोरटा से नियन्त्रित किया जाता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. खरपतवार वे पौधे हैं जो अनचाहे स्थान व अनचाहे समय पर उगते हैं।
2. खरपतवारों में कई विशेषताएँ होती हैं जिससे उनकी वृद्धि फसलों की अपेक्षा अधिक तेजी से होती है।
3. खरपतवारों को जीवन चक्र, बीज पत्र, फसल सम्बन्ध, पत्तियों की बनावट, मृदा व जलवायु व प्रजनन इत्यादि के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है।
4. खरपतवार फसल से पोषक तत्व, नमी, प्रकाश व स्थान के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। ये फसल की गुणवत्ता, पशु उत्पादों की मात्रा व गुणवत्ता, मनुष्य व पशु स्वास्थ्य इत्यादि पर विपरीत प्रभाव डालते हैं।
5. ये कीट व व्याधियों को शरण देने के अतिरिक्त सिंचाई में अवरोध उत्पन्न करते हैं।
6. खरपतवार नियंत्रण हेतु भौतिक व यांत्रिक विधियाँ जैसे कि हाथ से उखाड़ना, निराई–गुड़ाई, छंटाई, जलाना, जल पल्लवन पलवार, मृदा सौरीकरण इत्यादि विधियाँ अपनाई जा सकती है।
7. रसायनों (शाकनाशियों) से खरपतवारों का अच्छा नियंत्रण मिलता है। वरणात्मक शाकनाशियों द्वारा फसली क्षेत्रों में नियंत्रण हेतु अनेक शाकनाशी प्रयुक्त किये जाते हैं। अकृषि क्षेत्रों में अवरणात्मक शाकनाशी प्रयुक्त होते हैं।
8. फसली क्षेत्र में शाकनाशियों को बुआई पूर्व मृदा में मिला कर (Pre-plant incorporation), फसल की बुआई परन्तु अंकुरण पूर्व (Pre-emergence) व अंकुरण बाद उचित अवस्था पर (Post-emergence) दिया जाता है।
9. कुछ खास खरपतवारों को जैव–अभिकर्ता (Bio-agent) के प्रयोग से नियंत्रित किया जा सकता है।
10. भारतवर्ष में जलकुम्भी, गाजर घास जैसे खरपतवारों की जैविक विधि से नियंत्रित किये जाने में सफलता प्राप्त हुई है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. सरसों के तेल में किस खरपतवार की मिलावट से ड्रोप्सी नामक रोग होता है –
   (अ) अमरबेल (ब) मोथा
   (स) प्याजी (द) सत्यानाशी
2. निम्न में से किस शाकनाशी का उद्‌भव सर्वप्रथम हुआ था –
   (अ) 2, 4–डी (ब) एट्राजीन
   (स) आइसोप्रोट्यूरोन (द) पेन्डीमिथेलिन
3. निम्न में से किस खरपतवार का प्रजनन वानस्पतिक विधि द्वारा होता है –
   (अ) बथुआ (ब) लहसुआ
   (स) मोथा (द) कासनी
4. निम्न में से कौनसा जैव–अभिकर्ता गाजर घास नियंत्रण हेतु काम में आता है –
   (अ) *जाइगोग्रामा बाइकोलोरेटा*
   (ब) *नियोचिटियाना ब्रूशी*
   (स) *एगासिलस हाइग्रोफाइला*
   (द) *क्राइटोफेगस सालवीनी*
5. निम्न में से कौनसा शाकनाशी सोयाबीन में खरपतवार नियंत्रण हेतु प्रयुक्त किया जाता है –
   (अ) एट्राजीन (ब) आइसोप्रोट्यूरॉन
   (स) सल्फोसल्फ्यूरॉन (द) इमेजीथापायर
6. निम्न में से कौनसा खरपतवार द्विबीजपत्री है –
   (अ) *फेलेरिस माइनर* (ब) *एविना फटूआ*
   (स) *साइप्रस रोटुन्डस* (द) *एमेरेन्थस विरीडिस*

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

7. सापेक्ष खरपतवार (Relative weed) क्या होते हैं?
8. गेहूँ के पाँच चौड़ी पत्ती वाले खरपतवारों के नाम बताइये।
9. खरपतवार से मनुष्य स्वास्थ्य पर होने वाले दुष्परिणाम को सउदाहरण बताइये।
10. खरपतवारों से मनुष्य के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव के दो उदाहरण दीजिए।
11. खरपतवारों से पशु उत्पादों की गुणवत्ता में कमी के दो उदाहरण दीजिए।
12. दो अवरणात्मक शाकनाशियों के नाम लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

13. खरपतवारों के औषधीय उपयोग की सउदाहरण व्याख्या कीजिए।
14. पलवार (Mulch) द्वारा खरपतवार नियंत्रण कैसे किया जाता है?
15. सम्पर्क व स्थानान्तरित शाकनाशियों का विभेद सउदाहरण समझाईये।
16. खरपतवारों की बीज उत्पादन क्षमता व उनकी अंकुरण क्षमता पर टिप्पणी लिखिए।
17. खरपतवारों के वानस्पतिक गुणन पर टिप्पणी लिखिए।
18. खरपतवार–फसल सम्बन्ध के आधार पर खरपतवारों को वर्गीकृत कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

19. खरपतवारों का वर्गीकरण कैसे किया जाता है। विभिन्न वर्गीकरणों की सउदाहरण विवेचना कीजिए।
20. खरपतवार नियंत्रण हेतु विभिन्न भौतिक व यांत्रिक विधियों को समझाइये।
21. खरपतवारों से होने वाली हानियों का विस्तृत विवरण दीजिए।
22. रासायनिक विधियों द्वारा खरपतवार नियंत्रण के लाभ व सीमाओं को समझाइये।

उत्तरमाला

1. (द) 2. (अ) 3. (स) 4. (अ) 5. (द) 6. (द)

अध्याय – 5
5.1 शुष्क कृषि – परिभाषा, महत्व एवं सिद्धांत
(Dry farming- Definition, Importance and Principles)

भारतीय कृषि को मानसून का जुआ (Gamble with Monsoon) कहा जाता है। देश में खाद्यान्न उत्पादन एवं कृषि विकास वर्षा की मात्रा एवं वितरण पर निर्भर करती है। हमारे देश में कुल शुद्ध कृषि क्षेत्र का लगभग 58 प्रतिशत क्षेत्र वर्षा पर आधारित है। कुल खाद्यान्न उत्पादन का 40 प्रतिशत इन्ही क्षेत्रों से आता है तथा साथ ही दो तिहाई पशुधन इन क्षेत्रों पर निर्भर है। हैदराबाद स्थित केन्द्रीय बारानी कृषि अनुसंधान के अनुसंधान परिणाम बताते है कि वर्षा जल तथा अन्य संसाधनों की उपलब्धता की दृष्टि से इन क्षेत्रों में व्यापक क्षेत्रीय असमानता पाई जाती है। उन्नत कृषि तकनीकें अपनाकर बारानी फसलों की

सारणी 5.1.1 : राजस्थान के कृषि जलवायु खंड

क्र. सं.	कृषि जलवायु खंड	वार्षिक वर्षा मिमी.	राजस्थान के जिले	बोई जाने वाली मुख्य फसलें
1	I A शुष्क पश्चिमी मैदानी क्षेत्र	100–300	प. बाड़मेर, प. जोधपुर, चूरू का शुष्क क्षेत्र	खरीफ दालें, ग्वार, चना, गेहूँ, तिल, सरसों, बाजरा
2	I B सिंचित उत्तरी पश्चिमी मैदानी क्षेत्र	100–300	श्रीगंगानगर एवं हनुमानगढ़	जीरा, गेहूँ, गन्ना, ईसबगोल ग्वार, सरसों, बाजरा खरीफ दालें व धान
3	I C अति–शुष्क सिचिंत क्षेत्र	100–300	बीकानेर, जैसलमेर चूरू की चार तहसीले	कपास, बाजरा, ज्वार, खरीफ दालें, गेहूँ, सरसों, तिल
4	II A अंतर्वती मैदानी क्षेत्र	300–500	नागौर, झुंझुनू, सीकर, पूर्वी चूरू	बाजरा, तिल, सरसों, गेहूँ, ज्वार, खरीफ दालें
5	II B लूनी नदी का अंतर्वती मैदानी क्षेत्र	300–500	प. सिरोही, पू. जोधपुर, पाली, जालौर	गेहूँ, बाजरा, चना, सरसों, तोरिया, मक्का, गन्ना, मूंगफली, कपास
6	III A अर्द्ध शुष्क पूर्वी मैदानी क्षेत्र	500–600	अजमेर, जयपुर, टोंक एवं दौसा जिले का कुछ भाग	गेहूँ, बाजरा, मूंग, मूंगफली, चवला, सरसों, चना, जौ, ज्वार
7	III B बाढ़ संभाव्य पूर्वी मैदानी क्षेत्र	500–600	अलवर, भरतपुर, धौलपुर, द. सवाईमाधोपुर, दौसा व करौली की कुछ तहसीलें	तिल, बाजरा, गेहूँ, सरसों, चना, मक्का मूंगफली, जौ, ज्वार
8	IV A अर्द्ध आर्द्र द . मैदान एवं अरावली पहाडी क्षेत्र	500–700	भीलवाड़ा, राजसमन्द उदयपुर, चितौड़गढ़ व सिरोही का हिस्सा	मक्का, सोयाबीन, उड़द, ज्वार, गेहूँ, चना, सरसों
9	IV B आर्द्र दक्षिणी क्षेत्र	600–750	बांसवाड़ा, डूंगरपुर उदयपुर, प्रतापगढ के हिस्से	मक्का, धान, रबी, अरहर, सरसों, गन्ना, गेहूँ
10	V आर्द्र दक्षिणी पूर्वी मैदान	750 से ऊपर	बूंदी, कोटा, झालावाड़ व स . माधोपुर का हिस्सा	गेहूँ, सोयाबीन मक्का, धान, उड़द, सरसों,, तोरिया, कपास, गन्ना, अफीम

उत्पादकता 50–70 प्रतिशत तक बढ़ाई जा सकती है। भारत के लगभग 141 मिलियन हैक्टेयर शुद्ध कृषित क्षेत्र में 80 मिलियन हेक्टेयर बारानी या असिंचित है।

शुष्क खेती का तात्पर्य वर्षा द्वारा प्राप्त जल का सुनियोजित संरक्षण व उपयोग करके, उचित सस्य क्रियाओं को अपना कर शुष्क क्षेत्रों हेतु उपयुक्त किस्में व फसलें जो कम पानी चाहने वाली हों, कम अवधि वाली हों, की बुआई करके अधिकतम पैदावार प्राप्त करना है।

शुष्क खेती– शुष्क व अर्द्धशुष्क क्षेत्रों में जहाँ वाष्पीकरण की मात्रा (वर्षा, ओस, वर्षण, बर्फ) से प्राप्त जल की मात्रा से अधिक हो, जहाँ सिंचाई की सुविधा उपलब्ध न हो, में नमी संरक्षण एवं समुचित सस्य क्रियाओं द्वारा फसल उत्पादन करना शुष्क खेती है।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटनिका के आधार पर परिभाषा ''जहाँ फसल उत्पादन के लिए पानी की उपलब्धता मुख्य समस्या है, वहाँ बिना सिंचाई की खेती को शुष्क खेती कहते हैं।''

असिंचित खेती – असिंचित खेती या बारानी खेती से तात्पर्य बिना सिंचाई के फसलोत्पादन से है, यह प्रायः आर्द्र व अर्द्ध–आर्द्र जलवायु क्षेत्रों में की जाती है। इन क्षेत्रों मे वर्षा अधिक व वाष्पीकरण कम होता है।

क्षेत्रफल की दृष्टि से राजस्थान देश का सबसे बड़ा राज्य है जो कि भारत के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 10.4 प्रतिशत है। परन्तु राज्य में देश के उपलब्ध जल संसाधनों का मात्र एक प्रतिशत भाग ही उपलब्ध है। राज्य में कृषि योग्य भूमि का लगभग 70 प्रतिशत भाग वर्षा पर आधारित (बारानी) है। यहाँ फसल उत्पादन वर्षा पर ही निर्भर है। ऐसी परिस्थितियों में शुष्क खेती, अपनाना सर्वोत्तम विकल्प है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली ने राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान परियोजना के लिए राजस्थान की कृषि जलवायु को दस भागों में विभक्त किया है। सिंचाई की सम्पूर्ण क्षमता के उपयोग के पश्चात् भी देश के शुद्ध बुआई क्षेत्र का 40 प्रतिशत क्षेत्र बारानी ही रहेगा। बिना सिंचाई के वर्षा आधारित खेती को असिंचित या बारानी खेती कहते हैं। असिंचित खेती को बारानी नम कृषि तथा बारानी शुष्क कृषि असिंचित खेती या बारानी खेती दो भागों में बाँटा जा सकता है।

बारानी नम कृषि में वर्षा की मात्रा पर्याप्त होती है तथा वर्षा का वितरण भी फसल बढ़वार मौसम में उपयुक्त होता है इस प्रकार की कृषि में वर्षा के पानी का निकास एक मुख्य मुद्दा रहता है। जबकि शुष्क कृषि क्षेत्रों में वर्षा तथा वाष्पीकरण की तुलनात्मक मात्रा ऋणात्मक होती है।

राजस्थान के परिपेक्ष्य में शुष्क कृषि का महत्व

राज्य में 70 प्रतिशत क्षेत्रफल असिंचित होने से फसल–उत्पादन वर्षा पर ही निर्भर है। राज्य के पश्चिमी भाग में औसतन वर्षा 100 से 300 मिमी. तथा पूर्वी भाग में 500–1000 मिमी होती है। (देखें राजस्थान के कृषि जलवायु खंड)। राज्य की औसत वर्षा 575.1 मिमी. है। ऐसे में उन्नत शुष्क कृषि तकनीकें अपनाना किसान के लिए फायदेमंद हो सकता है। राजस्थान की निम्न परिस्थितियों के कारण शुष्क खेती को अपनाया जाना जरूरी है–

(1) जलवायु संबंधी कारण– हमारे राज्य में कुल वार्षिक वर्षा का 90 प्रतिशत से अधिक भाग मध्य जून से मध्य सितम्बर तक प्राप्त होता है। मानसून कालमात्र 40 से 80 दिन तक रहता है। वर्षा की अनियमितता के कारण किसान को फसल प्रबन्ध में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में तापक्रम मई तथा जून में 40° से 48° सेल्सियस हो जाता है। वायु की तेजगति से वातावरण की आर्द्रता कम हो जाती है। वाष्पीकरण तेजी से होता है। इसी कारण इन क्षेत्रों में कम अवधि वाली, कम जल माँग वाली, सूखा सहनशील फसलों से ही पैदावार प्राप्त कर सकते हैं। शुष्क कृषि तकनीक से ऐसी फसलों के चयन में मदद मिल सकती है।

(2) मृदा संबंधी कारण–राज्य के सर्वाधिक क्षेत्र में रेतीली मृदायें पाई जाती हैं। बीकानेर, जोधपुर, बाड़मेर, चूरू आदि जिलों में पाई जाने वाली इन मृदाओं की उर्वरा शक्ति बहुत कम है। इनमें कार्बनिक पदार्थ की मात्रा 0.5 प्रतिशत से भी कम पाई जाती है। मृदाओं की जलधारण क्षमता बहुत कम है। इसके अलावा शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्र की मृदाओं में अधिक वाष्पीकरण, उच्च तापक्रम व कम वर्षा होने से लवणीयता–क्षारीयता के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे में शुष्क कृषि तकनीक द्वारा नमी संरक्षण के उपाय, मल्च का प्रयोग, कार्बनिक खादों का प्रयोग आदि अपना कर फसल उत्पादन ले सकते हैं।

(3) फसल प्रबंधन संबंधी कारण– शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में किसान अभी जानकारी के अभाव में लंबी अवधि वाली फसलें व कम उपज देने वाली फसलों की खेती कर रहे हैं। किसान द्वारा पौध संरक्षण पर पर्याप्त ध्यान नहीं देने से कम उपज मिल रही है। नमी संरक्षण उपायों से किसानों को अवगत करवाया जाना आवश्यक है। सबसे महत्वपूर्ण यह है कि किसानों को कम अवधि वाली, कम जल मांग वाली फसलों की जानकारी शुष्क कृषि तकनीक द्वारा देकर अधिक पैदावार दिलवा सकते हैं।

शुष्क कृषि के सिद्धांत (Principles of dry farming)

शुष्क कृषि तकनीक को अपनाने की आवश्यकता को देखते हुए हमें इसके सिद्धांतों की जानकारी होनी चाहिए। शुष्क कृषि की सफलता के लिए अग्रांकित सिद्धांतों की पालना की जानी चाहिए–

(अ) नमी संरक्षण का सिद्धांत – ऐसे प्रयास किये जाये जिससे कि वर्षा की प्रत्येक बूंद का मृदा में संरक्षण व फसल उत्पादन में उसका उपयोग किया जा सके। इस हेतु निम्न उपाय अपना सकते हैं–

(1) मृदा जलधारण क्षमता बढ़ाना – इस हेतु रबी की फसल कटते ही गहरी जुताई करनी चाहिए। साथ ही प्रत्येक तीन वर्ष में एक बार 8–10 टन कार्बनिक खाद प्रति हेक्टेयर की दर से प्रयोग करना चाहिए।

(2) मल्च का प्रयोग – वाष्पीकरण से होने वाली हानि को रोकने के लिए मृदा सतह को फसल अवशेष, सूखी पत्तियाँ, सूखी घास से ढक देनी चाहिए। इन पदार्थो को मल्च व इस क्रिया को मल्चिंग कहते हैं। वर्षा के बाद 'हो' या कुदाली द्वारा हल्की गुड़ाई करके मृदा की 5 सेमी. मोटी परत बनाते है। जिसे धूल पलवारना (Dust mulching) कहते हैं। इससे नमी संरक्षण में सहायता मिलती है।

(3) पौधों द्वारा वाष्पोत्सर्जन हानि को कम करना – वाष्पोत्सर्जन हानि कम करने के लिए वाष्पोत्सर्जन रसायनों का फसलों पर छिड़काव करते हैं। जो पत्तियों के पर्ण रन्ध्र बन्द करके वाष्पोत्सर्जन को रोकने में मदद करते हैं।

(ब) शुष्क कृषि में फसल प्रबंधन के सिद्धांत – शुष्क कृषि में फसल प्रबंध यथा फसलों के चयन, किस्मों के चयन, जुताई, बुआई, खाद–उर्वरक, खरपतवार नियंत्रण आदि में निम्न सिद्धांतो की पालना की जानी चाहिए–

(1) फसलों का चुनाव (Selection of crops)- शुष्क खेती के लिए सूखा सहने वाली, कम अवधि में पकने वाली फसलों का चयन किया जाना चाहिए। जैसे – ज्वार, बाजरा, अरण्डी, मोठ, उड़द, मूंग, कुल्थी, तिल, तारामीरा, कुसुम, चंवला आदि।

सारणी 5.1.2 : शुष्क खेती के लिए फसलों की किस्में

क्र.सं.			
1.	बाजरा	एम.एच.–169, आर.एच.बी.–173, 177	85–90 दिन
2	ज्वार	सी.एस.एच.–14, एस.पी.वी.–96	80–90 दिन
3	मक्का	संकुल अगेती– 76 डी–765, माही कंचन, पी.एम.–3, पी.एम.–9, पी.एस.एम.–3, पी.एम.–5	90–100 दिन 85–90 दिन
4	गेहूँ	डी.–134, मुक्ता, राज. 3777,0231,4083,4120,4079,4238	115–120 दिन
5	जौ	आर.डी.–31, आर.डी.– 2508,2624,2660	115 दिन
6	सोयाबीन	जे.एस.–335, एन.आर.सी.–37, जे.एस.– 9560, 20–29, 20–34	90–95 दिन
7	मूंगफली	जे.एल.–24, जी.जी.–2, टी.जी.–39, आर.जे.–425, टी.जी.– 37ए, जी.पी.बी. डी.–2, प्रताप मूंगफली–2	90–95 दिन
8	तिल	आर.टी.–127, आर टी.–46, आर टी.–346 टी.सी.–25	75–80 दिन 90–100 दिन
9	सरसों	आर.एच.–30, पूसा जय किसान (बायो–902) पूसा बोल्ड, दुर्गामणी, अरावली, पी.आर.– 15 क्रांन्ति	130–135 दिन
10	उड़द	टी.9, बरखा, पंत यू–31, प्रताप उड़द –1, आर.बी.यू.– 38, के.यू.– 963	85–90 दिन
11	मूंग	के.–851, पूसा बैसाखी, आर .एम. जी–62,268,344, एस.एम.एल.–668, आई. पी.एम.–02–3	60–80 दिन
12	मोठ	आर.एम.ओ.–40, 225,435,257, सी.जेड.एम.–2 जडिया, ज्वाला आई.पी.सी.एम.ओ.–880	62–65 दिन 80–90 दिन 90–100 दिन
13	चंवला	सी.–152, एफ.एस.–68, आर.सी.– 19, 101, आर.सी.पी.– 27	65–70 दिन
14	ग्वार	दुर्गापुरा जय, दुर्गापुरा सफेद आर.जी.सी.–936,1003,1055,1002,1017,1038,1031	100–115 दिन 85–90 दिन
15	चना	दोहद यलो, आर.एस. 10, 11, आर.एस.जी.–888, सी.एस.जे.डी.– 884, आर. एस.जी.–894, 973,902,991,974 आर.एस.जी. 2	90–105 दिन 130–135 दिन
16	अरहर	प्रभात, यू.पी.ए.एस.–120, आई.सी.पी.एल.–151,87,88039 टी.–21 . .	115–120 दिन 140–180 दिन

(2) किस्मों का चुनाव (Selection of varieties)- फसल विशेष के चयन के बाद उनकी ऐसी किस्मों का चुनाव करें जो कम समय में पककर तैयार हो जाती है तथा अधिक उपज भी देती हो।

(3) खेत की जुताई– खरीफ की फसलों के लिए गहरी जुताई करें, जिससे वर्षा का पानी अधिक से अधिक मात्रा में मृदा सोख सकें। वर्षा ऋतु में एक गहरी जुताई के बाद 2–3 जुताई

बक्खर या हैरो चलाकर खेत में नमी सुरक्षित कर लेनी चाहिए। रबी की फसलों के लिए गहरी जुताई उपयुक्त रहती है, जिससे नमी का वाष्पीकरण न होने पाये।

(4) बुआई (Sowing) - बारानी खेती की सफलता के लिए बुआई का समय, तरीका, बीज दर, पौध संख्या व बीज उपचार आदि पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

(अ) बुआई का समय (Time of sowing)- सही समय पर बुआई न करने से फसल की उपज पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, जिसे बाद में किसी भी तरह पूरा कर पाना संभव नहीं। देरी से बुआई करने पर फसलों की बढ़वार के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल पाता, ऐसे में फसलों को पानी की उस समय कमी हो जाती है जब उनके लिए पानी की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। इस समय पानी न मिलने पर फसल की उपज कम हो जाती है।

उदाहरणार्थ – खरीफ खाद्यान्न फसलें मक्का, ज्वार, बाजरा, आदि की बुआई मानसून की वर्षा शुरू होते ही 25–30 जून तक कर दें। वर्षा में अधिक देरी होने पर खाद्यान्न फसलों की बुआई न करके दलहनी व तिलहनी फसलें बोई जायें। रबी की फसलों की बुआई यथा संभव सितम्बर अंत से शुरू कर दी जावें। गेहूँ व जौ की बुआई अक्टूबर से नवम्बर मध्य तक कर लें। चना और सरसों की बुवाई मध्य अक्टूबर तक कर देनी चाहिए।

(ब) बीज दर (Seed rate) – शुष्क कृषि में अंकुरण की समस्या होने से बीज दर सामान्य से 10–15 प्रतिशत अधिक रखनी चाहिए।

(स) पौध संख्या (Plant population)– शुष्क खेती में मृदाओं में नमी की कमी होने की वजह से पौधों की संख्या सिंचित क्षेत्रों की तुलना में कम रखी जाती है। पौधों की संख्या अधिक हो तो कमजोर व पास–पास उगे पौधों को खेत से निकाल देते है। पौधों में फूल आने से पहले सूखा पड़े तो पहले निचली पत्तियाँ हटा देते है। यदि सूखा अधिक हो तो कतार में एक के बाद एक पौधा हटा देते है। बहुत ज्यादा सूखा पड़ने पर एक कतार के बाद दूसरी कतार के सभी पौधों को हटा देते है।

(द) बीज उपचार (Seed treatment) – गेहूँ, जौ, सरसों आदि के बीज बुआई से पहले 8–10 घंटे पानी में भिगोकर बाद में छाया में सुखाकर बुआई करते हैं। बुआई से पूर्व बीजों को कवकनाशी रसायन जैसे कार्बेण्डाजिम या थायरम से उपचारित करें। अनाज वाली फसलों के बीजों को एजोटोबेक्टर व पी.एस.बी. से तथा दलहनी फसलों को राइजोबियम कल्चर व पी.एस.बी. से उपचारित करते हैं। वर्षा पोषित मक्का के बीजों को बुआई से पूर्व 0.1 प्रतिशत थायोयूरिया के घोल मे 6 घण्टे भिगोकर सुखाने पर बुआई करने से अंकुरण जल्दी होता है तथा सूखा सहन करने की क्षमता बढ़ती है।

(5) बुआई विधि (Sowing method) - फसलों की बुआई पंक्तियों में उनकी आवश्यकतानुसार अंतरण रखते हुए करते हैं।

(6) खाद व उर्वरक – शुष्क खेती में खाद–उर्वरक प्रयोग के समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए–

(i) खरीफ में नाइट्रोजन की आधी मात्रा, फॉस्फोरस व पोटेशियम की पूरी मात्रा बुआई के समय नायले से ऊर कर बीज से 3–4 सेमी. गहराई पर देते हैं। शेष नाइट्रोजन खड़ी फसल में फूल आने से पहले जब खेत में पर्याप्त नमी हो तब देनी चाहिए।

(ii) रबी की फसलों में सभी उर्वरकों की पूरी मात्रा एक ही बार बुआई के समय ऊर देते है।

(iii) तीन साल में एक बार जैविक खाद का प्रयोग अवश्य करें।

(iv) उर्वरकों की मात्रा किसी भी फसल के लिए सिंचित क्षेत्र की तुलना में शुष्क खेती में आधी ही देवें।

(v) फसलों के आधार पर सिफारिश किए गये उर्वरकों की मात्रा देवें जैसे–

सारणी – 5.1.3 फसलों में पोषक तत्वों की सिफारिशें

क्र.सं.	फसल का नाम	पोषक तत्वों की मात्रा (किग्रा प्रति हेक्टेयर)	
		नाइट्रोजन	फॉस्फोरस
1.	गेहूँ, जौ, सरसों	30	15
2.	मक्का, ज्वार	40	20
3	दलहनी फसलें	10	20

(7) खरपतवार नियंत्रण (Weed control) - खरीफ की फसलों में खरपतवारों का प्रकोप अधिक होता है। खरपतवारों के नियंत्रण के लिए उपयुक्तफसल चक्र अपना कर गर्मी की जुताई करके तथा समय–समय पर निराई–गुड़ाई आवश्यक होने पर खरपतवार नाशी की सिफारिश की गई मात्रा का उपयोग करें।

(8) मिश्रित फसलें (Mixed cropping) - प्रतिकूल मौसम या वातावरण होने पर फसल सुरक्षा हेतु एक ही खेत में एक ही समय एक से अधिक फसलें बोनी चाहिए ताकि एक फसल नहीं होने पर दूसरी फसल से कुछ उपज मिल सके। जैसे – (अ) मक्का की दो कतारों के बीच दो कतारें उड़द (ब) मूंगफली व तिल की मिलवाँ खेती 6:2 के अनुपात की कतारों मे करें। (स) बाजरा + तिल (द) बाजरा + ग्वार आदि। (य) ज्वार + चंवला (हरा चारा) दो–दो कतारों में।

नमी की कमी की दशा में खडी फसलों में यूरिया/डी.ए.पी. के 2 प्रतिशत घोल का छिड़काव से उपज में 10–15 प्रतिशत वृद्धि होती है।

5.2 सस्यावर्तन (फसल चक्र)– परिभाषा, महत्व एवं सिद्धांत (Crop Rotation: Definition, Importance & Principles)

फसल चक्र कृषि का एक महत्वपूर्ण अंग है जिसे बिना लागत के आदान की संज्ञा दी जाती है। फसल चक्र, फसलों में पोषण प्रबन्धन की विधि के रूप में ही नहीं बल्कि मृदा बाँझपन, मृत मृदा तथा रूग्ण मृदाओं को सुधारने की एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक विधि है।

खेत या इसके किसी भाग में फसलों को इस प्रकार अदल–बदल कर बुआई करने की प्रक्रिया को जिसमें मृदा की उत्पादकता को प्रभावित किये बिना अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके, फसल चक्र कहते हैं। यह फसल चक्र एक वर्ष या अधिक के हो सकते हैं। फसल विविधिकरण समय की माँग है तथा किसान की जोखिम कम करने एवं टिकाऊ उत्पादन के लिए बहुत आवश्यक है।

परिभाषा– ''किसी निश्चित क्षेत्र में निश्चित अवधि में फसलों को इस प्रकार हेर फेर कर बोना जिससे कि फसलों से अधिकतम पैदावार प्राप्त हो सके और भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट न हो, सस्यावर्तन (फसल चक्र) कहलाता है।''

सस्यावर्तन के सिद्धांत

प्रायः फसल चक्र एक वर्ष से लेकर तीन वर्ष तक का तैयार किया जाता है। फसल चक्र का नियोजन करते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि जिस क्षेत्र के लिए फसल चक्र तैयार किया जा रहा है वहाँ की जलवायु, भूमि व बाजार माँग कैसी है? इसके अतिरिक्त सिंचाई सुविधायें, यातायात सुविधा, किसान की घरेलू आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए सस्यावर्तन तैयार किया जाता है। फसल चक्र तैयार करते समय निम्नलिखित सिद्धांतो को ध्यान में रखना चाहिएः–

1. **गहरी जड़ वाली फसलों के बाद कम गहरी जड़ वाली फसलें बोनी चाहिए–** मूसला जड़ वाली फसलों की जड़े मृदा में अधिक गहराई पर जाकर अवमृदा से पोषकतत्व ग्रहण करती हैं। ऐसे में ऊपरी परत में अधिकांश पोषक तत्व ज्यों के त्यों ही रह जाते है। यदि अगले मौसम में गहरी जड़ वाली फसल पुनः बोई गई तो वे पुनः उसी गहराई से पोषक तत्व ग्रहण करेगी इससे मृदा स्तर पर पोषक तत्वों की कमी के साथ–साथ फसल से पैदावार भी कम प्राप्त होगी। इसकी बजाए उथली जड़ व गहरी जड़ वाली फसलों को हेर–फेर कर बोने से मृदा के विभिन्न स्तरों पर पोषक तत्वों में समानता बनी रहती है। **उदारहण–** कपास– गेहूँ, सोयाबीन– गेहूँ, अरहर–गेहूँ
2. **फलीदार फसलों के बाद बिना फलीदार फसलें बोनी चाहिए –** किसी भी सस्यावर्तन में फलीदार फसलों को सम्मिलित किया जाना अच्छे सस्यावर्तन की प्रमुख विशेषता है। फलीदार फसलों द्वारा मृदा में 30–120 किलोग्राम/हेक्टेयर नत्रजन स्थिरीकरण किया जाता है। दलहनी फसलें इनकी नत्रजन की कुल आवश्यकता का लगभग 75 प्रतिशत भाग नत्रजन स्थिरीकरण से पूरा कर सकती हैं। इन फसलों की कटाई के बाद मृदा में काफी मात्रा में नत्रजन (20–60 किलोग्राम नत्रजन/हे.) नत्रजन रह जाती है जिसका उपयोग बाद में बोई गई दूसरी अफलीदार (अनाज वाली) फसलें आसानी से कर लेती है। **उदाहरण –** ग्वार–गेहूँ, उड़द–रबी मक्का, सोयाबीन–गेहूँ, आदि।

सारणी : 5.2.4 भारतीय दशाओं में विभिन्न दलहनी फसलों द्वारा मृदा में नत्रजन स्थिरीकरण

क्र.सं.	नाम फसल	नत्रजन (किग्रा/हेक्टेयर)
1.	उड़द	42.9
2.	मूंग	38.6
3.	चंवला	56.3
4.	सनई	84.7
5.	मटर	66.5
6.	ग्वार	62.4

3. **अधिक खाद चाहने वाली फसलों के बाद कम खाद चाहने वाली फसलों को बोना चाहिए –** अधिक खाद चाहने वाली फसलों के बाद कम खाद चाहने वाली फसल बोने से दूसरी फसल को कम खाद देने की जरूरत पड़ती है साथ ही पिछली फसल को दी गई खाद का सदुपयोग हो जाता है। **उदारहण–** आलू–प्याज, गन्ना–गेहूँ, कपास–चना, मक्का–चना।
4. **अधिक जलमाँग वाली फसल के बाद कम जलमाँग वाली फसल बोई जानी चाहिए–** ऐसा करने से एक तो सिंचाई साधनों का अत्यधिक उपभोग नही करना पडेगा, दूसरे भूमि में लगातार अधिक पानी बना रहने से वायुसंचार तथा जीवाणु क्रियाओं में बाधा रहती है, उससे भी बचा जा सकता है। **उदारहण–** धान–चना, धान–सरसों।

5. **मृदा क्षरण को प्रोत्साहन देने वाली फसलों के बाद मृदा क्षरण अवरोधक फसलें बोनी चाहिए–** ऐसी फसलें जो दूर–दूर लाइनों में बोई जाती है, अधिक निराई–गुड़ाई चाहती है, मृदा क्षरण को बढ़ावा देती है अतः ऐसी हानि को रोकने के लिए मृदा क्षरण अवरोधक फसलें बोनी चाहिए। **उदारहण–** मक्का–बरसीम, कपास–चना, धान–चना।

6. **एक ही कुल की फसलें लगातार नहीं उगानी चाहिए–** लगातार एक ही वानस्पतिक कुल की फसलें बोने से फसलों में रोग, कीट व खरपतवारों का प्रकोप बढ़ता है। अच्छा फसल चक्र वही है जिसमें सम्मिलित फसलें अलग–अलग कुल की होती है। **उदारहण–** धान–गेहूँ, उड़द–सरसों।

7. **फसल चक्र किसान की घरेलू आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर बनाना चाहिए–** किसान को दैनिक जीवन में अनाज, दालें, तेल, वस्त्र आदि की आवश्यकता रहती है। इनकी पूर्ति के लिए किसान को उन्ही फसलों का चुनाव फसल चक्र हेतु करना चाहिए जो उक्त आवश्यकतायें पूरी कर सकें। **उदाहरणार्थ–** अनाज हेतु– धान, मक्का, बाजरा, गेहूँ, आदि दाल हेतु – मूंग, मोठ, उड़द, अरहर, चना आदि खाद्य तेल हेतु– मूंगफली, तिल, सरसों, सोयाबीन आदि।

8. **कृषि साधनों का वर्ष भर क्षमतापूर्ण ढंग से उपयोग–** किसान के पास उपलब्ध कृषि साधनों यथा सिंचाई साधन, खाद, बीज, उर्वरक तथा श्रमिकों का वर्ष भर पूरा–पूरा उपयोग होना चाहिए। फसल चक्र में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। **उदाहरण–** अरहर–गेहूँ–मूंग।

9. **फसल चक्र निकटवर्ती कृषि आधारित उद्योग को ध्यान में रख कर तैयार करना चाहिए–** फसल चक्र में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि निकटवर्ती क्षेत्र में किस तरह कृषि आधारित उद्योग है?जैसे शुगर–मिल होने पर गन्ना, कॉटन मिल होने पर कपास, दाल मिल हेतु दलहनी फसलों तथा तेल मिल हेतु तिलहनी फसलों का समावेश फसल चक्र में किया जाना चाहिए।

10. **लवणीय मृदाओं हेतु फसल चक्र में लवणीयता सहनशील फसल बोनी चाहिए–** अगर खेत का कुछ भाग क्षारीय व लवणीयता से ग्रस्त है तो फसल चक्र में लवणीयता सहनशील फसलें बोयी जानी चाहिए। **उदाहरण–** सनई, ढेंचा, कपास, सरसों, चुकन्दर आदि।

सस्यावर्तन (फसल चक्र) के लाभ–

1. **मृदा उर्वरता में वृद्धि :** फसल चक्र द्वारा मृदा से पोषक तत्वों व नमी का अवशोषण संतुलित रूप से होने के कारण उर्वरता बढ़ती है।

2. **मृदा की भौतिक व जैविक दशा में सुधार :** दलहनी फसलों के समावेश से मृदा की भौतिक दशा में सुधार होता है। दलहनी फसलों द्वारा नत्रजन स्थिरीकरण जीवाणुओं की क्रियाशीलता से मृदा की जैविक दशा भी सुधरती है।

3. **खरपतवार नियंत्रण में सहायता :** खेत में हर वर्ष बरसीम उगाने से कासनी खरपतवार व निरंतर गेहूँ बोने से गेहूँसा खरपतवार की मात्रा बढ़ जाती है। रबी मौसम में एक वर्ष गेहूँ व एक वर्ष बरसीम बोने से कासनी, गेहूँसा आदि खरपतवारों का नियंत्रण हो जाता है। बरसीम की बार–बार कटाई से गेहूँसा नष्ट हो जाता है।

4. **वर्षभर कृषि साधनों का पूर्ण उपयोग :** किसान के पास उपलब्ध कृषि साधनों यथा सिंचाई, खाद, उर्वरक श्रमिकों का वर्ष भर पूरा उपयोग हो जाता है। इससे प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी आती है।

5. **किसान की आर्थिक दशा में सुधार :** मृदा उर्वरता बढ़ने से मृदा उत्पादकता भी बढ़ती है जिससे प्रति हेक्टेयर अधिक उपज प्राप्त होती है। परिणाम स्वरूप किसान की आर्थिक दशा में सुधार होता है।

6. **किसान की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति :** उचित फसल चक्र अपनाने से किसान की दैनिक घरेलू आवश्यकताओं जैसे खाद्यान्न, दालें, तेल, सब्जियाँ आदि को पूरा करने में मदद मिलती है।

7. **पादप संरक्षण में सहायता :** फसल चक्र में एक ही कुल की फसलें निरन्तर न बोने से फसलों में कीट रोग नियंत्रण हो जाता है।

8. **उचित नियोजन :** जब किसान अपने फार्म (खेत) के लिए फसल चक्र तैयार करता है तो किसान को पहले से ही पता रहता है कि आगामी मौसम में कौन सी फसल बोनी है? उस फसल हेतु उन्नत बीज, खाद उर्वरक, श्रमिक आदि की व्यवस्था पहले से ही कर सकता है। उचित नियोजन से आय में वृद्धि होती है।

9. **मृदा क्षरण रोकने में सहायता :** मृदा क्षरण रोकने में सहायक फसलों का समावेश फसल चक्र में करने से भू–संरक्षण में सहायता मिलती है।

10. **फसल उत्पादों की गुणवत्ता में वृद्धि :** ऐसा देखा गया है कि सही फसल चक्र अपनाने से फसलों पर कीट, रोग, खरपतवारों के प्रकोप मे कमी आती है जिससे फसल उत्पादों की गुणवत्ता में सुधार होता है।

11. **मृदा विकार की कमी :** मृदा की भौतिक, रासायनिक, जैविक दशाओं में सुधार से मृदा विकार में कमी आती है।

12. **मृदा के सभी स्तरों में पोषक तत्व–** मृदा के सभी स्तरों में पोषक तत्वों का उचित संतुलन बना रहता है।

राजस्थान की कृषि जलवायु अनुसार उपयोगी फसल चक्र

(अ) एक वर्षीय फसल चक्र

1. बाजरा–सरसों
2. तिल–गेहूँ
3. मोठ–गेहूँ
4. ग्वार–गेहूँ
5. बाजरा–गेहूँ/मेथी/सरसों
6. अरहर–गेहूँ
7. बाजरा–गेहूँ
8. मूंगफली–गेहूँ/चना/जौ
9. उड़द–गेहूँ
10. सोयाबीन – गेहूँ
11. ज्वार/मूँगफली– गेहूँ/चना
12. धान/ज्वार/मक्का– गेहूँ

(ब) द्विवर्षीय फसल चक्र

1. ग्वार–गेहूँ–बाजरा–चना
2. मक्का–गेहूँ–उड़द–सरसों
3. कपास–गेहूँ–ग्वार–गेहूँ/सरसों

(स) त्रिवर्षीय फसल चक्र

1 मक्का–गन्ना–धान–गेहूँ
2 कपास–मेथी–गन्ना–धान

5.3 मिश्रित फसल– परिभाषा, प्रकार, सिद्धान्त एवं महत्व (Mixed Cropping: Definition, Types, Principles & Importance)

आमतौर पर किसान एक खेत में एक समय एक ही फसल की बुआई करते हैं लेकिन किसान दो या दो से अधिक फसलें भी एक ही खेत में एक ऋतु में उगाता है। हमारे देश में फसल उत्पादन मौसम की प्रतिकूल दशाओं यथा बाढ़, पाला आदि से प्रभावित रहता है। इसके अतिरिक्त कीट व रोगों द्वारा भी कई बार फसलों को भारी क्षति पहुँचती है। इन दशाओं में किसान फसल उत्पादन के प्रति निरन्तर आंशकित रहता है कि उसे अपेक्षित पैदावार मिलेगी या नहीं। ऐसे में मिश्रित फसलें उगाना किसान के लिये लाभदायक सिद्ध हो सकता है।

मिश्रित फसल की अवधारणा हमारे देश के लिये कोई नवीन नहीं है। प्राचीन काल से मिश्रित खेती हमारी कृषि प्रणाली का एक अभिन्न अंग रहा है। हमारे पूर्वजों ने इसकी संकल्पना मौसम की विपरीत परिस्थियों में फसल सुरक्षा के दृष्टिकोण से की थी। सिन्धु घाटी की सभ्यता के प्रमुख स्थल कालीबंगा से प्राप्त जुताई की कूड़ों से पता चला है कि उस समय कई फसलों को एक साथ मिलाकर खेती की जाती है। मोहनजोदड़ों में गेहूँ, जौ, चना की फसलों की खेती एक साथ मिलाकर करने के प्रमाण मिले हैं।

परिभाषा –

''एक ही ऋतु में एक ही खेत में एक साथ दो या दो से अधिक फसलों को उगाना मिश्रित फसल कहलाती है।'' दो या दो से अधिक फसलें एक निश्चित दूरी पर पंक्ति में (अन्तःशस्य फसल

तालिका– 5.3.5 मिश्रित फसलोत्पादन एवं सह–फसली खेती में अन्तर

मिश्रित (Mixed Cropping)	फसलोत्पादन अन्तःशस्य (Inter Cropping)
1. मिश्रित फसलोत्पादन का मुख्य उद्देश्य मौसम की किन्ही भी विपरीत परिस्थितियों में (जैसे बाढ़, सूखा व पाले की स्थिति में) कम से कम एक फसल प्राप्त करना हैं।	1. सह–फसली खेती का मुख्य उद्देश्य मुख्य फसल की दो पंक्तियों के बीच की जगह का उपयोग करना है।
2. मिश्रित फसलोत्पादन में सभी फसलों को बराबरी का दर्जा एवं ध्यान दिया जाता है। कोई फसल प्रमुख अथवा गौण नहीं होती है।	2. इस विधि में मुख्य फसल पर अधिक ध्यान दिया जाता है।
3. लगभग सभी फसलें एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करती हैं।	3. यहाँ प्रमुख एवं गौण फसलों में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती है।
4. इसमें फसलों के पकने की अवधि लगभग बराबर होती है।	4. गौण फसल कम समय में पकने वाली होती है तथा इसको मुख्य फसल से काफी पहले काट ली जाती हैं।
5. फसलों को छिड़ककर बोते हैं अथवा बीज मिलाकर कतारों में बोते हैं लेकिन सभी फसलों की बुआई का समय एक ही होता है।	5. दोनों फसलें अलग–अलग कतारों में बोई जाती हैं। बुआई का समय एक भी हो सकता हैं अथवा मुख्य फसल को गौण फसल से पहले बोते हैं।

या सह फसली खेती) या बिना पंक्ति के (मिश्रित फसल) बोई जा सकती है।

मिश्रित फसल तथा अन्तःशस्य खेती में अन्तर तालिका–5.3.5 में दिया गया है।

प्रकार– मिश्रित फसलों के लिए सस्य मिश्रण निम्न प्रकार से किया जाता है:

1. **मिश्रित फसलें (Mixed Crops) –** इस सस्य मिश्रण में फसलों की बुआई व कटाई का समय एक सा रहता है। बुआई से पूर्व सभी बीजों को एक साथ मिलाकर अथवा पंक्तियों में बुआई कर देते हैं। उदाहरण – चना + सरसों, गेंहूँ + चना तथा मक्का + उड़द।
2. **अन्तःशस्य खेती –** इस विधि में दो या दो से अधिक फसलों की बुआई कतारों में की जाती है। इसमें मुख्य फसल (Base crop) की एक अथवा कई, इसी प्रकार सह–फसलों (Intercrop) की एक या ज्यादा कतारें लेना सह–पद्धतियाँ हैं, जो देश के विभिन्न भागों में अपनाई जा रही हैं। इन सबका उद्देश्य है– शुद्ध फसल की तुलना में सह–फसली पद्धति से अधिकतम उपज प्राप्त करना।

सफल अन्तःशस्य खेती के लिए मुख्य बातें:–

अन्तःशस्य खेती का मुख्य उद्देश्य प्रति इकाई क्षेत्र में अधिक उपज प्राप्त करना एवं उपलब्ध प्राप्त स्रोतों को प्रभावी तरीके से प्रयोग करना है। सफल अन्तःशस्य खेती के लिए कुछ मुख्य बातें निम्न हैं–

1. पोषक तत्वों की आवश्यकता अलग–अलग समय पर होनी चाहिए। मिश्रित फसलें परस्पर व्याप्त नहीं होनी चाहिए। जैसे– मक्का+उड़द/मूंग। मूंग की फसल की बुआई के 30–35 दिन बाद उपयुक्त पोषण चाहिए जबकि मक्का की फसल को 50 से 55 दिन बाद।
2. मिश्रित फसलों में प्रकाश के प्रति प्रतिस्पर्धा कम से कम होनी चाहिए।
3. मिश्रित फसलों में आपस में सामंजस्य होना चाहिए।
4. मिश्रित फसलों के पकने के समय में कम से कम 30 दिन का अंतर होना चाहिए।
5. मिश्रित फसलों में कार्बनडाइ–ऑक्साइड और जल के प्रति प्रतिस्पर्धा कम से कम होनी चाहिए।

अन्तःशस्य खेती के प्रकार:–

मुख्य प्रकारों का विवरण निम्न है–

(I) समान्तर सहफसली खेती (Parallel Intercropping) : दो फसलों को इस तरह साथ–साथ उगाना है, ताकि एक–दूसरे के संवर्धन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े तथा दोनों में शून्य प्रतिस्पर्धा (Zero competition) हो। साथ ही प्राकृतिक संसाधनों का समय और क्षेत्र के अनुरूप बेहतर ढंग से इस्तेमाल भी सुनिश्चित हो। इस पद्धति में ऐसी फसलें चुनी जाएँ कि जब तक मुख्य फसल पूर्ण बढ़वार पर आवे तब तक सह–फसल पककर कट जाए। उदाहरण के तौर पर कपास + उड़द/मक्का + उड़द, गन्ना + गेहूँ। इस विधि में एक समानान्तर फसल दूसरी फसल पर कोई स्पष्ट प्रतिस्पर्धात्मक प्रभाव डाले बिना पक सकती है। कुल मिलाकर ऐसा करने से समय व स्थान का सही सदुपयोग हो जाता है और अधिक पैदावार एवं लाभ मिलता है।

(ii) सहचर फसलें (Companion Crops) – इस अन्तःशस्य में ऐसी फसलों का चुनाव करते है। जिनकी उपज एकल फसल के समान ही प्राप्त होती है। उदाहरण– मक्का की दो पंक्तियों के बीच उड़द की दो पंक्तियाँ एवं गन्ना + आलू।

(iii) रक्षक फसलें (Guard Crops) – इस वर्ग में मुख्य फसल को खेत के मध्य में बो देते हैं। मुख्य फसल की सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर 10–15 पंक्तियाँ गौण फसल की बो देते हैं। उदाहरण – गन्ने की फसल के चारों ओर सनई या सोयाबीन के चारो ओर मक्का की खेती करना।

(iv) सहायक अथवा वृद्धि कारक फसलें (Augmenting Crops) – इस सस्य मिश्रण में मुख्य फसल की उपज बढ़ाने के लिए अन्य गौण फसलें उसमें मिला दी जाती हैं तथा मिश्रण की कुल उपज, एकल फसलों की उपज से अधिक होती है। उदाहरण – बरसीम के साथ सरसों की बुआई करना। पहली कटाई के समय जब बरसीम छोटी होती है, सरसों की अच्छी वृद्धि हो चुकी होती है। चारे की अधिक मात्रा बरसीम की पहली कटाई में ही मिल जाती है।

वृद्धि कारक शस्य खेती मुख्य एवं गौण फसल की पौधों की संख्या के अनुसार दो प्रकार से की जा सकती है।

(अ) धनात्मक क्रम अन्तःशस्य (Additive Series Intercropping) : इसमें मुख्य फसल के प्रति इकाई क्षेत्र में पौधों की संख्या एकल फसल के समान ही रहती है तथा अन्तःशस्य फसल में पौधों की संख्या एकल फसल से कम रहती है। इसमें फसल ज्यामिति में बदलाव कर अन्तःफसल को समायोजित किया जाता है। जैसे गन्ने की 90 सेन्टीमीटर की दूरी पर बुआई की गई पंक्तियों के बीच आलू की एक पंक्ति लगाना। भारत में इस प्रकार की अन्तःशस्य खेती प्रचलित है।

(ब) प्रतिस्थापन क्रम अन्तःशस्य (Replacement Series Intercropping) : इस अन्तःशस्य में दोनों ही फसले मुख्य होती है और कोई फसल गौण फसल नहीं होती है। अतः एक फसल की पौध संख्या दूसरी अन्तःशस्य फसल की प्रतिस्थापन दर निर्भर करेगी। जैसे कि गेहूँ एवं सरसों की अन्तःशस्य खेती में गेहूँ की दस पंक्तियों के बाद सरसों की एक पंक्ति की बुआई करना।

(v) पट्टीदार सहफसली खेती (Strip Intercropping): पट्टी पर इंटरक्रॉपिंग (Intercropping on Strips) – फसलों की पट्टियों या कतारों में बुआई करते समय अलग–अलग, लेकिन निकटवर्ती खण्डों में भिन्न किस्मों की फसलों की बुआई की जाती है वास्तव में एक–जैसी फसल में भी ऐसे ही होता है, लेकिन ये खण्ड इतने पास होते हैं कि ये एक–दूसरी फसल को काफी प्रभावित कर सकते हैं यह व्यवहार उस स्थिति में अधिक उपयोग रहता है जहाँ ऊँचे कद की फसलों को हवा और छाया का रुख ध्यान में रखते हुये समकोण पर पट्टियों को बोया जाता है, उदाहरण के तौर पर चुकन्दर और सोयाबीन को छाया देने के लिए मक्का तथा टमाटर को छाया देने के लिए जई बोते है इस पद्धति में कम से कम एक फसल से तो अच्छे विकल्प की संभावना रहती है, जबकि एक जैसी (समान कद/ऊँचाई वाली) फसलों में स्थायी रूप से छाया रहा करती है।

(vi) अविराम अन्तःसस्य (Relay Intercropping) : रिले इंटरक्रॉपिंग (Relay intercropping) – इस पद्धति से वर्ष में कम से कम 4 फसलें ली जा सकती है। फसल बुआई के क्षेत्र में रिले दौड़ की तरह होड़ होती है जिसमें तेजी के साथ एक फसल के बाद दूसरी फसल उगाई जाती है अर्थात् पहली फसल की कटाई के तुरन्त बाद अथवा उस फसल के पकने के समय ही दूसरी फसलें बो देते हैं जैसे– बिहार, पूर्वी उ.प्र. एवं छत्तीसगढ़ क्षेत्र में धान पकने की खड़ी फसल में खेसारी की बुआई अथवा धान पकने की अवस्था पर चने की बुआई अथवा धान कटने के तुरंत बाद बरसीम की बुआई करना।

(vii) बहुस्तरीय या बहुमंजलीय अन्तःशस्य (Multi-tier or Multi-Storied Intercropping) : यह पद्धति प्राकृतिक रूप से उगने वाले पेड़–पौधों (वनों में) की तरह विभिन्न ऊँचाई वाली फसलों की तरह हैं, लेकिन इसमें फसलों को ऐसे व्यवस्थित करते हैं कि अनेक स्तरों का लाभ (हवा, प्रकाश, स्थान) का लिया जा सके, जैसे–नारियल के पूर्ण विकास में 4–7 वर्ष लगते हैं अतः नए नारियल के बगीचे अथवा पुराने नारियल के बाग में काली मिर्च, सुपारी (एरेकानट), लौंग, कहवा, अनन्नास आपस में अंतःवर्ती फसल पद्धति में लिया जाता है जिस पर अनुसंधान कार्य केन्द्रीय बागवानी फसल अनुसंधान संस्थान कासरगोड (केरल) में चल रहा है। नारियल के तने पर काली मिर्च के बेल 5–8 मीटर ऊँचाई तक चढ़ जाती है उसके नीचे कहवा और दालचीनी तथा सबसे नीचे अनन्नास लगाया जाता है। ताड़ अथवा सुपारी (एरेकानट) के पेड़ काफी ऊँचे निकल जाते हैं अतः इन्हें भी इस पद्धति में ले लिया जाता है। उड़ीसा में नारियल + केला + धान साथ–साथ बहु–मंजिली खेती के रूप में लेते हैं। विभिन्न प्रकार के शस्य मिश्रण के उदाहरण सारणी 5.3.6 में दिये जा रहे हैं।

सारणी 5.3.6 : विभिन्न प्रकार के सस्य मिश्रण

अदलहनी व दलहनी सस्य मिश्रण	अदलहनी फसलों का सस्य मिश्रण	असिंचित क्षेत्र के लिए सस्य मिश्रण
बाजरा + मूंग	गेहूँ + अलसी	बाजरा + मूंग
ज्वार + उड़द	गन्ना + गेहूँ	बाजरा + मोठ
बाजरा + मोठ	कपास + तिल	बाजरा + ग्वार
मक्का + सोयाबीन	जौं + सरसों	मोठ + तिल
ज्वार + चंवला	–	
मक्का + उड़द	–	गेहूँ + चना
गेहूँ + चना	–	गेहूँ + सरसों

मिश्रित फसल /अन्तःशस्य के सिद्धान्त (Principles of Mixed Cropping/ Intercropping)

मिश्रित फसल हेतु सस्य मिश्रण तैयार करते समय अग्रअंकित मुख्य सिद्धान्तों की पालना की जानी चाहिए–

1. मिश्रित फसल हेतु फसलों का चुनाव इस प्रकार करना चाहिए कि फसलें उस क्षेत्र की जलवायु, भूमि व सिंचाई आवश्यकता के अनुसार उपयुक्त हो।

2. अदलहनी फसलों के साथ दलहनी फसलों का मिश्रण किया जाना चाहिए। दलहनी फसल की जड़ों पर पाई जाने वाली ग्रन्थियों में वायु की नाइट्रोजन को भूमि में स्थिर करने वाले लाभदायक जीवाणु होते हैं। ये जीवाणु मृदा में नाइट्रोजन स्थिर करके मृदा में उर्वरा शक्ति को बढ़ाते हैं जिससे अदलहनी फसल से भी अधिक उपज प्राप्त होती है। जैसे – बाजरा + मूंग, बाजरा + मोठ, मक्का + उड़द।
3. सीधी बढ़ने वाली मुख्य फसलों के साथ, भूमि पर फैलने वाली फसलें बोयी जानी चाहिए। जैसे – मूंग, सोयाबीन, उड़द आदि भूमि पर अधिक फैलती हैं। गेहूँ, मक्का, ज्वार, जौ, सीधी बढ़ती हैं। फैलने वाली फसलें मृदा कटाव रोकने के साथ–साथ वाष्पीकरण द्वारा होने वाली जल हानि को भी रोकने में सहायक हैं। जैसे– ज्वार + चंवला, बाजरा + ग्वार।
4. एक ही प्रकार के कीट व रोगों की शरण देने वाली फसलों का चयन मिश्रित फसल के लिए नहीं करना चाहिए। जैसे – मक्का, बाजरा, ज्वार का तना छेदक तीनों फसलों को हानि पहुँचाता हैं। इस तरह का सस्य मिश्रण न करें।
5. गहरी जड़ वाली फसलों के साथ उथली जड़ वाली फसलें बोयी जानी चाहिए। इससे दोनों फसलें पोषक तत्व एवं नमी का अवशोषण मृदा की अलग–अलग गहराई से कर सकेंगी तथा दोनों फसलों में पोषक तत्वों के लिए प्रतियोगिता भी नहीं होगी। जैसे – मक्का + अरहर, मक्का + उड़द आदि।
6. मिश्रित फसल हेतु सस्य मिश्रण इस प्रकार का हो कि चुनी गई फसलों में प्रकाश, नमी व स्थान के लिए अधिक प्रतियोगिता न हो। जैसे– बाजरा + मोठ, चना + सरसों।
7. मिश्रित फसल हेतु मिश्रण में काम में ली जाने वाली फसलों की पोषक सम्बंधी आवश्यकतायें एक जैसी हों। जैसे – उड़द + तिल, मूंगफली + बाजरा, मक्का + कपास आदि।
8. हल्की मृदाओं (कम उर्वर मृदाओं) में दलहनी फसलों को सस्य मिश्रण में अवश्य स्थान देवें। राजस्थान के शुष्क मैदानी क्षेत्रों (बीकानेर, चुरू) में बाजरा के साथ मोठ या ग्वार का मिश्रण उपयुक्त है। साथ ही दक्षिण राजस्थान में मक्का के साथ उड़द का मिश्रण उपयुक्त है।

मिश्रित फसल का महत्व

1. **फसलों से अधिक पैदावार प्राप्ति–** अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि दलहनी व अनाज वाली दोनों फसलों को साथ मिलाकर बाने से दोनों फसलों से अधिक उपज प्राप्त होती है।
2. **प्रतिकूल मौसम, जलवायु दशाओं के विरूद्ध बीमा–** मौसम के प्रतिकूल प्रभाव से एक फसल क्षति ग्रस्त हो जाती है तो दूसरी फसल से कुछ उपज अवश्य मिल जायेगी। जैसे– गेहूँ + सरसों के मिश्रण में वर्षा के प्रभाव से सरसों की फसल को नुकसान होने पर कुछ गेहूँ की मिल जायेगी। इसी प्रकार सिंचाई जल की कमी होने पर गेहूँ की अपेक्षा सरसों की उपज अच्छी प्राप्त हो सकेगी।
3. **मृदा कटाव को रोकने में मदद–** सीधी बढ़ने वाली व फैल कर चलने वाली दोनों फसलें साथ–साथ बोने से मृदा कटाव में कमी आती है क्योंकि भूमि पर दोनों फसलें अधिकतम स्थान पर आवरण का कार्य करती है। वर्षा की बूंदो का सीधा प्रभाव मृदा पर नहीं पड़ता साथ ही पौधों की जड़ें मृदा को बांधकर भूसंरक्षण में सहायता करती हैं।
4. **खरपतवार नियंत्रण में सहायता–** दो या दो से अधिक फसलों का सस्य मिश्रण प्रयोग करने से मृदा वनस्पति से पूर्णत आच्छादित हो जाती हैं, इससे खरपतवारों को फैलने हेतु स्थान नहीं मिलता। मक्का + उड़द या ज्वार + चंवला बुआई करने पर भूमि वनस्पति से ढक जाती है तथा खरपतवार नियन्त्रण में सहायता मिलती है।
5. **कीट व रोग नियंत्रण में सहायता–** एक ही खेत में विभिन्न फसलें मिश्रित रूप से उगाने पर रोग व कीट का व्यापक प्रभाव किसी एक फसल पर होने की स्थिति में दूसरी फसलें बचाई जा सकती है। कपास + मोठ बुआई करने पर कपास में जड़ गलन रोग कम हुआ। चना + अलसी बुआई करने पर चने में उखटा में कमी देखी गई है। गेहूँ + चना या गेहूँ + सरसों बोने पर गेहूँ में रस्ट रोग के प्रभाव में कमी।
6. **सूर्य के प्रकाश का प्रभावी उपयोग–** मक्का, ज्वार, बाजरा आदि फसलें तीव्र प्रकाश में प्रकाश संश्लेषण द्वारा भोजन बनाने में सक्षम है, जबकि दलहनी फसलों को अपेक्षाकृत कम प्रकाश तीव्रता की आवश्यकता रहती है। मिश्रित फसलें बोने पर पूरा क्षेत्र वनस्पति से ढ़क जाता है। मक्का, ज्वार, बाजरा तीव्र प्रकाश का उपयोग कर लेते हैं इन्हीं फसलों की छाया से दलहनी फसलों को कम प्रकाश मिलने से इनमें किसी तरह की प्रतिस्पर्धा नहीं होगी तथा इस प्रकार दोनों तरह की फसलों से अधिक पैदावार प्राप्त होती है।
7. **भूमि का उचित उपयोग–** मिश्रित फसलें बोने से भूमि की बचत होती है। किसान जिन फसलों में पंक्ति से पंक्ति की दूरी अधिक होती है उन फसलों के मध्य फसल उगाकर भूमि का उचित उपयोग कर लेते है। जैसे – कपास + तिल, कपास + मूंग।

8. **कृषक की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति–** मिश्रित फसलें बोने से किसान को कम क्षेत्र से ही अनाज, दाल, तिलहन, मसाले वाली फसलों की उपज प्राप्त हो जाती है। इससे घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

9. **मृदा उर्वरता बनाये रखने में सहायक–** मिश्रित फसलें मृदा उर्वरता को बनाये रखने में सहायक हैं। मिश्रित फसल में इनकी जड़ों द्वारा विभिन्न गहराइयों से पोषक ग्रहण किये जाते है। साथ ही दलहनी फसलों को मिश्रण में स्थान देने पर मृदा में नाइट्रोजन स्थिरीकरण अधिक होता है। जिससे मृदा उर्वरा शक्ति बढ़ती है।

10. **पशुओं हेतु पौष्टिक चारे की प्राप्ति–** मिश्रित फसलों के चारे पशुओं के लिए अधिक पौष्टिक व स्वादिष्ट होते हैं जैसे – मक्का + लोबिया, बरसीम + सरसों, जई + मेथी।

मिश्रित फसलों से हानियाँ (Disadvantages of Mixed Cropping)

मिश्रित फसलें बोने से विभिन्न परिस्थितियों में कुछ हानियां भी होती है जो इस प्रकार है:–

1. मिश्रित फसलें बोने से खेत में निराई–गुडाई हेतु कृषि यंत्रों के प्रयोग में कठिनाई आती है।
2. मिश्रित फसलों में खरपतवारों के रासायनिक नियंत्रण करने में भी कठिनाई होती है। जैसे मक्का + उड़द में खरपतवारनाशी रसायन एट्राजिन प्रयोग करने से उड़द की फसल नष्ट हो जायेगी। गेहूँ + चना के खेत में 2,4 –डी खरपतवार नाशी का प्रयोग करने पर चने की फसल को हानि होगी।
3. मिश्रित फसलों के पकने का समय अलग–अलग होने पर फसल काटने में कठिनाई होती है। मिश्रित फसलों में मशीनों से कटाई कर पाना भी असंभव है।
4. मिश्रित फसल में कीट का प्रकोप होने पर उनकी रोकथाम के लिए कीटनाशी या कवकनाशी रसायनों का प्रयोग मे कठिनाई आती है।
5. मिश्रित फसलों द्वारा शुद्ध बीज उत्पादन कर पाना असंभव है।
6. फसलों के गुणों मे कमी आती है, कभी–कभी फसलों की उपज भी कम हो जाती है। फसल उत्पादन के गुणों में कमी आने से उत्पादन का बाजार मूल्य भी कम प्राप्त होता है।
7. कई बार फसलों में पोषक तत्व, प्रकाश, जल आदि हेतु प्रतिस्पर्धा बढ़ने से फसलों की उपज में कमी आ जाती है।

5.4 भू–परिष्करण : उद्देश्य, परिभाषा एवं प्रकार

खेती में भू–परिष्करण क्रियाओं का विशेष महत्व हैं। खेती में प्रथम कदम भू–परिष्करण का ही होता है जिसमें मिट्टी की दशाओं को बीज एवं पौध वृद्धि के अनुकूल बनाया जाता है। मृदा को तैयार करके भूमि में फसलों की वृद्धि के लिए अनुकूल भौतिक परिस्थितियाँ पैदा करने की क्रिया को भू–परिष्करण कहते हैं।

भूमि को खोदने तथा भुरभुरी करने का कार्य शुरू में मानव ने पत्थर व हड्डियों के औजार बनाकर शुरू किया था। जेथ्रोटूल ने सन् 1731 में भू– परिष्करण का वैज्ञानिक आधार दिया। उसकी यह अवधारण थी कि पौधे मिट्टी के बारीक कणों का अवशोषण करके बड़े होते हैं, इसलिये किसी प्रकार मिट्टी के कणों को बारीक बनाया जाये। उन्नीसवीं सदी में प्रीस्टले तथा लीबेग ने बताया कि भू–परिष्करण से मृदा में वायु संचार बढ़ता है। बाद में कई वैज्ञानिकों ने भू–परिष्करण द्वारा खरपतवारों को नष्ट करना भी बताया है।

18 वीं शताब्दी में मोल्ड बोर्ड हल, स्टील हल तथा बैल एवं घोड़ा चलित हल का विकास तथा डिस्क हैरों एवं कल्टीवेटर के विकास से भू–परिष्करण क्रियाओं का वैज्ञानिक महत्व प्रतिपादित किया। मृदा की भौतिक दशा को उसकी वपन योग्यता कहते हैं। मृदा की वपन योग्यता, मृदा समुच्चयन एवं उनका स्थायित्व, नमी, वायु संचार, अन्तःस्पन्दन, जल निकास, जल ग्रहण करने की क्षमता पर निर्भर करती है। भू–परिष्करण का मुख्य उद्देश्य मृदा की भौतिक दशा में सुधार लाना व उसकी वपन योग्यता (soil tilth) को बढ़ाना है। भू–परिष्करण द्वारा मिट्टी के ढेलों के आकार, मृदा में जैविक पदार्थ तथा पानी एवं वायु की मात्रा एवं वितरण तथा मृदा कणों का घनत्व एवं पेंकिग को प्रभावित कर खेत की उपयुक्त भौतिक दशा तैयार करते है।

उद्देश्य

भू–परिष्करण का मुख्य उद्देश्य है कि खेत या बीज क्यारी ऐसा तैयार हो कि बीज का अंकुरण, पौधों की वृद्धि तथा विकास ठीक से हो सके, खरपतवार नष्ट हो जाएँ तथा के पौधों के बढ़ने तथा फूलने–फलने में कोई बाधा न पहुँचे। भू–परिष्करण के उद्देश्यों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है।

1. **खरपतवार नष्ट करना –** अनेक तरह की आवांच्छित वनस्पति मृदा सतह पर रहने से नमी पोषक तत्वों की हानि होती है। कर्षण विधियों से खरपतवारों को नष्ट कर फसल को इनकी प्रतिबन्धता से बचाया जाता है।
2. **मृदा को ऊपर नीचे करना –** खेत में नीचे की मृदा ऊपर सतह पर ऊपर की नीचे चली जाती है, जिससे पौधों को अधिक पोषक तत्व मिलते हैं। गर्मी की जुताई करते समय मिट्टी पलटने वाले हल से ये क्रिया भारी भूमि में तीन वर्ष में एक बार करनी चाहिये।

3. **अव मृदा की कठोर सतह को तोड़ना** – काफी कर्षण कार्य करने से मृदा के नीचे कठोर सतह का निर्माण हो जाता हैं, जिससें पानी व हवा का आवागमन रूक जाता है। इस प्रकार की सख्त सतह को भू–परिष्करण के विशेष यन्त्रों द्वारा तोड़ा जाता है।
4. भू–परिष्करण से सतह पर पिसकर फसल के अवशेष मृदा के अन्दर दब कर सड़ने के बाद पोषक तत्वों में बदल जाते हैं। जिससे मृदा की उर्वरा शक्ति बढ़ती है।
5. **खड़ी फसलों में अन्तरशस्य क्रियाएँ करना** – खड़ी इसमें फसलों सिंचाई के बाद सतह पर पपड़ी व दरारों को तोड़ना, खरपतवार हटाना, नत्रजन को मृदा में मिलाना तथा मृदा की सतह पर पलटवार आदि करना आते हैं।
6. मृदा संरक्षण खेत में जल निकास की व्यवस्था डोलियों एवं नाली का निर्माण एवं पलवार तैयार कर मृदा अपरदन की गति को कम करना।
7. **कीट–पंतगो का नष्ट होना** – कर्षण क्रियाओं से मृदा के अन्दर छुपे हुये कीड़े मकोड़े सतह पर आ जाते है व परजीवी पशु–पक्षी इनका भक्षण कर लेते हैं तथा कुछ बाहर के वातावरण से नष्ट हो जाते हैं।
8. **मृदा में सूर्य का प्रकाश पहुँचाना** – मृदा के भुरभुरी होने पर हवा के साथ सूर्य का प्रकाश भी अन्दर घुस कर भूमि को गर्म करता है तथा लाभकारी सूक्ष्म जीवों को शक्ति व अवांछित जीवों को हानि पहुँचाता है।
9. **भूमि आकृति तैयार करना** – भूमि की सतह की आकृति को बदलकर मेड़ एवं कूंड बनाना, ऊँची उठी क्यारी तैयार करना सिंचाई एवं जल निकास की नालियाँ एवं डोलियाँ बनाने के कार्य फसल को उपयुक्त भौतिक दशा प्रदान के लिये किए जाते हैं।
10. पानी व हवा की उपयुक्त मात्रा होने से बहुत सी रासायनिक व जीव विद्या सम्बन्धी क्रियाएँ समान रूप से होती रहती है, जिससे जैवांश पदार्थ सड़कर पोषक तत्वों में बदल जाते हैं। वायु का लगातार भूमि में जाना व भूमि से गैसों का हवा में मिलना भी आवश्यक है। इससे वायुमण्डलीय ऑक्सीजन (O_2) मृदा में मिलती है व मृदा की कार्बन डाइ ऑक्साइड वायुमण्डल में आती है। पौधों की जड़ों के लिये ऑक्सीजन का लगातार बराबर मात्रा में मिलना आवश्यक है, अन्यता अधिक (CO_2) होने से जड़ो की श्वसन क्रिया में बाधा पहुँचेगी। जैवांश पदार्थो के सड़ने से भी अधिक (CO_2) इकट्ठी होती है व इसकी मात्रा 0.2 से 0.3 प्रतिशत तक हो जाती है। अतः इसकी मात्रा सीमित रखने के लिये लगातार वायु संचार होना आवश्यक है।

भू–परिष्करण के प्रकार

कर्षण की क्रियाएँ सभी स्थितियों में एक समान नहीं हो सकती। कर्षण क्रियाएँ पिछले मौसम में पैदा की गई फसल आगामी मौसम में पैदा की जाने वाली फसल, खरपतवारों की स्थिति, तथा मिट्टी के प्रकार एवं जलवायु पर निर्भर करती है।

मिट्टी की भौतिक दशा में बदलाव की मात्रा, प्रकार तथा क्रमिकों क्रियाओं के आधार पर खेत तैयार करने या क्यारी निर्माण के आधार पर परम्परागत रूप से भू–परिष्करण को दो भागों मे बांटा गया है।

परम्परागत रूप से कर्षण क्रिया सामान्यतः दो प्रकार की होती है :

(1) प्रारम्भिक भू–परिष्करण

(2) द्वितीयक भू–परिष्करण

1. **प्रारम्भिक भू–परिष्करण** – बीज बोने से पहले भूमि पर की जाने वाली क्रियाओं को प्रारम्भिक भू–परिष्करण कहते हैं। इन क्रियाओं को समय पर नही करें तो फसल उगाने के लिये मृदा की वपन योग्यता अच्छी नहीं रहेगी। प्रारम्भिक भू–परिष्करण में क्रमानुसार बहुत सी क्रियायें आती है, जैसे खेत की जुताई करना, ढेले तोड़ना, समतल करना, हैरो चलाना, खाद व उर्वरक मिलाने के लिये कल्टीवेटर चलाना संघनन के लिये पाटा चलाना तथा क्यारियाँ बनाना शामिल है। इसमें भारी कर्षण यन्त्रों का उपयोग किया जाता है।
2. **द्वितीयक भू–परिष्करण** – खेत में बीज की बुआई के बाद जो भी अन्तरशस्य क्रियायें की जाती है वे द्वितीयक भू–परिष्करण में आती हैं। अन्तरशस्य क्रियाओं में अंकुरण कम होने पर पौध रोपण करना, अधिक पौधों की संख्या होने पर पौध कम करना, खरपतवार निकालना, पलवार बनाना, उर्वरकों को मिलाना, मिट्टी चढ़ाना, दवाईयों का छिड़काव करना, फसलों को गिरने से बचाना, जड़ों की वृद्धि के लिये वायु संचार बढ़ाना, व अन्य महत्वपूर्ण शस्य क्रियाएँ शामिल हैं। द्वितीयक भू–परिष्करण में मुख्य रूप से हल्के कर्षण यन्त्रों का प्रयोग होता है।

आधुनिक भू–परिष्करण

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह माना जाता है कि कृषकों द्वारा अपनाया जाने वाला परम्परागत भू–परिष्करण टिकाऊ कृषि की कसौटियों पर खरा नहीं उतरता। इसके निम्नलिखित कारण हैं–

1. आधुनिक कृषि यन्त्रों जैसे कि ट्रैक्टर आदि से बार–बार एक ही गहराई पर जुताई करने से मृदा के अधों सतह में कड़ी पपड़ी–सी बन जाती है जिससे मृदा में जल का अन्तःश्रवण कम होता है तथा भूक्षरण की सम्भावना बढ़

जाती है।

2. अति भू–परिष्करण के कारण ज्यादा जैव ईधन (पेट्रोल, डीजल) से हानिकारक गैसे निकलती रहती हैं जिससे हमारा पर्यावरण दिनों–दिन प्रदूषित होता जा रहा है।
3. अति भू–परिष्करण के कारण मृदा में विद्यमान कार्बनिक पदार्थ जल्दी सड़–गल जाते है, जिससे मृदा में ह्यूमस का स्तर गिर जाता है तथा मृदा की पोषक तत्वों एवं जल धारण करने की क्षमता कम हो जाती है।
4. अति कर्षित भूमियों में मृदाक्षरण की सम्भावना और ज्यादा बढ़ जाती है।
5. अति–भूपरिष्करण में प्रर्याप्त समय, श्रम एवं धन खर्च होता है।
6. अति–भूपरिष्करण के कारण प्रक्षेत्र की सस्य सघनता कम हो जाती है।
7. अति–भूपरिष्करण के कारण खेती की लागत बढ़ जाती है।

टिकाऊ उत्पादन के लिए परम्परागत भू–परिष्करण की सभी क्रियाएँ आवश्यक नहीं हैं। इस परिकल्पना के सत्यापन के लिये घटती दर से भू–परिष्करण सम्बन्धी प्रयोग किये गये तथा उनके बिना उपज में क्षति के भू–परिष्करण की कुछ क्रियाओं को कुछ विशेष तकनीकों को अपनाकर कम कर सकते हैं, जिनको आधुनिक भू–परिष्करण के नाम से जाना जाता है।

''आधुनिक भू–परिष्करण का तात्पर्य उन भू–परिष्करण क्रियाओं से है जिनका क्रियान्वयन वर्तमान में विद्यमान भू–परिष्करण से उत्पन्न विकारों को दूर करने के लिए किया गया है।'' बढ़ती जनसंख्या की खाद्यान्न आपूर्ति के लिए फसलों की उत्पादकता बढ़ाने के साथ–साथ प्राकृतिक संसाधनों की गुणवत्ता बनाए रखना आवश्यक है। इस दिशा में भू–परिष्करण द्वारा फसल प्रबन्धन एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। 1960 के दशक में खरपतवार नासियों के फसल प्रबन्धन में उपयोग से सघन या परम्परागत भू–परिष्करण का सिद्धान्त अब न्यूनतम या जीरो भू–परिष्करण का रूप ले चुका है। इसके तहत् कम किया भू–परिष्करण एवं संरक्षण भू–परिष्करण, शून्य भू–परिष्करण को शामिल किया जाता है।

कम किया हुआ भू–परिष्करण – आधुनिक भू–परिष्करण की वह प्रणाली जिसमें प्राथमिक भू–परिष्करण की क्रियाओं का द्वितीयक भू–परिष्करण विधियों के तालमेल से किया जाता है। जिससे कि भू–परिष्करण की परम्परागत रूप से की जाने वाली क्रियाओं की संख्या कम हो जायें।

न्यूनतम भू–परिष्करण – आधुनिक भू–परिष्करण की वह प्रणाली जिसमें भू–परिष्करण की संख्या को उसी हद तक कम किया जाता है जिससे कि फसल की न्यूनतम भू–परिष्करण आवश्यकता पूरी हो जाये तथा उपज में कोई क्षति न आये न्यूनतम भू–परिष्करण कहलाता है। इसी प्रकार कम किया हुआ भू–परिष्करण के तहत् न्यूनतम भू–परिष्करण का (Minimum tillage) प्रतिपादन किया गया है।

शून्य भू–परिष्करण – भू–परिष्करण की वह प्रणाली जिसमें फसल की बुआई बिना क्यारी या खेत की तैयारी से सीधे ही मिट्टी में उचित गहराई पर पूर्व फसल के अवशेषों के बीच कर दी जाती है शून्य भू–परिष्करण कहलाता है।

संरक्षण भू–परिष्करण – वह भू–परिष्करण जो किसानों द्वारा कई वर्षों से परम्परा के रूप में फसलोत्पादन के लिए किया जा रहा है। इसे स्वच्छ भू–परिष्करण भी कहते है। इसमें प्रारम्भिक एवं द्वितीयक भू–परिष्करण क्रियाएँ शामिल है। इस प्रकार का विशेष उद्देश्यीय भू–परिष्करण जिसमें कर्षण क्रियाओं की तीव्रता परम्परागत भू–परिष्करण से कम होती है। इसमें फसल अवशेषों को भूमि में मिलाने या हटाने के बजाए भूमि की सतह पर ही बनाए रखते है तथा मृदा एवं जल संरक्षण का विशेष ध्यान रखा जाता है।

अमेरिका के The Conservation Technology Information Center (CTIC, 1993) के अनुसार संरक्षण भू–परिष्करण वह कर्षण एवं बुआई की पद्धति है जिसमें बुआई के पश्चात् कुल भूमि का 30 प्रतिशत भाग हमेशा पूर्व फसल अवशेषों से घिरा रहता है जिससे जल एवं वायु द्वारा मृदा अपरदन कम हो। इसी प्रकार जहाँ वायु अपरदन की समस्या होती है वहाँ कम से कम 1120 किलोग्राम/हेक्टेयर की दर से वायु अपरदन के क्रान्तिक समय भूमि पूर्व अवशेषों से घिरी हो।

संरक्षण भू–परिष्करण को निम्न चार उप भागों मे बाँटा गया है।

1. शून्य भू–परिष्करण (Zero Tillage, No Till, Slot Planting, Sod Planting, Direct drilling)
2. कम किया हुआ भू–परिष्करण (Reduced Tillage)
3. ठूंठ पलटवार भू–परिष्करण (Stubble Mulch Tillage)
4. डोली भू–परिष्करण (Ridge Tillage)

विशेष भू–परिष्करण

1. **ग्रीष्मकालीन कर्षण :** रबी की फसलों के कटने के बाद ग्रीष्म ऋतु में खेत मिट्टी पलटने वाले हल से जोत दिए जाते हैं। जुताई के बाद खेत को खुला छोड़ दिया जाता है। दोमट या चिकनी मिट्टी में ग्रीष्मकालीन जुताई लाभदायक होती है, क्योंकि इससे नमी धारण क्षमता बढ़ने के साथ–साथ मिट्टी में वायु का संचार सुचारू रूप से हो जाता है। मिट्टी की निचली सतह पर सूर्य की रोशनी, धूप, वर्षा का पानी तथा वायु का प्रवेश हो जाता है। ग्रीष्मकालीन गहरी जुताई करने से वर्षा जल का संरक्षण भूमि में अधिक होता है तथा भूमि कटाव संबंधी समस्या भी नियंत्रित होती है। हल्की तथा बलुई मिट्टी में ग्रीष्मकालीन जुताई लाभप्रद नहीं होती है। ऐसी जुताई से मृदा

अपरदन के साथ–साथ जल की हानि भी हो सकती है।

2. **गीला भू–परिष्करण :** यह कर्षण जलीय या अर्द्ध जलीय दशाओं में किया जाता है। जहाँ धान के खेतों में मिट्टी चिकनी या दोमट होती है, वहाँ लेव लगाने का काम किया जाता है। ऐसा करने से मिट्टी मुलायम हो जाती है। पोषक तत्वों, विशेषकर नाइट्रोजन का निक्षालन नहीं हो पाता है। नाइट्रोजन अमोनिया के रूप में मृदा कोलाइडों के साथ बंधी रह जाती है। इसके अतिरिक्त फास्फोरस, पोटैशियम तथा लोहा अधिक उपलब्ध स्थिति में आ जाते हैं। घास–पात मिट्टी में गल जाते हैं, परन्तु इस प्रकार की क्रिया सभी प्रकार की मृदाओं विशेषकर बहुत हलकी मृदा में नहीं की जा सकती है।

3. **मिट्टी दबाव (Soil Compaction) :** हल्की एवं बलुई मिट्टियों में मृदा कण बड़े आकार के होने के कारण जल धारण क्षमता कम होती है। इन मिट्टियों की मृदा दबाव क्रिया से घनत्व में वृद्धि कर मिट्टी को अधिक घनी बना दिया जाता है। इसके लिए ट्रेक्टर चलित रोलर का उपयोग किया जाता है।

4. **बुआई के लिए खेत की तैयारी या क्यारी बनाना :** खेत को आमतौर पर जुताई करके ढेलों को चूर कर, जमीन को समतल और ठोस बनाकर तथा हैरो चलाकर तैयार किया जाता है। जुताई की गहराई के अनुसार जुताई हल्की (5–6 सेमी.), मध्यम गहरी (15–20 सेमी.) तथा गहरी (25–30 सेमी.) हो सकती है।

जमीन की जुताई से मिट्टी प्रायः ढेलेदार, ऊँची–नीची तथा ढीली पड़ जाती है। मिट्टी ऐसी अवस्था में नहीं होती कि उस समय बीज बोया जाए। ऐसी स्थिति में हल के अलावा अन्य कर्षण यंत्रों का प्रयोग कर मिट्टी को बुआई योग्य बनाया जाता है। तात्पर्य यह है कि जुताई के बाद अच्छा खेत तैयार करना पड़ता है जो नीचे ठोस हो और ऊपर भुरभुरी बारीक मिट्टी हो। ऐसे खेत में पानी का प्रवेश सुगमतापूर्वक होता है।

भू–परिष्करण के यन्त्र

1. **देशी हल–** देशी हल भारत में प्राचीनकाल से प्रयोग मे लाया जा रहा है। इसका आकार विभिन्न प्रान्तों में बैलों की कद, काठी पर निर्भर करता है। यह जुताई, गुड़ाई, बुआई आदि कार्य कर सकता है। देशी हल से औसतन आठ घन्टे में 0.3 हेक्टेयर खेत जोता जा सकता है। देशी हल से जुताई करते समय दो कूड़ो के बीच में बिना जुता स्थान रह जाता है, क्योकि इसके कूड़ो का आकार V जैसा होता है।

2. **मिट्टी पलटने वाले हल–** ये हल मिट्टी को काट कर नीचे से ऊपर व ऊपर से नीचे कर देते है। इनको ग्रीष्म–ऋतु की जुताई, खेतो में मेड़ बनाना, गन्ने की नाली बनाना इत्यादि कार्यो के लिए प्रयोग में लाया जाता है। आठ घन्टे में इनसे 0.4 हेक्टेयर भूमि को जोता जा सकता है। इनका कूड़ L आकार का होता हैं। मिट्टी पलटने वाले हल कई प्रकार के होते है, जैसे मोल्ड बोर्ड हल, डिस्क हल, मेस्टन हल, पंजाब हल, शाबास हल, विक्ट्री हल आदि।

3. **हैरो –** जुताई के बाद मृदा को बीज बोने योग्य बनाने के लिए उचित योग्यता की आवश्यकता होती है। इसके लिए जुती हुई जमीन को खुर्द–बुर्द करना, ढेलों को तोड़ना पौधों के अवशेषों को मिट्टी में दबाना या हटाना, खरपतवारों को नष्ट करना तथा मृदा को समतल और सघन बनाना। ये सभी कार्य हैरो द्वारा किए जाते हैं। इसको जुताई से पहले, भूमि को समतल करने, खरपतवारों को नियन्त्रित करने व नमी को संरक्षण के काम भी लाया जा सकता है। अलग–अलग क्षेत्रों में मृदा की दशा व जलवायु के आधार पर भिन्न–भिन्न प्रकार के हैरो प्रयोग में लाये जाते हैं। जैसे – डिस्क हैरो, स्पाइकटूथ हैरो, स्प्रिंग हैरो, नाइफ हैरो, ब्लैड हैरो, रेक, ढेला तोड़क, पलवेराइजर व रोलर आदि।

4. **कल्टीवेटर–** बीज बोने के बाद की क्रियाओं को कल्टीवेटर द्वारा किया जाता है। इसमें मृदा को भुरभुरी बनाना, सतह पर बनी पपड़ी को तोड़ना, खरपतवारों को निकालना, पौधों के अधिक होने पर उनकी संख्या कम करना मिट्टी चढ़ाना, खाद एवं उर्वरकों को मिलना तथा जमीन के अन्दर वाली फसलों की बढ़वार के लिए मृदा की उचित भौतिक दशा बनाये रखना आदि।

कल्टीवेटर कई प्रकार के होते है जैसे – डकफुट टाइन, डिस्क कल्टीवेटर आदि। इनके अलावा अन्य यन्त्र भी भू–परिष्करण में मदद करते हैं जैसे – खुरपी, फावड़ा, कुदाली, पहिये वाला हो, इत्यादि।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. शुष्क व अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में जहाँ वाष्पीकरण की क्षमता वर्षा, ओस, बर्फ से प्राप्त जल की मात्रा से अधिक हो, जहाँ सिंचाई की सुविधा उपलब्ध न हो, में नमी संरक्षण व समुचित सस्य क्रियायें अपना कर फसल उत्पादन करना 'शुष्क खेती' कहलाता है।
2. असिंचित खेती का तात्पर्य बिना सिंचाई के फसलोत्पादन से है, यह प्रायः आर्द्र व अर्द्ध–आर्द्र जलवायु क्षेत्रों में की जाती है। इन क्षेत्रों में वर्षा अधिक व वाष्पीकरण कम होता है।
3. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली ने राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान परियोजना के लिए राजस्थान को 10 कृषि जलवायवीय खंडों में विभक्त किया है।
4. राजस्थान के परिपेक्ष्य में शुष्क कृषि को यहाँ की जलवायु, मृदा व फसल प्रबंध संबंधी परिस्थितियों के कारण अपनाया जाना चाहिए।
5. सस्यावर्तन में उथली जड़ वाली फसलों के बाद गहरी जड़ वाली, फलीदार के बाद अफलीदार, अधिक खाद के बाद कम खाद चाहने वाली, अधिक जलमाँग वाली फसलों के बाद कम जलमाँग वाली, मृदा क्षरण को प्रोत्साहन देने वाली फसलों के बाद मृदा क्षरण को रोकने वाली फसलें बोनी चाहिए।
6. फसल चक्र किसान की घरेलू आवश्यकताओं एवं किसान से पास उपलब्ध साधनों से पूरे–पूरे उपयोग को ध्यान में रखकर बनाना चाहिए।
7. एक ही ऋतु में एक ही खेत में एक साथ दो या दो से अधिक फसलों को उगाना मिश्रित फसल कहलाती है।
8. मिश्रित फसल हेतु दलहनी + अदलहनी, सीधी बढ़ने वाली + फैलने वाली, गहरी जड़ वाली + उथली जड़ वाली फसलों की बुआई करनी चाहिए।
9. धनात्मक क्रम अन्तःशस्य में मुख्य फसल के प्रति इकाई क्षेत्र में पौधों की संख्या एकल फसल के समान ही रहती है।
10. समान कीट व रोगों को आरक्षण देने वाली फसलें एक साथ नहीं बोनी चाहिए।
11. मिश्रित फसलें बोने से अनेक लाभ हैं जैसे – मृदा उर्वरता में वृद्धि, फसल उत्पादन में वृद्धि एवं कीट रोग, खरपतवार नियंत्रण में सहायता, प्रतिकूल मौसम दशाओं में भी उपज मिलना, किसान की घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति तथा पशुओं को स्वादिष्ट चारे की प्राप्ति होती हैं।
12. खेती में प्रथम कदम भू–परिष्करण का ही होता है जिसमें मिट्टी की दशाओं को बीज एवं पौध वृद्धि के अनुकूल बनाया जाता है।
13. भू–परिष्करण का मुख्य उद्देश्य मृदा की भौतिक दशा में सुधार लाना व उसकी वपन योग्यता (soil tilth) को बढ़ाना है।
14. बीज बोने से पहले भूमि पर की जाने वाली क्रियाओं को प्रारम्भिक भू–परिष्करण कहते हैं।
15. आधुनिक कृषि यन्त्रों जैसे कि ट्रैक्टर आदि से बार–बार एक ही गहराई पर जुताई करने से मृदा के अधों सतह में कड़ी पपड़ी–सी बन जाती हैं।
16. वह भू–परिष्करण जो किसानों द्वारा कई वर्षों से परम्परा के रूप में फसलोत्पादन के लिए किया जा रहा है। इसे स्वच्छ भू–परिष्करण भी कहते है।
17. संरक्षण भू–परिष्करण वह कर्षण एवं बुआई की पद्धति है जिसमें बुआई के पश्चात् कुल भूमि का 30 प्रतिशत भाग हमेशा पूर्व फसल अवशषों से घिरा रहता है जिससे जल एवं वायु द्वारा मृदा अपरदन कम हो।
18. जुताई की गहराई के अनुसार जुताई हल्की (5–6 सेमी.), मध्यम गहरी (15–20 सेमी.) तथा गहरी (25–30 सेमी) हो सकती है।
19. ग्रीष्मकालीन गहरी जुताई करने से वर्षा जल का संरक्षण भूमि में अधिक होता है तथा भूमि कटाव संबंधी समस्या भी नियंत्रित होती है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. हमारे देश में कुल शुद्ध कृषि कितना प्रतिशत क्षेत्र वर्षा पर आधारित है।
   (अ) 48 (ब) 58
   (स) 40 (द) 60
2. मृदा में नत्रजन स्थिरीकरण में सहायक फसल है।
   (अ) गेहूँ (ब) उड़द
   (स) मक्का (द) गन्ना
3. भू–परिष्करण का मुख्य उद्देश्य है।
   (अ) मृदा की भौतिक दशा सुधारना
   (ब) मिट्टी की जल धारण क्षमता बढ़ाना
   (स) मिट्टी जैव–अवशेषों को बढ़ाना
   (द) खेत में वायु संचार बढ़ाना
4. सामान्यतया / प्राथमिक भू–परिष्करण किया जाता है।
   (अ) बीज बुआई से पहले
   (ब) बीज अंकुरण के बाद
   (स) उपयुक्त नमी होने पर
   (द) कटाई के पश्चात्

5. गन्ने के खेत के चारों ओर सनई की फसल की कुछ पंक्तियाँ बोना कहलाता है–
(अ) मिश्रित फसलें (ब)रक्षक फसल
(स) सहचर फसलें (द) सहायक फसलें

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

6. शुष्क खेती के लिये बाजरा की दो किस्मों के नाम लिखिए।
7. शुष्क कृषि बीज दर सामान्य से कितने प्रतिशत अधिक रखी जाती है
8. कोई दो एक वर्षीय फसल चक्र लिखें।
9. कोई दो मृदा संरक्षण में सहायक फसलों के नाम लिखें।
10. भू–परिष्करण किसे कहते हैं?
11. भू–परिष्करण के प्रकार बताइये।
12. गहरी जुताई भूमि में किस गहराई तक की जाती है?
13. अनाज वाली व दलहनी फसलों के सस्य मिश्रण के दो उदाहरण दीजिए।
14. मृदा संरक्षण में सहायक दो फसलों का नाम लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

15. शुष्क कृषि में नमी संरक्षण के सिद्धान्त लिखिए।
16. फसल चक्र की परिभाषा बताइये।
17. फसल चक्र के कोई तीन लाभ बताइये।
18. मृदा वपन योग्यता किसे कहते हैं?
19. न्यूनतम भू–परिष्करण क्यों आवश्यक है?
20. संरक्षण भू–परिष्करण की परिभाषा लिखिए।
21. प्रतिस्थापन क्रम अन्तःशस्य फसल से क्या अभिप्राय है?
22. मिश्रित सस्य उत्पादन प्रतिकूल जलवायु दशा के विरूद्ध एक प्रकार का बीमा है। इसे उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
23. मिश्रित फसल एवं अन्तःशस्य खेती में अन्तर लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

24. शुष्क कृषि में फसल प्रबन्धन के सिद्धान्तों का सविस्तार वर्णन कीजिए।
25. फसल चक्र से क्या अभिप्राय है? इसके सिद्धान्तों को विस्तार से समझाइये।
26. भू–परिष्करण के मुख्य प्रकारों का वर्णन करिए।
27. आधुनिक भू–परिष्करण पर प्रकाश डालिए।
28. मिश्रित फसल (Mixed Cropping) से क्या अभिप्राय है? इसके सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला

1. (ब), 2. (ब), 3. (अ), 4. (अ) 5. (ब)

अध्याय–6
फसलोत्पादन (Crop Production)

6.1 अनाज वाली फसलें (Cereal Crops)
धान (Paddy)
वानस्पतिक नाम –ओराइजा सेटाइवा (*Oryja sativa* L.)
कुल – पोएसी (Poaceae)

महत्त्व (Importance) : धान भारत की खाधान्न फसलों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। इसके चावल में स्टार्च प्रचुर मात्रा में पाया जाता है जिसका कपड़ा उद्योग में अधिक प्रयोग होता हैं। इसमें कार्बोहाइड्रेट 77–79 प्रतिशत होता हैं। धान के पुआल का उपयोग कॉच एंव अन्य टूटने वाले सामान की पैकिंग करने में होता हैं। भारत में वैदिक काल से ही विभिन्न धार्मिक उत्सवों, पर्वों व कार्यों में चावल का प्रयोग होता आया हैं। धान की उत्पति के स्थान के बारे में भिन्न–भिन्न मत हैं कोई चीन, कोई भारत, कोई दक्षिण–पूर्वी एशिया मानते हैं।

राजस्थान में धान की खेती मुख्यतः कोटा, उदयपुर खण्ड तथा श्रीगंगानगर, हनुमानगढ जिलों में की जाती हैं।

जलवायु (Climate) : धान की फसल के लिए उष्ण तथा नम जलवायु की आवश्यकता होती है। धान की फसल 100 सेमी. वर्षा वाले क्षेत्रों से लेकर 200 सेमी. वर्षा वाले क्षेत्रों में आसानी से की जा सकती है। फसल की अच्छी बढ़वार के लिए 25° से 30° सेल्सियस और पकने के लिए 25° से 30° सेल्सियस तापमान अनुकूल रहता हैं।

मृदा (Soil) : धान की खेती के लिए अच्छी उर्वरता वाली समतल, अच्छे जल धारण क्षमता वाली मटियार, चिकनी मटियार दोमट, दोमट मृदाएँ उपयुक्त रहती हैं। काली मिट्टी धान के लिए सर्वाधिक उपयुक्त रहती हैं।

खेती की तैयारी (Field preparation) : धान की फसल के लिए खेत की तैयारी प्रायः दो प्रकार से की जाती है –

1. **खेत में सीधी बुआई के लिए–** धान की फसल के लिए खेत की एक जुताई मिट्ठी पलटने वाले हल से करके दो तीन बार हैरो/कल्टीवेटर या देशी हल से करें। बुआई से 15 दिन पूर्व सिंचाई कर दे ताकि सिंचाई के 5–7 दिन बाद खरपतवार उग जावें तब 2–3 बार हैरो चलाकर पाटा लगा कर भूमि समतल कर लेते हैं।
2. **रोपाई द्वारा–** इस प्रकार की खेती उन क्षेत्रों में की जाती है, जहाँ पानी की पर्याप्त मात्रा होती है और सिंचाई की समुचित व्यवस्था होती हैं। खेत में 20–25 टन गली सड़ी

गोबर की खाद प्रति हेक्टेयर की दर से खेत में बिखेर कर अच्छी तरह जुताई कर भूमि में मिला दें।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : राजस्थान में उगाई जाने वाली प्रचलित एवं विभिन्न स्थितियों में उपयुक्त उन्नत किस्में व उनकी विशेषताएँ निम्न हैं –

रोपाई हेतु उन्नत किस्में – रतना, जया, बी.के.79, कस्तूरी (आईईटी– 8580), बासमती 370, कावेरी, बासमती, माही, सुगंधा चम्बल।

सीधी बुआई हेतु किस्म – बाला, पूसा 2–21।

अन्य किस्में – पूसा 33, पूसा 44, गोविन्द, साकेत–4 आईआर–20, पूसा सुगन्ध– 2, 3, 4, 5 ।

संकर किस्में – पंत संकर धान –1, एचआरआई120, पूसा राईस, हाइब्रिड–10, (पीआरएच–10) पूसा नई दिल्ली द्वारा विकसित।

बीज दर (Seed rate) : धान की फसल के लिए बीज दर बुआई की विधि पर निर्भर करती हैं।

1. सीधे खेत में बुआई करने पर 80 से 100 किग्रा. बीज प्रति हैक्टेयर की आवश्यकता होती हैं।
2. रोपाई विधि से बुआई के लिए 40–50 किग्रा. बीज प्रति हैक्टेयर की आवश्यकता होती हैं।

बीजोपचार (Seed treatment) : थोथे बीजों को निकालने के लिए बीजों को 2 प्रतिशत नमक के घोल में डालकर अच्छी प्रकार हिलायें। ऊपर तैरते हल्के बीजों को निकाल देना चाहिए तथा पैंदे पर बैठे बीजों को साफ पानी से धोकर सुखाये। धान में जीवाणु अंगमारी से बचाव हेतु 25 ग्राम घुलनशील पादप फफूंद नाशी (2 प्रतिशत) कार्बेन्डाजिम 2.5 ग्रा./किग्रा. तथा डेढ़ ग्राम स्ट्रेप्टो साईक्लिन को 45 लीटर पानी में घोल बनाकर बीजों

को 12 घंटे तक भिगोकर रखे तथा अंकुरण क्षमता बढ़ाने एवं पौधे की बढ़वार तेज करने हेतु 1%सोडियम हाइपोक्लोराइड के घोल में 30–35 किग्रा. बीज को 12 घण्टे तक भिगोकर इस प्रकार बीजोपचार करने से बीजावरण पर लगी बीमारियों की रोकथाम होती हैं।

बुआई का समय (Time of sowing) : धान की बुआई/रोपाई मानसून की वर्षा शुरू होते ही कर देनी चाहिए। बुआई/रोपाई 15 जुलाई तक की जा सकती है।

बुआई की विधियाँ (Method of sowing) : धान की बुआई मुख्यतः दो प्रकार से की जाती हैं।

1. **खेत में सीधी बुआई विधियाँ** – धान की सीधी बुआई खेत में दो प्रकार से की जाती है।
   (अ) पंक्तियों में बुआई करके (ब) छिटकवाँ विधि

(अ) पंक्तियों में बुआई करके – देशी हल या सीडड्रिल द्वारा 20 सेमी. की दूरी पर कतारों में करनी चा

(i) लेह युक्त खेत में सीधी बुआई– लेह मृदा (Puddled soil) में 100 किलोग्राम अंकुरित बीजों को सीधे छिटककर खेत में बोया जाता है।

(ii) लेह रहित नीची मृदाओं में सीधी बुआई– इस विधि में शुष्क बीजों को छिटककर या कतारों में 20 सेमी. दूरी पर बोया जाता है।

2. **रोपाई विधि द्वारा** – इस विधि में लेह युक्त मृदा में नर्सरी में पौध तैयार करके रोपाई की जाती है, रोपाई के लिए कतार से कतार की दूरी 20 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10 सेमी. रखनी चाहिए। एक स्थान पर दो या तीन पौधे रोपने चाहिए, ओटोमेटिक पैडी प्लान्टर से रोपाई करना अच्छा रहता हैं।

नर्सरी तैयार करने की विधियाँ :

नर्सरी (पौध) तैयार करने के लिए सामान्यतः तीन विधियाँ काम में ली जाती हैं –

(1) गीली क्यारी विधि– इस विधि में खेत में पानी भरकर पडलर की सहायता से 2–3 जुताई की जाती है जिससे मृदा लेह युक्त हो जाये। एक–दो दिन बाद नर्सरी क्षेत्र को छोटे–छोटे भागों में बांटकर क्यारियाँ बनायी जाती है। एक हैक्टेयर क्षेत्रफल की धान की बुआई के लिए 8 x 1.25 मीटर आकार की 50 क्यारियों की आवश्यकता होती है। उर्वरक प्रबंध के लिए 250 ग्राम यूरिया तथा 500 ग्राम सिंगल सुपर फॉस्फेट प्रति 10 वर्गमीटर के हिसाब से देना चाहिए। इस विधि में अंकुरित बीज बोये जाते हैं जिसके लिए बीजों को साफ पानी में 24 घंटे तक भिगोते हैं। 24 घंटे बाद बीजों को निकालकर फर्श पर एकत्रित कर बोरी या कपड़े से ढक देते हैं। ताकि बीज गर्मी पाकर जल्दी अंकुरित हो जाये। अंकुरित बीजों को लेह किये गये खेत की मिट्टी के ऊपर समान रूप से छिटकर बोना चाहिए। 20–30 दिन पश्चात् पौधे रोपाई के लिए तैयार हो जाते हैं इस विधि में बीज की मात्रा पतली–मोटी किस्म के आधार पर 750 ग्राम से 1 किग्रा. तक प्रति क्यारी तक रखी जाती है।

(2) शुष्क क्यारी विधि– इसमें 2–3 जुताई करके मिट्टी को भुरभुरा बना लिया जाता है। क्यारियाँ गीली क्यारी विधि के आकार की बनाई जाती हैं। क्यारियों की ऊँचाई जमीन से ऊपर रखनी चाहिए ताकि अनावश्यक पानी बहकर नालियों (30 सेमी. चौड़ी) से बाहर निकल सके। क्यारियाँ बनाने के बाद बीज को 10 सेमी. की दूरी पर कतारों में बोना चाहिए। बरसात न होने के दौरान एक–दो दिन के अंतराल से हल्की सिंचाई करनी चाहिए। पौधे 25–30 दिन में रोपाई के लिए तैयार हो जाते हैं।

(3) डेपोग विधि– यह विधि अन्तर्राष्ट्रीय चावल अनुसंधान संस्थान (IRRI) मनीला, फिलीपीन्स द्वारा अनुमोदित की गई है। इस विधि में एक हेक्टेयर के लिए पौधे तैयार करने हेतु 25–30 वर्गमीटर क्षेत्र की आवश्यकता होती है। इसमें मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती। 3 किग्रा. प्रति वर्गमीटर के हिसाब से अंकुरित बीजों की लगभग 1.5 सेमी. मोटी परत को पोलीथीन की चादर, केले के पत्तों, जूट के बोरों अथवा सीमेन्ट के फर्श पर बिछाकर उनमें प्रतिदिन पानी देते रहते हैं। इस विधि से 11–13 दिनों में पौधे तैयार हो जाते हैं। पौधों के तैयार होने के लिए किसी भी उर्वरक या खाद की आवश्यकता नहीं होती है पौधे तैयार होने के बाद छोटे–छोटे पौधों को सावधानी पूर्वक अलग–अलग कर लिया जाता हैं।

नर्सरी में पौध संरक्षण :–

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : धान की अच्छी पैदावार के लिए प्रति हैक्टेयर 80 से 120 किग्रा. नाइट्रोजन 40 से 60 किग्रा. फॉस्फोरस एवं 30 से 40 किग्रा. पोटाश की आवश्यकता होती है।

धान की रोपाई के 7–10 दिन बाद खेत में नील हरित शैवाल (ब्लू ग्रीन एल्गी) 15 किग्रा. प्रति हैक्टेयर देने से 20 किग्रा. नाइट्रोजन की बचत होती है। जस्ते की कमी से फसल में खैरा नामक रोग हो जाता है। जस्ते की पूर्ति के लिए 0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट के घोल का छिड़काव करना चाहिए। अच्छी उपज के लिए रोपाई से 3–4 सप्ताह पूर्व 20–25 टन गोबर की सड़ी खाद प्रति हेक्टेयर की दर से खेत की तैयारी करते समय मिट्टी में मिला देना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : कुल जल आवश्यकता का करीब 40 प्रतिशत पौधे के स्थापित होने से कल्ले फूटने की क्रिया समाप्त होने तक, 50 प्रतिशत बाली निकलने से लेकर दानों में दूध भरने की क्रिया समाप्त होने तक तथा 10 प्रतिशत फसल के पककर तैयार होने में लगता है। फसल पकने से दो सप्ताह पहले खेत में भरे हुए पानी को निकाल देना चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : घास कुल के खरपतवारों की रोकथाम के लिए बुआई/रोपाई के 2–3 दिन के

अन्दर प्रेटीलाक्लोर 1250 मिली. का प्रति हेक्टेयर, बिसपायरिकवेट सोडियम 80 मिली. या फिनॉक्साप्रोकप पी ईथाइल 500 मिली. 25–35 दिन के अन्दर प्रति हेक्टेयर का छिड़काव करना चाहिए। चौड़ी पत्ती वाले खरपतवारों के लिए बुआई/रोपाई के 2–3 दिन के अन्दर पाइरोजोसल्फ्यूरान 200 ग्राम या 20–25 दिन के अन्दर क्लोरीम्यूरॉन इथाईल, मेटासल्फयूरान मिथाइल 20 ग्राम या 2–4–डी 1000 मिली. 25–35 दिन के अन्दर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करना चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) :

कीटों की रोकथाम– धान में तना छेदक व फुदका के नियंत्रण हेतु कार्बोफ्यूरॉन 3 प्रतिशत कण, 20 किग्रा. या फोरेट 10 प्रतिशत कण 15 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़कें। गंधी बग एवं थ्रिप्स के लिए एण्डोसल्फान 35 ई.सी. 500 मिली. को 600 लीटर पानी में मिलाकर रोपाई के 30–35 दिन बाद 2–3 सप्ताह के अन्तर पर आवश्यकतानुसार 2–3 बार छिड़काव करना चाहिए।

बीमारियों की रोकथाम – जीवाणु अंगमारी रोग की रोकथाम के लिए 25 ग्राम स्टेप्टोसाइक्लिन प्रति हेक्टेयर की दर से 500 लीटर पानी में घोलकर दवा का छिड़काव 10–15 दिन के अन्तराल पर दो बार करना चाहिए । ब्लास्ट एवं पत्ती धब्बा रोग का प्रकोप होते ही 1– 1.25 किग्रा. मेंन्कोजेब या 500 मिली कारटेजिन का घोल बनाकर छिड़काव करना चाहिए इसका छिड़काव 15 दिन बाद करें।

कटाई एवं मड़ाई (Harvesting and threshing) : जब दाने सख्त हो जाये तो धान की कटाई कर लेनी चाहिए। कटाई ठीक प्रकार से करने के लिए खेत से 10–15 दिन पूर्व पानी को बाहर निकाल देना चाहिए।

फसल की मढाई डंडों की सहायता से या शक्तिचालित मड़ाई यंत्र से करते है। धान के दानों को 14 प्रतिशत नमी रहने तक सुखाना चाहिए। धान की कुटाई करने पर चावल व छिलके का अनुपात 2:1 मिलता है।

उपज (Yield) : उन्नत किस्मों से 35–45 क्विन्टल धान असिंचित क्षेत्र में तथा 50–60 क्विन्टल उपज सिंचित क्षेत्र से प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है। सामान्यतः उपज 25–30 क्विन्टल प्रति हेक्टेयर होती है।

मक्का– (Maize) (Corn)

वानस्पतिक नाम - जिया मेज एल (*Zea mays L.*)

कुल - पोएसी (Poaceae)

महत्व (Importance) : मक्का एक मुख्य खाद्य फसल है मोटे अनाज की श्रेणी मे आता है इसे भुट्टे के रूप में खाया जाता है। मक्का कार्बोहाइड्रेट का अच्छा स्रोत है मक्का में कार्बोहाइड्रेट 76.8 प्रतिशत होता है। दानों को भून कर सत्तू के रूप में प्रयोग किया जाता है। मक्का की उत्पति अमेरिका तथा मेक्सिको मे हुआ। राजस्थान में उदयपुर, भीलवाड़ा, चितौड़गढ़, बांसवाड़ा, डूंगरगढ़, झालावाड़, श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़, भरतपुर जिलो में उगाई जाती है।

जलवायु (Climate) : मक्का उष्ण व आर्द्र जलवायु की फसल है इसके लिए आदर्श तापमान 24°–30° सेल्सियस होता है। पकते समय गर्म व शुष्क वातावरण उपयुक्त रहता है। पौधों की अच्छी बढ़वार के लिए 60 से 70 प्रतिशत आपेक्षिक आर्द्रता होनी चाहिए।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparition) : मक्का के लिए उचित जल निकास तथा बलुई दोमट व दोमट मृदा सर्वोतम रहती है। मृदा पीएच मान 6–8.5 उपयुक्त रहता है। मक्का के लिए खेत की तैयारी में पहली जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से व 2–3 जुताई हैरो या कल्टीवेटर कर पाटा लगाकर भुरभुरी बना लेते है।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties)

संकर किस्में –

शीघ्र पकने वाली (80–100 दिन में)	मध्यम व देर से पकने वाली (100–120 दिन में)
बायो 9637, बायो 9681, एच.क्यू.पी. एम–1, एच.क्यू. पी.एम.5, पी ई.एच़ एम़5, पी ई एच़ एम–1, प्रताप मक्का –1	डेक्कन 103, गंगा सफेद 2), गंगा–11, माही धवल
संकुल किस्में	**कम्पोजिट जातियाँ**
बस्सी सलेक्टेड, जी .एम.6, नवजोत, माही कंचन, प्रताप मक्का 3, प्रताप मक्का–5, अरावली मक्का	चन्दन सफेद मक्का 2, चन्दन मक्का–3, चन्दन मक्का–1

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : मक्का फसल के लिए संकर किस्में 20–25 किग्रा. संकुल किस्मे 18–20 किग्रा. बेबी कार्न 22–25 किग्रा. चारे के लिए 40–45 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त रहता है। मक्का का बीज 3 ग्राम थाइरम या कैप्टान से उपचारित करना चाहिए अथवा 3 ग्राम कार्बोन्डाजिम 50 डब्लू पी या 6–10 ग्राम ट्राइकोडर्मा से डाउनीमिल्डयू प्रकोप वाले क्षेत्र में बीज एपोन 35 एसडी 4 ग्राम या एप्रोन एक्स एक 35 ईएस 1–2 मिली. दवा से प्रति किलो ग्राम बीजदर से उपचारित करना चाहिए ।

बुआई का समय एवं बुआई की विधि (Time of sowing and sowing method) : मक्का की बुआई खरीफ मे जून से जूलाई तक, रबी में अक्टूबर से नवम्बर तक, जायद में फरवरी से मार्च तक की जाती है। मक्का के लिये कतार से कतार की दूरी 45–60 सेमी, पौधे से पौधे की दूरी 20–25 सेमी. तथा बीज की गहराई 5–6 सेमी. रखते हुए करनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : मक्का की फसल में अच्छी उपज लेने के लिए 15–20 टन गोबर की सड़ी खाद, 80–120 किलोग्राम नाइट्रोजन 50–60 किलो ग्राम फास्फोरस 20–30 किलो ग्राम पोटाश एवं 25 किग्रा जिंक सल्फेट प्रति हेक्टेयर की दर से प्रयोग करना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : राजस्थान में मक्का खेती वर्षा ऋतु में ली जाती हैं। वर्षा न होने पर प्रारम्भिक बढ़वार के समय, फूल आने के समय, दाना बनते समय एवं झडे (नरमंजरी) आते समय पानी की अधिक आवश्यकता होती है। जल निकास की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : इसके लिए पहली निराई गुडाई, बुआई के 20–25 दिन बाद, दूसरी 35–45 दिन बाद करनी चाहिए तथा खरपतवार नियंत्रण के लिए प्रति हेक्टेयर आधा किलो ग्राम एट्राजिन सक्रियतत्व 600 लीटर पानी में घोलकर बुआई के 48 घण्टे के अदर या अकुंरण से पहले छिड़काव करें।

पादप सरंक्षण (Plant protection) : कीट एवं उपचार–

1 दीमक – खड़ी फसल में प्रकोप होने पर सिंचाई जल के साथ क्लोरोपायरीफॉस 20 प्रतिशत ईसी 2.5 लीटर प्रति हेक्टेयर की दर से प्रयोग करें।

2. तना छेदक कीट एवं प्ररोह मक्खी– इन कीटों के नियंत्रण हेतु कोर्बोफ्यूरान 30 से 20 किग्रा. या फोरेट 10 सीजी 20 किग्रा. अथवा डाईमिथोएट 30 प्रतिशत ई.सी. 1 लीटर प्रति हेक्टेयर अथवा क्यूनालफॉस 25 ई.सी. 1.5 लीटर का घोल बना कर छिड़काव करें।

जैविक नियंत्रण–

20 लीटर गोमूत्र में 5 किग्रा. नीम की पत्ती 3 किग्रा. धतूरा की पत्ती और 500 ग्राम तम्बाकू की पत्ती 1 किग्रा. बेसरम की पत्ती 2 किग्रा. अकौआ (आक) की पत्ती 200 ग्र. अदरक (यदि अदरक नहीं मिले तो) 250 ग्राम लहसुन, 1 किग्रा. गुड़, 25 ग्राम हींग, 150 ग्राम लाल मिर्च डालकर 3 दिनों के लिए छाया में रख दें। इस घोल की 2ढाई गुनी मात्रा प्रति हेक्टेयर प्रयोग करें इसे दो बार में 7–10 दिनों के अन्तराल पर छिड़काव करें। प्रति 15 लीटर पानी में 3 लीटर घोल मिलाया जाता है छिड़काव पूरी तरह तर कर के करें।

रोग उपचार :–तुलासिता रोग –पत्तियों पर पीली धारियाँ पड जाती है रोकथाम के लिए जिंककार्बनेट या जीरम 80 प्रतिशत 2 किग्रा. बुआई से पूर्व बीज को रीडामिल एम.जेड़. 4 ग्राम प्रति किलो बीज की दर से उपचार करना चाहिए।

पत्ती धब्बा(झुलसा)– पत्तियों पर बड़े या अण्डाकार (भूरे रंग के धब्बे पड़ जाते है) उपचार – जिनेब या जिंक मैगनीज कार्बमेट 2 किग्रा. या जिरम 80 प्रतिशत 2 लीटर या प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करना चाहिए।

तना सड़न :– रोग के लक्षण दिखाई देते ही 15 ग्राम स्ट्रेप्टोसाइक्लीन या 60 ग्राम एग्रोमाइसीन तथा 500 ग्राम कोपर ओक्सीक्लोराईड प्रति हेक्टेयर की दर छिड़काव करने से लाभ होता है।

कटाई मढ़ाई (Harvesting and threshing) : मक्का की फसल अवधि पूर्ण होने के पश्चात चारे वाली फसल बोने के

60–65 दिन बाद दाने वाली देशी किस्म 75 से 85 दिन बाद संकर एवं संकुल किस्में 90 से 115 दिन बाद तथा दाने में लगभग 25 प्रतिशत की नमी होने पर कटाई करनी चाहिए । भुट्टों से दाने निकालने के लिए सेलर का उपयोग किया जाता है। अथवा साधारण थ्रेसर में सूखाकर मक्का की मढ़ाई की जाती है इसमें भुट्टे से छिलका निकालने की आवश्यकता नहीं होती, सीधे ही सूखे भुट्टे को थ्रेसर में डालकर मढ़ाई की जा सकती है, इससे दाने का कटाव नहीं होगा।

उपज (Yield) : उन्नत विधियों से खेती करने पर संकर किस्मों से 40–50 क्विंटल तथा संकुल किस्मों से 30–40 क्विंटल प्रति हेक्टेयर दर से दाने की उपज प्राप्त होती है। लगभग 30–40 क्विंटल सूखा चारा प्रति हेक्टेयर प्राप्त होता है।

ज्वार (Jwar/Sorghum)

वानस्पतिक नाम–सोरघम बाइकलर एल. (*Sorghum bicolor* L.)

कुल – पोएसी (Poaceae)

महत्व (Importance) : ज्वार एक प्रमुख खाद्यान है ज्वार को मोटा अनाज कहते हैं। ज्वार के दानों में 72.6 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट पाये जाते हैं। ज्वार के पौधे की पत्तियाँ छोटी अवस्था में एक ग्लूकोसाइड (घुरिन) पाया जाता है जिससे हाइड्रो सायनिक अम्ल पैदा होता है । इस अवस्था में चारा पशुओं को अधिक मात्रा में खिलाने पर पशुओं की मृत्यु हो सकती है। ज्वार की उत्पति स्थान कुछ विद्वान अफ्रीका और भारत, कुछ विद्वान अफ्रीका तथा एबीसीनिया मानते है। राजस्थान में ज्वार टोंक, पाली, अजमेर, कोटा, झालावाड़, जिलों मे उगाई जाती हैं।

जलवायु (Climate) : ज्वार गर्म जलवायु की फसल है ज्वार 32° से 35° सेल्सियस तापमान पर पौधों की वृद्धि अच्छी होती है इसलिए खरीफ और जायद की फसल के रूप में इसे उगाया जाता है। ज्वार 30–75 सें.मी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में सफलता पूर्वक उगाया जाता है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) :– ज्वार के लिए दोमट एवं बलुई दोमट भूमि अच्छी मानी जाती है उचित जल निकास वाली भारी मृदा में भी उसकी बुआई की जा सकती है। भूमि का पीएच.मान 6.5 से 7.5 तक उपयुक्त रहता है अंतिम जुताई के समय 25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण मिला दें। भारी मिट्टी एवं अधिक खरपतवार युक्त क्षेत्रों में गर्मी में एक गहरी जुताई करे ताकि वर्षा को जल अधिक मात्रा में सोखा का जा सके। वर्षा के साथ 2–3 जुताई देशी हल या हैरो से करे तथा पाटा लगा कर बुआई करते है।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : सी.एस. एच.–5, सी.एस.एच.–14, एस.पी.वी.–245, एस.पी.वी.–96, एस. पी.वी.–346 सी.एस.वी.–13, प्रताप ज्वार 1430 ।

बहु कटाई वाली किस्में : मीठी सुडान, (एस.एस.जी. 59–3) एम.पी. चरी, पूसा चरी–23, जवाहर चरी– 69 ।

एक कटाई वाली किस्में – सी.एस.वी.–15, सी.एस.वी. –20, राज चरी –1, पूसा चरी–6 ।

मुख्य अन्य किस्में– जवाहर ज्वार 741, एस.पी.वी.1022, सी.एस.वी–1 (स्वर्णा), सी.एस.वी–15 ।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treament) : ज्वार का अनाज के लिए 9–10 किग्रा. चारा व दाना के लिए 15–20 किग्रा. बहुकटाई चारे के लिए 30–40 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर काम लेना चाहिए। बीज को बोने से पूर्व थायरम 2.5–3 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करें।

बीज को 6–10 ग्राम ट्राइकोडर्मा से उपचारित कर सकते हैं बुआई पूर्व एजोस्पाइरिलम जीवाणु कल्चर से बीज उपचारित करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : बुवाई जून के अन्त में या वर्षा शुरू होते ही कर देनी चाहिए। गर्मियों में चारे हेतु मार्च में (सिंचाईयुक्त क्षेत्रों में) बुआई करनी चाहिए। चारे के लिये बुआई छिटकवाँ विधि से भी की जा सकती है लेकिन बुआई कतार में करने से अधिक उपज मिलती है। कतार से कतार की दूरी 45 सेमी. पौधे से पौधे की दूरी 12–15 सेंमी. गहराई 1.5–2 सेंमी. पर बुआई करनी चाहिए। चारे वाली किस्मों की कतार से कतार की दूरी 25–30 सेंमी. रखनी चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : ज्वार के लिए अच्छी सड़ी हुई गोबर की खाद या कम्पोस्ट 15–20 टन प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के 15–20 दिन पूर्व खेत में अच्छी तरह मिला दें। इसके अतिरिक्त 80 किग्रा नत्रजन तथा 40 किग्रा फास्फोरस प्रति हेक्टेयर देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : ज्वार की फसल के लिए बाजरा की तुलना में अधिक पानी की आवश्यकता होती हैं वर्षा ऋतु में बोई गई फसल में सिंचाई की आवश्यकता नही होती है। परन्तु लम्बे समय तक वर्षा न होने पर सिंचाई की जरूरत पड़ सकती है। ग्रीष्मकालीन फसल में 7–10 दिन के अन्तर पर सिंचाई करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : ज्वार की बुआई के 15–20 दिन बाद निराई गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देने चाहिए। गुड़ाई करते समय ध्यान रहे कि पौधे की जड़े न कट जायें। ज्वार की शुद्ध फसल में खरपतवार नष्ट करने हेतु आधा किग्रा. एट्राजिन बुआई के तुरन्त बाद 600 लीटर पानी में घोल कर छिड़काव करना चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : ज्वार की फसल में तना मक्खी और तना छेदक का प्रकोप होता है। इसकी रोकथाम के लिये बुआई के समय बीज के साथ 15 किग्रा. प्रति हेक्टेयर फोरेट 10 प्रतिशत या कार्बोफ्युरान 3 जी दानों कों डालना चाहिए फफूंद से होने वाली बीमारियों की रोकथाम के लिए मैन्कोजेब 0.2 प्रतिशत का घोल बनाकर छिड़काव करें।

कटाई / मढ़ाई (Harvesting and threshing) : चारे के लिये ज्वार की बुआई के 45–50 दिन बाद ही काटना चाहिए। बहु कटाई वाली किस्म की पहली कटाई 50–55 दिन बाद अगली कटाइयाँ 30–35 दिन के अन्तर पर करनी चाहिए। दाने की फसल में दाने पकने पर सिट्टों के हरे दाने सफेद या पीले रंग में बदल जाते हैं। दानों में जब नमी घटकर 25 प्रतिशत रह जावे तब कटाई कर लेनी चाहिए। पौधों से सिट्टे (बाली) अलग करने के बाद पौधो को सुखाकर कडवी (सूखा चारा) के रूप में रखा जाता है व मढ़ाई बैलों या शक्ति चालित ट्रैक्टर या थ्रेसर की सहायता से की जाती है।

उपज (Yield) : ज्वार की देशी किस्मों से 10–15 क्विंटल दाना, 100–150 क्विटल कड़वी। उन्नत व संकर किस्मों से 30–35 क्विंटल दाना तथा 80–100 क्विंटल कडवी प्रति हेक्टेयर उपज प्रात होती है हरे चारे की उपज 300–400 क्विंटल प्रति हेक्टेयर होती है।

बाजरा (Pearl millet)

वानस्पतिक नाम–पेनीसेटम टाइफोइड्स एल.
(*Pennisetum typhoides* L.)
या
पेंनीसेटम ग्लूकम एल.
(*Pennisetum glaucum* L.)
कुल . पोएसी (Poaceae)

महत्व (Importance) : बाजरा मोटे अनाज वाली खाधान्न फसलों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है इसकी खेती दाना व चारा दोनों के लिए की जाती है। बाजरा के दाने को चावल की तरह पकाकर या आटे की रोटी बनाकर खाने मे उपयोग किया जाता है बाजरे के दाने की पौष्टिक गुणवत्ता ज्वार से अधिक होती है इसमें लगभग 73 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट्स पाई जाती है। कुछ विद्वान बाजरा का उत्पति स्थान अफ्रीका, तो कुछ भारत मानते है। राजस्थान में बाडमेर, नागौर, सीकर, बीकानेर, झुंझुनू, जयपुर, जिलों में उगाया जाता है।

जलवायु (Climate) : इसकी बढवार के लिए नम तथा ऊष्ण मौसम अधिक उपयुक्त रहता है। फसल में फूल आते समय व दाना बनते समय व पकते समय स्वच्छ आकाश व तेज धूप की आवश्यकता होती है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : बाजरा के लिए जल निकास युक्त बलुई दोमट व दोमट मृदा जिसमें जलधारण क्षमता अच्छी हो उपयुक्त रहती है साधारणतया इसकी खेती सभी तरह की मृदाओं मे की जा सकती है लेकिन हल्की मिट्टी में इसकी खेती बड़े पैमाने पर होती है बाजरा का खेत तैयार करने के लिए गर्मी में गहरी जुताई करे एवं वर्षा होते ही 2–3 जुताई देशी हल या कल्टीवेटर से करके पाटा लगाकर मृदा भुरभुरी व समतल कर लेते हैं। भूमिगत कीटो को नष्ट करने के लिए 12 किग्रा. कार्बोफ्यूरान 3 प्रतिशत या क्यूनालफास 5 प्रतिशत की दर से बुआई के समय मिट्टी में मिला देना चाहिए।

उन्नत शील किस्में (Improved varieties) : आर. एच.बी.–121, एच.एच.बी–67, एच.एच.बी–60, जी.एच.बी–538, आर.एच.बी. 90, पूसा–605, आर.एच.बी.177, आर.एच.बी 173।

अन्य किस्में:– जी.एच.बी. 719, जी.एच.बी.–744, एच.एच.बी. 94, एच.एच.बी. 719, आई.सी.टी. 8203(संकुल), एम.एच.169 (पूसा–23)।

चारे के लिए – राज बाजरा चरी–2, जायद बाजरा ।

बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : दाने के लिए 4–5 किग्रा. प्रति हेक्टेयर एवं हरे चारे के लिए 10–12 किग्रा. प्रति हेक्टेयर बीज पर्याप्त रहता है। बीजों को 20 प्रतिशत नमक के घोल से उपचारित कर तत्पश्चात 3 ग्राम थाइरम से प्रति किलो बीज की दर से उपचारित करें। दीमक प्रकोप होने पर 4 मिली. क्लोरोपायरीफॉस 20 ईसी से प्रति किलो बीज उपचारित करे। क्षारीय व लवणीय मिट्टी में बुआई करनी हो तो बीज को 1 प्रतिशत सोडियमसल्फेट में 12 घन्टे तक भिगोकर साफ पानी से धोकर छाया मे सुखने के बाद कवक नाशी से उपचारित करके बोयें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method): बाजरा की बुआई असिंचित क्षेत्र मे वर्षा आने पर, सिंचित क्षेत्र मे समय पर बुआई जून मध्य से जुलाई तृतीय सप्ताह तक, वर्षा समय पर न हो तो अच्छी उपज के लिए फसल कतार में बोना चाहिए कतार से कतार की दूरी 40–45 सेमी. वर्षा वाले क्षेत्र में 60 सेंमी., मिश्रित फसल में 30 सेंमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. व गहराई 2–5 सेमी. पर बुआई करनी चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) :

1. बुआई से 4 सप्ताह पूर्व 10–15 टन गोबर की सड़ी हुई खाद प्रति हेक्टेयर की दर से भूमि में मिला दें।
2. असिंचित क्षेत्र में 30 किग्रा. नत्रजन 20 किग्रा. फॉस्फोरस बुआई के समय प्रयोग करें।
3. सिंचित क्षेत्र मे बुआई के समय 30 किग्रा. नत्रजन एंव 40 किग्रा. फास्फोरस 25 किग्रा. जिंक सल्फेट का उपयाग करें तथा 30 किग्रा. नत्रजन 35–40 दिन बाद सिट्टे बनते समय पर्याप्त नमी की अवस्था में छिड़क कर देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : बाजरा की फसल खरीफ मे वर्षा द्वारा ली जाती है समय पर वर्षा होने पर सिंचाई की आवश्यकता नही पड़ती यदि वर्षा नही होतो फुटान के समय, सिट्टे बनते समय भूमि में नमी की कमी नही होनी चाहिए अर्थात सिंचाई कर देनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : बुआई के 20–30 दिन बाद निराई गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देना चाहिए तथा कमजोर पौधों को निकाल कर पौधों से पौधों की दूरी 10–15 से. मी. कर देनी चाहिए आवश्यकता होने पर 15–20 दिन बाद दूसरी निराई गुड़ाई कर देनी चाहिए खरपतवार नियंत्रण के लिये प्रति हेक्टेयर आधा किग्रा. एट्राजीन सक्रिय तत्व 600 लीटर पानी मे घोल बनाकर छिडकाव करें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कीट–कातरा, हरातेला, गन्धी बग के नियत्रण के लिए क्यूनालफास 1.5 प्रतिशत या मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत चूर्ण का 25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से भुरकाव करना चाहिए। सफेद लट के लिए 1 किग्रा. बीज को 3 ग्राम कार्बोफ्यूरान (3 प्रतिशत) या क्यूनालफॉस (5 प्रतिशत) कण मिलाकर बुआई करें।

रोग–जोगिया (ग्रीन ईयर) या हरित बालरोग :–

1. रोग रोधी किस्में बोयें
2. रोग ग्रस्त पौधो को निकाल कर नष्ट कर देना चाहिए।
3. फसल बुआई के 21 दिन बाद मैन्कोजेब 2 ग्राम प्रति लीटर की दर से छिड़के (इस रोग में सिट्टे के स्थान पर पत्तियों का गुच्छा बन जाता है)
4. फसल चक्र अपनाना चाहिए।

अरगट (चेपा, गूंदिया) : इस रोग में सिट्टे पर गोंद जैसा चिपचिपा सा पदार्थ उत्पन्न होता है रोग से बचाने हेतु सिट्टे निकलते समय 2 ग्राम जाइनेब या मैन्कोजेब प्रति लीटर पानी में घोल कर दो तीन दिन के अन्तर पर 2–3 छिड़काव करने से प्रकोप कम होता है रोग ग्रस्त पौधों को उखाड कर नष्ट कर देना चाहिए। नमक के 20 प्रतिशत घोल में बीज को डुबोकर बुआई करनी चाहिए।

कटाई मढ़ाई (Harvesting and threshing) : फसल अक्टूबर के पहले सप्ताह तक पक कर तैयार हो जाती है। खडी फसल में हसिंया से सिट्टे को काटना चाहिए, कई क्षेत्रो में पहले फसल काट ली जाती है फिर सिट्टे तोड़ लिए जाते हैं जब दानों में नमी की मात्रा 20 प्रतिशत हो तभी सिट्टे पौधे से अलग करने चाहिए। सिट्टो को सुखा कर मढ़ाई बैलो द्वारा या शक्ति चालित थ्रेसर से कर लेते हैं।

उपज (Yield) : उन्नत विधियों से बाजरा की खेती करने की औसत 15–20 क्विटंल प्रति हेक्टेयर दर दाने की उपज तथा 50–60 क्विंटल सुखा चारा प्रति हेक्टेयर तथा चारे की फसल से 250–300 क्विंटल हरा चारा प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त होती है ।

गेहूँ – (Wheat)

वानस्पतिक नाम–ट्रिटिकम एस्टिवम एल. (*Triticum aestivum* L.)

या

ट्रटिकम वल्गेयर एल. (*Triticum vulgare* L.)

कुल – पोएसी (Poaceae)

महत्व (Importance) : गेहूँ मुख्य खाद्यान्न फसल है जो धान के बाद दूसरे स्थान पर आता है। पौष्टिकता की दृष्टि से भी गेहूँ का महत्वपूर्ण स्थान है गेहूँ के दाने में 62–71 प्रतिशत कार्बोहाईड्रेट्स, गेहूँ का उपयोग मुख्यतः पीस कर (आटा) रोटी, चपाती, डब्बल रोटी, बिस्कुट, सूजी दलिया, मैदा, सेवैया, पेस्ट्री आदि बनाने में किया जाता है। गेहूँ के दाने चोकर व भूसे को पौष्टिक पशु आहार के रूप में काम में लिया जाता है। गेहूँ की उत्पति मध्य एशिया से लेकर दक्षिण – पूर्वी यूरोप तक मानते है। राजस्थान में श्रीगंगानगर, हनुमानगढ, जयपुर, कोटा, अलवर, भरतपुर, चितौड़गढ़ एवं सवाईमाधोपुर प्रमुख उत्पादक जिले है।

जलवायु (Climate) : गेहूँ शीतोष्ण जलवायु की फसल है। गेहूँ के अकुरण के लिए न्यूनतम तापमान 3.5°–5.5° सेल्सियस इष्टतम तापमान 20°–25° सेल्सियस अधिकतम तापमान 35° सेल्सियस है। पौधे को ठण्डा मौसम अनुकूल रहता है। अधिकतम तापमान होने के करण फसल समय से पहले ही पक जाती है। उपज कम हो जाती है। फसल पकने के लिये इष्टतम औसत तापमान 14°–15° सेल्सियस रहता है। उचित पौधे वृद्धि एवं बढ़वार के लिए 50–60 प्रतिशत तक आर्द्रता उपयुक्त पायी गयी है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : गेहूँ के लिए अच्छे जल निकासयुक्त मृदा बलुई दोमट एवं दोमट मृदा सर्वोत्तम है। गेहूँ के लिए उत्तम संरचना वाली व पर्याप्त जल धारण करने वाली ऐसी मृदा जिनका पीएच मान 6–8.5 हो अच्छी रहती हैं। अधिक अम्लीय व अधिक क्षारीय लवणीय मृदा उपयुक्त नहीं रहती है।

गेहूँ के लिये खारीफ की फसल काटने के बाद मिट्टी पलटने वाले हल से गहरी (20–25 सेमी.) जुताई करनी चाहिए। यदि नमी कम हो तो सिंचाई के बाद गहरी जुताई करनी चाहिए। इसके बाद 3–4 जुताई देशी हल या कल्टीवेटर चलाकर मिट्टी को भुरभुरी बना देना चाहिए। दीमक व अन्य भूमिगत कीटों के नियंत्रण हेतू एण्डोसल्फान 4 प्रतिशत या क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण 25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के पूर्व अन्तिम जुताई के समय खेत में मिला देना चाहिए।

उन्नतशील किस्मे (Improved varieties) : राज. 1482, राज. 3077, राज. 3765, एच.डी. 2329, एच.डी. 2687, राज. 3777, पी.बी.डब्ल्यु 373, डब्ल्यु एच 147, राज. 4083, राज. 4120, लोक–1 ।

अन्य उन्नतशील किस्में : राज. 1555, एच. डी. 2009 (अर्जुन), एच.आई. 8498, जी.डब्ल्यु. 173, जी.डब्ल्यु. 273, एच.डी. 2967, एच.आई. 1077, एच.आई. 1544, एच.आई. 8381, खारचिया 65, एच.आई. 617(सुजाता) आदि।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : गेहूँ की बीज की मात्रा बुआई की विधि पर निर्भर करती हैं। सामान्य बुआई में 100 किग्रा., देर से बुआई असिंचित लवणीय व क्षारीय क्षेत्र पेटा काश्त के 125 किग्रा., छिटकवॉ विधि से 125–150 किग्रा., डिवलर विधि से 30–40 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है। ईयर कोल व टुण्डु रोग के लिए रोग ग्रस्त बीज को 20 प्रतिशत नमक के घोल में डुबोयें प्रतिकिलो बीज 2.5 ग्राम थायरम या 2 ग्राम कार्बेन्डाजिम 50 डब्ल्यू पी या 2–2.5 ग्राम मैन्कोजेब या 6–10 ग्राम ट्राईकोडर्मा से बीज उपचारित करें । इसके बाद प्रति किलो बीज 5 मिली. क्लोरेपायरीफॉस 50 ईसी से उपचारित करें लवणीय मृदा या खारे पानी वाले क्षेत्र में बीज को सोडियम सल्फेट के 3 प्रतिशत घोल (1.5 किग्रा.) सोडियम सल्फेट का 50 लीटर पानी में घोल बना कर 24 घण्टे डुबोना चाहिए। बाद में साफ पानी से धोकर छाया में सुखाकर प्रयोग करना चाहिए और अन्त में प्रति हेक्टेयर खेत के बीजों के लिए पी.एस.बी. व एजोटोबैक्टर प्रत्येक का 600 ग्रा. कल्चर लेकर गुड़ के पानी में घोल बनाकर उपचारित करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : गेहूँ की असिंचित बुआई 15 अक्टुबर से 15 नवम्बर तक, अगेती सिंचित 25 अक्टुबर से 7 नवम्बर, समय पर बुआई नवम्बर के प्रथम सप्ताह से तीसरे सप्ताह तक, पिछेती बुआई नवम्बर अन्तिम सप्ताह से दिसम्बर प्रथम सप्ताह तक करें। गेहूँ की बुआई कतारों में की जाती है। कतार से कतार की दूरी 20–22.5 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10–12 सेमी. रखते हुए 3–5 सेमी. गहराई पर बुआई कर देनी चाहिए। बुआई ट्रैक्टर चालित ओटोमैटिक सीडड्रिल से करने पर बीज समान रूप से गिरता है। उन्नतशील किस्मों के कम बीज को अधिक क्षेत्र में बोने के लिए डिबलर से भी की जाती है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : गेहूँ की अच्छी उपज लेने के लिए बुआई के 4–6 सप्ताह पूर्व 15–20 टन गोबर की खाद प्रति हेक्टेयर मिट्टी में मिला दें। यदि हो सके तो तीन साल में एक बार हरी खाद का प्रयोग अवश्य करें। अच्छी उपज के लिए 100–120 किग्रा. नाइट्रोजन 30–40 किग्रा. फास्फोरस 30 किग्रा. पोटाश प्रति हेक्टेयर प्रयोग करें नाइट्रोजन की आधी मात्रा नाइट्रोजन, फॉस्फोरस व पोटाश की पूरी मात्रा बुआई के पूर्व अन्तिम जुताई के समय पर कर दें।

सिंचाई (Irrigation) : सिंचाई की संख्या उस स्थान की जलवायु, मृदा संरचना, फसल की सघनता व बढवार पर निर्भर करती है। सामान्यतः गेंहूँ की फसल का भारी मृदा मे 4–6 और हल्की मृदा में 6–8 और सिंचाइयों की आवश्यकता होती है गेहूँ की फसल में निम्न अवस्थाओं पर सिंचाई करना उपयुक्त पाया गया हैं।

सिंचाई की क्रांतिक अवस्थाएँ (Critical Stages) :

प्रथम सिंचाई बुआई के 20–25 दिन शीर्ष जड़ जमाव के समय
द्वितीय सिंचाई बुआई के 40–45 दिन बाद फुटान के समय

तृतीय सिंचाई बुआई के 60–65 दिन बाद गाँठ बनते सम
चौथी सिंचाई बुआई के 80–85 दिन बाद बाली बनते समय
पाँचवी सिंचाई बुआई के 100–105 दिन बाद दूधिया अवस्था में
छठी सिंचाई बुआई के 115–120 दिन बाद दाना पकते समय

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : गेंहूँ की प्रथम सिंचाई के बाद 25–30 दिन पर एक निराई गुड़ाई अवश्य करें खरपतवारों को नष्ट करने के लिए बोनी किस्मों मे बुआई के 25–30 दिन के बीच प्रति हेक्टेयर आधा किलो 2–4 डी एस्टर 750 लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें, एच डी 2009 में 2 –4 डी प्रयोग न करें। गेहूँ मे बुआई के 30–35 दिन बाद मेटसल्फेयुरान मिथाइल खरपतवार नाशी का 4 ग्राम (सक्रिय तत्व) या कारफेन्टाजोन (घुलनशील तत्व) की 20 ग्राम मात्रा प्रति हेक्टेयर 600 लीटर पानी मे घोलकर छिड़काव करे गुली डंडा (फेलेरीसमाईनर) जगंली जई का प्रकोप को वहाँ की फसल बुआई के 30–35 दिन बाद आईसोप्रोटयूरान हल्की मिट्टी हेतु 800 ग्राम तथा भारी मिट्टी में 1200 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर का पानी में घोल बनाकर एक साथ छिड़काव करें।

पादप सरंक्षण (Plant protection) :

1. पाले से बचाने की आवश्यकता हो तो 0.1 प्रतिशत (पानी में एक मिली.) गंधक तेजाब का छिड़काव करना।
2. दीमक के लिये क्लोरपायरीफॉस 20 ईसी 2400 मिली. प्रति हेक्टेयर की दर से सिंचाई के साथ प्रयोग करे।
3. तना छेदक मक्खी एवं थ्रिप्स मकड़ी (माईट) मोयला व तेला–अंकुरण के समय तना छेदक का प्रकोप होने पर मानोक्रोटोफॉस (36 प्रतिशत एस एल) 1200 मिली. या मिथाइल डिमेटॉन 25 ईसी 1200 मिली. प्रति हेक्टेयर पानी में मिलाकर छिड़काव करें। मकड़ी, मोयला, तेला के लिए मिथाईल डेमेटॉन 25 ईसी या डाइमिथोएट 30 ईसी 1200 मिली प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें आवश्यकता अनुसार 15 दिन बाद पुनः छिड़काव करें।
4. सैन्यकीट चने वाली लट, पायरिला, फली बीटल, ग्रास हॉपर के रोकथाम के लिए मिथाइल पैराथियान (2 प्रतिशत) चूर्ण 24 किग्रा. प्रति हेक्टेयर छिड़काव करें।
5. चूहों की रोकथाम के लिए एक भाग जिंक फास्फाइड को 47भाग आटे और दो भाग तिल या मूंगफली के तेल में मिलाकर विशेष चुगा तैयार कर आबाद बिलों के पास रखे या आधा ग्राम एल्यूमिनियम फास्फॉइड की गोलियाँ प्रति बिल की दर से डालकर बिल बन्द करे।

झुलसा रोग एवं पत्ती धब्बा रोग – गेहूँ की फसल को झुलसा व पत्ती धब्बा रोग से बचाने के लिये जनवरी के प्रथम सप्ताह में मैन्कोजेब 2 ग्राम प्रति लीटर पानी में घोल बनाकर 15 दिन के अन्तर पर 3–4 बार छिड़काव करें ।

रोली रोग –रोली रोग की रोकथाम हेतु 25 किग्रा. गन्धक चूर्ण का प्रति हेक्टेयर की दर से 15 दिन के अन्तर पर 2–3 बार सुबह या शाम के समय भुरकाव करें। रोली रोधी किस्में बोये। मैन्कोजेब 3 ग्राम प्रति लीटर का घोल बना कर छिड़काव करें ।

अनावृत रोग व पत्ती कण्डवा रोग : रोग दिखाई देते ही रोगग्रस्त पौधो को उखाड़कर नष्ट कर दें मई और जून में बीज का सौर उपचार करें या बीज को बुआई से पूर्व 2 ग्राम बीटाबेक्स प्रति किलो की दर से उपचारित करें।

ईयर कोकल एवं टुण्डू रोग : इस रोग में गेहूँ के दाने की जगह कोकल बन जाता है जिनमें कृमि के हजारों अण्डे होते है टुण्डु रोग साथ होने से पत्तियों व बालियों में एक पीले रंग का गोंद जैसा चिपचिपा पदार्थ निकलता है इसे रोकने के लिए बीज को नमक के 20 प्रतिशत घोल से उपचारित कर साफ पानी से धोकर छाया मे सुखा कर बोना चाहिए ऊपर तैरते कचरे को निकालकर जला दें।

कटाई एवं मड़ाई (Harvesting and threshing) : गेहूँ की फसल पकने के तुरन्त बाद मार्च–अप्रेल में कटाई कर लेनी चाहिए अन्यथा बलियों से दाना झड़ने या टूटने या पशु–पक्षियों से हानि होने की सम्भावना रहती है जब दानों मे 20 प्रतिशत नमी हो व पौधे की पत्तियाँ पीली हो जाती है तब कटाई कर लेनी चाहिए कटाई के बाद फसल को 5–6 दिनों तक धूप में सूखाकर मड़ाई कर लेनी चाहिए थ्रेसर से मड़ाई करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि दानों में नमी अधिक न हो।

उपज (Yield) : उन्नतशील व बोनी किस्मों से 50–60 क्विंटल तक उपज प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है। देशी किस्मों से व असिंचित क्षेत्र से 15–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त होती है।

जौ –(Barley)
वानस्पतिक नाम–होर्डियम वल्गेयर एल.
(*Hordeum vulgare* L.)
कुल – पोएसी (Poaceae)

महत्त्व (Importance) : जौ रबी ऋतु मे उगाई जाने वाली खाद्यान्न की प्रमुख फसल है इसका प्रयोग मानव आहार एवं पशुओ के दाने व चारे के लिए किया जाता है हमारे देश मे जौ का प्रयोग रोटी बनाकर तथा चने अथवा गेहूँ के साथ मिलाकर रोटी के रूप में किया जाता है। जौ का प्रयोग अनेक औद्योगिक पदार्थ, माल्ट, शराब, बीयर, पेपर, फाइबर पेपर, फाइबर बोर्ड आदि के लिए किये जाते है जौ के दाने मे 64–78 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट्स, जौ का उत्पति स्थान दक्षिण पूर्वी एशिया में चीन तिब्बत और नेपाल का क्षेत्र है। राजस्थान में जौ की खेती थोड़ी बहुत सभी जिलों में की जाती है लेकिन अजेमर, जयपुर, दौसा, झुन्झुनू, अलवर, भरतपुर व सवाईमाधोपुर मुख्य जिले हैं।

जलवायु (Climate) : जौ शीतोष्ण जलवायु की फसल हैं। इसके लिए ठण्डी और नम जलवायु की आवश्यकता होती हैं। यह सूखा सहन करने वाली है, इसलिए 60–100 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों मे उगाया जा सकता है। जौ के अच्छे अंकुरण 25°–30° सेल्सियस पौधे वृद्धि के लिए 12°–15° सेल्सियस और परिपक्वता के समय 30° सेल्सियस तापमान की आवश्यकता होती है बालियाँ बनते समय अधिक आर्द्रता हो तो रोग एवं व्याधियो का प्रकोप बढ़ता है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : जौ की खेती के लिए बलुई दोमट एवं दोमट मृदा उपयुक्त रहती हैं। जौ की खेती हल्की लवणीय क्षारीय भूमि में की जा सकती हैं। सूखे एवं क्षारीय दशाओं में जौ ही एक मात्र फसल जिसे सफलता पूर्वक उगाया जा सकता है। जौ के लिए खरीफ की फसल कटने के बाद मिट्टी पलटने वाले हल से एक जुताई करनी चाहिए। सिंचित क्षेत्र मे पलेवा कर दो –तीन जुताइयाँ देशी हल या हैरो से करके खेत तैयार किया जाता हैं। जुताई के बाद पाटा चलाकर मिट्टी को भुरभुरी बना लेना चाहिए। भूमिगत कीटों की रोकथाम के लिए प्रति हेक्टेयर 25 किलोग्राम एण्डोसल्फान 4 प्रतिशत या क्युनालफॉस 1.5 प्रतिशत का चूर्ण मिट्टी में मिला देना चाहिए।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : बीएल. 2, ज्योति, आर.डी. 31, आर.डी. 57, आर.डी.103, आर.डी. 387 (राजकिरण), आर.डी. 2552, आर.डी. 208, आर.डी. 2660, आर. डी. 2592, आर.डी. 2624, आर.डी. 2715।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : सामान्य व सिंचित क्षेत्र के लिये 100 किग्रा. दर से बुआई असिंचित क्षेत्र लवणीय क्षेत्र के लिये 125 किग्रा. प्रति हेक्टेयर बीज पर्याप्त रहता है। बुआई से पूर्व बीज को प्रति किलो बीज की दर से 2.5 ग्राम थाइरम या 2.5 ग्राम मेन्कोजेब या 2 ग्राम कार्बेन्डाजिम 50 डब्ल्यू.पी. या 6–10 ग्राम ट्राईकोडर्मा या 5 मिली. क्लोरोपायरीफास 20 ई.सी. से उपचारित करके बोना चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : जौ की फसल की बुआई असिंचित क्षेत्र में अक्टूबर से, सामान्य एवं सिंचित क्षेत्र में 15 अक्टूबर से 15 नवम्बर तक एवं पिछेती बुआई 15 नवम्बर से 5 दिसम्बर तक कर देनी चाहिए। जौ की फसल की बुआई कतारों में कतार से कतार की दूरी 22.5 सेमी तथा देर से बोई गई फसल में 25 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10–11.25 सेमी. की दूरी पर 5–6 सेमी. गहराई पर बीज की बुआई करनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : जौ की अधिक उपज लेने के लिये प्रति हेक्टेयर 8–10 टन गोबर की सड़ी हुई खाद 4–5 सप्ताह पूर्व भूमि में मिला दें तथा 40–60 किग्रा. नत्रजन 30–40 किग्रा. फास्फोरस एवं 20–30 किग्रा. पोटाश एवं 25 किग्रा. जिंक सल्फेट प्रति हेक्टेयर देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation): जौ की फसल सामान्यतः हल्की एवं दोमट मिट्टी में 4–5 सिंचाइयों और भारी मिट्टी में 2–3 सिंचाइयों की आवश्यकता पड़ती है। बुआई के 25–30 दिन बाद पहली सिंचाई दें इसके बाद आवश्यकतानुसार सिंचाई करते रहें। फूल आने एवं दाने की दूधिया अवस्था में पानी की कमी नहीं होनी चाहिए अन्यथा उपज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। नहरी क्षेत्र में प्रथम सिंचाई 25–30 दिन बाद दूसरी 65–70 दिन बाद एवं तीसरी 100–110 दिन बाद करें।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : प्रथम सिचांई के बाद 1 बार 30–35 दिन पर निराई गुड़ाई कर देनी चाहिए। खरपतवारों का रासायनिक नियंत्रण गेंहूँ की फसल के समान करना चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : जौ की फसल में पादप संरक्षण गेहूँ की फसल की तरह ही करना चाहिए जौ की फसल के रोगों एवं कीटों की समानता गेहूँ की फसल की तरह ही होती है।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : जौ की फसल की कटाई मार्च अप्रेल में जब फसल के पौधे एवं बालियाँ सूख कर पीली या भूरी पड़ जाये तो कटाई कर लेनी चाहिए। अधिक पकने पर बालियाँ गिरने की आशंका अधिक हो जाती है। फसल की कटाई करने के बाद अच्छी प्रकार सूखा कर थ्रेसर द्वारा दाने को भूसे से अलग कर देना चाहिए।

उपज (Yield) : उन्नत विधि से खेती करने पर एक हेक्टेयर में 35–40 क्विंटल दाने की एवं 50–55 क्विंटल भूसे की उपज प्राप्त की जा सकती हैं। असिंचित क्षेत्र में 15–20 क्विंटल दाना व 25–30 क्विंटल भूसा प्रति हेक्टेयर प्राप्त होता है ।

6.2 दलहनी फसलें (Pulse Crops)

उड़द – (Black gram or Urd bean)
वानस्पतिक नाम –विग्ना मुंगो एल. (*Vigna mungo* L.)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : उड़द दाल के लिए उगाया जाता है दलहनी फसल होने के कारण वायुमण्डलीय नाइट्रोजन को मृदा में संचयन करने की क्षमता होती हैं। उड़द को पीसकर पापड़, विभिन्न व्यंजन भी बनाये जाते हैं। उड़द में 24 प्रतिशत प्रोटीन होती हैं। इसका चारा पशुओं के लिए पौष्टिक होता हैं। उड़द का उत्पति स्थान भारत वर्ष माना जाता है राजस्थान में इसकी खेती कोटा, उदयपुर खण्ड, सवाई माधोपुर, अलवर, भरतपुर जिलों में की जाती हैं।

जलवायु (Climate) : उड़द उष्ण कटिबन्धीय पौधा है, इसे आर्द्र एवं गर्म जलवायु की आवश्यकता होती है राजस्थान में इसकी खेती मुख्यतया वर्षा ऋतु में की जाती है 40–60 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्र उड़द खेती के लिए उपयुक्त माने जाते हैं। पौधों की वृद्विके लिए 21^{0}–30^{0} सेल्सियस तापमान उपयुक्त मान जाता है।

मृदा (Soil) : उड़द की खेती के लिए अच्छे जल निकासयुक्त सभी प्रकार की मृदाएँ उपयुक्त हैं, लेकिन अच्छी उपज के लिए दोमट., चिकनी दोमट मृदा सर्वोतम रहती है, जिसका पी.एच. मान 7–8 के मध्य हो।

भूमि की तैयारी (Field preparation) : एक जुताई मिट्टी पलटलने वाले हल से तथा दो जुताई देशी हल से या हैरो से करके पाटा लगा कर खेत तैयार किया जाना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : कृष्णा, टी–9, पन्तयू–19, पन्तयू–30, बरखा, जवाहर उड़द–2, एल. बी. जी. 20।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : उड़द की शुद्ध फसल के लिए 15–20 किग्रा तथा मिश्रित फसल के लिए 8–10 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर की दर से आवश्यकता होती है। बुआई से पूर्व प्रति किलो बीज 3 ग्राम थायरम या 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम से उपचारित करने के बाद अन्य दलहनों की तरह राइजोबियम कल्चर से उपचारित करके बुआई करनी चाहिए ।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : फसल वर्षा प्रारम्भ होने पर 15 जून से 15 जुलाई के मध्य कर देनी चाहिए। उड़द की फसल की बुआई पंक्तियों में पक्ति से पंक्ति की दूरी 30 सेमी व पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. पर एवं बीज को 4–5 सेमी. गहराई पर बोते हैं।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : उड़द दलहनी फसल है इसके लिए नाइट्रोजन 20 किग्रा., फास्फोरस 60 किग्रा. व पोटाश 30 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से दी जाती है।

सिंचाई (Irrigation) : उड़द की फसल को कम पानी की आवश्यकता होती है। समय पर वर्षा न होने पर 2 सिंचाई की आवश्यकता होती है। विशेष कर पुष्पावस्था एवं दाने बनते समय खेत में उचित नमी होना अति आवश्यक हैं।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : फसल से खरपतवारों को नष्ट करने के लिए 15–30 दिन के बीच एक दो निराई गुडाई करनी चाहिए जिससे वायु संचार होने से पौधों की ग्रंथियों में कियाशील जीवाणुओं द्वारा वायु मण्डलीय नत्रजन एकत्रित करने में सहायता मिलती है । रासायनिक नियंत्रण हेतु खेत तैयार करते समय बुआई से पूर्व पेण्डीमिथलीन 3 लीटर या एलाक्लोर (लासो) 2 लीटर को 500 लीटर पानी में मिलाकर बोने के बाद व अंकुरण से पूर्ण भूमि में फ्लेटफेन नोजल युक्त पम्प से मिलायें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : उड़द की फसल में पादप संरक्षण मूंग की फसल के समान ही होता है

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : उड़द की फसल किस्म के अनुसार 80–100 दिन में पक कर तैयार हो जाती है। जब 70–80 प्रतिशत फलियां पक जाती है तो कटाई कर ली जाती है। कटाई हँसिया/दाँतली से की जाती हैं। फसल को 6–7 दिन तक सुखाकर मढ़ाई कर लेते हैं। मढ़ाई थ्रेसर से करते हैं।

उपज (Yield) : उन्नत विधि से खेती करने पर 8–10 क्विंटल उपज प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती हैं।

मूंग *(Greengram or Mungbean)*

वानस्पतिक नाम –विगना रेडियेटा एल. *(Vigna radiata L.)*

कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : राजस्थान में खरीफ की दालों में मूंग सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। मूंग का उपयोग दाल के अलावा नमकीन, मिष्ठान, पापड़, बड़ी, आदि बनाने में किया जाता हैं। मूंग की फसल पशुओं के लिए हरा चारा तथा हरी खाद के लिए भी उगाई जाती है। दलहनी फसल होने के कारण यह राइजोबियम जीवाणुओं द्वारा वायुमण्डलीय नाइट्रोजन को मृदा में सिंचित करने की क्षमता रखती है जिससे मृदा की गुणवत्ता बढ़ती है। मूंग में 23 प्रतिशत प्रोटीन होती है। मूंग की दाल बहुत हल्की व शीघ्र पचने वाली होती है।मूंग की उत्पति स्थान भारत वर्ष है। राजस्थान में मूंग की खेती जोधपुर, बीकानेर, गंगानगर, हनुमानगढ़, भीलवाड़ा आदि जिलों में अधिक होती है।

जलवायु (Climate): राजस्थान में मूंग की फसल वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में उगाई जाती है। यह शुष्क व गर्म जलवायु की फसल है। मूंग की खेती 20–40 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले स्थानों पर सफलतापूर्वक की जा सकती है। मूंग की फसल के लिए अधिक वर्षा हानिकारक है। मूंग के लिए 25°–35° सेल्सियस तापमान उपयुक्त रहता हैं।

मृदा (Soil) : मूंग की फसल राजस्थान की सभी प्रकार की मृदाओं में उगाई जाती है लेकिन अच्छी फसल के लिए जल निकासयुक्त दोमट मृदा सर्वोत्तम होती हैं।

खेती की तैयारी (Field preparation) : ग्रीष्म कालीन फसल बोने के लिए गेहूँ की कटाई के बाद सिंचाई कर के एक–दो जुताई कर के खेत तैयार किया जाता है पाटा लगकर मिट्टी भुरभुरी व समतल कर बुआई की जाती है खरीफ में मूंग की खेती के लिए वर्षा होते ही एक–दो जुताई करके बुआई की जाती है।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : के. 851, एम. यू.एम–2, आर.एम.जी. 62, आर.एम.जी. 268, आर.एम.जी 344 (धनु), एम.एल.267, एम.एल 131, गंगा–1, पूसा बैसाखी।

बीज दर (Seed rate) : मूंग की शुद्ध फसल बोने के लिए 15–20 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती हैं मिश्रित फसल में बीज दर 8–10 किग्रा. प्रति हेक्टेयर प्रयोग की जाती हैं।

बीज उपचार (Seed treatment) : बुआई से पूर्व प्रति कि.ग्रा. बीज को 3 ग्राम थाइरम या 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम से उपचारित करने के बाद राइजोबियम कलचर से उपचारित करें। सभी दलहनी फसलों के बीजों को राइजोबियम से उपचारित करने पर पैदावार अधिक मिलती है इसके लिए एक लीटर पानी में 250 ग्राम गुड़ गर्म करके घोल बनाएं तथा घोल के ठण्डा होने पर इसमें 600 ग्राम कल्चर मिलावें इस मिश्रण में बीज इस प्रकार मिलावें कि सभी बीजों पर इसकी परत एक सार चढ़ जाये। इसके बाद बीजों को छाया में सुखाकर शीघ्र बोने के काम में लेवें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : मूंग की बुआई 15 जुलाई से 30 जुलाई तक की जा सकती हैं जायद में मूंग की बुआई फरवरी मध्य से मार्च मध्य तक करना उपयुक्त रहता है। कतार से कतार की दूरी 30 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10 सेमी. तक रखनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : मूंग दलहनी फसल है इसके लिए 15–20 किग्रा. नाइट्रोजन, 30–40 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर बुआई से पूर्व नायले से कर देवें तभी 250 किग्रा. जिप्सम प्रति हेक्टेयर बुआई से पूर्व देने से उपज में वृद्धि होती हैं।

सिंचाई (Irrigation) : जायद मूंग में आवश्यकतानुसार 8–10 दिन के अंतराल पर सिंचाई करनी चाहिए। फली बनते समय व दाना बनते समय पानी की कमी नहीं रहनी चाहिए। खरीफ की फसल में सिंचाई वर्षा पर निर्भर करती है।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : खरपतवार निकालने के लिए 30 दिन कि फसल में निराई व गुड़ाई कर देनी चाहिए।

रासायनिक खतरवार नियत्रंण हेतु 1 किग्रा. फ्लूक्लोरेलिन को 100 लीटर पानी में घोल कर प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई से पहले छिड़काव कर भूमि मे अच्छी तरह मिला देना चाहिए।

पादप संरक्षरण (Plant protection) : मोयला, सफेद मक्खी, फली छदेक,पत्ती बीटल के लिए मोनोक्रोटोफोस 36 डब्ल्यू.ई.सी. या मिथाइलडेमाटोन 25 ई.सी. 1.25 लीटर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें। आवश्यक होने पर 15 दिन के अन्दर दोबारा छिड़काव कर देना चाहिए।

रोग–चित्ती जीवाणु रोग : इसके रोकथाम के लिए एग्रोमाइसीन 200 ग्राम या स्ट्रेप्टोसाइकिलीन 50 ग्राम को 500 लीटर पानी में घोल बनाकर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें।

पीत शिरा मोजेक : यह रोग एक मक्खी के कारण होता है। इसके लिए मिथाइलडेमाटोन 0.25 प्रतिशत व मेलाथीयान 0. 1 प्रतिशत का घोल बनाकर छिड़काव करना चाहिए।

तना झुलसा रोग : बुआई के 30–35 दिन के बाद 2 किग्रा. मेन्कोजेब प्रति हेक्टेयर कि दर से 500 लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करना चाहिए।

सरकोस्पोरा पत्ती धब्बा रोग : इसके नियत्रंण के लिए कार्बेंडाजिम 2 ग्राम या केप्टान 3 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित कर बोना चाहिए, तथा फसल में 1 ग्राम प्रति लीटर पानी में घोल बना कर छिड़काव करना चाहिए।

पीलिया : इसके नियंत्रण हेतु गंधक का तेजाब या 0.5 प्रतिशत फेरस सल्फेट का छिड़काव करना चाहिए।

छाछिया रोग/चूर्णी फफूंद : इस रोग में पत्तियों के ऊपर सफेद गोलाकार चूर्ण जैसे धब्बे होते हैं। पत्ती छोटी रह कर पीली पड़ जाती हैं। नियंत्रण हेतु प्रति हेक्टेयर 2.5 किग्रा. घुलन शील गंधक या कैराथेन एक लीटर का पहला छिड़काव रोग के लक्षण दिखाई देने पर एंव दूसरा छिड़काव 10–15 दिन के अन्तर पर करें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : मूंग की फलियाँ जब पीली, काली पड़ने लगे तथा सूख जायें तो कटाई कर लेनी चाहिए, अधिक सूखने पर फलियाँ चटकने का डर रहता है। ग्रीष्म ऋतु की फसल की फलियाँ 2–3 बार पूरी तोड़ ली जाती है उसके बाद फर्श पर सुखाकर मढ़ाई कर दाना अलग कर लेना चाहिए या थ्रेसर द्वारा या डंडे द्वारा भी अलग किया जा सकता है ।

उपज (Yield) : मूंग की उपज 8–10 क्विंटल प्रति हेक्टेयर होती हैं। अच्छी तरह सुखाकर (8–10 प्रतिशत नमी) एवं स्वच्छ भण्डार गृह में रखना चाहिए।

मोठ (Moth bean)

वानस्पतिक नाम–विग्ना एकोनिटीफोलिया (जैक) (*Vigna aconitifolia*) (Jacq)

कुल– फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : खरीफ की दलहनी फसल है मोठ का पौधा मृदा कटाव को रोकने वाला होता हैं। मोठ की हरी फलियों की पौष्टिक सब्जी बनती है। तथा हरे पौधे चारे के रूप में काम आते है। मोठ का सूखा चारा स्वाद की दृष्टि से पशुओं द्वारा बहुत पसन्द किया जाता है। इसमें 18 से 22.5 प्रतिशत प्रोटीन पाया जाता है। मोठ सेवनी बीकानेरी भुजिया अपने स्वाद के लिए देश विदेश में प्रसिद्ध है। मोठ की दाल व दाल से बनी 'बड़ी' भोजन के रूप में काम ली जाती है। मोठ का उत्पति स्थान भारत है। राजस्थान में चूरू, बीकानेर, नागौर, जोधपुर और बाड़मेर मोठ उगाने वाले मुख्य जिले हैं।

जलवायु (Climate) : मोठ की फसल के लिए गर्म और शुष्क मौसम की आवश्यकता होती है इसमें सूखा सहन करने की क्षमता होने के कारण यह देश में कम वर्षा वाले क्षेत्रों में उगाई जाती हैं। मोठ फसल की बढ़वार व विकास के लिए औसतन 25^{0}–30^{0} से.ग्रे. तापमान उपयुक्त समझा जाता हैं।

मृदा (Soil) : मोठ की खेती के लिए बलुई दोमट, दोमट भूमि सर्वोतम होती है। भूमि में जल निकास की उचित व्यवस्था होनी चाहिए ।

भूमि की तैयारी (Field preparation) : मोठ की खेती के लिए पहली जताई मिट्ठी पलटने वाले हल से या तवेदार हैरो चलाकर करनी चाहिए फिर एक क्रास जुताई हैरो एवं एक जुताई कल्टीवेटर से कर पाटा लगाकर भूमि समतल कर लेना चाहिए ।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : आर.एम. ओ–40, आर.एम.ओ–225 (मरू वरदान), काजरी मोठ–1, काजरी मोठ–3, आर.एम.ओ–257, आर.एम.ओ–423, आर.एम. ओ–435 (मरू बहार), विकास, ज्वाला, जडिया ।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : मोठ की शुद्ध फसल के लिए 10 किग्रा. बीज प्रति हैक्टेयर चाहिए। मिश्रित फसल कें 4–5 किग्रा. प्रति हेक्टेयर। बीज बुआई से पूर्व स्टेप्टोसाइक्लिन 100 पी.पी.एम. पानी के घोल में 1 घण्टे तक भिगोने के बाद केप्टाफ 75 एसडी 2 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर सें उपचारित करना चाहिए तथा बुआई पूर्व 0. 5 ग्राम थायोयूरिया प्रतिलीटर पानी घोल में या 5 ग्राम थायोयुरिया + 1 मिली. डी.एम.एस.ओ. प्रति 10 लीटर पानी में घोल बनाकर 4–5 घण्टे भिगोकर (सुखायें) इसके बाद राइजोबियम कल्चर से मूंग की तरह बीजोपचार कर बुआई करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : मोठ की बुआई मानसून की वर्षा शुरू होने से लेकर 15 अगस्त तक की जा सकती हैं। बुआई कतारो मे करनी चाहिए। कतार से कतार की दूरी 45 सेमी. एवं पौधे से पौधे की दूरी 15–20 सेमी. रखनी चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : मोठ दलहनी फसल है। 10 किग्रा नाइट्रोजन एवं 30 किग्रा फास्फॉरस बुआई के समय देना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : मोठ के लिये अधिक पानी की आवश्यकता नही है। वर्षा न होने पर 1–2 हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए।

अत्तरा कृषि (Inter cropping) : मोठ की फसल 30 दिन की होने तक निराई गुड़ाई कर देनी चाहिए। मोठ की शुद्ध फसल में खरपतवार नियत्रंण हेतु बुआई से पूर्व 1 किग्रा. फ्लूक्लोरेलिन 1000 लीटर पानी में मिलाकर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव कर मिट्टी में अच्छी प्रकार मिला देवें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कातरा कीट एंव चित्ती जीवाणु रोग, पीत शिरा मौजेक रोग, सूखा जड़ गलन रोग की रोकथाम के उपाय मूंग की फसल की तरह ही है।

कटाई व मढ़ाई (Harvesting and threshing) : मोठ की फसल अक्टूबर या नवम्बर के प्रथम सप्ताह में पक कर तैयार हो जाती है। फलियाँ फसल पकने पर भूरी तथा पौधा पीला पड़ जाये तो फसल काट लेनी चाहिए। अच्छी तरह सूखने के बाद थ्रेसर से दाने अलग कर लिये जाते हैं।

उपज (Yield) : मोठ की उन्नत खेती करने पर 6–8 क्विंटल दाने एंव 8–10 क्विंटल सूखा चारा प्रति हेक्टेयर उपज होती है।

अरहर – (Pigeon pea) (Red gram)
वानस्पतिक नाम–कैजानस केजान एल.
(Cajanus cajan L.)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : दलहनी फसलों में अरहर का चने के बाद दूसरा स्थान है। अरहर की दीर्घकालीन प्रजातियों से 200 किग्रा. तक वायुमण्डलीय नाईट्रोजन का स्थीरकरण कर मृदा उर्वरक एवं उत्पादकता में वृद्धि करती है। अरहर में 20–21 प्रतिशत तक प्रोटीन पाई जाती है। अरहर की उत्पति कुछ विद्वानों के अनुसार शरत तथा कुछ विद्वानों के अनुसार अफ्रीका में नील नदी का उपरी शग है। राजस्थान में इसकी खेती मुख्यतः बांसवाड़ा, झालावाड़, धौलपुर, उदयपुर, चितौड़गढ़ व कोटा जिलों में होती है।

जलवायु (Climate) : आर्द्र एवं शुष्क दोनों प्रकार की गर्म जलवायु वाले क्षेत्रों में अरहर की खेती की जा सकती है। अरहर की खेती के लिये 75 से 100सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्र श्रेष्ठ हैं। पौधों पर फूल आते समय व फलियाँ बनते समय तेज धूप की आवश्यकता होती है। फसल पकते समय पाला पड़ना व तेज धूप वर्षा हानिकारक हैं।

मृदा व भूमि की तैयारी (Soil and field preparation) : अरहर के लिये जल निकास युक्त दोमट या चिकनी दोमट एवं कपास की काली मिट्टी उपयुक्त है। मृदा का पी एच मान 6.5 से 7.5 तक होना चाहिए। एक गहरी जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से करते हैं, तत्पश्चात दो से तीन जुताई हैरो या

कल्टीवेटर या देशी हल से करते हैं।

उन्नत किस्में (Improved Varieties) : शीघ्र पकने वाली किस्में पूसा 120, पुसा 855, पुसा 33, पुसा अगेती, प्रभात, आजाद, दुर्गा (आई.सी.पी.एल.–84031), प्रगति(आई.पी.एफ. –87), जाग्रती (आई.पी.एफ.–151) ।

मध्यम समय में पकने वाली किस्में : टाईप–21, जवाहर अरहर –4, आशा (आई.सी.पी.एल.– 87119) ।

देर से पकने वाली किस्में : बहार, पुसा–9 ।

हाइब्रिड किस्में : पी.पी.एच– 4, आई,सी.पी.एच.–8 ।

बीज एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : अरहर में बीज किस्म एवं बुआई कें समय पर निर्भर करती है। अरहर की शुद्ध फसल के लिये 15 किग्रा. व मिश्रित के लिये 6–8 किग्रा. प्रति हेक्टेयर बीज की आवश्यकता होती है। कवक जनित रोगों के लिए ट्राइकोडर्मा 4 ग्राम प्रति किलो बीज की दर से उपचारित करते हैं। तत्पश्चात 4–5 मिली. क्लोरपायरीफॉस से प्रति किलो बीज को उपचारित करते है।

बीजो को राइजोबियम कल्चर से उपचारित करना : मूंग की फसल की तरह करें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कीट नियंत्रण – फल मक्खी, फली छेदक, पत्ती लपेटक हेतु क्युनालफॉस या इन्डोसल्फाकन 35 इसी 20 मिली., मोनोक्रोट्रोफॉस 30 WSC 11 मिली,. प्रति 10 लीटर पानी में घोलकर 1000 लीटर घोल प्रति हेक्टेयर का छिड़काव करना चाहिए।

रोग नियंत्रण : उखटा रोग व झुलसा कवक जनित रोग है, इसमें पौधे की जड़े काली पड जाती हैं। इसके लिये रोग प्रतिरोधी किस्म आशा , वी.एस.एम.आर. 175, वी.एस.एम.आर. 736 का चयन करना चाहिए। मौजेक में वाहक कीट नियंत्रण के लिये मेटासिस्टोक्स का छिड़काव करें।

कटाई मढ़ाई (Harvesting and threshing) : शीघ्र पकने वाली किस्मों की नवम्बर–दिसम्बर व देर से पकने वाली किस्मों की मार्च अप्रैल में कटाई की जाती है। कटाई हंसिये या गंडासे से 10 सेमी. उँचाई से की जाती हैं। फसल को एक सप्ताह सुखाकर पुलमैन थ्रैसर द्वारा या डण्डे से पिटाई करके दानों को भूसे से अलग कर लेते हैं।

उपज (Yield) : उन्नत विधि से खेती करने पर 15–20 क्विंटल दाना व 50–60क्विंटल लकड़ी प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती हैं।

चंवला (लोबिया) (Cow pea)
वानस्पतिक नाम – विग्ना अंगुईकुलटा एल.
(Vigna unguiculata L.)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : राजस्थान में चंवला की खेती दाने, हरी सब्जी खाद व हरे चारे के लिये की जाती है। इसके दानों में लगभग 23 प्रतिशत प्रोटीन होती है। इसकी उत्पति स्थान मध्य अफ्रीका मानते हैं। राजस्थान में चंवला की खेती अलवर, भरतपुर, जयपुर, श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़, झालावाड़, झुंझुनू, आदि जिलों में होती है।

जलवायु (Climate) : चंवला ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु में उगाई जाने वाली फसल हैं। चंवला में सूखा व गर्मी सहन करने की क्षमता अधिक होती हैं। 70–100 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले स्थान पर आसानी से उगाया जा सकता है। इसके लिये 31° से 37° सेल्सियस तापमान उपयुक्त रहता है।

मृदा एंव भूमि की तैयारी (Soil and field preparation) : इसके लिये जल निकास युक्त दोमट एंव हल्की दोमट उपयुक्त रहती है। वर्षा होते ही 1–2 जुताई कर पाटा चलाकर खेत तैयार कर लेते हैं।

उन्नत किस्में (Improved varieties) :– आर.एस.–9, सी.152, एफ.एस 68, आ.सी.19, जे.सी.5, एफ.टी.सी.27, आर.सी. 101, जेसी.10 ।

बीज दर एंव बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : चंवला की शुद्ध फसल 15–20 किग्रा. मिश्रित के लिये 8–10 किग्रा. चारे के लिये (ग्रीष्मकालीन) 25–30 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त है। बीज का बुआई से पूर्व 3 ग्राम थाइरम या कैप्टान प्रति किलो बीज की दर से उपचारित करना

चाहिए तत्पश्चात राइजोबियम शाकाणु (कल्चर) से बीज उपचारित कर बोना चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : चंवला की बुआई मानसुन की वर्षा शुरू होने से लेकर 30 जुलाई तक की जा सकती है। पंक्ति से पंक्ति की दुरी 30 सेमी. तथा पौधे से पौधे कि दूरी 10 सेमी. रखना चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : इसके लिये 30–40 किग्रा. फास्फोरस, 15–20 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के समय नायले से देना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : वर्षा न होने पर 15–20 दिन के अन्तर पर 2 सिंचाई कर पुष्पावस्था व फलियाँ बनते समय पानी की कमी नही हो। ग्रीष्मकालीन फसल में आवश्यकतानुसार 8–10 दिन के अन्तर पर सिंचाई की जानी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : दाने वाली फसलों की निराई–गुड़ाई 25–30 दिन बाद कर देनी चाहिए। हरे चारे वाली फसल में निराई–गुड़ाई की कोई विशेष आवश्यकता नही होती है। खरपतवारों का रासायनिक नियंत्रण मूंग व मोठ की तरह करना चाहिए ।

पादप सरंक्षण (Plant protection) : चंवला की फसल मे मोयला का प्रकोप होने पर मैलाथियान (50 ईसी) 1 लीटर या फास्कोमिडोन 250 मिली. या 1 लीटर डाइमिथोएट 100 लीटर पानी मे घोलकर छिड़काव करें।

शुष्क मूल विगलन रोग : इस रोग मे पत्तिया पीली पड़ जाती है। रोकथाम के लिए क्विंटोजीन 8 कि.ग्रा प्रति हेक्टेयर का प्रयोग करें।

छछिया रोग/चुर्णी फूफंद : इसमें पत्तियाँ पर सफेद चूर्ण के धब्बें दिखाई देते हैं। रोग के निवारण हेतु 2.5 कि.ग्रा घुलनशील गंधक या केरेथान 1 लीटर घोल का छिड़काव रोग के लक्षण दिखाई देने पर कर देना चाहिए।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : चंवला की फसल किस्मानुसार 70–100 दिनो मे पककर तैयार होती हैं। फलियों कों झड़कर गिरने से होने वाली हानि को रोकने के लिए फलियों के पूरी तरह पकने पर झड़ने से पूर्व अर्थात 70–80 प्रतिशत फलियाँ पकने पर हंसियें या दँताली से कटाई कर लेनी चाहिए और 8–10 दिन खलियान में सुखाकर डण्डे से पीटकर या थ्रसेर से दानो को अलग कर लेना चाहिए।

उपज (Yield) : वर्षा कालीन फसल से 5–8 क्विंटल, खरीफ फसल से 8–10 क्विंटल प्रति हेक्टेयर दाना तथा 100–150 क्विंटल हरा चारा प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त होती है।

चना – (Gram or chick pea)

वानस्पतिक नाम –साइसर ऐरेटिनम एल. (*Cicer arietinum* L.)

कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : चना रबी ऋतु मे उगायी जाने वाली भारतीय महत्वपूर्ण दलहन फसल है। विश्व के कुल उत्पादन का 70 प्रतिशत भारत में होता हैं। चने में 21 प्रतिशत प्रोटीन होता है। चने का उपयोग इसके दाने, दाने से बनी दाल के रूप में खाने के लिए किया जाता है। चने के दानों को पीस कर बेसन बनाया जाता है जिससे अनेक प्रकार के व्यंजन व मिठाइयाँ बनाई जाती हैं। डीकेन्डोल के अनुसार चने का जन्म स्थान भारतवर्ष है, राजस्थान में चने की खेती जयपुर, सीकर, अजमेर, भरतपुर, अलवर, झंझुनू, श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़, बीकानेर सहित राज्य के सभी जिलों में की जाती है ।

जलवायु (Climate) : चना ठण्डी शुष्क जलवायु की फसल है। चना की खेती 65–95 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रो में की जाती है फसल में फूल आते समय वर्षा से भारी नुकसान होता है। सर्दी दीर्घ अवधि तक रहे उचित है, अधिक ठण्ड बढ़वार व पकते समय हानि कारक रहती है। फसल पकते समय उच्चताप की आवश्यकता है ।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : चने की खेती के लिए हल्की दोमट या दोमट मिट्टी अच्छी होती है। भूमि में जल निकास कि उचित व्यवस्था होनी चाहिए। भूमि अधिक क्षारीय नही (मृदा पी.एच.मान 7–8.5 तक) होनी चाहिए। फसल को दीमक व कटवर्म के प्रकोप से बचाने के लिए अन्तिम जुताई के समय क्यूनॉलफॉस (1.5 प्रतिशत) मिथाइल पैराथियान (2 प्रतिशत) 25 किग्रा. मात्रा को प्रति हेक्टेयर की दर से मिट्टी में अच्छी तरह मिला देना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : आर.एस. 10, आर.एस. 11, बी.जी. 209 (पूसा 209), जी.एन.जी. 663 (बरदान), जी.एन.जी. 469 (सम्राट), बी.जी.362, जी.एन.जी. 1292, प्रताप चना–1 इत्यादि।

बीजदर एंव बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : चने की देशी किस्में की बुआई हेतु 60–80 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती हैं।

बीजोपचार :

1. जिन क्षेत्रों में दीमक व भूमिगत कीटों का प्रकोप होता है वहाँ बीजों को क्लोरपायरीफॉस 20 ई.सी 800 मिली. का पानी में घोल बानकर 100 किग्रा. बीज की दर से बीज उपचार करना चाहिए।
2. जड़गलन व उखटा रोग रोकथाम हेतु बीजों को 6–10 ग्राम ट्राडकोडर्मा या कार्बेण्डाजिम 2 ग्राम या कार्बेण्डाजिम 1.5 ग्राम प्रति किग्रा. बीज दर से बीज को उपचारित करना चाहिए।
3. बीजो का शाकाणु संवर्ध या पी.एस.बी. कल्चर से उपचारित करने से उपज में वृद्धि होती है एवं जड़ों में वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का संचयन होने से मृदा की उर्वरता बढ़ती है। इसके लिए 250 ग्राम गुड़ को 1 लीटर पानी में गर्म कर घोल ठण्डा होने पर उसमे 3 पैकट (750 ग्राम) राइजोबियम कल्चर व फॉस्फोरस घुलनशील जीवाणु को अच्छी प्रकार मिलाकर उसमे बीज उपचारित करना चाहिए उपचारित बीज को छाया में सुखाकर शीघ्र बुआई कर देनी चाहिए।

बुआई का समय एंव बुआई की विधि (Time of sowing and method) : असिंचित क्षेत्र में चने की बुआई अक्टूबर के प्रथम सप्ताह में कर देनी चाहिए। सिंचित क्षेत्र में चने की बुआई 30 अक्टूबर तक अवश्य कर देनी चाहिए। पंक्ति से पंक्ति की दूरी असिंचित 30 सेंमी. व सिंचित में 45 सेंमी. रखनी चाहिए, तथा बीज की गहराई 5–7 सेंमी. रखकर बुआई कर देनी चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : अच्छी उपज के लिए 2.5–3 टन गोबर की खाद या कम्पोस्ट भूमि तैयारी के समय बुआई से 15–20 दिन पूर्व अन्तिम जुताई पर भली प्रकार से मिला देना चाहिए। दलहनी फसल होने कारण नाइट्रोजन की कम आवश्यकता होती है। चने के पौधे की जड़ों में पाई जाने वाली ग्रन्थियों में उपस्थित जीवाणु वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का जड़ों में स्थिरीकरण कर नाइट्रोजन की काफी मात्रा में पूर्ति कर लेते हैं, लेकिन प्रारम्भिक अवस्था में जड़ विकास के लिए 20 किग्रा. नाइट्रोजन, 40 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के समय खेत में ऊर कर देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : चने की अधिकतर खेती बारानी क्षेत्रों में संचित नमी में की जाती है। यदि सिंचाई की सुविधा हो तो नमी की कमी होने पर या वर्षा के अभाव में एक दो सिंचाई की जा सकती है पहली सिचाई 40–50 दिन बाद तथा दूसरी सिंचाई फलियाँ आने पर करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : चने में निराई गुड़ाई करने से भूमि में वायु संचार बढता हैं, प्रथम निराई गुड़ाई बुआई के 25–30 दिन बाद करनी चाहिए आवश्यकता होने पर दूसरी निराई–गुड़ाई पहली निराई गुड़ाई के 20–25 दिन बाद करनी चाहिए।रासायनिक खरपतवार नियंत्रण हेतु बुआई से पूर्व आधा किग्रा. फ्लूक्लोरेलिन 750 लीटर पानी में घोलकर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करके भूमि में अच्छी तरह मिलाकर चने की बुआई करें।

पौधों की चुटाई : चने के पौधे जब 20–25 सेंमी. ऊँचे हो जाये हो तो उनकी शीर्ष शाखाएँ तोड़ने से शाखाएँ अधिक निकलती है, तथा फूल व फल अधिक लगते हैं। इससे पैदावार में वृद्धि होती है।

पादप संरक्षण (Plant protection) :

कीट एंव रोग नियंत्रण :

दीमक, कटवर्म एंव वायर वर्म : इनके नियंत्रण हेतु मिथाइल पेराथियान 2 प्रतिशत या क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण की 25 किग्रा. मात्रा को प्रति हेक्टेयर की दर से भुरकाव सांयकाल करना चाहिए।

फली छेदक : इसके नियंत्रण हेतु फूल आने से पूर्व तथा फली लगने के बाद एण्डोसल्फान 4 प्रतिशत या क्युनालफॉस 1.5 प्रतिशत या मिथाइल पैराथियॉन 2 प्रतिशत चूर्ण की 25 किग्रा. मात्रा की प्रति हेक्टेयर की दर से बुरकनी चाहिए।

झुलसा रोग (ब्लाईट) : इसके लिए मैन्कोजेब फंफूदनाशी की 1 किग्रा. या घुलनशील गंधक 1 किग्रा या कॉपरआक्सी क्लोराइड की 1.30 किग्रा. मात्रा को 500 लीटर पानी में बनाकर छिडकाव करना चाहिये। 10 दिनों के अन्तराल पर 2–3 छिड़काव करने चाहिए।

उखटा रोग (विल्ट) : रोगरोधी किस्मे जैसे आर.एस.जी. 888ए, सी 235, बीजी 256 आदि की बुआई करनी चाहिए।

पाले से बचाव : इससे बचाने के लिए गंधक के तेजाब की 0.1 प्रतिशत मात्रा यानी एक लीटर गंधक के तेजाब को 1000 लीटर पानी में घोलकर छिडकाव करना चाहिए। खेत के चारो ओर धूआँ कर देना लाभदायक रहता है।

कटाई व मढ़ाई (Harvesting and threshing) : जब फसल पक कर तैयार हो जाती है तो हँसिये से फसल की कटाई कर ली जाती है। फसल को एक सप्ताह तक सुखाकर थ्रैसर या ट्रैक्टर से मढ़ाई कर दाने अलग कर लेते हैं। दानों को तेज हवा या बिनोवर चलाकर साफ कर लेते हैं।

उपज (Yield) : असिंचित क्षेत्रों में 8–12 क्विंटल व सिंचित क्षेत्रो में 15–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर होती है।

6.3 तिलहनी फसलें (Oil Seed Crops)

मूंगफली – (Groundnut)

वानस्पतिक नाम –अरेकिस हाइपोजिया एल. *(Arachis hypogea L.)*

कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : मूंगफली तिलहनी फसलों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। मूंगफली का उपयोग कई प्रकार से किया जाता है जैसे तेल, बीज, घरेलू उपयोग एवं निर्यात। यह खाद्य तेल का बहुत ही अच्छा स्रोत हैं। दानों में 48–55 प्रतिशत तेल, 27 प्रतिशत प्रोटीन व 10–21 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट पायी जाती है। इसके तेल का उपयोग सौन्दर्य प्रसाधनों, साबुन क्रीम आदि में किया जाता है। मूंगफली का उत्पत्ति स्थान अधिकांश विद्वानों के अनुसार (दक्षिणी अमेरिका है कुछ विद्वान ब्राजील को मानते हैं। राजस्थान में मूंगफली की खेती चित्तौड़गढ़, सवाई माधोपुर, जयुपर, टोंक, बीकानेर, सीकर, झुंझुनू आदि जिलों में की जाती हैं। राजस्थान में 8 लाख टन उत्पादन, क्षेत्रफल 4.14 लाख हेक्टेयर।

जलवायु (Climate) : मूंगफली उष्णकटिबंधीय जलवायु का पौधा होने के कारण इसे लम्बे एवं गर्म मौसम की आवश्यकता होती है। उत्तरी भारत व राजस्थान में मूंगफली की खेती खरीफ ऋतु में की जाती है। मूंगफली को 50–100 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में उगाया जा सकता है। इसकी वृद्धि के समय 27^{0}–30^{0} सेल्सियस तथा प्रजनन के लिए 24^{0}–27^{0} सेल्सियस तापमान उपयुक्त होता है। राजस्थान में कम वर्षा वाले क्षेत्रों में सिंचित फसल के रूप उगाई जाती है। फूल आने के बाद पौधों को पर्याप्त नमी व प्रकाश मिलते रहना चाहिए।

मृदा (Soil) : मूंगफली के लिए अच्छे जल निकास युक्त बलुई, बलुई दोमट मृदा श्रेष्ठ रहती है। मृदा का पी.एच. मान 6–8.5 होना चाहिए ।

खेत की तैयारी (Field preparation) : मूंगफली जमीन के अन्दर लगती है। इसलिए बोने से पहले 2–3 बार अच्छी गहरी जुताई करनी चाहिए और पाटा चलाकर मिट्टी भुरभुरी कर लेनी चाहिए भूमिगत कीटो को नष्ट करने के लिए अन्तिम जुताई के समय 25 किग्रा. मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत या क्युनालफॉस 1.5 प्रतिशत प्रति हेक्टेयर प्रयोग करना चाहिए ।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : मूंगफली के आकार प्रकार के अनुसार किस्मों को तीन वर्गो मे बाँट सकते हैं–

I. **झुमका या गुच्छेदार :** इस वर्ग के पौधे भूमि से ऊपर सीधे गुच्छो मे बढ़ते है। फलियाँ मुख्य जड़ के पास ही लगती है। दाना गुलाबी या लाल रंग का होता है तथा जल्दी पकने वाली होती है। इनकी उपज फैलने वाली किस्मों से कम होती है। ये भारी मृदाओ के लिए उपयुक्त होती है

II. **विस्तार :** इन पौधो की शाखायें जमीन के समानान्तार फैलती हैं। मूंगफली दूर–दूर लगती है दाना मोटा तथा भूरे रंग का होता है पकने में समय अधिक लगता है। ये किस्में रेतीली व दोमट मृदाओ के लिए उपयुक्त होती हैं।

III. **अर्द्ध विस्तारी :** इन पौधो की शाखायें कम फैलने वाली होती हैं यह गुच्छेदार व विस्तारी के बीच की किस्में हैं। यह मध्यम उपज देने वाली होती हैं।

राजस्थान के लिए उपयुक्त किस्मे निम्न प्रकार है –ए.के. 12–24, ए.एच–114, जी.जी.2, जी.जी.20, गिरनार –2 (पी.बी. एस 24030), एच.एन.जी.10, एच.एन.जी.123, जे.एल.24, एम.13, प्रताप मूंगफली आर.जी–141, आर.जी.382 (दुर्गा), आर.जी.425 (राज.दुर्गा), आर.जी. 510, आर.एस.बी 87, टी.ए.जी.–24, टी.जी. –37 ए , टी.बी.जी.39, टी.जी.39 ।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : मूंगफली का बीज 80 से 100 किग्रा प्रति हेक्टेयर की दर पर्याप्त होता है। बीज का दाना (गुली) 10–12 दिन पूर्व निकालना चाहिए। बीजोपचार के लिए प्रति किलो बीज 3 ग्रा. क्लोरोथेलीनील या 6–10 ग्राम ट्राइकोडर्मा से इस के बाद प्रति किलो बीज 25 मिली क्लोरोपायरीफॉस 20 ईसी से तथा अंत में प्रति हेक्टेयर बीजों के लिए राइजोबियम व पीएसबी कल्चर प्रत्येक के 3 पैकेट से उपचारित करे।

बुआई का समय एवं बुआई की विधि (Time of sowing and sowing method) : मूंगफली की अगेती बुआई 15–20 जून, समय पर बीजाई 20 जून से 15 जुलाई पिछेती बुआई जुलाई 31 तक। मूंगफली की बुआई कतारों में फैलने वाली किस्म की पंक्ति से पंक्ति की दूरी 40–45 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 15 सेमी. तथा गुच्छेदार किस्म की पंक्ति से पंक्ति की दूरी 30 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10 सेमी. होनी चाहिए। बीज की गहराई 5–7 सेमी. रखनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) :

1. बुआई से 4 सप्ताह पूर्व प्रति हेक्टेयर 10–15टन गोबर की सड़ी हुई खाद या कम्पोस्ट खाद का प्रयोग करे।
2. बुआई से पूर्व प्रति हेक्टेयर 30–50 किग्रा यूरिया या 75 किग्रा अमोनियम सल्फेट 310–375 किग्रा एसएसपी, 40–80 किग्रा एमओपी तथा 25 किग्रा जिंक सल्फेट का उपयोग करें। सिंचाई के बाद आवश्यकतानुसार यूरिया का उपयोग करें। अंतिम जुताई से पूर्व प्रति हेक्टेयर 250 किग्रा जिप्सम की भी सिफारिश की जाती है क्योंकि कैल्शियम की कमी से मूंगफली के दानों का भराव ठीक से नहीं होता है मृदा परीक्षण के आधार पर बोरोन उर्वरक का भी प्रयोग करें क्योंकि इसकी कमी से मूंगफली के दानों के भीतर खाली स्थान रह जाता हैं। जिसे होलोहर्ट के नाम से जाना जाता है ।

सिंचाई (Irrigation) : मूंगफली ग्रीष्मकालीन फसल होने के कारण आवश्यकतानुसार सिंचाई करें। फूल आने के समय नमी आवश्यक है। वर्षा न होने (सूखा पड़ने) पर 1–2 सिंचाई करनी चाहिए। प्रथम सिंचाई बुआई के 3–4 सप्ताह पर देवें एवं अंतिम सिंचाई अक्टूबर के अंतिम पखवाड़े तक फसलावस्था अनुसार पूरी कर लें।

अंतरा कृषि (Inter cropping) : यदि खेत में खरपतवार हो तो 1–2 निराई गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देने चाहिए। अन्तिम निराई गुड़ाई 30–40 दिन तक कर देनी चाहिए उसके बाद नहीं करनी चाहिए। फसल में सुइयाँ (अधिकीलन की क्रिया) बनना प्रारम्भ होने के बाद निराई–गुड़ाई नहीं करनी चाहिए। घास कुल के खरपतवारों के प्रभावी नियंत्रण हेतु मूंगफली की खड़ी फसल में बुआई के 20–25 दिन बाद क्यूनॉलफास 5 प्रतिशत ईसी की 1000 मिली. दवा प्रति हेक्टेयर की दर से 500 ली. पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें। रेतीली भूमि के अलावा अन्य भूमियों में 30–40 दिन में जड़ों पर मिट्टी चढ़ा देनी चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कीट–दीमक, सफेद लट, लाल भड़ूली, सुरंग बनाने वाले कीट, माइट आदि मूंगफली की फसल को हानि पहुँचाते है। इनके नियंत्रण के लिए प्रति किलो बीज में 4 मिली क्लोरोपाइरीफॉस 20 ईसी दवा मिला कर उपचार करें एवं अन्य कीटों के लिए 300 मिली. मिथाइल डेमेटोन 25 ईसी या 600 मिली. फॉस्फोमिडोन 40 ईसी को 250 लीटर पानी में मिलाकर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें।

रोग : उखटा, रोजेट रोग, चित्तीदार रोग, टिक्का रोग, किट्ट रोग, जड़ गलन, अंगमारी, कालर गलन आदि से हानि होती हैं। नियंत्रण के लिए 4 किग्रा. ट्राइकोडर्मा हरजेनियम प्रति हेक्टेयर की दर से 50–60 किलो गोबर की खाद में मिलाकर 15 दिन छाया में रखकर बुआई के समय भूमि में मिला दें। जड़ गलन के लिए 100 किग्रा. म्यूरेट आफ पोटाश एवं 60 किग्रा. जिंक सल्फेट को बुआई से पूर्व भूमि में मिलाना भी लाभप्रद रहता है। टिक्का रोग में पौधों पर मटियाले रंग या भूरे गहरे रंग के दाग पड़ जाते हैं। इसके नियत्रंण के लिए आधा ग्राम कार्बेण्डाजिम प्रति लीटर पानी के घोल का या 1.5 किग्रा मैन्कोजेब का प्रति हेक्टेयर छिड़काव करें। इसके बाद 10–15 दिन के अन्तराल पर दो बार छिड़काव और करें।

छछिया रोग के लिए 3 वर्ष में एक बार 300 किग्रा. गंधक या हरा कसीस प्रति हेक्टेयर बुआई पूर्व प्रयोग करे या फसल में फूल आने से पहले गंधक अम्ल का 0.1 प्रतिशत घोल का छिड़काव दो बार करें।

कटाई (Harvesting) : मूंगफली के पकने का समय अक्टूबर 31 से 15 नवम्बर तक है जब 75 प्रतिशत फलियाँ पक जावे एवं पतियाँ पीली पड़ जाये तो खुदाई कर लेनी चाहिए। खुदाई से पहले कई स्थानों से पौधे उखाड़ कर जाँच कर लें। खुदाई से पूर्व हल्की सिंचाई कर दे जिससे फलियाँ टूट कर जमीन में नहीं रहती है खुदाई के बाद 7–10 दिन तक सुखाकर फली व पत्तियाँ अलग कर लेते हैं।

उपज (Yield) : गुच्छेदार किस्मों से 12–15 क्विंटल फैलने वाली किस्मों से 18–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त होती हैं। सिंचित क्षेत्रों में 20–40 क्विंटल प्रति हेक्टेयर उपज मिलती है। फलियों के अलावा 30–35 क्विंटल प्रति हेक्टेयर सूखा चारा भी प्राप्त होता है ।

तिल – (Sesame)

वानस्पतिक नाम –सिसेमम इन्डिकम एल.

(Sesamum indicum L.)

कुल – पेडिलिएसी (Pedaliaceae)

महत्व (Importance) : तिल एक महत्वपूर्ण फसल है, इसे तिलहन फसलों की रानी कहा जाता है। तिल के बीजों का प्रमुख उपयोग तेल तैयार करने तथा कुल उत्पादन का 20 प्रतिशत भाग बीज के रूप में खाने के काम आता है। तिल के बीजों का प्रयोग शक्कर के साथ मिलाकर तिलकुटा, रेवड़ी, गजक, आदि बनाने मे किया जाता है। तिल के बीजों में 44–54

प्रतिशत तक तेल होता है। तेल में सीसेमोल नामक पदार्थ की उपस्थिति के कारण इसे लम्बे समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है। तिल की खल पशुओं के लिए पौष्टिक आहार है, इसे खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है। उत्पति के बारे में अधिकांश विद्वान अफ्रीका तथा कुछ भारतवर्ष मानते है । राजस्थान में तिल की खेती चित्तौड़गढ, सवाई माधोपुर, उदयपुर, जोधपुर, पाली, नागौर, जालौर, टोंक, भीलवाड़ा, अजमेर जिले प्रमुख हैं।

जलवायु (Climate) : तिल उष्ण कटिबंधीय जलवायु की फसल है तिल के लिए उपयुक्त तापमान 25°–27° सेल्सियस होता है यह 50–60 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में खरीफ ऋतु में बोई जाती है। अधिक वर्षा एवं 20° सेल्सियस से नीचे तापमान उपयुक्त नहीं है लेकिन अंकुरण करने के लिए पर्याप्त नमी की आवश्यकता होती है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : तिल की अच्छी फसल हेतु रेतीली दोमट मृदा जिनका पी.एच मान 6–8 के मध्य हो उपयुक्त होती है जिसमें जल निकास की समुचित व्यवस्था हों। लवणीय व क्षारीय मृदा इसके लिए अच्छी नही हैं। यदि समय पर वर्षा न हो तो खेत मे सिंचाई करना आवश्यक है अन्यथा मानसून की पहली वर्षा आते ही एक दो जुताई देशी हल या हैरो से अच्छी प्रकार करके भूमि को पाटा लगा कर समतल व भुरभुरी कर लेते हैं।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : टी.सी.25, प्रताप (सी–50), आर.टी.–46, आर.टी.–125, आर.टी.–127, प्रगति (एन.टी 175), आर.टी.–346।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : तिल की शाखायुक्त किस्मों का बीज 2–2.5 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर तथा शाखा रहित 4–5 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है बीज जनित रोगों से बचाने के लिए बुआई से पूर्व बीज को 2 ग्राम कार्बोण्डाजिम प्रति मिली. बीज की दर से उपचारित करें। जीवाणु अंग मारी से बचाने हेतु स्ट्रेप्टोसाइकिलीन/1 ग्राम 10 लीटर पानी में घोलकर, घोल में बीजों को 15–20 मिनट तक भिगोये व छाया में सुखाकर बुआई करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : तिल की बुआई 15 जून से 15 जुलाई तक कर देनी चाहिए। देर से बुआई करने पर उपज कम होती है। तिल की बुआई हल के पीछे कतारों में 30 सेमी. की दूरी पर 3–4 सेमी. गहराई पर बुआई करनी चाहिए। कतारों में पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. रखते है। तिल की बुआई छिटकवाँ विधि से भी की जाती है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : तिल की अच्छी उपज के लिए 8–10 टन गोबर की खाद या कम्पोस्ट खाद बुआई से 1 माह पूर्व भूमि में मिला दें तथा निश्चित वर्षा वाले क्षेत्रों में 40 किग्रा. नाइट्रोजन 30 किग्रा. फॉस्फोरस पर्याप्त रहता है।

सिंचाई (Irrigation) : तिल में यदि समय पर वर्षा न हो तो फूल आते समय एक हल्की सिंचाई करना लाभदायक रहता है।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : (निराई–गुड़ाई) फसल की बुआई के लगभग 25–30 दिन बाद खरपतवार अवश्य निकाल देना चाहिए। रासायनिक नियंत्रण के लिए प्रति हेक्टेयर 0.75 किग्रा. फ्लूक्लोरोलिन 1000 लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करे।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कीट–तिल में पत्ती छेदक,लट, लीफ रोलर, कैप्सूल बोरर व जेसिड कीट का प्रकोप होता है। जिनके नियंत्रण हेतु 25 किग्रा. मिथाईल पैराथियान 2 प्रतिशत चूर्ण प्रति हेक्टेयर का बुरकाव करें या 1.5–2 मिली. मोनोक्रोटोफास 36–एस.एल. को प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव 15 दिन के अन्तर पर करें ।

रोग : मुख्य रोगों में झुलसा एवं अंगमारी, छाछिया, जड़ व तना गलन एवं पत्तियों के धब्बा रोग लगते हैं। झुलसा एवं अंगमारी के नियत्रंण हेतु मैन्कोजेब 2 ग्राम का प्रति लीटर पानी की दर से छिड़काव करें। छाछिया रोग नियंत्रण हेतु प्रति हेक्टेयर 15–20 किग्रा. गंधक चूर्ण का बुरकाव करें ।

कटाई (Harvesting) : फसल पक कर पीली पड़ जाये तो हँसिये से काटकर छोटे छोटे बण्डल बाँध ले व सूखने पर उल्टाकर बीज निकालें।

उपज (Yield) : उन्नत कृषि विधियाँ अपनाकर प्रति हेक्टेयर 6–8 क्विंटल तक पैदावार ली जा सकती है ।

सोयाबीन – (Soybean)

वानस्पतिक नाम –ग्लाइसिन मैक्स एल. (Glycine max L.)

कुल– फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : सोयाबीन एक बहुगुण सम्पन्न दलहनी एवं तिलहनी फसल है। इसके बीज में 40–43.5 प्रतिशत प्रोटीन, 19–20 प्रतिशत वसा पाया जाता है। इसका दूध रासायनिक विश्लेषण की दृष्टि से गाय के समान होता है। एन्टी बायोटिक पैदा करने वाले जीवाणुओं के लिए सोयाबीन एक मनपसन्द भोजन सिद्ध हुआ है। वनस्पति घी बनाने के लिए इसका तेल उपयोगी है। इसकी उत्पति स्थान के विषय में निश्चित नहीं है परन्तु उत्तरी चीन का पूर्वी भाग माना जाता है। राजस्थान के कोटा, बूंदी, झालावाड़, चितौड़गढ, बांसवाड़ा, बारा जिलों में मुख्यतः की जाती है।

जलवायु (Climate) : सोयाबीन गर्म व तर जलवायु की फसल है। 65–125 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में इसकी उत्तम खेती होती हैं।सोयाबीन को अंकुरण के समय 15°–32° सेल्सियस तापमान की आवश्यकता होती है वृद्धि के लिए 25°–30° सेल्सियस तापमान उपयुक्त रहता है। 40° सेल्सियस से अधिक तापमान का फसल वृद्धि व बीज गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सोयाबीन अल्प प्रकाशक्षेपी पौधा है। अधिकांश किस्मों मे दिन की अवधि 14 घण्टे से कम होने पर अच्छे फूल आते है। फूल आने के समय भूमि मे पर्याप्त नमी होनी चाहिए अन्यथा फूल फलियाँ झड़ जाती हैं।

मृदा एंव खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : सोयाबीन के लिए जल निकास युक्त दोमट व काली कपास वाली मृदा (Black Cotton Soil) उपयुक्त पायी गई है। इसके लिए उदासीन मृदा जिसका पी.एच.मान 6.5–8.5 हो उपयुक्त होती है यह फसल लवणीय तथा क्षारीयता के प्रति मध्यम रूप से सहनशील है, लेकिन अम्लीय मृदा हानिकारक है। खेत की तैयारी के लिए एक गहरी जुताई ग्रीष्मकाल में मिट्टी पलटने वाले हल से तथा मानसून की पहली वर्षा होने पर 2–3 जुताई हैरो या कल्टीवेटर से करके पाटा लगाकर अच्छी तरह तैयार कर लेना चाहिए। आखिरी जुताई से पूर्व फोरेट 10 जी दाने दार चूर्ण 10 किग्रा. प्रति हेक्टेयर या 25 किग्रा. मिथाईल पैराथियोन 2 प्रतिशत चूर्ण प्रति हेक्टेयर की दर से मिला देना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : जे.एस.93–05, जे.एस.97–52, जे.एस. 335, एम.ए.यू.एस. 81, एन.आर.सी.12 (अहिल्या–3), एन.आर.सी.37(अहिल्या– 4),पी.के.472, पी.के. 1024, प्रताप सोया–1, प्रताप सोया–2, प्रताप राज. सोया–3, आर.के.एस–45 (प्रताप सोया–45), प्रतिष्ठा, गौरव, मोनेरा ।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : बीज की मात्रा किस्मानुसार रहती है, छोटे दाने वाली किस्म का 75–90 किग्रा. प्रति हेक्टेयर, मध्यम दाने वाली किस्में 40–45 किग्रा. प्रति हेक्टेयर, बड़े दाने वाली 75–90 किग्रा. प्रति हेक्टेयर से बीज पर्याप्त रहता हैं।

सोयाबीन के अंकुरण को बीज तथा मृदा जनित रोग से बचाने के लिए बीज को थाइरम या कैप्टान 2 ग्राम, कार्बेण्डाजिम या थायोफिनेट मिथाइल 1 ग्राम मिश्रण प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचार करना चाहिए। अन्यथा ट्राईकोडर्मा 4 ग्राम, कार्बेण्डाजिम 2 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करके बोयें।

फफूंद नाशक दवाओं से बीजोपचार के बाद बीज को 5 ग्राम राइजोबियम एवं 5 ग्राम पी.एस.बी. कल्चर प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करें। उपचारित बीज को छाया में रखना चाहिए एवं शीघ्र बुआई कर देनी चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : सोयाबीन की बुआई असिंचित क्षेत्र में वर्षा आरम्भ होते ही एंव सिंचित क्षेत्र में 15 जून से 10 जुलाई उपयुक्त रहती है। बुआई कतारों में कतार से कतार की दूरी 30–45 सेमी. एंव पौध से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. की दूरी पर करनी चाहिए।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : बुवाई से 1 माह पूर्व प्रति हेक्टेयर 10 टन गोबर की सड़ी हुई खाद या कम्पोस्ट खाद का प्रयोग करें। बुआई के समय प्रति हेक्टेयर 250 किग्रा. सिंगल सुपर फास्फेट, 45 किग्रा. यूरिया तथा 70–80 किग्रा. म्युरेट आफ पोटाश का उपयोग करें। बुआई के 30–35 दिन बाद एक–दो पौधा उखाड़ कर देखे यदि जड़ों में ग्रथियाँ न बनी हो तो 45 किग्रा. यूरिया का उपयोग फूल आने से 7 दिन पहले करें जिंक की कमी होने पर प्रति हेक्टेयर 25 किग्रा. जिंक सल्फेट का प्रयोग करें। मृदा परीक्षण के आधार पर बोरॉन उर्वरक का भी प्रयोग करें। क्योंकि इसकी कमी से सोयाबीन के दानों के भीतर खाली स्थान रह जाता है, जिसे 'होलो हर्ट' के नाम से जाना जाता है।

सिंचाई (Irrigation) : सोयाबीन की फसल वैसे तो बिना सिंचाई के वर्षाकाल में उगाई जाती है फिर भी वर्षा न होने पर 1–2 सिंचाई आवश्यकता अनुसार कर देनी चाहिए, विशेष कर फूल व फलियाँ बनते समय भूमि में नमी की कमी नही होनी चाहिए। फूल आने के बाद सिंचाई या वर्षा फसल के लिए हानिकारक होती है।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : सोयाबीन की फसल में दो बार निराई–गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देना चाहिए। पहली निराई गुड़ाई 25–30 दिन पर व दूसरी निराई गुड़ाई 40–45 दिन पर करें खरपतवार नाशी रसायनों का प्रयोग भी

किया जा सकता है।

पादप संरक्षण (Plant protiction) :

कीट – फडका, तना छेदक, पत्ती छेदक के नियत्रण के लिए मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत या क्यूनालफॉस 500–700 मिली. को 500–700 लीटर पानी में घोलकर छिड़ाकाव करें। हरातेला, गर्डल वीटल (चक्र मृग) के लिए डाईमिथोएट 30 ई.सी. या मिथाइल डिमेटोन 25 ई.सी 400–600 मिली. द्वा को 400–600 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करें आवश्यक हो तो, 15–20 दिन बाद पुनः छिड़काव करें। तथा बुआई के 30–35 दिन पर डाइमिथोएट 30 ई.सी. 1 लीटर या एण्डोसल्फॉन 35 ई. सी. एक लीटर को पानी में घोलकर छिड़काव करें तथा एक सप्ताह बाद फिर से छिड़काव करें। नीम बीज का घोल 5 प्रतिशत 15 कि.ग्रा. घोल बना कर पहला छिड़काव 25–30 दिन पर व दूसरा छिडकाव 40–45 दिन पर करें।

रोग– छाछिया रोग के लिए फसल में पीला पन दिखाई देते ही 0.1 प्रतिशत गंधक का तेजाब या 0.5 प्रतिशत फेरस सल्फेट का छिड़काव करें।

पत्ती धब्बा, पत्तीगलन रोग की रोकथाम के लिए मैन्कोजेब के 0.2 प्रतिशत या थायोफेनेट मिथाइल 70 डब्ल्यू पी 0. 05–0.1 प्रतिशत से 1 ग्राम दवा प्रति लीटर पानी का छिड़काव करें। पुनः 15–20 दिन बाद दूसरा छिड़काव करें।

जड़गलन रोग की रोकथाम के लिए 6–10 ग्राम ट्राईकोडर्मा का प्रति किग्रा. बीज की दर से बीजोपचार कर बुआई करें। जीवाणु अगंमारी के लिए स्ट्रप्टोसाइक्लीन या कासूगामकइसिन की 200 पी.पी.ए. (200 मिग्रा. दवा प्रति लीटर पानी के घोल) और कॉपर आक्सीक्लोराइड 0.2 (2 ग्राम प्रति लीटर पानी के घोल) का मिश्रण प्रयोग करना चाहिए। इसके लिए 10 लीटर पानी में 1 ग्राम स्ट्रप्टोसाइक्लीन एंव 20 ग्राम कापर स्ट्रप्टोसाइक्लीन दवा का घोल बनाकर उपयोग करें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : जब फसल की अधिकाश पत्तियाँ सूखकर झड़ने लगे और 10 प्रतिशत फलियाँ सूखकर भूरे एंव पीले पर्ण में बदलने लगे तो उस समय हँसिया से कटाई कर लेते हैं। एक सप्ताह सूखाकर जब दाने मे नमी की मात्रा 13–15 प्रति हो जाये तब डण्डे से पीटकर या बैलो से दांय चलाकर (कुचलकर) या ट्रैक्टर से कुचलकर बीजों को अलग कर लिया जाता है।

उपज (Yield) : सोयाबीन की औसत उपज सिंचित क्षेत्र में 25–30 क्विटंल एंव असिंचित क्षेत्रों में 10–15 क्विटंल प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है एंव 30–35 क्विंटल सूखा चारा भी प्राप्त हो जाता है।

सूरज मुखी – (Sun flower)

वानस्पतिक नाम –हेलिएन्थस एनुअस एल. *(Helianthus annuus* L.)

कुल – एस्टरेसी (Asteraceae)

महत्व (Importance) : सूरज मुखी खाद्य तेल वाली एंव सभी मौसम में उगने वाली फसल है। इसमें तेल की मात्रा 45–50 प्रतिशत तक होती है। सूरज मुखी का तेल उच्च कोटि का होता है इसके तेल का रंग हल्का पीला और स्वाद अच्छा होता है इसके तेल में लिनोलिक अम्ल की मात्रा अधिक होने के कारण यह रक्त में कोलेस्ट्राल की वृद्धि को रोकने व उस पर अपचायक प्रभाव डालने में सहायक के होता है इसका उत्पत्ति स्थान पश्चिम केन्द्रीय अमेरिका है। राजस्थान में सूरज मुखी की खेती झालावाड़, भरतपुर, श्रीगंगानगर, हनुमानगढ व भीलवाड़ा आदि जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : सूरज मुखी की खेती खरीफ, रबी, जायद तीनों मौसम में की जा सकती है।फसल पकते समय शुष्क जलवायु की अति आवश्यकता होती है। वैसे सूरजमुखी समशीतोष्ण एवं शीतोष्ण जलवायु का पौधा है। सुरजमुखी धूप में ऑक्सिन–सांद्रता के कारण तना तथा मुण्डक सुर्य की तरफ मुड़ जाते हैं। शीत ऋतु में कम तापमान के कारण फसल लगभग 130 दिन में परिपक्व होती है जबकि खरीफ मौसम में उच्च तापमान के कारण 80–90 दिन में ही परिपक्व हो जाती है। फूल बनते समय एवं बीज बनते समय लम्बे समय तक बादल छाये रहने व आर्द्रता रहने पर उपज कम होती है तथा रोग व कीटों का प्रकोप अधिक होता है अर्थात बीज बनते समय व पकते समय मौसम साफ व शुष्क होना चाहिए।

मृदा (Soil) : सूरजमुखी की खेती अम्लीय एवं क्षारीय भूमि को छोड़कर जल निकास युक्त सिंचित दशा वाली सभी प्रकार की भूमियों में की जा सकती है, लेकिन दोमट भूमि

सर्वोत्तम रहती है। 6.5–8.5 पी.एच. मान वाली मृदा में सूरजमुखी की खेती की जा सकती है।

खेत की तैयारी (Field preparation) : खेत तैयारी में ग्रीष्म ऋतु में रबी की फसल कटने के बाद पलेवा कर एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 2–3 जुताई देशी हल या कल्टीवेटर से कर मिट्टी भुरभुरी बना लेनी चाहिए। पाटा चलाकर नमी सरंक्षित कर लेनी चाहिए अंकुरण के समय पर्याप्त नमी की मात्रा होनी चाहिए। अंतिम जुताई के समय प्रति हेक्टेयर 25 किग्रा. मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत भूमि में मिला देवें।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : बी.एस. एच–1, सी.ओ–5, डी.आर.एस.एच–1, एच.एस.एफ.एच–848, ई. सी.68415, के.बी.एस.एच1, एमसन रिकार्ड, मार्डन, आर.एस.एफ एम 1, सूर्या, टी.ए.एस 82।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and Seed treatment) : सूरज मुखी की स्थानीय किस्मों का 10–12 किग्रा. एंव संकर किस्म का 8 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त रहता है। सूरज मुखी के बीज का छिलका कड़ा होता है। अतः जल्दी अंकुरण हेतु 12–18 घंटे तक बीजो को पानी में भिगोकर रखें। बुआई से पूर्व प्रति किग्रा. बीज को 3–4 ग्राम थायरम या 6–10 ग्राम ट्राइकोडर्मा से उपचारित करें सूरजमुखी के बीज स्वादिष्ट होते है। अतः पक्षियों द्वारा नुकसान से बचाने के लिए खेत में प्लास्टिक या नाइलोन की जालियों का उपयोग किया जा सकता है।

बुआई का समय एंव विधि (Time of sowing and method) : सूरज मुखी की फसल तीनो ऋतुओं में बोई जाती हैं जायद में 15 जनवरी से 15 फरवरी, खरीफ में वर्षा के आगमन पर (15 जुन से 15 जुलाई) एंव रबी की बुआई 15 नवम्बर से 15 दिसम्बर तक की जाती है।

सूरजमुखी की बुआई कतारों में करना अच्छा रहता है। कतार से कतार की दूरी 45–60 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 20–30 सेमी. तथा गहराई 4–5 सेमी. तक रखकर बुआई की जाती है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) :

1. बुआई से 4 सप्ताह पूर्व प्रति हेक्टेयर 10 टन गोबर की सड़ी हुई खाद का प्रयोग करें।
2. बुआई के समय प्रति हेक्टेयर 300 किग्रा. सिंगल सुपर फॉस्फेट, 80 किग्रा. म्यूरेट आफ पोटाश एंव 65–100 किग्रा. यूरिया का उपयोग करें। प्रथम सिंचाई के बाद 60–100 किग्रा. यूरिया का पुनः छिड़काव करें।

सिंचाई (Irrigation) : सूरजमुखी में सिचाई फसल बुआई के समय पर निर्भर करती है। प्रथम सिंचाई बीज बोने के 25–30 दिन बाद करें तथा दूसरी सिंचाई आवश्यकता अनुसार करें। फूल आते समय पर्याप्त नमी आवश्यक है।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : पहली निराई गुड़ाई बीज बोने के 25–30 दिन बाद तथा दूसरी 45–50 दिन पर फूल आने से पहले करनी चाहिए सूरजमुखी का फूल बड़ा होने के कारण पौधे के गिरने का डर रहता हैं अतः 20–30 दिन बाद यूरिया देते समय पौधों पर 10–15 सेमी. मिट्टी चढाना अच्छा रहता है। रसायनों द्वारा खरपतवार निंयत्रण हेतु पैण्डीमिथालिन 30 ई.सी. की 3.3 लीटर मात्रा 600–800 लीटर पानी में घोल कर प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के 2–3 दिन के अन्दर छिड़काव करने से खरपतवारों का जमाव नहीं होता है।

पादप संरक्षण (Plant protection) : सूरज मुखी में कट वर्म, पत्ते कुतरने वाली लट, हरा तेला, सफेद मक्खी आदि की रोकथाम के लिए एण्डोसल्फॉन 35 ई.सी. सवा लीटर का प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें या मिथाइल डेमेटॉन 1 लीटर 25 ई.सी.का 800–100 लीटर पानी में घोल बना कर छिड़काव करना चाहिए। तना गलन, जड़ गलन, पत्ती धब्बा रोग की रोकथाम के लिए मैन्कोजेब 1.5 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से पानी में घोल कर छिड़काव करें आवश्यकतानुसार छिड़काव दोहरायें। तुलासिता के नियंत्रण हेतु बीज को 4 ग्राम मैटालेक्सिल प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित कर बोयें। रोग ग्रस्त पौधों को उखाड़ कर नष्ट कर दें। डाड्या रोग की रोकथाम हेतु 20–25 किग्रा. गंधक चूर्ण का भुरकाव करें अथवा 0. 1 प्रतिशत केराथेन का छिड़काव करें।

पक्षियों से बचाव के लिए प्रकाश परावर्तित करने वाले एन्टीपेरट रिबन का प्रयोग करना लाभकारी रहता है।

परागण (Pollination) : सूरजमुखी में किन्ही कारणें से स्वंय परागण कम होता है जिससे पर्याप्त बीज नही बन पाते है अतः पर परागण के लिए प्रति हेक्टेयर मधुयक्खियों के 1–2 बॉक्स खेत मे रख दें या सुबह 8–11 बजे के बीच हाथ पर पतला कपड़ा लपेट कर फूलों के ऊपर हलकें से घुमाए या किसी कोमल कपड़े या फोम आदि से हलके हाथ से फूल के किनारे से गोल–गोल घुमाते हुए मध्य मार्ग तक लाए।

कटाई व मढ़ाई (Harvesting and threshing) : जब सूरजमुखी के बीज कडे हो जाए एंव सिरे के पास व वृत्त मुड़ कर पीला पड़ जाये नीचे की पत्तियाँ सूखकर गिरने लगे तब फूलों को तने के पास से हँसिया/दरांती से काट लेना चाहिए। इसके बाद 2–3 दिन धूप में सुखाने के बाद डण्डों से पीट कर या फूलों को आपस में रगड कर बीज निकाल लेंवे फसल बडे क्षेत्र में हो तो मढ़ाई के लिए थ्रेसर का प्रयोग उपयुक्त रहता है।

उपज (Yield) : उन्नत विधियाँ अपनाकर सूरज मुखी की फसल से 15–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर उपज ली जा सकती है।

सरसों – (Mustard)
वानस्पतिक नाम –ब्रैसिका जुन्सिया एल.
(Brassica juncea L.)
कुल – ब्रेसीकेसी (Brassicaceae)

महत्व (Importance) : सरसों रबी में उगाई जाने वाली भारत एवं राजस्थान की प्रमुख तिलहनी फसल हैं। इसकी खेती मुख्यतः बीज के लिए की जाती है जिसमें तेल की 42–44 प्रतिशत तक मात्रा पाई जाती है। सरसों का तेल खाना बनाने, मालिश करने, साबुन, ग्रीस बनाने, फल व सब्जियों के परि–रंक्षण आदि कामों मे आता है। सरसों के तेल मे तीव्र गंध सिनिग्रिन (Sinigrin) नामक एल्कालाइड के कारण होती है। सरसों का उत्पति स्थान चीन माना जाता है कुछ लोग भारत या दक्षिणी–पश्चिमी एशिया भी मानते है। राजस्थान के प्रायः सभी जिलो में सरसों की खेती की जाती है।

जलवायु (Climate) : सरसों समशीतोष्ण व शीतोष्ण जलवायु की फसल है यह रबी मौसम मे उगाई जाती है सरसों के लिए 18^{0}–25^{0} सेल्सियस तापमान की आवश्यकता होती हैं। फसल की बढ़वार फूल आते समय अधिक वर्षा व आर्द्रता रहने से कीट व रोग का प्रकोप बढ़ता है तथा परागण कम होता है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : सरसो के लिए दोमट एवं हल्की दोमट मृदा अधिक उपयुक्त है। अच्छे जल निकास वाली मिट्टी जो लवणीय व क्षारीय न हो, ठीक रहती है। सरसों हल्की ऊसर भूमि मे भी बोयी जा सकती है। 6–8.5 पी.एच.मान वाली मृदा ठीक रहती है। सरसों के लिए खरीफ की फसल कटने के बाद एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 3–4 जुताई देशी हल या कल्टीवेटर से करके पाटा लगाकर मिट्टी को भुरभुरी बना लेते हैं। भूमिगत कीटों को नष्ट करने के लिए प्रति हेक्टेयर 25 किग्रा. मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत अन्तिम जुताई के समय भूमि में मिला देना चाहिए।

उन्नत शील किस्में (Improved varieties) : पूसा जय किसान (बायो – 902), लक्ष्मी (आर.एच. 8812), पूसा बोल्ड, पुसा कल्याणी, वरूणा(टी–59), क्रान्ति (पी.आर–15), आर. एच–30, रजत (पी.सी.आर–7), अरावली (आर.एन.393), स्वर्णज्योति (आर.एच.9802), माया (आर.के.9902), आशीर्वाद (आर.के.01–03), जगन्नाथ (वी.एस.एल.5) ।

बीजदर व बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : असिंचित क्षेत्र मे 4–5 किलोग्राम एवं सिंचित क्षेत्र में 2.5–3 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है।बुआई से पहले बीज को 3 ग्राम थाइरम या 6–10 ग्राम ट्राइकोडर्मा या 2.5 ग्राम मैन्कोजेब प्रति किलोग्राम बीज की दर से उपचारित करें ।

बुआई का समय एवं बुआई की विधि (Time of sowing and method) : सरसों की फसल की बुआई असिंचित क्षेत्र मे 15 सितम्बर से 15 अक्टूबर तक तथा सिंचित क्षेत्र में 31 अक्टूबर तक कर देनी चाहिए। देरी से बुआई करने पर चेपा व सेफद रोली का प्रभाव होता है। जिससे उपज में कमी आती है सरसों की बुआई कतारो मे करनी चाहिए कतार से कतार की दूरी 30–45 सेमी. व पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. तथा बीज की गहराई 4–5 सेमी. रखनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) :

1. बुआई से 4 सप्ताह पूर्व 8–10 टन प्रति हेक्टेयर गोबर की सड़ी खाद या कम्पोस्ट खाद का प्रयोग करें।
2. सिंचित फसल के लिए 92 किग्रा. नाइट्रोजन 32 किग्रा. फास्फोरस 25 किग्रा. पोटाश एवं 250 किग्रा. जिप्सम या 40 किलो सल्फर प्रति हेक्टेयर काम लें।

सिंचाई (Irrigation) : सरसों की फसल को 3–4 सिंचाई की आवश्यकता होती है। पहली सिंचाई बुआई के 21–30 दिन बाद(शाखा बनते समय एवं फूल आने से पहले) दूसरी सिंचाई बुआई के 40–45 दिन बाद (फली निकलते समय) तीसरी सिंचाई बुआई के 70–80 दिन बाद (फली बनते समय, दाना बनते समय)करते है। पानी की मात्रा पर्याप्त है तो चौथी सिंचाई 90–100 दिन बाद दाना पकते समय करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : सरसों की फसल में प्रथम सिंचाई के बाद 20–25 दिन बाद निराई–गुड़ाई कर खरपतवार निकाल देने चाहिए। सरसों की फसल में ओरोबंकी नियंत्रण के लिये 200 किग्रा. नीम की खली का बुआई के समय कतारों में डाला जाना तथा बुआई के बाद फसल उगने से पहले 0.500 किग्रा. पैण्डीमेथालीन प्रति हेक्टेयर 500 लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें। ओरोबंकी नियंत्रण के लिये ग्लाईफोसेट को बुआई के 25 दिन बाद 25 ग्राम तथा 50 दिन बाद 50 ग्राम प्रति हैक्टर की दर से 1 प्रतिशत अमोनियम सल्फेट के साथ करना चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : कीट आरा मक्खी पेंटेडबग मोयला के लिये मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत या मैलाथियान 5 प्रतिशत चूर्ण 25 किग्रा प्रति हेक्टेयर भुरके या मैलाथियान 50 ईसी 1.2 लीटर या डाईमिथयेट 30 ईसी 1.2 लीटर या 100 ग्राम थायेामिथोकजाम 25 डब्लू जी को पानी में मिलाकर छिड़काव करें आवश्यकतानुसार 15 दिन बाद पुनः छिड़के। हीरक तितली के लिए क्यूनालफॉस 25 मिली 1.2 लीटर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़के। मोयला हेतु इमिडेक्लोप्रिड से बीज उपचार (3 ग्राम प्रति किलो बीज) + एजिडिरेक्टिन का 3 प्रतिशत छिड़काव करें।

रोग –झुलसा (Blight) : तुलासिता एवं सफेद रोली के लक्षण दिखाई देने पर मैन्कोजेब या जाइनेव 2 ग्राम प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें। आवश्यकतानुसार 20 दिन के अन्तराल पर पुनः करें। रोग के लक्षण दिखने पर रिडोमिल एम जैड 2 ग्राम प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें या ट्राईकोडर्मा डिफ्युज्ड 5 मिली प्रति लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें आवश्यकतानुसार पुनः करें।

छाछ्या रोग दिखाई देते ही 20 किलो गंधक चूर्ण या 600 ग्राम घुलनशील गन्धक (80 प्रतिशत) या 1 मिली. डाइनोकेप (केराथेन) 30 ईसी प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़के। तना गलन में तने पर पनिहल घब्बे बनते हैं जिन पर कवक लाल रूई की तरह फैला रहता है। पौधे मुरझा कर सूखने लगते हैं। लक्षण दिखने पर दो बार पर्णीय छिड़काव विटावेक्स पावर 2 ग्राम प्रति लीटर पानी में घोलकर छिड़काव प्रभावी पाया गया है

फसल का पाले से बचाव –

1. पाले की सम्भावना होने पर सिंचाई करे ।
2. खेत के चारों तरफ धुआँ करे ।
3. 0.1 प्रतिशत गंधक के तेजाब का छिड़काव करें (1 लीटर पानी में 1 मिली.)

कटाई मढ़ाई (Harvesting and threshing) : सरसों की फसल फरवरी मार्च तक पक जाती है। सरसों के पत्ते झड़ने लगे और फलियां पीली पड़ने लगे तो फसल की कटाई कर लें अन्यथा कटाई में देरी होने से दाने खेत में झड़ने की आशंका रहती है। कटाई के बाद पौधों को छोटे छोटे बंडलों में बाँधकर खेत में छोड़ देते हैं। पूर्णरूप से सूखने पर ट्रेक्टर थ्रेसर या बैलों से मढाई करके और औसाई कर बीजों को अलग कर लिया जाता है।

उपज (Yield) : सरसों की उन्नत विधियों से खेती करने पर औसत 15–25 क्विंटल प्रति हेक्टेयर दाने की उपज प्राप्त हो जाती हैं।

तारामीरा – (Rocket kresh)
वानस्पतिक नाम –इरूका सटाइवा *(Eruca sativa)*
कुल – ब्रेसीकेसी (Brassicaceae)

महत्व (Importance) : तारामीरा तिलहनी फसल है जो उत्तरी भारत व राजस्थान में रबी मौसम में उगाई जाती है। इसके बीजों से तेल प्राप्त होता है जो सरसों के तेल के समान ही होता है और उपयोग भी सरसों की तरह होता है तथा खली पशुओं को खिलाने के काम आती है। तारामीरा के बीज में 35 प्रतिशत तेल पाया जाता है ।

जलवायु (Climate) : तारामीरा समशीतोष्ण जलवायु का पौधा है इस फसल को 15°–30° सेल्सियस तापमान की आवश्यकता होती है। फसल पकते समय मौसम शुष्क व साफ आर्द्रता का उपयुक्त रहता है लम्बे समय तक बादल छाये रहना व फूल आने के समय वर्षा होना उपज को कम करता है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : तारामीरा सभी प्रकार की भूमियों में बोया जा सकता है लेकिन बलुई दोमट व दोमट मृदा जिसमें जल निकास की उचित व्यवस्था हो श्रेष्ठ रहती है। 2–3 जुताई देशी हल या केल्टीवेटर से कर पाटा लगाकर मृदा भुरभुरी बना लेते है। तारामीरा की खेती अधिकांश बारानी क्षेत्रों में की जाती है ।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : आई.टी.एस.ए. ,टी 27, आरटीएम 314 (कर्णतारा), आरटीएम 2002 (नरेन्द्र तारामीरा), आर.टी.एस.ए 150 ।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : तारामीरा की फसल के लिए 4 किग्रा. बीज प्रति

हेक्टेयर की दर से पर्याप्त रहता है। बुआई से पहले मैन्कोजेब 2.0 ग्राम या ट्राइकोडर्मा 6–10 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : इसकी बुआई 15 अक्टूबर से 30 नम्बवर तक कर देनी चाहिए। कतार से कतार की दूरी 45 सेमी. तथा पौधे से पौधे की दूरी 10 से 15 सेमी. रखनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : तारामीरा की फसल में 30 किग्रा. नत्रजन एंव 15–20 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर देना चाहिए। तारामीरा तेल वाली फसल है इसलिए 200–250 किग्रा. जिप्सम प्रति हेक्टेयर देना भी लाभकारी रहता है।

सिंचाई (Irrigation) : तारामीरा की फसल बारानी क्षेत्रों में उगाई जाती है व सूखा सहन करने वाली होती है। फिर भी जहाँ सिंचाई के साधन उपलब्ध हो वहाँ प्रथम सिंचाई 40–45 दिनों में फूल आने से पहले करें तत्पश्चात आवश्यकतानुसार दूसरी सिंचाई फली में बीज बनते समय करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : फसल में खरपतवार नियत्रण के लिए 20–25 दिन बाद निराई – गुड़ाई करें। रसायन द्वारा खरपतवार नियंत्रण के लिए फ्लूक्लोरेलिन 1 लीटर सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर भूमि में मिला दें।

पादप संरक्षण (Plant protection) :

मोयला (एफिड्स)– मोयला कीट लगते ही मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत चूर्ण 25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से फसल पर भुरकाव करें या डाइमिथोएट 30 ई.सी. या मिथाइल डेमेटोन 25 ई.सी. 1200 मिली. अथवा मोनोक्रोटोफॉस 36 एसएल 1000 मिली. का पानी में घोल बनाकर प्रति हेक्टेयर छिडकाव करें।

झुलसा (ब्लाईट) तुलासिता (डाउनीमिल्डयू) एवं सफेद रोली इन रोगों के लक्षण दिखाई देते ही मैन्कोजेब 2 ग्राम प्रति लीटर पानी का घोल बनाकर छिड़काव करें। प्रकोप अधिक होने की स्थिति में 20 दिन बाद छिड़काव दोहरायें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : फसल के जब पत्ते झड़ जायें और फलियाँ पीली पडने लगे तो फसल काट लेनी चाहिए अन्यथा कटाई में देर होने से दानों के खेत में झड़ जाने की आशंका रहती हैं। फसल को 2 से 3 दिन सुखाकर ट्रैक्टर द्वारा मढ़ाई कर औसाई करके दाने अलग कर लेते है फसल की थ्रेसर द्वारा मढ़ाई करना भी उपयुक्त रहता है।

उपज (Yield) : तारामीरा की उन्नत खेती से 8–10 क्विंटल उपज प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है।

अलसी (Linseed)

वानस्पतिक नाम –लाइनम यूसीटेटिसिमम एल. *(Linum usitatissimum* L.*)*

कुल – लाइनेसी (Linaceae)

महत्व (Importance) : अलसी बहुमूल्य औद्योगिक तिलहन फसल है जिसे तेल एवं रेशा दोनों के लिए उगाया जाता है। अलसी के दानों में किस्मों के अनुसार 33 से 47 प्रतिशत तक तेल पाया जाता है। अलसी का तेल जल्दी सूखने वाला होता है। इसलिए तेल का प्रयोग रंग, पेन्टस, वार्निश, साबुन और छपाई के लिए प्रयुक्त स्याही तैयार करने के लिए किया जाता है। तने से रेशा निकाला जाता है। अलसी का उत्पत्ति स्थान कुछ विद्वान अफगानिस्तान, कुछ विद्वान दक्षिण पश्चिम एशिया मानते हैं। राजस्थान में कोटा, बूंदी, झालावाड़, सवाई माधोपुर तथा टोंक जिले प्रमुख है।

जलवायु (Climate) : अलसी की फसल को ठण्डी व शुष्क जलवायु की आवश्यकता होती है। अलसी के उचित अकुंरण हेतु 25–30° सेल्सियस तापमान तथा बीज बनते समय 15–20° सेल्सियस तापमान होना चाहिए।

मृदा एवं भूमि की तैयारी (Soil and field preparation) : अलसी की फसल के लिए जल निकास युक्त भारी एवं दोमट, मध्यम उपजाऊ दोमट मृदा उपयुक्त होती है। एक जुताई मिट्टी पलटनले वाले हल से करने के बाद 2–3 बार देशी हल से या हैरो चलाकर पाटा लगाना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : आर.एल 102–71, चम्बल, जवाहर 23, शिखा, त्रिवेणी, किरण, कार्तिक, जवाहर 17, जीवन, गौरव आदि।

बीज दर एवं बीज उपचार (Seed rate and seed treatment) : अलसी की फसल के बीज के लिए 15से 20 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है। बुआई से पूर्व बीज को कार्बेन्डाजिम की 2.5 से 3 ग्राम मात्रा या ट्राइकोडर्मा विरड़ी की 5ग्राम मात्रा से प्रति किलो बीज दर से उपचारित कर बुआई

करनी चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : अलसी की बुआई सितम्बर अंत से लेकर मध्य अक्टूबर तक कर दे देनी चाहिए। कतार से कतार की दूरी 30 सेमी. पौधे से पौधे की दूरी 8 से 10 सेमी. रखते हैं तथा बुआई 4 से 5 सेमी. गहराई पर करनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : अलसी की फसल में असिंचित क्षेत्र में 30 किग्रा. नाइट्रोज 15 किग्रा. फोस्फोरस प्रति हेक्टेयर बुआई के समय ऊर कर देनी चाहिए तथा सिंचित क्षेत्र में 80 से 90 किग्रा. नाइट्रोजन 30 से 40 किग्रा. फास्फोरस एंव 30 किग्रा. पोटाश प्रति हेक्टेयर देवें। 375 किग्रा. जिप्सम तथा 25 किग्रा. जिंक सल्फेट भूमि में बुआई से पूर्व मिला देना चाहिए। अलसी की अच्छी उपज के लिए 10 टन गोबर की खाद का उपयोग करें।

सिंचाई (Irrigation) : सामान्यतः अलसी की खेती बारानी की जाती है लेकिन सिंचाई की उपलब्धता होने पर दो सिंचाई करें पहली सिंचाई शाखाएँ निकलते समय (30 से 35 दिन पर) तथा दूसरी सिंचाई फल बनने शुरू होने के समय (60 से 65 दिन) पर करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : खरपतवार नियंत्रण के लिए 2 निराई गुड़ाई पहली बुआई के 20–25 दिन बाद कर देनी चाहिए। रासायनिक नियत्रंण के लिए पैण्डीमिथलिन 1 किग्रा. सक्रिय तत्व को बुआई पश्चात एंव अकुरण पूर्व 500–600 लीटर पानी मिलाकर खेत में छिड़काव करें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : अलसी की फसल में कीट कट वर्म, वायरवर्म हरे भाग को खाते हैं। नियंत्रण के लिए ईमिडाक्लोप्रिड 17.8 एस.एल. 100 मिली. प्रति हेक्टेयर की दर सये 500–600 लीटर पानी के घोल कर छिड़काव करें।

रोग– गेरूआ (रस्ट) के प्रकोप से चमकदार नारंगी रंग के धब्बे पत्तियों के दोनों और बनते हैं। रोग रोधी किस्मे बोंये तथा केप्टान + हेक्साकानोजाल की 500–600 ग्राम मात्रा 500 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करना चाहिए।

उखटा रोग का प्रकोप अंकुरण से लेकर पकने तक होता है पत्तियों के किनारे मुड़कर मुरझा जाते है। नियंत्रण के लिए मृदा एवं बीज उपचार कर बुआई करें।

चूर्णिल आसिता (छाछिया) इसमें पत्तियों पर सफेद चूर्ण सा जम जाता है नियंत्रण के लिए थायोफिनाइल मिथाइल 70 प्रतिशत डब्लू.पी.300 ग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : फसल के पकने पर हँसिया की सहायता से कटाई कर ली जाती है। 4–5 दिन सुखाकर थ्रेसर से मढ़ाई कर दाने अलग कर लेते हैं।

उपज (Yield) : शुद्ध फसल से 10–15 क्विंटल बीज प्रति हैक्टर तथा मिश्रित फसल से 4–5 क्विंटल दाना प्रति हेक्टेयर प्राप्त होता हैं।

6.4 चारे वाली फसलें (Fodder Crops)

रिजका – (Lucerne or alfalfa)

वानस्पतिक का नाम –मेडिकागो सेटाइवा *(Medicago sativa)*

कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : रिजका एक दलहनी, वार्षिक चारे की फसल हैं। इसे चारे की फसलों की रानी कहा जाता है। रिजका की उत्पति स्थान दक्षिण पश्चिमी एशिया माना जाता है। विश्व में रिजका की खेती सर्व प्रथम ईरान में हुई। राजस्थान में इसकी खेती करीब – करीब सभी क्षेत्रों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : रिजका की खेती सम शीतोष्ण से शीतोष्ण जलवायु में की जाती है। रिजका की फसल ग्रीष्म ऋतु में 48° सेल्सियस तक तापमान और शीत ऋतु में 6.5° सेल्सियस तक निम्न तापमान सहन करने की क्षमता रखती है। रिजका राजस्थान में शरद ऋतु में उगाया जाता है।

मृदा (Soil) : रिजका के लिए उचित जल निकासयुक्त दोमट मृदा सर्वोत्तम रहती है। मृदा का पी.एच मान 6.5–7.5 इसके लिए उपयुक्त है।

खेत की तैयारी (Field prepartion) : रिजका के लिए एक जुताई गहरी मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 2–3 जुताई देशी हल या हैरो चला कर करनी चाहिए। प्रत्येक जुताई के बाद पाटा लगाकर भूमि को भुरभुरी व समतल बना लें।

उन्नत किस्में (Improved varieties) आनन्द–1, आनन्द–2, एन.डी.आर.आई, सलैक्शन–1, चेतक, सिरसा–9, कम्पोजिट–5 काफी अच्छी किस्में हैं।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : छिटकवाँ विधि से बुआई करने पर 20–25 किग्रा. बीज व कतारों में बुआई करने पर 15 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त रहता है।

रिजके के बीज में अमरबेल के बीजो का मिश्रण हो सकता

है इन बीजों को अलग करने के लिए रिजके के बीजों को 2 प्रतिशत नमक के घोल मे डुबोते है जिससे रिजके के कच्चे बीज, अमरबेल के बीज हल्के होने कारण घोल के ऊपर तैरते है जिन्हें निथार कर अलग कर देते है घोल मे नीचे बैठे बीजों को साफ पानी से धोकर सुखा लेते हैं। इसके बाद रिजके के बीजों को राइजोबियम मेलिलोटई कल्चर से उपचारित करना चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : रिजके की बुआई हेतु मध्य अक्टूबर से मध्य नवम्बर तक का समय उपयुक्त है, रिजका की बुआई तैयार भूमि में क्यारियाँ बनाकर निश्चित मात्रा में बीज छिड़कर रेक चलाकर मिट्टी में मिला देते है बीज 1 सेमी. से अधिक गहराई पर ना बोये अकुंरण प्रभावित होता है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : रिजके की फसल में 20 टन प्रति हेक्टेयर की दर से सड़ी हुई गोबर की खाद बुआई के एक माह पूर्व खेत में मिलादें। चारे की अधिक पैदावार के लिए 20 किग्रा. नाइट्रोजन व 30 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई से पूर्व दें। प्रत्येक कटाई के बाद 15 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर दें।

सिंचाई (Irrigation) : रिजके की फसल में 10–12 सिंचाई की आवश्यकता होती है। सर्दियों में सिंचाई 15–20 दिन के अत्तराल पर करना चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : रिजका की फसल में अमर बेल तथा अन्य खरपतवारों के नियंत्रण के लिए पेण्डीमिथालिन की 1.0 किग्रा. सक्रिय तत्व मात्रा प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के बाद (उगने से पहले) छिड़काव किया जा सकता है।

पादप संरक्षण (Plant protection) : रिजका को हानि पहुचाने वाले कीट रिजका इल्ली, चनाइल्ली, व सेंमीलूपर हैं। फसल में कीटो का प्रकोप होते ही चारा खेत से जल्दी से काट लेना चाहिए और कीटनाशक दवा जैसे थायोडान या मेटासिस्टोक्स 1 लीटर प्रति 1000 लीटर पानी में घोल कर फसल पर छिड़काव करें। कीटनाशी के प्रयोग के 2 सप्ताह तक चारा पशुओं को न खिलायें।

सर्दियों में हवा में अधिक नमी होने पर रिजका मे मृदरोमिल आसिता रोग का प्रकोप हो जाता है और पत्तियाँ खराब हो जाती है रोग प्रारम्भ होते ही चारे की कटाई कर लेनी चाहिए।

कटाई (Harvesting) : रिजके की पहली कटाई बुआई के 60 दिन बाद करनी चाहिए। इसके बाद सर्दियों मे 30 दिन के अत्तराल पर एवं गर्मियों में 20–25 दिन के अत्तराल पर कटाई करें।

उपज (Yield) : रिजका की 7 से 9 कटाईयों से 700–1000 क्विंटल हरा चारा प्रति हेक्टेयर प्राप्त किया जा सकता है।

बरसीम – (Berseem or Egyptian clover)
वानस्पतिक नाम –ट्राइफोलियम एलेक्जेन्ड्रिनम (*Trifolium alexandrinum*)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : बरसीम चारे की दलहनी फसल है। बरसीम हरे चारों में अपने गुणों द्वारा दुधारू पशुओं के लिए प्रसिद्ध है। जो बहुत ही पौष्टिक व स्वादिष्ट चारा है। चारा अत्यन्त मुलायम, स्वादिष्ट एवं प्रोटीन और खनिज तत्वों से भरपूर होता है। इसमे प्रोटीन की औसत मात्रा 17–21 प्रतिशत होती है। इसको चारे की फसलों का सम्राट कहा जाता है। बरसीम की उत्पति स्थान एशिया माइनर के देश माने जाते हैं। राजस्थान के कुछ भागों मे इसकी खेती की जाती है।

जलवायु (Climate) : बरसीम को रबी की फसलों के साथ उगाते हैं इसके लिए शीतोष्ण कम गर्मी वाले क्षेत्र उपयुक्त रहते है इसकी समुचित वृद्धि हेतु 25^{0}–26^{0} सेल्सियस तापमान अति उत्तम रहता है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) बरसीम की खेती के लिए जल निकास युक्त दोमट से चिकनी दोमट मृदा सर्वोतम रहती है। पी.एच.मान 7 से ऊपर वाली मृदाएँ सर्वोतम मानी जाती है। एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा दो–तीन जुताई देशी हल से करें। बरसीम का बीज काफी छोटा होता है, अतः मिट्टी भुरभुरी कर लेनी चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : मसकावी, खदरावी, फहाली, पूसा जाइन्ट, टी–780, वरदान राजस्थान के लिए वरदान, मसकावी किस्में उपयुक्त पाई गई है ।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : बरसीम के लिए 25–30 किग्रा बीज प्रति हैक्टर की आवश्यकता होती है। बरसीम के बीजों मे कासनी खरपतवार

के बीज मिले होते है। अतः बुआई पूर्व 5 प्रतिशत नमक के घोंल में डालते हैं। बरसीम के कमजोर बीज व कासनी के हल्के बीज होने के कारण ऊपर तैरते है। बरसीम के बीज अपेक्षाकृत भारी होने कारण नीचे बैठ जाते है जिन्हे निकालकर साफ पानी से धोकर सुखा लेते है। बीजो को राइजोबियम कल्चर से भी उपचारित कर बुआई करनी चाहिए। 1 लीटर पानी में 15 ग्राम गुड़ का घोल गर्म कर तैयार कर ठण्डा करे फिर इसमें एक पैकेट कलचर को अच्छी तरह से मिला देते है इसके बाद बीजो को छाया मे सुखाकर, खड़े पानी मे छिटक कर बोए ताकि तेज हवा से न उड़े। इसके तुरन्त बाद सिंचाई करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method of sowing) : बरसीम की बुआई के लिए अक्टुबर माह उपयुक्त है बरसीम की बुआई दो प्रकार से की जाती है। छिटकवाँ विधि इसे समस्त खेत मे क्यारियाँ बनाकर 5–7 सेमी. पानी भरकर रेक चलाकर कीचड़ कर देते है फिर इसके बीज छिड़क देते है या समतल क्यारियों मे बीज छिड़कर रेक चलाकर मृदा मे मिला देते है और बाद में क्यारियों मे 5–7 सेमी. पानी भरते हैं। बरसीम का बीज छोटा होने के कारण कतारों मे बुआई कठिन होती हैं।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertiliser) : 20 टन प्रति हेक्टेयर की दर से सड़ी हुई गोबर की खाद बुआई के एक माह पूर्व खेत में मिला दें। चारे की अधिक पैदावार के लिए 20 किग्रा. नाइट्रोजन व 30–40 किग्रा. फॉसफोरस प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई से पूर्व डाले प्रत्येक कटाई के बाद 4 किग्रा. नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर देवें।

सिंचाई (Irrigation) : बरसीम की फसल मे 8–10 सिंचाइयों की आवश्यकता होती है। पहली दो सिंचाइयाँ बुआई के तुरन्त बाद या 5–7 दिन के अन्तराल में करें बाद में सर्दियों में 15–20 दिन एवं गर्मियों मे 8–10 दिन के अन्तराल पर करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : बरसीम मे मुख्य खरपतवार कासिनी के पौधे होते हैं, इसलिए कासिनी को अन्य खरपतवारों के साथ सिंचाई के बाद हाथ से उखाड़ देना चाहिए अगर कासिनी की अधिक मात्रा हो तो डाइनोसेल एसीटेट (घुलनशील पाउडर) 1.5 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करना चाहिए, इसके अलावा 0.2 कि.ग्रा आक्सीफ्लोरफेन प्रति हैक्टर बुआई के बाद व अंकुरण से पूर्व छिड़काव करने से फसल में खरपतवारों का प्रभावी नियंत्रण होता है।

पादप सरंक्षण (Plant protection) : बरसीम की फसल मे रोमिल इल्लियों का प्रकोप अधिक होता है ऐसी अवस्था मे फसल काटकर जानवरों को खिलाना उचित रहता है कटाई के बाद भूमि पर रोलर चलाकर सिंचाई करने से कीट रोलर की नीचे दबकर पानी मे डूबकर मर जाते हैं। बरसीम में कोई खास2 रोग नही लगते है कभी कभी गेरूई व जड़ सड़न रोग लग जाते हैं, इसके लिए उचित फसल चक्र अपनाने चाहिए ।

कटाई (Harvesting) : बरसीम की अगेती फसल हो तो कटाई 45–50 दिन पर करें ताकि दूसरी कटाई जल्दी ले सकें। सर्दियों में कटाई 30 दिन के अन्तराल में करनी चाहिए एव गर्मियों में 20 दिन के अन्तराल पर करें।

उपज (Yield) : बरसीम की उपज 800–1000 क्विंटल प्रति हेक्टेयर होती है। यदि फरवरी के बाद फसल बीज के लिए छोड़ी गई है तो 5–6 क्विंटल बीज तथा 400–500 क्विंटल हरा चारा प्रति हेक्टेयर प्राप्त हो जाता है।

6.5 रोकड़ फसलें (Cash Crops)

गन्ना (Sugarcane)
वानस्पतिक नाम –सैकेरम ओफीसीनेरम *(Saccharum officinarum)*
कुल – पोएसी (Poaceae)

महत्व (Importance) : गन्ने का उपयोग चीनी (white sugar) खाण्ड सारी (brown sugar) एवं गुड़ (jaggery) बनाने में किया जाता है। गन्ने की मिलों से प्राप्त शीरा (molasses) शराब बनाने के काम आता है। गन्ने की खोई (पत्तियों व पिराई के बाद बचा रेशा) कागज व कार्ड बनाने व कम्पोस्ट खाद के काम आता है। गन्ने की उत्पति स्थान भारत माना जाता है। राजस्थान मे गन्ने की खेती कोटा, बूंदी, श्रीगंगानगर, उदयपुर, भीलवाड़ा व बांसवाड़ा जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : गन्ना उष्णकटिबन्धीय जलवायु का पौधा है। गन्ने के अंकुरण के लिए 25°–30° सेल्सियस तापमान 50–55 प्रतिशत आर्द्रता, बढ़वार के लिए

31°–37°सेल्सियस तापमान 80–90 प्रतिशत आर्द्रता एवं पकने के लिए 25°–30° सेल्सियस तापमान 70–75 प्रतिशत आर्द्रता उपयुक्त होती है।

मृदा (Soil) : गन्ने के लिए अच्छे जल निकास वाली दोमट भूमि सर्वोतम होती है।

खेत की तैयारी (Field preparation) : गन्ने की फसल के लिए एक गहरी जुताई सबसॉयलर या मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 2–3 क्रॉस जुताई देशी हल या कल्टीवेटर से कर पाटा लगाकर मिट्टी भुरभुरी व समतल कर लेनी चाहिए। भूमिगत कीटों को नष्ट करने के लिए मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत 25 किग्रा. या लिंडेन 2 प्रतिशत 25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से भूमि मे अन्तिम जुताई के समय बुआई से पूर्व मिला देना चाहिए।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : :–गन्ने की विभिन्न किस्में निम्न प्रकार की है –

शीध्र पकने (9–10 माह) वाली किस्में– को. 7314, को. 64, को. 997, को. 449, को. 1253, को. 1007, को. 111, बी. ओ 91।

मध्यम से देर तक (12 से 14 माह) में पकने वाली किस्में – को.6304, को.7318, को.6217, को. 527 ।

नई उन्नत किस्में :–शीध्र (9–10 माह) पकने वाली– को. 8209, को. 7704, को. जवाहर 86141, को. जवाहर 86572 ।

मध्यम से देर (12–14) माह में पकने वाली को. जवाहर 94141, को. जवाहर 86600, को. जवाहर 862087 ।

बीज दर (Seed rate) : बुआई के लिये काम में आने वाला गन्ना बीज गन्ना कहलाता है। गन्ने का तीन तीन आँख वाला टुकड़ा कर बुआई करते हैं, क्योंकि पूरा गन्ना बोने पर ऊपरी शिरा ही अंकुरित होता है इसका कारण ऊपरी सिरे पर पायें जाने वाले हार्मोन नीचे जड़ की और गमन करके नीचे के भाग की कलिकाएँ अंकुरित नही होने देते इस प्रकिया को टॉपडोमिनेस (Topdominace) कहते है टुकड़े करने से यह प्रक्रिया रूक जाती है। गन्ने का ऊपरी सिरा बुआई के काम लेना चाहिए इसके निम्न कारण है–

1. ऊपरी भाग की कलिकाओं की अंकुरण क्षमता अधिक होती है।
2. ऊपरी भाग की कलिका अंत तक पत्तियों से ढकी रहने से कीट से सुरक्षित रहती है।
3. गन्ने के ऊपरी भाग में पर्ण की लम्बाई कम होने से प्रति इकाई लम्बाई अधिक आँखे प्राप्त होती हैं अच्छी पैदावार के लिए तीन कलिका वाले टुकड़ों की 45–50 हजार तक संख्या पर्याप्त रहती है इनका बजन करीब 60–70 क्विंटल प्रति हेक्टेयर रहता है। गन्ने के टुकडे कटाई के तुरन्त बाद बो देने चाहिए।

बीज उपचार (Seed treatment) : गन्ने के बीजों का अंकुरण बढ़ाने, शीघ्र वृद्धि, फंफूद जनित रोग से बचाने हेतु निम्न रसायनों से उपचारित करें–

1. एगलाल 0.5 प्रतिशत (500 ग्राम दवा 100 लीटर पानी) या एंरीटोन 0.25 प्रतिशत (250ग्राम 100 लीटर पानी से)टुकडो को उपचारित करें। टुकड़ों को 10 मिनट तक घोल मे डुबोकर रखे या कार्बेन्डाजिम 2 ग्राम प्रति लीटर के घोल में 15–20 मिनट तक डुबाकर रखें।
2. चूने के घोल में टुकडों को उपचारित करने से अकुंरण अच्छा होता है।
3. टुकड़ों को 10 पी.पी.एम. के एन.ए.ए. हार्मोन घोल में उपचारित करने से जड़ों का विकास शीघ्र होता है।

बुआई का समय एवं बुआई विधि (Time of sowing and method) : गन्ने की अधिक उपज लेने के लिए सर्वोतम समय (शरद कालीन) अक्टूबर नवम्बर है। बसंत कालीन गन्ना फरवरी–मार्च में लगना चाहिए। वर्षा कालीन गन्ना जून से जुलाई में लगाया जाता है।

गन्ने की बुआई निम्न विधियों से की जाती है:–

1. समतल खेत में बुआई इस विधि में समतल खेत में 75–90 सेमी. दूरी पर देशी हल या ट्रेक्टर चालित रिजर से 6–8 सेमी. गहरी कूड़ बना देते हैं इन कूड़ो में बीज गन्ना के टुकडो को बिछाकर पुनः पाटा चला देते हैं।
2. नालियों मे बुआई :– इस विधि में खेत में 90 सेमी. दूरी पर नालियाँ बनाते हैं। नालियों की गहराई 20 सेमी. चौडाई 45 सेमी. रखते हैं।
3. समतल बुआई करके मिट्टी चढ़ाना इस विधि में समतल खेत में बुआई करके वर्षा ऋतु में पौधे पर मिट्टी चढ़ाते हैं। शुगरकेन प्लान्टर से भी बुआई की जा सकती है। बुआई में गन्ने के टुकड़े दो तरह से लगाते हैं। 1. सिरे से सिरा मिलाकर 2. आँख से आँख मिलाकर लगाते है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : गन्ने की फसल की अवधि अधिक होती है अतः उर्वरक प्रबंधन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके लिए बुआई से 1 माह पूर्व 50–60 टन गोबर की सड़ी हुई खाद खेत में बिखेर के जुताई कर दें। उर्वरक मृदा पोषक तत्व उपलब्धतानुसार 120–150 किग्रा. नाइट्रोजन, 50–60 किग्रा. फास्फोरस, 40 किग्रा. पोटैशियम प्रति हेक्टेयर की दर आवश्यक होती है।

सिंचाई (Irrigation) : गन्ने की फसल में 15–20 दिन के अन्तर पर एवं गर्मी में 8–10 दिन के अन्तर पर सिंचाई करे।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : इसके लिए 3–4 बार निराई गुड़ाई करनी चाहिए। रासायनिक नियंत्रण के लिए अट्राजिन 400 ग्राम 800 लीटर पानी में या सिमेजिन 50% सक्रिय तत्व 3 किग्रा. मात्रा 1000 लीटर पानी में घोल कर प्रति हेक्टेयर बुआई के बाद अकुरण से पूर्व (नमी पर्याप्त होने पर) छिड़काव करना वाहिए। बाद में उगे खरपतवारो के लिए 2–4 डी सोडियम साल्ट 1 किग्रा. प्रति हेक्टेयर 800 लीटर पानी में घोल कर छिडकाव करें।

मिट्टी चढ़ाना : फसल को गिरने से बचाने के लिए रीजर से मिट्टी चढ़ाना शरद कालीन फसल में प्रथम मिट्टी फरवरी –मार्च में तथा अन्तिम मिट्टी मई माह में चढ़ाना चाहिए। कल्ले फूटने से पहले मिट्टी नही चढ़ानी चाहिए।

बँधाई :–गन्ना को गिरने से बचाने के लिए गन्ने के झुण्ड (समूह) को गन्ने की सूखी पत्तियों से बाँधना चाहिए। यह कार्य अगस्त के अन्त में या सितम्बर माह में करना चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : गन्ने की फसल रोग व कीटों से बचाने के लिए निम्नानुसार पौधे संरक्षण उपाय करें।

कटाई (Harvesting) : गन्ने की कटाई गन्ने की पत्तियाँ पीली हो जाये तो, गन्ने को आपस में टकराने पर धातुओं **(Metals)** जैसी ध्वनि निकले, कटे गन्ने को धूप मे देखने पर शक्कर के दाने धूप में चमकते नजर आएं, गन्ने की पोरी आसानी से टूट जाने, गन्ने का रस मीठा लगने लगे तथा चीनी की मात्रा हैण्ड रिफ्रक्टोमीटर के अनुसार 20 पाठ्यांक या इससे अधिक हो तो समझो गन्ना पक कर तैयार हैं। कटाई गंडासे से या तेज धार वाले यत्रों से करें ऊपरी भाग दँराती से काटकर पशुचारे में काम लेते हैं। गन्ने का कोल्हू से रस निकालने पर 70 प्रतिशत तथा मशीन से निकालने पर 80–90 प्रतिशत रस प्राप्त होता है।

उपज (Yield) : गन्ना की औसत उपज 80–100 टन प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है उन्नत विधि से खेती कर 100 से 120 टन प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त हो जाती है।

गन्ने की पेड़ी (Ratooning of Sugarcane) : गन्ने की बोई गई फसल की कटाई के बाद उनकी जड़ो से पुनः फुटान होकर गन्ने के नये पौधे तैयार होते है उन पौधो के कारण जो फसल प्राप्त होती है उसे गन्ने की पेड़ी कहते है।

आलू – (Potato)

वानस्पतिक नाम . सोलेनम ट्यूबरोसम *(Solanum tuberosum)*

कुल . सोलेनेसी (Solanaceae)

महत्व (Importance) : आलू को सब्जियों का राजा कहा जाता है। इससे स्वादिष्ट पकवानो के अलावा चिप्स, भुजिया और कुरकरे भी हर जुबां के मन को भाते हैं। आलू एक पूर्ण पोषक खाद्य है। आलू की उत्पत्ति स्थान दक्षिण अमेरिका है राजस्थान में भरतपूर, धौलपुर, अलवर, कोटा, बूदीं, सिरोही, श्रीगंगानगर हनुमानगढ़ आदि जिलों में उगाया जाता है।

जलवायु (Climate) : आलू फसल के लिए मध्य ठण्डी एवं ठण्डी जलवायु आवश्यक है। आलू 120 सेमी. वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में सफलता पूर्वक उगाया जा सकता हैं। आलू की वृद्धि एवं विकास के लिए इष्टतम तापमान 15°–25°सेल्सियस के मध्य होना चाहिए। इसके अकुंरण के लिए लगभग 25° सेल्सियस संर्वधन के लिए 20° सेल्सियस और कन्द विकास के लिए 17°–19°सेल्सियस तापमान की आवश्यकता होती हैं। उच्च तापमान 30° सेल्सियस होने पर आलू विकास की प्रक्रिया प्रभावित होती हैं। अक्टूबर से मार्च तक लम्बी रात्रि तथा चमकीले छोटे दिन आलू बनने और बढ़ने के लिए अच्छे होते हैं।

भूमि एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : आलू की फसल के लिए जल निकास एवं जीवाशं युक्त बलुई दोमट, दोमट, भारी दोमट मृदाएँ श्रेष्ठ रहती हैं। मृदा जिसका पी.एच.मान 5.5–7 अत्यन्त उपयुक्त रहता है। मृदा का भली भांति भुरभुरा होना आवश्यक है आलू के लिए पहली जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से करे। 3–4 जुताई देशी हल या हैरो से करनी चाहिए। खेत में डेले हो तो पाटा चलाकर मृदा को भुरभुरी बना लेते हैं। बुआई के समय भूमि में पर्याप्त नमी होनी चाहिए। अन्तिम जुताई के समय भूमिगत कीट नियत्रंण हेतु कीटनाशक रसायन का उपयोग करना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : केन्द्रीय आलू अनुसंधान संस्थान कुफरी (शिमला), हिमाचल प्रदेश में स्थित हैं।

अगेती (80–100 दिन)	मध्यम (100–115 दिन)	पिछेती (115–130 दिन)
कुफरी चन्द्रमुखी, कुफरी जवाहर, कुफरी अलंकार, कुफरी बहार, कुफरी नवताल	कुफरी मेघा, कुफरी शीतमान, कुफरी ज्योति, कुफरी चिप्सोना, कुफरी लालिमा, कुफरी बादशाह, कुफरी स्वर्ण, कुफरी चिप्सोना–2	कुफरी सिन्दूरी, कुफरी गिरिराज, कुफरी देवा

यहाँ से विकसित आलू की किस्मों के सम्मुख कुफरी लगाते हैं।

बीज दर (Seed rate) : आलू के बीज के कन्द 3 से 4 सेमी. (30–40 ग्राम भार) आकार के 25–30 क्विंटल प्रति हेक्टेयर पर्याप्त रहता है। अगेती फसल के लिए समूचे कन्द ही बोये जाते है। मध्यम व पिछेती बुआई के लिए कन्द की लम्बाई में 2–3 आँख वाले टुकड़े काटकर प्रयोग करते हैं। कन्दों की मात्रा उनके आकार व अन्तरण पर निर्भर करती हैं। छोटे आकार के बीज 10–12 क्विंटल कन्द प्रति हेक्टेयर पर्याप्त होता हैं।

बीजोपचार (Seed treatment) :

1. आलू के कन्दों को बुआई पूर्व 0.25 प्रतिशत एरीटान के घोल से उपचारित करते है अथवा 3 प्रतिशत बोरिक अम्ल से उपचारित करते हैं।
2. आलू को कन्द खुदाई के तुरन्त बाद बोने पर 2–3 माह तक सुषुप्तावस्था में रहने के कारण अंकुरित नही होता है। कन्दो की सुषुप्ता अवस्था दूर करने के लिए कंद के टुकड़ों को 1 प्रतिशत थायोयूरिया या जिब्रेलिक अम्ल या पोटेशियम थायोसायनेट के घोल से उपचारित करके बोयें। थायोयूरिया की 1 किग्रा. मात्रा 10 लीटर पानी में 10 क्विंटल आलु के कन्दो को उपचारित करने के लिए पर्याप्त है। दीमक, फफूंद और जमीन जनित रोग से बचाव के लिए बीज को 5 लीटर देशी गाय के गोमूत्र में बीज को उपचारित कर 1–2 घण्टे सुखाने के बाद बुआई करें।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : आलू की बुआई का समय उसकी किस्म जलवायु व स्थान पर निर्भर करता हैं। आलू की अगेती फसल 25 सितम्बर से 10 अक्टूम्बर पिछेती (मुख्य फसल) 15 अक्टूम्बर से 30 अक्टूम्बर तक उपयुक्त समय होता हैं। पूर्वी भारत मे आलू मध्य अक्टूम्बर से जनवरी तक बोया जाता है। पहाड़ी क्षेत्रों की घाटी मे फरवरी व उच्च पहाड़ी पर मध्य मार्च से मध्य अप्रैल में की जाती है।

आलू की बुआई की निम्न विधियाँ हैं–

1. **समतल भूमि मे आलू बोना :** आलू की कतार से कतार की दूरी 45 सेमी. की दूरी तथा पौधे से पौधे की दूरी 15–20 सेमी. रखनी चाहिए। इन्हें कूड़ो मे बुआई कर के ऊपर से मिट्टी द्वारा ढक देते हैं।
2. **समतल खेत बुआई के बाद मिट्टी चढ़ाना :** इस विधि मे 60 सेमी. दूरी कतार बनाकर समतल खेत मे 15–25 सेमी. अन्तर पर 8–10 सेमी. गहराई पर आलू की बुआई की जाती है।
3. **मेड़ो पर आलू की बुआई :** इस विधि मे मेड़े बनाने वाले यन्त्र से 20–25 सेमी. दूरी पर 20–25 सेमी. की चौड़ी मेड़ बना ली जाती है, 15–20 सेमी. की दूरी पर मेड़ पर 8–10 सेमी. की गहराई पर बो दिया जाता है। मेड़ की उँचाई 15 सेमी. रखते है
4. **पोटेटो प्लान्टर से बुआई :** पोटेटो प्लान्टर से मेड़ व कूड़ बनाते हुए चलते हैं, पहली मेड पर आदमी आलू बोता है तथा प्लान्टर के पीछे चलता है। प्लान्टर जब पहले कूड़ से दूसरे कूड़ मे प्रवेश करता है तो पहले कूड़ पर बाये कन्दो को हल्की मिट्टी से ढकता हुए चलता है अगली कूड़ व मेड़ तैयार हो जाती है।

खाद व उर्वरक (Manure and fertilizer) : आलू की अच्छी उपज के लिए 125–150 टन गोबर की सड़ी खाद 50 किलो ग्राम नीम की खली 50 किलो ग्राम अरण्डी की खली इन सब खादों को अच्छी तरह मिलाकर प्रति हेक्टेयर दें।

गोबर की सड़ी खाद 50–60 टन प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई 4 सप्ताह पूर्व में भूमि में मिला देते हैं। 100–120 किलोग्राम नाइट्रोजन 50–60 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर फास्फोरस एवं 50–60 किलोग्राम पोटाश प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है। फास्फोरस व पोटाश की पूरी मात्रा बुआई पूर्व भूमि मे ऊरकर देना चाहिए। नाइट्रोजन की मात्रा को 3 भागों में बाँटकर 25–45–60 दिन पर छिड़क कर मिट्टी चढ़ा दें। पोटाश की पूर्ति पोटेशियम सल्फेट से करनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : आलू की फसल की सफल खेती के लिए सिंचाई का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारी मृदा में 10–15 दिन के अन्तराल पर बुआई दोमट (हल्की मृदा में) 8–10 दिन के अन्तराल पर सिंचाई करनी चाहिए। सिंचाई करते समय ध्यान रहे मेड़ों में ही भरें। दो तिहाई से अधिक पानी न भरे सिंचाई की नाली का बहाव तेज नही होना चाहिए अन्यथा कन्दों की ऊपर की मिट्टी बहने का खतरा रहता है। इससे कन्दो पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ने पर कन्द का रंग हरा हो जाता है स्वाद भी

बिगड़ जाता है। यह हरा रंग आलू मे पाये जाने वाले ''सोलेनीन'' नामक रासायनिक पदार्थ के छिलके के नीचे एकत्र हो जाने से उत्पन हो जाता हैं।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : खेती में उगे हुआ खरपतवारों उनको निकालने हेतु पहली निराई–गुड़ाई, बुआई के 25–30 दिन बाद करनी चाहिए। बुआई से पूर्व 1–1.5 किग्रा. पेण्डीमेथलीन (स्टाम्प) सक्रियतत्व 800–1000 लीटर पानी मे मिलाकर या 1 किलो ग्राम फ्लूक्लोरिन (बेसालीन) सक्रिय तत्व एवं 800–1000 लीटर पानी में मिलाकर प्रति हैक्टर की बुआई पूर्व छिड़काव करें, मिट्टी चढ़ाने का कार्य निराई गुड़ाई के साथ किया जाना चाहिए। फसल बोने के एक माह बाद जब पौधे 20–25 सेमी. ऊँचे हो जायें तो पहली बार मिट्टी चढ़ायें फिर 15–20 दिनों बाद दूसरी बार मिट्टी चढ़ानी चाहिए।

पादप संरक्षण (Plant protection) : सारणी 6.5.1 में देखें।

आलू की खुदाई/कटाई (Harvesting) : आलू की फसल किस्मों के अनुसार फरवरी से मार्च में तैयार हो जाती है। खुदाई करने से 15 दिन पूर्व सिंचाई बंद कर देनी चाहिए। पौधों की शाखाएँ काटकर सूखने देते है। ऐसा करने से आलू का छिलका कड़ा हो जाता है, कन्दों का आकार बढ़ जाता है तथा खुदाई कर आलू के ढेर बनाकर बोरियों में 2 से 3 दिन के लिए ढ़क देते हैं। जिससे धूप ना लगे व कन्दो पर लगी मिट्टी छूटकर अलग हो जाएँ ।

उपज (Yield) : आलू की किस्मों पर निर्भर करती है उत्तम कृषि क्रियाओं को अपना कर की गयी खेती से 250 से 400 क्विंटल प्रति हेक्टेयर उपज प्राप्त की जा सकती हैं।

सारणी 6.5.1 आलू की कीट एवं व्याधियाँ

कीट / प्रकोप /नुकसान की दशा	रोकथाम
चैपा (मोयला) कुतरा (कर्तन कीट)	एण्डोसल्फान 35 ईसी की 1.5 लीटर मात्रा प्रति हेक्टेयर छिडकें 12 .5 लीटर देशी गाय का मट्ठा + 125 किग्रा. नीम की पत्ती या 5 किलो ग्राम नीम तली या 5 किलोग्राम नीम की पत्तियाँ एक मटके में सड़ाकर, इस मिश्रण मे से 12.5 लीटर 500 लीटर पानी मे डालकर मिला कर प्रति हेक्टेयर छिड़काव करें ।
ऐपीलेकना बिटल	25 लीटर देशी गाय का गोमूत्र में 5 किलोग्राम अकौआ (आक) पत्ती, 5 किलोग्राम नीम की पत्ती 5 किलोग्राम बेसरम की पत्ती मिलाकर 10–15 दिन सड़ा कर। इस मूत्र का आधा शेष बचने तक उबालकर मिश्रण को 500 लीटर पानी मे मिलाकर तर बतर कर पम्प द्वारा प्रति हेक्टेयर छिड़काव करे ।
आलू की तितली	उपरोक्तनुसार
रोग–अगेती झुलसा	उपरोक्तानुसार एवं मैन्कोजेवरली माया 800–1000 लीटर पानी मे घोल बनाकर प्रति हेक्टेयर छिड़के आलु की बुआई पूर्व 2.5 किलो ग्राम ट्राईकोडर्मा कल्चर एक क्विंटल खाद में मिलाकर प्रति हेक्टेयर मृदा मे मिलायें।
पछेती झुलसा	उपरोक्तनुसार
काली रूसी (ब्लैक स्कार्फ)	बीज कन्दो को एगेलॉल या ऐरीटोन से उपचारित करके बोयें।
मौजक रोग	1–1.25 लीटर मैटासिस्टोक्स 800–1000 लीटर पानी मे घोल कर छिडकाव करें।

ग्वार– (Guar) (Cluster bean)
वानस्पतिक नाम–सायमोप्सिस टेट्रागोनोलोबा
(Cyamopsis tertagonoloba)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : ग्वार के दाने में ग्वार गम (गोंद) 30–35 प्रतिशत पाया जाता है। ग्वार गम का उपयोग औषधीय निर्माण, खनिज उद्योग, कपड़ा उद्योग, कागज उद्योग के साथ साथ सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री बनाने में किया जाता है। ग्वार के दाने की चुरी पशुओं के लिए पौष्टिक आहार है। ग्वार का उत्पति स्थान भारत है। शरत में सर्वाधिक 75 प्रतिशत ग्वार उत्पादन होता है। राजस्थान में चुरू, सीकर, श्रीगंगानगर, नागौर, जोधपुर, पाली, जैसलमेर व बीकानेर प्रमुख ग्वार उत्पादक जिले हैं।

जलवायु (Climate) : ग्वार की खेती जहाँ 30–40 सेमी. वार्षिक वर्षा होती है वहाँ आसानी से की जा सकती है। बीजों के अंकुरण व जड़ों के विकास के लिए 25–30सेल्सियम तापमान उपयुक्त है। इसलिए राज्य के शुष्क एवं अर्द्धशुष्क क्षेत्र में इसकी खेती अधिक की जाती है। यह सूखा सहन करने वाली फसल है।

मृदा एवं खेती की तैयारी (Soil and field preparation) : ग्वार के लिए अच्छे जल निकास वाली व उच्च उर्वरता वाली दोमट मृदा सर्वोत्तम रहती है। 7–8 पी एच वाली हल्की क्षारीय मृदा में ग्वार की उपज आसानी से ली जा सकती है। ग्वार की फसल के लिये गर्मियों में एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से व 1–2 जुताई देशी हल या हैरो से कर, पाटा लगाकर भूमि तैयार कर लेते है।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : आर.जी. सी. 936, आर.जी.सी. 1002, आर.जी.सी.1003, आर.जी.सी.1066, ग्वार क्रांति, आर.जी.सी. 1033, ग्वार करण, ग्वार उदय, (सूर्या ग्वार), दुर्गा सफेद ।

बीज दर एवं बीजोपचार (Seed rate and Seed treatment) : ग्वार की फसल का बीज एकल फसल हेतु 15–20 किग्रा. चारे के लिये 40–45 किग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से बोया जाता है। जीवाणु जुलसा रोग की रोकथाम के लिये बुआई से पूर्व प्रति किलो बीज को 250 पीपीएम एग्रीमाइसिन या 100 पीपीएम स्ट्रेप्टोसाइक्लिन के घोल में 2 घंटे भिगोकर उपचारित करें। नये खेत में पहली बार ग्वार बोने पर बीज बोने से पहले राइजोबीएम व पीएसबी जीवाणु कल्चर से उपचारित अवश्य करें। रस चूसक कीटों के नियंत्रण के लिये इमिडक्लोप्रिड 70 डब्लू एस 5 ग्राम प्रति किलो बीज की दर से उपचारित करना चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : ग्वार की बुआई असिंचित क्षेत्र में वर्षा आरम्भ होने पर सिंचित क्षेत्र में 30 जुलाई तक कर देनी चाहिए। कतार से कतार की दूरी 30–45 सेमी. एवं पौधे से पौधे की दूरी 10–15 सेमी. तथा बीज की गहराई 4–5 सेमी. कर देनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) :

1. बुआई से 4 सप्ताह पूर्व प्रति हेक्टेयर 10 टन गोबर की सड़ी हुई खाद का प्रयोग करें।
2. अच्छी उपज के लिए 20 किग्रा. नाइट्रोजन 40 किग्रा. फॉस्फोरेस

सिंचाई (Irrigation) : वर्षा समय पर हो तो सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती है अन्यथा 1–2 सिंचाई की जरूरत पड़ती है। पहली सिंचाई बीज बोने के 25 दिन बाद आवश्यकता पड़ने पर दूसरी सिंचाई बुआई के 50–55 दिन बाद करनी चाहिए ।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : ग्वार की फसल में एक निराई–गुड़ाई 25–30 दिन बाद करे। ग्वार की फसल में वर्षा नहीं होने पर जलाभाव की दशा में सल्फोंसेलिसिलिक अम्ल में 254 पी.पी.एम. मिलाकर वानस्पतिक वृद्धि एवं पुष्पन अवस्था पर दो छिड़काव करके अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है।

पादप संरक्षण (Plant protection) : ग्वार की फसल में प्रायः एफिड, सफेद मक्खी, जेसिड नामक कीटों का प्रकोप होता हैं। इन कीटों की रोकथाम के लिए पहला छिड़काव बुआई से 30 दिन बाद 300 मिली. मिथाइल डेमोटोन 25 ईसी या इमिडाक्सीप्रिड 0.005 प्रतिशत (5 मिली/10 लीटर पानी) ऐसिरामीप्रिड 0.004 प्रतिशत या कारबोसल्फान 0.05 प्रतिशत 250 लीटर पानी का घोल बनाकर छिड़काव करें इस प्रकार दूसरा छिड़काव बुआई के 60 दिन बाद फिर करें।

झुलसा रोग : 2.5 ग्राम स्ट्रेप्टीसाइक्लिन एवं कॉपर ऑक्सी क्लोराइड 30 ग्राम प्रति 10 लीटर पानी या 2 ग्राम कॉपर आक्सीक्लोराइड व 2 ग्राम मैन्कोजेब को छिड़काव से आधा

घण्टा पूर्व मिलाकर छिड़काव करें। आवश्यकता होने पर पुनः 15 दिन बाद छिड़काव करें।

चूर्णी फफूंद रोग : नियंत्रण हेतु केराथेन एल सी 40 मिली 4 लीटर पानी में मिलाकर या 24–25 किग्रा. गन्धक के चूर्ण का प्रति हेक्टेयर भुरकाव करें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : फसल पकने पर अक्टूबर से नवम्बर में कटाई कर ली जाती हैं। सूखने पर बैलों, ट्रेक्टर थ्रेसर द्वारा मढ़ाई कर दाना अलग कर लेते हैं। चारे की कटाई 60–80 दिन पर कर सकते हैं।

उपज (Yield) : उन्नत विधि से खेती करने पर ग्वार की औसत उपज 12–16 क्विटंल प्रति हेक्टेयर बीज प्राप्त हो जाता है तथा 250–300 क्विंटल हरा चारा प्राप्त हो जाता है।

6.6 रेशे वाली फसलें (Fiber Crops)

कपास (Cotton)
वानस्पतिक नाम – गोसीपियम स्पीसिज *(Gossypium spp.)*
कुल – मालवेसी (Malvaceae)

महत्व (Importance) : कपास रेशेवाली आर्थिक महत्व की नकद फसल है, जिसे सफेद सोना भी कहा जाता है। वस्त्र उद्योग में कपड़े के उत्पादन का 70% भाग कपास के रेशे से ही निर्मित होता है। कपास की उत्पति के बारे में भिन्न–भिन्न मत हैं। कुछ विद्वान अफ्रीका और एशिया तथा नई दुनिया के मध्य दक्षिणी अमेरिका तथा कुछ विद्वान भारतवर्ष को कपास उत्पति का स्थान मानते हैं। राजस्थान में कपास की खेती करने वाले जिले श्रीगंगानगर, हनुमानगढ, बांसवाड़ा व पाली हैं।

वर्गीकरण :– भारत में उगाई जाने वाली कपास को दो समूहों में विभक्त किया गया है ।

1. देशी कपास

(i) गोसिपियम हरबेसियम (ii) गोसीपियम आरबोरियम

2. अमेरिकन कपास

(i) गोसिपियम हिर्सुटम, (ii) गोसीपियम बारबेडेन्स

जलवायु (Climate) : कपास एक उष्ण कटिबन्धीय फसल है। 125 से.मी.से अधिक वर्षा इसके लिए हानिकारक होती है। फूल खिलतें समय मौसम साफ व हवा शान्त होनी चाहिए क्योंकि तेज हवा के कारण इसके फूल व गूले झड़ जाते हैं।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : कपास के लिए गहरी दोमट जीवांश युक्त उपजाऊ व अच्छी जल धारण क्षमता वाली मृदा उपयुक्त होती है। भारत में कपास मुख्यतः कपास की काली मृदा, एल्युवियल, लाल और लैटराइट मृदा में उगाई जाती है। कपास के लिए रबी की फसल कटाई के बाद पहली जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से करके 2–3 जुताईयां देशी हल से करके खेत तैयार कर लेना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties) :

देशी कपास की उन्नत किस्में : दिग्विजय, आर.जी. –8, आर.जी.–18, जी–1, गिरनार, प्रताप कपि–1।

अमेरिकन कपास की उन्नत किस्में : बीकानेरी नरमा, गंगानगर अगेती, आर.एस. 810।

संकर किस्में : मरू विकास (राज.एच.एच–16), एन.एच. एच–44, संकर–6 ।

बीजदर **(Seed rate) :** अमेरिकन कपास के लिए बीजदर 15–18 कि.ग्रा. देशी किस्म के लिए 12–15 कि.ग्रा. संकर किस्म के लिए 2.5–3 किग्रा. प्रति हेक्टेयर काम लेते है। आर.एस.टी.9 किस्म के लिए बीजदर 20–25 कि.ग्रा प्रति हेक्टेयर रखते है ।

बीजोपचार (Seed treatment) :

1. गुलाबी सुण्डी को नष्ट करने के लिए 40 किग्रा. बीज मे एल्युमिनियम फॉस्फाइस की एक गोली या ई.डी.बी एम्प्यूल को बन्द कमरे में 24 घण्टे तक धूमित करते है या तेज धूप मे बीज को पतली तह के रूप में फैलाकर 6 घण्टे तक रखते है।
2. बीजो के रेशे हटाने के लिए 10 किग्रा. बीजों के लिए 1 लीटर गंधक के तेजाब को प्लास्टिक पात्र मे 1–2 मिनट तक लकड़ी से हिलाते हैं, बीज काले पड़ते ही बहते हुए पानी में बीजों को धोकर प्रयोग में लेते है, तैरते बीजों को बाहर निकाल देते हैं।
3. बीज जनित जीवाणु रोग से बचाव हेतु बीजों को 6–8 घण्टे पानी में भिगोकर सुखाने के बाद 10 लीटर पानी में एक ग्राम स्ट्रेप्टोसाइक्लिन या 10 ग्राम पोषामाइसिन के

घोल में 8–10 घण्टे तक उपचारित कर सूखा लेते हैं ।

4. जड़ गलन रोग की रोकथाम के लिए बीजों को 2 ग्राम कार्बोण्डाजिम या 10 ग्राम ट्राईकोडर्मा प्रति किग्रा. बीज या दानों से उपचारित कर बुआई करते हैं।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : कपास की फसल की बुआई का उपयुक्त समय 15 अप्रेल से 15 मई है। सिंचाई की पर्याप्त सुविधा न होने पर मानूसन की उपयुक्त वर्षा होते ही बुआई कर देनी चाहिए। कपास की फसल की बुआई अमेरिकन किस्मों में 60×45सेमी. देशी किस्मों में, 45×30 सेमी. तथा संकर किस्मों में 150×60 सेमीं. पर बुआई करते है।

खाद एंव उर्वरक (Manure and fertilizer) : फसल की बुआई के 3–4 सप्ताह पूर्व 8–10 टन गोबर की खाद या कम्पोस्ट प्रति हेक्टेयर की दर से खेत में हल चलाकर भली भांति मिला देनी चाहिए। कपास की अमेरिकन किस्म में 75 किग्रा. नाइट्रोजन व 45 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से देना चाहिए। देशी किस्मों में 50 किग्रा. नाइट्रोजन व 25 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर तथा संकर किस्मों में 100–120 किग्रा. नाइट्रोजन व 40–50 किग्रा. नाइट्रोजन व 40–50 किग्रा. फास्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से देना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : कपास की बुआई के बाद मृदा किस्मानुसार 3 से 7 सिंचाइयों की आवश्यकता होती है निम्न क्रांतिक अवस्थाओं पर सिंचाई अवश्य करनी चाहिए पहली सिम्पोडिया शाखाएँ निकालने की अवस्था एवं 45–50 दिन फूल पुड़ी बनने की अवस्था। दूसरी फूल एवं फल बनने की अवस्था 75–85 दिन तीसरी अधिकतम गूलर (डोडी) की अवस्था 95–105 दिन। चौथी अवस्था गुलर (डोडे) वृद्धि एवं खुलने की अवस्था 115–125 दिन पर होनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : निराई–गुड़ाई से खरपतवार नष्ट होते है और मृदा भुरभुरी हो जाती है, पहली निराई–गुराई अंकुरण के 15–20 दिन के अन्दर (पौधे 10–12 सेमी. ऊँचे होने पर) करनी चाहिए। इसके बाद एक–एक माह के अन्तर पर दो निराई–गुड़ाई करनी चाहिए। खरपतवार नाशकों में पायरेटोब्रेक सोडियम 750 ग्राम प्रति हेक्टेयर या फ्लूक्लोरिन/पेण्डीमिथालिन 1 किग्रा. सक्रिय तत्व को बुआई पूर्व उपयोग किया जा सकता है

पादप संरक्षण (Plant protection) : कपास के हानिकारक कीट सफेद मक्खी माहू (मोयला, तेला) मिली बग आदि पत्तियों से रस चूसते है और मीठा चिपचिपा पदार्थ छोड़ते हैं जो वायरस का संचरण करते है (1) इनके नियंत्रण के लिए प्रति हेक्टेयर 20–25 पीले प्रंपच लगाये, (2) नीमतेल 5 मिली. टिनो पाल/सेन्डोविट 1 मिली. प्रति लीटर पानी की दर से छिड़काव करें। (3) रासायनिक कीट नाशी में थायोमिथाक्ज्म 25 डब्ल्यू जी 100 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर या एसिटामेप्रिड 20एस.पी. 20 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर या इमिडाक्लोप्रिड़ 17.8 एस.एल. 200 मिली. सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर या डायजोफास 40 ईसी 400 मिली. सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर का छिड़काव करें। एक बार प्रयोग में लाई गई दवा का पुनः छिड़काव नही करें।

रोग (Disease) : कपास मे जीवाणु झुलसा रोग, पत्ती धब्बा रोग, पौध अंगमारी मुख्य रोग हैं। कपास मे रोग नियंत्रण के लिए निम्न उपाय करें –

(1) बीजो को बोने से पूर्व बावेस्टीन 1 ग्राम मात्रा प्रति किग्रा. बीज की दर से बीज उपचार करे ।

(2) स्टप्टोसाइक्लिन का 100 पी.पी.एम (1 ग्राम दवा प्रति 10 लीटर पानी) घोल का छिड़काव 15 दिन के अन्तर पर दो बार करें।

(3) कवक जनित रोगों की रोकथाम हेतु एन्टाकाल या मेन्कोजेब या कॉपर आक्सीक्लोराइड की 2.5 ग्राम दवा को प्रति लीटर पानी के साथ घोल बनाकर फसल पर 2–3 बार 10 दिन के अन्तराल पर छिड़काव करें।

(4) भूमि मे जल निकास की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

चुनाई : पौधे पर सारे फूल एक साथ नही आते हैं, जब कपास के डोडे काफी संख्या मे पक कर पूरे खिल जायें तो उनकी चुनाई करनी चाहिए। साधारणतया चुनाई अक्टूबर से दिसम्बर तक कभी–कभी जनवरी प्रथम सप्ताह तक की जाती है। सामान्यतया कपास में 5–6 चुनाई करते हैं, यह कपास की किस्मों पर निर्भर करती हैं। चुनाई कार्य प्रातः 9–10 बजे प्रारम्भ करना उचित है। जब पौधे से ओस समाप्त हो जाए तब चुनाई करनी चाहिए। कपास में बिनौले और रूई को अलग करने की विधि को ओटाई कहते हैं। हाथ चरखी या शक्ति चालित मशीन से ओटाई की जाती है।

उपज (Yield) : कपास की उपज देशी, उन्नत किस्मों से 10–15 क्विंटल प्रति हेक्टेयर संकर किस्मों से 13–18 क्विंटल प्रति हेक्टेयर तथा बीटी किस्मों से 15–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर तक औसत उपज प्राप्त होती हैं। कपास के रेशे वाले भाग को रूई (Lint) व बिनौले को बीज (Cottonseed) कहा जाता है। औटाई प्रतिशत देशी मे 30–40, अमेरीकन किस्मों में 30–35, संकर किस्मों में 32–34 होता है लम्बे रेशे की कपास के अच्छे गुण वाली मानी जाती हैं कपास के गुण रेशे की मजबूती, बारीकी, परिपक्वता, समानता आदि व रेशे की लम्बाई 1.5 से 3.0 सेमी. तक होती है।

सनई – (Sunn or Sunn hemp)
वानस्पतिक नाम –क्राटोलेरिया जुन्सिया एल. (*Crotolaria juncea* L.)
कुल – फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : शरत में सनई की खेती, हरी खाद, रेशे व दाने के लिये की जाती है। सनई के फूलों की सब्जी बनती है। इसके तने को पानी में सड़ाने के बाद ऊपर लगा रेशा रस्सी, त्रिपाल, मछली पकड़ने के जाल, रस्सियाँ आदि बनाने के काम आता है तथा यह शूमि में वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करती हैं। हरी खाद के लिये सनई को प्रमुखता दी जाती है।

सनई की उत्पति का स्थान कुछ विद्वानों के अनुसार ब्राजील व कुछ के अनुसार बर्मा है। राजस्थान में इसकी खेती श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़, भरतपुर, अलवर, जयपुर जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : सनई उष्णकटिबंध जलवायु का पौधा है। इसकी खेती 50–100 सेमी वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में की जाती है। इसमें सूखा सहन करने की क्षमता होती है।

मृदा एवं खेत की तैयारी (Soil and field preparation) : सनई की खेती जल निकास युक्त सभी प्रकार की मृदाओं में की जा सकती है इसकी खेती हल्की दोमट, भारी दोमट काली आदि मृदाओं में उगाई जा सकती है। हल्की दोमट मृदा इसकी खेती के लिए सर्वोत्तम है।

रेशे/दाने के लिए एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 2–3 जुताइयाँ देशी हल से करके खेत तैयार करते हैं। प्रत्येक जुताई के बाद खेत को समतल व भुरभुरा करने के लिये पाटा चलाया जाता है। हरी खाद के लिये 1 जुताई के बाद मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 1–2 जुताई देशी हल से कर बीज छिड़क कर बुआई कर देते है।

उन्नत किस्में (Improved vareities) : सनई की निम्न किस्में रेशा, दाना व हरी खाद के लिये प्रयोग की जाती हैं – के–12, के–12 पीली, एम–35, एम–19, एम–18, आर–67–34, बी.ई–1 (सेकर), डी–9, एस.टी–55 वेल्लारी ।

बीज दर एवं बीजोउपचार (Seed rate and seed treatment) : हरी खाद के लिए 50–60 किग्रा. रेशे के लिए 40–50 किग्रा. तथा दाने के लिए 25–30 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है।

रोगों से बचने के लिये 4 ग्राम ट्राइकोडर्मा या 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम प्रति किलो बीज दर से बीज उपचारित कर सकते है। वैसे सनई में बीजोपचार की आवश्यकता नही होती है।

बुआई का समय व विधि (Time of sowing and method) : सिचांई युक्त स्थानों पर हरी खाद के लिये 15 मई से 15 जून तक कर देनी चाहिये। दाने व रेशे के लिये वर्षा होने पर जून से जुलाई मध्य तक की जा सकती है।

सनई की बुआई दो प्रकार से की जाती है

1. छिटकवाँ विधि– बीजों को खेत में छिटक कर जुताई कर दी जाती है। रेशे व दाने के लिये कतारों में बुआई करना ठीक होता है।

2. कतारों में बुआई– रेशे की फसल में कतार से कतार की दूरी 50–60 सेमी और बीज के लिये बोई जाने वाली फसल कतार से कतार की दूरी 30 सेमी. व पौधे से पौधे की दूरी 25–30 सेमी रखी जाती है। बीज की बुआई सीडड्रिल या देशी हल के नाइला बाँधकर करते हैं।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : सनई दलहनी फसल होने के कारण नाइट्रोजन की जरूरत नही पड़ती है। फास्फोरस व पोटाश की मात्रा 20–40 किग्रा. फास्फोरस व 20–30 किग्रा. पोटाश की मात्रा बुआई के समय ऊरकर शूमि में दे देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : मई में बोई गई फसल (हरी खाद) में वर्षा प्रारम्भ होने से पूर्व 1–2 सिंचाई की आवश्यकता होती है बीज व रेशे की फसल में वर्षा न होने पर 1–2 सिंचाई कर देनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : हरी खाद के लिए बोई गई फसल मे निराई–गुड़ाईकी आवश्यकता नही होती है।

बीज व रेशे की फसल मे शुरूआत मे एक दो निराई–गुड़ाई करनी चाहिए, जिससे खरपतवार नियंत्रण हो सके तथा मृदा में वायु संचार हो सके।

पादप सरंक्षण (Plant protection) :

कीट : सनई मोथ एवं लाल रोमिल इल्ली– इनके नियंत्रण के लिए 0.15 प्रतिशत एण्डो सल्फान 35 ईसी के घोल का छिड़काव करना चाहिए तना छेदक के लिए 0.04 प्रतिशत डायजीनान का घोल आवश्यकतानुसार 3–4 वार छिड़काव करें रोग गेरूई की रोकथाम के लिए0.2 प्रतिशत मैन्कोजेब के घोल का छिड़काव करे आवश्यकता होने पर दोहरायें। मौजेक के लिए यह विषाणु द्वारा फैलता है इसके लिए कोई कीटनाशी दवा का प्रयोग करे।

उखटा रोग के लिए एग्रोसन जी .एन से बीज उपचारित करें।

जीवाणु पत्ती या पर्णदान के लिए फसल चक्र अपनायें।

चूर्णी फफूंद के लिए घुलनशील गधंक जैसे इलोसोल या सल्फेक्स 3 कि.ग्रा 1000 लीटर पानी मे घोल कर प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें या 0.06 प्रतिशत कैराथेन दवा का छिड़काव करें।

कटाई (Harvesting) :

(अ) हरी खाद के लिए फसल बुआई के 50–60 दिन बाद फसल को खेत मे पलट देते हैं।

(ब) रेशे वाली फसल बोने के 10–12 सप्ताह बाद फसल की कटाई करते है पहले या देर से कटाई करने से अच्छे गुणों का रेशा नही मिलता है।

(स) बीज बढ़ाने के लिए– फलियों मे बीज कठोर व काला हो जायें तो कटाई कर लेनी चाहिए। कटाई हँसिये से करते हैं। फसल की सूखने के बाद डण्डों से पीट कर बीजो को अलग कर लेते हैं।

उपज (Yield) : हरी खाद की फसल से 200–300 क्विंटल प्रति हेक्टेयर जीवांश पदार्थ प्राप्त हो जाता है रेशें वाली फसल से 10–12 क्विंटल रेशा प्रति हेक्टेयर तथा दाने की फसल से 10–12 क्विंटल दाना प्रति हेक्टेयर प्राप्त हो जाता है।

सड़ाना व रेशा निकालना :– फसल कटाई के बाद छोटे–छोटे बंडल बनाते हैं जिन्हे पोखर, तालाब मे 2–3 दिन सीधे खड़े करते हैं दो दिन बाद 1.0–1.5 मीटर गहरे पानी मे तिरछे डालकर मिट्टी से दबा देते है 7–8 दिन बाद निकालकर साफ पानी से धोकर अच्छी तरह से सुखा लेते हैं सखने के बाद हाथों से रेशा उतारकर अलग कर लेते हैं।

6.7 मसाले वाली फसलें (Spice Crops)

जीरा – (Cumin) Zeera
वानस्पतिक नाम–क्यूमिनम साइमिनम लिन (*Cuminum cyminum* Linn)
कुल – एपिएसी (Apiaceae)

महत्व (Importance) : जीरा भारतीय रसोई में स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ बनाने वाला महत्वपूर्ण मसाला है। जीरे में 2.5 से 3.5 प्रतिशत वाष्पशील तेल पाया जाता है। तेल का मुख्य अवयव क्यूमिनोल या क्यूमिन एल्डीहाइड है जिसके कारण दानों में विशेष प्रकार की जायकेदार सुगन्ध होती है। जीरे में मूत्रवर्धक, वायुनाशक, अग्नि दीपक गुण पाये जाते है। इसकी उत्पति भूमध्यसागरीय क्षेत्र में है। कुछ का मत है कि मूल स्थान मिश्र है। देश का 80 प्रतिशत से अधिक जीरा गुजरात व राजस्थान राज्य में उगाया जाता है। राजस्थान के जालौर बाड़मेर, पाली, अजमेर, जोधपुर, नागौर, टोंक, जयपुर जीरा उत्पादन के मुख्य जिले हैं।

जलवायु (Climate) : जीरे के लिए उप उष्णकटिबन्धीय जलवायु आदर्श है बुआई के समय 24°– 28° सेल्सियस तथा वृद्धि के समय 20°–25° सेल्सियस ताप उपयुक्त रहता है। जीरे के लिए साधारण ठंड वाला शुष्क मौसम श्रेष्ठ है। बीज पकने के समय शुष्क एवं साधारण गर्म मौसम फसल के लिए अच्छा रहता है। अधिक वायुमण्डलीय नमी रोग व कीटों को पनपाने में सहायक होती है। फसल पाला सहन करने में असमर्थ रहती है ।

मृदा (Soil) : जीरे की फसल के लिए जीवांश युक्त बलुई दोमट एवं दोमट मृदा जिसमें जल निकास की उचित व्यवस्था हो सर्वोत्तम रहती है।

भूमि की तैयारी (Field preparation) : जीरे की फसल के लिए एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से करने के बाद एक क्रोस जुताई हेरो से करके पाटा लगा देना चाहिए

तत्पश्चात् एक जुताई कल्टीवेटर से करके पाटा लगाकर मिट्टी भुरभुरी बना देनी चाहिए। जहाँ दीमक व अन्य भूमिगत कीटों का प्रकोप होता है वहाँ अन्तिम जुताई के समय एण्डोसल्फान 4 प्रतिशत या क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत या मिथाइल पैराथियान 2 प्रतिशत चूर्ण 20–25 किग्रा प्रति हेक्टेयर की दर से खेत में मिला देना चाहिए।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : आर.एस. 1, आर.जेड.19, आर.जेड. 209, आर.जेड.223, गुजरात जीरा–2(जीसी–2), गुजरात जीरा–4(जीसी–4), एम.सी.43।

बीज दर (Seed rate): जीरे की फसल के लिए 12–15 किलोग्राम बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त रहता है ।

बीजोपचार (Seed treatment) : बीज जनित रोगों से बचाव के लिए बुआई से पूर्व बीजों को 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम 50 डब्ल्यू पी प्रति किलो बीज की दर से उपचारित कर बोना चाहिए।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : जीरे की बुआई का श्रेष्ठ समय 15 नवम्बर से नवम्बर अन्त तक है। जीरे की बुआई आमतौर पर पहले से तैयार क्यारियों में छिटकवा विधि से की जाती है । कतारों में बुआई के लिए क्यारियों में 25–30 सेमी. की दूरी पर लोहे या लकड़ी के बने हुक से कतार बना देते है बीजों को इन्हीं कतारों में 05–10 सेमी. पर डालकर दाँतली चला दी जाती है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer): 10–15 टन प्रति हेक्टेयर की दर से जुताई से पूर्व बुआई से (3–4 सप्ताह पूर्व) गोबर की खाद खेत में बिखेर कर मिला देना चाहिए इसके अलावा जीरे की फसल में 30 किग्रा नाइट्रोजन एवं 20 किग्रा फॉस्फोरस प्रति हेक्टेयर की दर से उर्वरक भी देवें। जीरे की अच्छी फसल के लिए नेफ्थलीन एसिटिक अम्ल (NAA) 50 पीपीएम का घोल बुआई के 40–60 दिन पश्चात् छिड़के।

सिंचाई (Irrigation) : जीरे की बुआई के तुरन्त बाद एक सिंचाई दे देनी चाहिए। सिंचाई के समय ध्यान रहे कि पानी का बहाव तेज न हो अन्यथा बीज अस्त व्यस्त हो जायेंगे। दूसरी सिंचाई बुआई के एक सप्ताह पूरा होने पर जब बीज फूलने लगे तब करें। अगर दूसरी सिंचाई के बाद अंकुरण पूरा नहीं हुआ हो या जमीन पर पपड़ी बन गई हो तो एक हल्की सिंचाई करना लाभदायक रहेगा उसके बाद भूमि की किस्म तथा मौसम के अनुसार 15–25 दिन के अन्तर पर 5 सिंचाइयाँ पर्याप्त होगी। पकी हुई फसल में सिंचाई न करें। दाना बनते समय अन्तिम सिंचाई गहरी करनी चाहिए।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) (छटाई, निराई व गुड़ाई) : जीरे की अच्छी फसल के लिए दो निराई गुड़ाई करनी चाहिए। पहली 30–35 दिनों बाद व दूसरी 55–60 दिनों बाद करनी चाहिए। पहली निराई के बाद अनावश्यक पौधे निकालकर पौधे से पौधे की दूरी 5–10 सेमी. कर देनी चाहिए। जीरी व अन्य खरपतवार नियंत्रण के लिये फ्लूक्लोरेलीन 1 किग्रा. सक्रिय तत्व, 2.50 ली बासलीन प्रति हेक्टेयर (3 मिली. प्रति लीटर पानी में) छिड़काव कर भूमि में मिला दें तत्पश्चात् जीरे की बुआई करें या पेण्डिमिथालीन 1 किग्रा. सक्रिय तत्व (3 किलो स्टाम्प एफ 34) प्रति हेक्टेयर या ऑक्साडायर्जिल 6 ईसी 50 ग्राम सक्रिय तत्व प्रति हेक्टेयर की दर से बुआई के बाद 15 से 20 दिन के अन्दर छिड़काव करें।

पादप संरक्षण (Plant protection) :

मोयला – नियंत्रण हेतु डायमिथोएट 30 ई.सी. या मैथालियान 50 ई.सी 1 मिली. प्रतिलीटर की दर से छिड़काव करना चाहिए आवश्यकतानुसार 10–15 दिन के बाद छिड़काव को दोहरावें।

छाछिया – बीज बनते ही नियंत्रण हेतु गंधक चूर्ण 25 किग्रा प्रति हैक्टेयर की दर से बुरकाव करें या घुलनशील गंधक चूर्ण 2.5 किग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से छिड़कें या कैराथियान एल सी एक मिली. प्रति लीटर पानी की दर से घोलकर छिड़काव करें। आवश्यकतानुसार 10–15 दिन के अंतराल पर छिड़काव दोहरावें।

झुलसा (ब्लाइट) – इस रोग के नियंत्रण के लिए मैन्कोजेब की 2 ग्राम या टोप्सिन एम या जाइरम प्रति लीटर पानी में घोलकर छिड़कें। आवश्यकतानुसार 40–45 दिन पर पुनः छिड़काव करें।

उखटा (विल्ट) – इसके नियंत्रण के लिए ट्राइकोडर्मा 4 ग्राम प्रतिकिलो या बाविस्टीन 2 ग्राम प्रतिकिलो बीज की दर से उपचारित करके बोना चाहिए। लगातार जीरे की फसल एक ही खेत मे नहीं बोनी चाहिए। ग्रीष्मकालीन जुताई करनी चाहिए। खड़ी फसल में लक्षण दिखाई देने पर 2.50 किग्रा ट्राईकोडर्मा 100 किग्रा कम्पोस्ट के साथ मिलाकर छिड़काव कर देना चाहिए तथा हल्की सिंचाई करनी चाहिए।

जीरे में उखटा एवं झुलसा रोग नियंत्रण हेतु ट्राईकोडर्मा विरडी जैविक फंफूदनाशी 2.5 किग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से 100 किग्रा. गोबर की खाद में मिलाकर भूमि उपचार कर देना चाहिए या नीम की खली 150 किग्रा. प्रति हैक्टेयर बुआई से पूर्व खेत में मिला देना चाहिए।

कटाई (Harvesting) : जीरे की फसल फसल 90 से 135 दिन मे पककर तैयार हो जाती है फसल की कटाई दाँताली से करते हैं। कटी फसल को खलिहान में अच्छी तरह सुखा लेते हैं।

मढ़ाई (Threshing) : फसल की गहाई साफ फर्श पर लकड़ी से धीरे धीरे पीटकर जीरे के बीजों को अलग कर लेते हैं। दानों से मिट्टी हल्का कचरा व अन्य पदार्थ औसाई कर दूर कर लेते हैं तत्पश्चात् दानों की अच्छी प्रकार सुखाकर साफ बोरियों में भर लेते हैं।

उपज (Yield) : उपर्युक्त उन्नत कृषि विधियाँ अपनाने से 6 से 10 क्विंटल प्रति हैक्टेयर जीरे की उपज प्राप्त की जा सकती है।

धनिया (Coriander)

वानस्पतिक नाम –कोरिएन्ड्रम सेटाइवम लिन *(Coriandrum sativum Linn.)*

कुल – एपिएसी (Apiaceae)

महत्व (Importance) : धनिया एक बहुमूल्य बहुउपयोगी मसाले की फसल है। धनिया के बीज एवं पत्तियाँ भोजन को सुगंधित एवं स्वादिष्ट बनाने के काम आते हैं। धनिया बीज में बहुत अधिक औषधीय गुण है। इसके अलावा कई प्रकार के खाद्य पदार्थों, पेय पदार्थों, मद्यों एवं इत्र आदि में इसका प्रयोग होता है इसकी हरी पत्तियाँ प्रोटीन विटामिन 'ए' एवं विशिष्ठ प्रकार की खुशबूयुक्त होने के कारण चटनी व सलाद में प्रयोग की जाती है। इसके दानों में लीनोलीन व कोन्ड्रयोल नामक वाष्पशील तेल पाया जाता है जो भोज्य पदार्थों को स्वादिष्ट एवं सुगंधित बनाता है। भारतीय संस्कृति में धनिये का उपयोग मंगल कार्यों में किया जाता है। इसकी उत्पति भूमध्यसागरीय क्षेत्र में मानी जाती है। राजस्थान में धनिये की खेती कोटा, झालावाड़, बूंदी, सवाई माधोपरु, अलवर, चितौडगढ़, सीकर जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : धनिये की फसल के लिए शुष्क एवं ठंडा मौसम अनुकूल होता है बीजों का अंकुरण व वृद्धि 20°–25° सेल्सियस ताप पर अच्छी होती है फूल व दाना बनते समय पाला रहित स्वच्छ साफ मौसम अच्छा रहता है। धनिया को पाले से अधिक हानि होती है। फूल वृद्धि के समय लम्बे समय तक बादल छाये रहने पर कीट व रोगों का प्रकोप अधिक होता है।

मृदा (Soil) : धनिया की फसल के लिए पर्याप्त काबर्निक पदार्थयुक्त व जलनिकास युक्त दोमट मृदा श्रेष्ठ होती है काली भारी, या मटियार दोमट, बलुई दोमट भूमि में भी धनिया की खेती की जा सकती है मिट्टी की पी.एच. मान 6.5 से 7.5 होना चाहिए।

मृदा की तैयारी (Preparation of soil) : मृदा की किस्म के अनुसार 2–3 गहरी जुताई करके मिट्टी को भुरभुरी बना लेनी चाहिए। जुताई के तुरंत बाद पाटा चलाकर नमी को संरक्षित करें। दीमक या अन्य भूमिगत कीटों की रोकथाम हेतु अंतिम जुताई के समय एंडोसल्फान 4 प्रतिशत या क्यूनाल फॉस 1.5 प्रतिशत या मिथाइलपेराथियान 2 प्रतिशत चूर्ण 25 किग्रा. प्रति हैक्टेयर की दर से बुआई पूर्व खेत में मिलायें।

उपयुक्त उन्नत किस्में (Improved varieties) : हिंसार सुगंध, आर.सी.आर. 41, कुंभराज, आर.सी.आर. 435, आर. सी.आर. 436, आर.सी.आर. 446, जीसी 2 (गुजरात धनिया 2), आर.सी.आर. 684, पंत हरितमा, सिम्पो एस 33, जे.डी–1, ए.सी. आर. 1, सी.एस. 6, आर.सी.आर 480 ।

बीजदर (Seed rate) : सिंचित क्षेत्र में 15–20 किग्रा. प्रति हैक्टेयर तथा असिंचित क्षेत्र में 25–30 किग्रा. प्रति हैक्टेयर बीज की आवश्यकता होती है।

बीजोपचार (Seed treatment) : बुआई पूर्व बीजों को हाथ से दबाकर दो भागों में विभक्त कर लेते हैं विभाजित बीजों को कार्बेंडाजिम 1.5–2.0 ग्राम या कार्बेंडाजिम व थाइरस (1.5:1.5 ग्राम) 3 ग्राम या थाइरम 3 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करते हैं। बीज जनित रोगों से बचाव के लिए बीजों को स्टेप्टोमाइसिम 500 पी.पी.एम से उपचारित करना लाभदायक है। ट्राइकोडर्मा विरडी 5 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से भी बीज उपचारित करना लाभदायक है।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : उत्तरी भारत में अधिक पैदावार हेतु उपयुक्त समय 15 अक्टूबर से 15 नवम्बर है। हरे पत्ती की फसल के लिए अक्टूबर से दिसम्बर का समय बुआई के लिए उपयुक्त है।

धनिये की बुआई (Sowing of coriander) : तैयार खेत में क्यांरियां बनाकर छिटकवा विधि से की जाती है। अच्छी उपज के लिए एवं कम नमी वाले स्थान पर बुआई कतारों में 30 सेमी की दूरी पर करें तथा पौधे की दूरी 10 सेमी रखें, बुआई 3–4 सेमी गहराई पर करें। बुआई के बाद हल्की सिंचाई करनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manaure and fertilizer) : धनिये की अच्छी उपज के लिए बुआई से 3–4 सप्ताह पूर्व 10–15 टन गोबर की सड़ी हुई खाद या कम्पोस्ट प्रति हेक्टेयर की दर से जुताई कर खेत में मिलाएँ। सिंचित क्षेत्र के लिए 60 किग्रा. नाइट्रोजन 30 किग्रा. फॉस्फोरस व 20 किग्रा. पोटाश प्रति हेक्टेयर की दर से देना चाहिए। असिंचित क्षेत्र में 30 किग्रा.

नाइट्रोजन 30 किग्रा. फॉस्फोरस 20 किग्रा. पोटाश प्रति हेक्टेयर दर से बुआई के समय ऊरकर देना चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : सिंचाई की कुल संख्या भूमि के प्रकार एवं मौसम पर निर्भर होती है भारी मिट्टी में लगभग 3–4 बार एवं हल्की भूमि में 5–6 बार सिंचाई करनी चाहिए।

अंतरा कृषि (Inter Cropping) : इसके लिए धनिये में दो तीन बार निराई गुड़ाई करनी चाहिए पहली निराई बुआई के 20–30 दिन बार दूसरी व तीसरी 20–25 दिनों के अंतराल पर करनी चाहिए। रासायनिक खरपतवार नियंत्रण हेतु पेण्डामिथालीन 1.0 किग्रा./प्रति हेक्टेयर की दर से 750 लीटर पानी में घोलकर अंकुरण पूर्व छिड़काव करें। अन्य खरपतवार नाशियों का जैसे – लिनूरान, आक्नोडियजात ब्रोवेमिल इत्यादि का प्रयोग करके भी खरपतवार नियंत्रण किया जा सकता है।

पादप संरक्षण (Plant protection) : धनिये की फसल में मोयला, कटवासूड़ी, बरूथी, बीजवेधक आदि कीटों व छाछियाँ, झुलसा, स्तंभ जीटिका, उखटा आदि रोगों का प्रकोप होता है।

कीट : मोयला/चैपा, वरूथी/माइट बीज बेधक कटवासूंडी आदि कीटों कें नियत्रण के लिए मेटासिसटाक्स या डायमिथोएट 1 मिली. प्रति लीटर पानी या एण्डोसल्फान 2 मिली. प्रति लीटर पानी की दर से 500 लीटर घोल का छिड़काव करें। आवश्यकता होने पर 15 दिन बाद पुनः छिड़काव करें अथवा एण्डोसल्फान 4 प्रतिशत चुर्ण 20–25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से खेत तैयारी कें समय जुताई करके मिलावें।

रोग (Disease) :

1. **उखटा/म्लानीविल्ट :** इसकी रोक थाम के लिये – 1. गर्मियों में गहरी जुताई करें। 2. उचित फसल चक्र अपनायें 3. नीम के तेल या गौमूत्र से बीज उपचारित करके बुआई करें। 4. थाइरम व कार्बेन्डाजिम (1.5ग्राम + 1.5 ग्राम) प्रति किग्रा. बीज की दर से बीज तैयार करें।
2. **छाछिया/चुर्णी फफूंद :** इस रोग के नियंत्रण हेतु गन्धक चुर्ण का 20–25 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव करें अथवा फुलनशील गधंक 2 ग्राम कैराथेन एलसी 1 मिली. प्रतिलीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें। आवश्यकतानुसार 10–15 दिन में दोहरायें।
3. **झुलसा/अंगमारी/ब्लाइट :** नियंत्रण हेतु मैन्कोजेब 2 ग्राम प्रति लीटर पानी की दर से घोल बनाकर छिड़काव करें।
4. **स्तंभपीटिका/स्टेमगाल :** नियंत्रण के लिये थाइरम व कार्बेण्डाजिम (1.5 ग्राम+ 1.5 ग्राम) से बीज उपचार कर बुआई करे। लक्षण दिखाई देने पर फूल बनने से पहले बेलीटान 1 ग्राम प्रतिलीटर पानी या कार्बेण्डाजिम 1 ग्राम प्रति लीटर पानी का छिड़काव करें।

पाले से बचाव : फसल को पाले बहुत हानि को होती है। बचाव के लिये पाले पड़ने की संभावना होने पर –

1. रात्रि में हल्की सिंचाई करें।
2. खेत के चारो और धुआँ कर दें।
3. गौमूत्र 10 लीटर देशी गाय का मूत्र लेकर किसी पारदर्शी बर्तन (प्लास्टिक या काँच का) में रखकर 10–15 दिन धूप में रख कर आधा लीटर पानी में मिलाकर प्रयोग करें।
4. नीम का काड़ा – 25 किग्रा. नीम की हरी ताजा पत्ती तोड़कर कुचल कर पीस कर 50 लीटर पानी में पकावें जब पानी 20–25 लीटर रह जायें तब उतार कर ठण्डा करके आधा लीटर प्रति लीटर पानी मिलाकर प्रयोग करें।

कटाई (Harvesting) : धनिये की फसल किस्म व मौसम अनुसार 90–140 दिन में पककर तैयार हो जाती है। जब फूल आना बंद हो जाये और बीजों के गुच्छो का रंग भूरा हो जाये, कटाई कर लनी चाहिये। तत्पश्चात फसल को खलिहान में सुखाकर दानों को अलग कर लेते हैं। सूखने तक फसल को पलटते रहना चाहिये।

मढ़ाई (Threshing) : सुखी फसल को पक्के साफ खलिहानों में लकड़ी से धीरे–धीरे बीजों को अलग कर लिया जाता है। टूटे व खराब दानों का बाजार में दाम कम मिलते है।

उपज (Yield) : सिचित क्षेत्र 15–20 क्विंटल व असिंचित क्षेत्र में 6–8 क्विंटल प्रति हेक्टेयर धनिये के बीजों की उपज प्राप्त होती है।

मेथी (Fenugreek)

वानस्पतिक नाम –ट्राईगोनेला फोइनम ग्रेइकम (सामान्य मेथी)
(Trigonella foenum graecum)
ट्राईगोनेला कार्निकुलाटा (कसूरी मेथी)
(Trigonella carniculata)
कुल –फैबेसी (Fabaceae)

महत्व (Importance) : मेथी एक बहुद्देशीय दलहनी फसल हैं। जिसकी पत्तियों का उपयोग सब्जी तथा दानों का उपयोग मसाले और औषधि के रूप में किया जाता हैं। मेथी के सूखे दाने का प्रयोग मसाले के रूप में सब्जियों को छौंकने व बघारने, अचारों में एवं दवाईयों के निर्माण में किया जाता हैं। मेथी की उत्पति स्थान दक्षिण–पूर्वी यूरोप व दक्षिण पश्चिमी एशिया का भाग माना जाता है। राजस्थान में मेथी की खेती मुख्यतयाः जयपुर, सीकर, झालावाड़, चित्तौडगढ़, झुंझुनू ,अलवर, नागौर, कोटा जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : राजस्थान में इसकी खेती रबी मौसम में की जाती है। इसकी प्रारम्भिक वृद्धि के लिए कम तापमान तथा मध्यम आर्द्रता वाली जलवायु उपयुक्त रहती है। फसल के पकते समय शुष्क व ठण्डा मौसम उपयुक्त रहता है।

मृदा (Soil) : दोमट या बलुई दोमट मृदा उचित जल निकास वाली श्रेष्ठ मानी जाती है। भूमि का पी.एच.मान 6 से 7 होना चाहिए।

खेती की तैयारी (Field preparation) : मेथी की खेती के लिए एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से तथा 3–4 जुताई देशी हल या हैरो से करते हैं तथा पाटा लगाकर मिट्टी भुरभुरी कर लेते हैं।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : मेथी दो प्रकार की होती है।

1. साधारण मेथी (ट्राइगोनेला फोइनम ग्रइकम)
2. कसूरी मेथी (ट्राइगोनेला कार्निकुलाटा)

किस्में– आर.एम.टी.1, आर.एम.टी.143, को–1, राजेन्द्र क्रान्ति, गुजरात मेथी 2, हिसार सोनाली ।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : मेथी की खेती के लिए 20–25 किग्रा. बीज पर्याप्त है। कसूरी मेथी का 10 किग्रा. प्रति हेक्टेयर काम मे ले। बुआई से पूर्व बीजो को कार्बेण्डाजिम 2.0 ग्राम या एग्रोसन जी.एन. 2.0 ग्राम प्रति किग्रा. बीज दर से उपचारित करना चाहिए उसके पश्चात् बीजो को राइजोबियम व पी.सी.एम कल्चर से उपचारित करने से पौधो की वृद्धि अच्छी होती है।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : मैदानी क्षेत्र मे (उत्तरी भारत में) मध्य अक्टूबर से मध्य नवम्बर तक की जाती है। कतार से कतार 25–30 सेमी. व पौधों से पौधों की दूरी 10–12 सेमी. रखतें है। उचित अंकुरण के लिए बीज की गहराई 5 सेमीं से अधिक नही होनी चाहिए।

खाद एवं उवर्रक (Manure and fertilizer) : मेथी की अच्छी उपज के लिए 10–15 टन गोबर खाद या कम्पोस्ट खाद प्रति हेक्टेयर खेत की तैयारी के समय देवें। मेथी के खेत में नीम की पत्ती, तम्बाकू, धतूरा मिलाकर 15 दिन बाद बुआई करने से भी लाभ होता है।रासायिनिक खाद के रुप मे 20–25 किग्रा. नाइट्रोजन 30–40 किग्रा. फास्फोरस 20 किग्रा. पोटाश प्रति हैक्टर की दर से बुआई के समय उरकर देनी चाहिए।

सिंचाई (Irrigation) : मेथी में 15–20 दिन के अन्तराल पर सिंचाई करनी चाहिए। फसल में फली व बीज बनना प्रारम्भ होने के बाद भूमि में नमी की कमी उपज को प्रभावित करती है।

अन्तरा कृषि (Inter cropping) : मेथी की फसल में खरपतवार नष्ट करने एवं उचित वायु संचार हेतु दो बार निराई गुड़ाई की आवश्यकता होती है। प्रथम निराई गुड़ाई बुआई के 15–20 दिन बाद व दूसरी 40–45 दिन बाद करनी चाहिए। रासायानिक खरपतवार नियंत्रण हेतु बुआई पूर्व 0.75 किग्रा. फ्लुक्लोरेलिन प्रति हैक्टेयर की दर से 700–800 लीटर पानी मे घोल कर छिड़काव कर भूमि में मिला दें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : रोग एवं कीट नियंत्रण – जड़गलन रोग के बचाव के लिए जैविक फफूँद नाशी ट्राईकोडर्मा से बीज उपचार एंव मृदा उपचार करना चाहिए। छाछिया/चूर्णी फंफूद रोग के लिए कार्बेन्डाजिम 0.1 प्रतिशत एंव घुलनशील गंधक की 0.2 प्रतिशत मात्रा का छिड़काव करना चाहिए। तुलासिता /झुलसा रोग की रोकथाम हेतु मैन्कोजेब या ताँबा युक्त फफूंद नाशी2 ग्राम प्रतिलीटर पानी के घोल का छिड़काव करें। चैपा/मोयला/माहू कीट का प्रकोप दिखाई देने पर 0.2 प्रतिशत डाइमेथोएट (रोगार) या इमिडाक्लोप्रिड 0.1 प्रतिशत घोल का छिड़काव करें।

कटाई एवं मढ़ाई (Harvesting and threshing) : सामान्यतः 4–5 कटाई नियमित अन्तराल पर की जाती है। दानों के लिए कटाई जब फसल पीली पड़ने लगे तथा अधिकांश पत्तियाँ ऊपरी पत्तियों को छोड़कर गिर जाये एवं फलियों का रंग पीला पड़ने लगे तो काट लेनी चाहिए। कटाई के बाद पौधों को बण्डलों में बाँधकर एक सप्ताह के लिए छाया मे सुखाया जाता हैं सूखने के बाद में बण्डलों को पक्के फर्श/तिरपाल पर रखकर लकड़ियों की सहायता से पीटा जाता है जिससे दाने फलियों से बाहर आ जाते हैं। इस काम के लिए थ्रेसर का उपयोग भी किया जा सकता है।

उपज (Yield) : उन्नत किस्मों से 50–70 क्विंटल हरी पत्तियाँ सब्जी के लिए एवं 15–20 क्विंटल दाने प्रति हेक्टेयर तक प्राप्त हो जाते है।

सौंफ (Fennel)
वानस्पतिक नाम –फौनिकुलम वल्गेर (*Foeniculum vulgare*)
कुल – एपिएसी (Apiaceae)

महत्व (Importance) : इसका उपयोग मसाले एवं औषधि के रूप में किया जाता है। सौंफ में वाष्पशील तेल के साथ–साथ चमक, रंग, व रेशा इसकी गुणवत्ता निर्धारण के घटक हैं। इसका प्रत्येक भाग खुशबूदार होता है और किसी न किसी काम आता है। सौंफ रूचिकार, मधुर सुगंध व स्वाद के कारण सौंफ के दाने पूरे या पीसकर सूप, अचार, सॉस, चॉकलेट आदि भोज्य पदार्थो में डालते हैं। सौंफ का उत्पति दक्षिणी यूरोप तथा भूमध्य सागरीय क्षेत्र माना जाता है।राजस्थान में सौंफ की खेती सिरोही, टोंक, जोधपुर, भरतपुर, पाली, अजमेर, भीलवाड़ा जिलों में की जाती है।

जलवायु (Climate) : शुष्क व ठण्डा मौसम सौंफ की खेती के लिए श्रेष्ठ रहता है। पाला फसल को हानि पहुँचाता है। सौफ के लिए 15^{o}–25^{o} सेल्सियस तापमान अच्छा रहता है।

मृदा (Soil) : सौंफ के लिए जीवांश पदार्थ युक्त, चूना युक्त दोमट, काली बलुई दोमट मृदा जिसमें जल निकास की पर्याप्त सुविधा हो श्रेष्ठ है।

खेत की तैयारी (Field preparation) : सौंफ की फसल के लिए एक गहरी जुताई एवं 3–4 जुताई हैरो से करके मिट्टी मुलायम व भुरभुरी कर लेनी चाहिए। तैयारी के समय खेत में पर्याप्त नमी न हो तो पलेवा देकर खेत तैयार करें।

उन्नतशील किस्में (Improved varieties) : :–गुजरात सौंफ–1, आर.एफ 101, आर.एफ 125, आर.एफ. 143, पी.एफ 35, कोयम्बटूर 1 ।

बीजदर एवं बीजोपचार (Seed rate and seed treatment) : सौंफ की रोपण विधि से बुआई करने पर 3–4 किग्रा. प्रति हैक्टेयर तथा सीधी खेत में बुआई करने पर 8–10 किग्रा. बीज प्रति हेक्टेयर पर्याप्त है। बीजों को 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम या 3 ग्राम थाइरम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपचारित करना चाहिए। ट्राईकोडर्मा विरडी 4 ग्राम प्रति किग्रा. बीज की दर से उपाचारित करना लाभदायक होता है।

बुआई का समय एवं विधि (Time of sowing and method) : रोपण विधि से बुआई करने के लिए जुलाई अगस्त में नर्सरी तैयार करते हैं। जब पौधा 40–50 दिन का हो जाता है तो सितम्बर माह में रोपाई कर देनी चाहिए। सौंफ की सीधी खेत में बुआई छिटकवाँ विधि व कतारों में करते हैं। कतारों में 45–60 सेमी. दूरी पर हुक की सहायता से कतार बनाकर 1–2 सेमी. गहराई पर बीज डालकर मिट्टी से ढक देते हैं।

रोपाई विधि (Transplanting method) : एक हेक्टेयर क्षेत्र के लिए 100 वर्गमीटर नर्सरी पर्याप्त होती है इसके लिए जून जुलाई में 4–5 किग्रा. बीज की बुआई करते हैं। पौधा 40–50 दिन का होने पर पूर्व तैयार भूमि में रोपाई कर देते हैं। नर्सरी से पौधे निकालते समय पौधे को कम से कम नुकसान हो तथा रोपाई सायं काल के समय करके तुरंत सिंचाई करनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : सौंफ की अच्छी उपज के लिए 10–15 टन गोबर की खाद/कम्पोस्ट प्रति हेक्टेयर बुआई से 3–4 सप्ताह पूर्व मिट्टी में जुताई कर मिला देना चाहिए। इसके अतिरिक्त 80–90 किग्रा. नाइट्रोजन, 30–40 किग्रा. फॉस्फोरस प्रति हेक्टेयर देने से उपज अच्छी होती है।

सिंचाई (Irrigation) : सौंफ दीर्घावधि में पकने वाली फसल है इसे अधिक सिंचाइयों की जरूरत होती हैं। पहली सिंचाई बुआई के तुरंत बाद करनी चाहिए, अंकुरण कम होने पर 7–10 दिन बाद पुनः हल्की सिंचाई करनी चाहिए। गर्मियों में 10–15 दिन व सर्दियों में 20–25 दिन के अन्तराल पर सिंचाई करनी चाहिए।

अन्तराकृषि (Inter cropping) : सौंफ की फसल में बुआई के एक माह बाद जब पौधे 4–5 सेमी. ऊँचाई के हो तब पहली निराई–गुड़ाई कर देनी चाहिए। उस समय कतारों में पौधें के बीच की दूरी 25–30 सेमी. कर लेनी चाहिए। सौंफ में 3–4 निराई गुड़ाई की आवश्यकता होती है, फूल आते समय या पूर्व में पौंधों पर मिट्टी चढ़ा देनी चाहिए।सौंफ में रासायनिक खरपतवार नियत्रंण हेतु बुआई के 1–2 दिन बाद पैंण्डिमिथाइलिन 1 किग्रा. प्रति हेक्टेयर की दर से 700 लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करें। इसके बाद 1–2 निराई गुड़ाई कर समय–समय पर खरपतवार निकालते रहें।

पादप संरक्षण (Plant protection) : सौंफ में प्रमुख रूप से मोयला/चैपा, थ्रिप्स व बरूथी कीटों का एवं झुलसा/अंगमारी छाछिया या चूर्णी फंफूद, जड़ व तना गलन तथा गून्दिया रोगों का प्रकोप होता है।

गून्दिया रोग (गमोसिस) इसमें रोग का आक्रमण पुष्पक्रमों पर होता है पुष्पक्रम से चिपचिपा गुन्दिया पदार्थ निकलता है नियंत्रण के लिए बीज उपचार करें तथा दीर्घकालीन फसल चक्र अपनायें।

अन्य कीट व रोग नियंत्रण धनियें की फसल की तरह करें।

कटाई (Harvesting) : सौंफ 170–180 दिनों में परिपक्व होती है। सौंफ के दाने गुच्छों में आते ही जब गुच्छों व दानों का रंग हरे से पीला होने लगे तो गुच्छों को तोड़ लेना चाहिए। गुच्छों को छायादार स्थान पर रस्सी बाँधकर उनपर लटका कर सुखाया जाता है।

मढ़ाई (Threshing) : छाया में अच्छी प्रकार सूखे गुच्छों को लकड़ी के डण्डे से पीट कर अलग कर के साफ करके बोरियों में भर लेते हैं और नमी रहित स्थान पर भण्डारण कर लेते हैं।

उपज (Yield) : सौंफ की उपज किस्मानुसार 18–20 क्विंटल प्रति हेक्टेयर तक प्राप्त की जा सकती है। औसत उपज 15–16 क्विटंल प्रतिहेक्टेयर प्राप्त होती है।

अभ्यास प्रश्न –

I. बहुचयनात्मक प्रश्न

1. सीधी बुआई हेतु धान की उपयुक्त किस्म है
   (अ) रतना (ब) बाला
   (स) बीके 79 (द) जया
2. मक्का का उत्पति स्थल है।
   (अ) भारत (ब) मेक्सिको
   (स) जापान (द) चीन
3. चेपा गुन्दिया रोग से बचने हेतु बाजरा के बीज को उपचारित करना चाहिए–
   (अ) थोरियम सल्फेट के 1: घोल से
   (ब) नमक के 20: घोल से
   (स) मैन्कोजेब के 2: घोल से
   (द) उपरोक्त सभी
4. निम्न में से गेहूँ की किस्में हैं –
   (अ) जया (ब) राज. 3077
   (स) सी.एस.एच.–5 (द) राजकिरण
5. अरहर की शुद्ध फसल के लिए प्रति हेक्टेयर बीज की मात्रा चाहिए ?
   (अ) 10 किलोग्राम (ब) 15 किलोग्राम
   (स) 20 किलोग्राम (द) 25 किलोग्राम
6. बायो–902 किस किस्म का दूसरा नाम है ?
   (अ) पूसा जय किसान (ब) वरूण
   (स) क्रान्ति (द) कृष्णा
7. रिजके में अमर बेल नियंत्रण हेतु कौनसा शाकनाशी का प्रयोग करते है ?
   (अ) 2–4 डी (ब) पेन्डीमिथालीन
   (स) पेरावेक्टर (द) ऐन्ट्राजीन
8. गन्ने की बुआई हेतु तने का कौनसा भाग बीज के रूप में काम लेना चाहिए ?
   (अ) उपरी एक तिहाई (ब)नीचे का एक तिहाई
   (स) मध्य भाग (द)इनमें से कोई नही
9. निम्न में से आलु की सुषुप्तावस्था दूर करने के काम आने वाला रसायन है ।
   (अ) यूरिया (ब) थायो यूरिया
   (स) ऐगलॉल (द) ऐरीटॉन
10. हरी खाद के लिए सनई की बीजदर (किलोग्राम प्रति हेक्टेयर) है–
    (अ) 90–100 (ब) 60–75
    (स) 50–60 (द) 40–45
11. जीरे में जीरी खरपतवार के नियंत्रण हेतु काम लेते है–
    (अ) एट्राजीन (ब) साइमाजीन
    (स) डाइक्वेट (द) फ्लूक्लोरीन
12. निम्न में से मेथी की किस्म है–
    (अ) आर.सी.आर–20 (ब) आर.एम.टी 143
    (स) आर.एफ–101 (द) आर.एफ–125
13. मूंगफली में प्रोटीन की मात्रा पाई जाती है।
    (अ) 10 प्रतिशत (ब) 15 प्रतिशत
    (स) 20 प्रतिशत (द) 27 प्रतिशत
14. प्रताप (सी.50)किस्म है–
    (अ) मूँगफली (ब) तिल
    (स) मूंग (द) धान
15. बरसीम के बीजो में कौनसी खरपतवार के बीज पाये जाते है–
    (अ) हिरणखुरी (ब) कासनी
    (स) बथुआ (द) अमरबेल

II. अति लघूत्तरात्मक प्रश्न

16. डेपोग विधि कहाँ से विकासित की गई है ?
17. ज्वार की बीजदर लिखिये ।
18. जौ की फसल हेतु बोने का उपयुक्त समय लिखिये।
19. मूंग में प्रोटीन की प्रतिशत मात्रा लिखिये।
20. सोयाबीन की बुआई का उपयुक्त समय लिखिये।

21. तिल के बीज में तेल की मात्रा कितनी होती है ?
22. सूरजमुखी का एक औषधीय गुण लिखिए।
23. सूरजमुखी की प्रति हेक्टेयर उपज लिखिये।
24. रिजका में फास्फोरस तत्व कितनी मात्रा में उपयोग किया जाता है ?
25. केन्द्रीय आलू अनुसंधान संस्थान कहाँ स्थित है ?
26. ग्वार का वानस्पतिक नाम लिखिए ।
27. देसी कपास कि पाँच किस्मों के नाम लिखिए।
28. सनई किस कुल का पौधा है ?
29. मक्का की संकर किस्मों के नाम लिखिये।
30. बाजरे की उपज लिखिये।
31. धनिये की कटाई कब करते हैं ?
32. सौंफ की औसत उपज लिखिये।
33. बजरा की फसल में होने वाले दो रोगों के नाम व रोकथाम लिखिए।
34. मोठ का मुख्य रोग कौन सा है ?
35. चने की फसल में चुटाई का महत्व लिखिए।

III. लघूत्तरात्मक प्रश्न

36. मक्का के विभिन्न उपयोग लिखो ।
37. ज्वार का छोटी अवस्था का पौधा विषैला क्यों हो जाता है?
38. सफेद लट की रोकथाम कैसे करेंगे ?
39. गेहूँ में गुल्ली डण्डा व जंगली जई का नियंत्रण कैसे करेंगे?
40. उड़द का बीजोपचार लिखिये।
41. मोठ की विभिन्न उन्नत किस्मों के नाम बताइये।
42. चने में फली छेदक के नियंत्रण के उपाय लिखिये।
43. सोयाबीन का मानव के लिये उपयोग बताइये।
44. गुच्छें दार व विस्तारी किस्मों में अंतर लिखिये ?
45. सरसों की फसल में खरपतवारों की रोकथाम कैसे करेंगे?
46. बरसीम के बीजोपचार का वर्णन कीजिये।
47. कपास की चुनाई कैसे व कब करनी चाहिए ?
48. सरसों की बीज दर लिखिये।
49. सूरजमुखी का तेल हृदय रोगियों के लिए क्यों उपयोगी है?
50. धान मे खेरा नामक रोग के कारण व निवारण के बारे में लिखिये।
51. जीरे की उन्नत किस्मों के नाम लिखिये।
52. धनिये के महत्व का विवरण लिखिये ।
53. मेथी की उन्नत किस्मों के नाम लिखिये।
54. सौंफ के महत्व का विवरण लिखिये।
55. मूंग मे छाछिया रोग के लक्षण एवं रोकथाम के उपाय लिखिये।

IV. निबन्धात्मक प्रश्न

56. गेहूँ की खेती का वर्णन निम्न शीर्षकों के आधार पर कीजिये।
    (अ) जलवायु (ब) उन्नतशील किस्में
    (स) बीजदर एवं बुआई (द) खाद एवं उर्वरक
57. गन्ने की उन्नत खेती का वर्णन निम्न बिन्दुओं के आधार पर कीजिये।
    (अ) जलवायु
    (ब) भूमि एवं भूमि की तैयारी
    (स) उन्नत किस्में
    (द) बीज मात्रा एवं उपचार
    (य) बुआई समय एवं विधि
    (र) खाद एवं उर्वरक की मात्रा एवं प्रयोग विधि
58. आलू की उन्नत खेती का वर्णन निम्न बिन्दुओं के आधार पर कीजिये।
    (अ) चार उन्नतशील किस्में
    (ब) बुआई समय एवं विधि
    (स) खाद एवं उर्वरक
    (द)सिंचाई
    (य) खुदाई तथा उपज प्रति हेक्टेयर
59. कपास की खेती का वर्णन निम्न बिन्दुओं के आधार पर कीजिए ।
    (अ) वर्गीकरण (ब) जलवायु
    (स) बीजोपचार (द) बुआई का समय व विधि
60. चने की खेती का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।
61. सरसों की खेती का वर्णन निम्न बिन्दुओं के आधार पर कीजिये ।
    (अ) उन्नतशील किस्में
    (ब) बीजदर एवं बीजोपचार
    (स) खाद एवं उर्वरक
    (द) पादप संरक्षण
    (य) कटाई एवं उपज

उत्तरमाला

1.(ब) 2.(ब) 3.(ब). 4.(ब) 5.(ब) 6.(अ) 7.(ब) 8.(अ) 9.(ब) 10.(अ)
11.(द) 12.(ब) 13.(द) 14.(ब) 15.(ब)

इकाई–2
अध्याय–7
फलोत्पादन का महत्व, वर्तमान स्थिति एवं भविष्य
(Importance, Present Status & Future of Fruit Production)

भारतीय संस्कृति के महानतम ग्रंथ रामचरित मानस में फलोत्पादन का महत्व दर्शाते हुए तुलसीदास जी ने लिखा :–

सफल फूल फल कदलि रसाला। रोपे वकुल कदम्ब तमाला।

फल वृक्ष स्थान की सुन्दरता बढ़ाने, प्रदूषण दूर करने, भूमि का क्षरण रोकने, उर्वरा शक्ति बढ़ाने, प्रति ईकाई अधिक उत्पादन, अधिक आय, मानव रोजगार दिवस सृजन के साथ–2 स्वास्थ्यवर्धक, औषधीय गुणों से परिपूर्ण लुभावने फल हमें उपलब्ध कराते है।

भारत में बेर, आम, आँवला, नारियल, अंजीर आदि फलों की खेती प्राचीन काल से होती चली आ रही है विभिन्न प्राचीन पुस्तकों में इसका वर्णन मिलता है मुगल बादशााह अकबर ने दरभंगा (बिहार) के पास एक लाख आम के पौधे लगाये थे तथा विभिन्न यूरोपीय यात्रियों द्वारा नये फलों का प्रवेशन (Introduction) भारत में हुआ जिसमें अनन्नास, आलू बुखारा, पपीता, चीकू, एवोकैडो, अमरूद आदि प्रमुख थे।

वर्तमान परिवेश में प्रदूषण चरमसीमा पर है, कुपोषण व बेरोजगारी जैसी समस्याओं के हल में फल वृक्षों का व्यावसायिक स्तर पर रोपण एवं रख रखाव महती भूमिका अदा कर सकता है।

स्वतन्त्रता के बाद तीन पंचवर्षीय योजनाओं में उद्यानीकरण पर विशेष ध्यान नहीं दिया जा सका क्योकि उस समय की स्थिति को देखते हुए अनिवार्यता खाद्यान्न में आत्म निर्भरता की थी अतः हमारे देश में फल उत्पादन पर जोर चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में दिया गया। इसी के तहत् अखिल भारतीय समन्वित फल सुधार परियोजना 1971 से आरम्भ की गई। जिसका मुख्य उद्देश्य इन फल फसलों की खेती में आने वाली समस्याओं का केन्द्र व राज्य साथ मिलकर निराकरण कर सकें। फलोत्पादन के महत्व को विभिन्न श्रेणियों में बता सकते हैं।

(1) मानव आहार में महत्व (Nutritional importance) :

फलों का पौष्टिक महत्व किसी से भी छिपा नहीं है।

पोषण महत्व (Nutritional importance)

	विटामिन	कमी के लक्षण	स्रोत
(i)	कैरोटीन	रतौंधी रोग जिसमें रोगी कम व तेज प्रकाश में देखने में परेशानी महसूस करता है। अन्य लक्षणों में आंखों पर सफेद दाग (बायटोट स्पोट्स) व कोरनिया का कमजोर एवं मुलायम पड़ जाना (केराटोमालेसिया) आदि हैं।	आम, पपीता, कटहल, एवोकैडो
(ii)	बी–1 (थायमिन)	बेरी–बेरी रोग जिसमें निर्बल शरीर, भूख में कमी, आलस्य जैसे लक्षण प्रकट होते हैं।	काजू, अखरोट, बादाम, केला, सेब
(iii)	बी–2 (राइबोफ्लेविन)	पेलेग्रा रोग जिसमें भूख एवं वजन में कमी के साथ त्वचा मोटी बदरंग हो जाती है।	बेल, लीची, पपीता, अनन्नास, अनार
(iv)	सी (एसकार्बिक अम्ल)	स्कर्वी जिसमें मसूड़ों से खून बहता है, जख्म का देरी से भरना इत्यादि।	बारबडोस चेरी, आँवला, अमरूद, बेर, नींबू प्रजाति के फल, अनन्नास, आम, पपीता
(v)	डी (अरगो स्टेरॉल)	रिकेट्स व ऑस्टोमलेशिया (सूखा रोग), हड्डियों की संरचना व मजबूती में कमी	––
(vi)	ई (फाइलोक्वीनॉन)	प्रजनन क्षमता में कमजोरी, बाँझपन	कटहल, बादाम

खनिज लवण (Mineral Salts)

खनिज तत्व	कमी के लक्षण	स्रोत
कैल्शियम	हड्डियाँ एवं दाँत कमजोर हो जाते हैं	फालसा, नींबू, बेर, बेल, सीताफल, इमली, बादाम, लीची, अंजीर, अमरूद
लोहा	खून की कमी हो जाती है (एनीमिया)	करौंदा, खजूर, दाख, अमरूद, फालसा, अंजीर, चीकू, बेर
आयोडीन	क्वार्टर (घेंघा) जिसमें गर्दन फूल जाती है	जामुन, केर
फॉस्फोरस	हड्डियाँ कमजोर हो जाती हैं	अनार, कटहल, आड़ू, पपीता, रसभरी, कैंथ, काजू
कार्बोहाइड्रेट	शर्करा व स्टार्च के रूप में उपलब्ध रहता है जो ऊर्जा प्रदान करता है	केला, खजूर, एवोकैडो
वसा	शारीरिक थकान व कमजोरी महसूस होती है	अखरोट, बादाम, खजूर, एवोकैडो
प्रोटीन	क्वाशियोरकर बीमारी हो जाती है	काजू, सीताफल, केला, एवोकैडो

कुछ महत्वपूर्ण फलों के पोषक तत्व (प्रति 100 ग्राम फल के खाने योग्य भाग में)

फल	विटामिन 'ए' (आई.यू.)	विटामिन 'बी' (मिग्रा)	विटामिन 'सी' (मिग्रा)	कैल्शियम (%)	फॉस्फोरस (%)	लोहा (%)	ऊर्जा (कैलोरी)
आम	4800	10	13	0.01	0.02	0.30	50
अमरूद	—	30	299	0.01	0.04	1.00	66
आँवला	—	30	600	0.05	0.02	1.20	59
अनार	—	—	16	0.01	0.07	0.30	65
बेर	186	12	15	0.03	0.05	0.30	129
करौंदा	—	—	200—500	0.16	0.06	3901	364
अंजीर	270	—	3	0.06	0.03	1.20	75
सीताफल	—	—	—	0.02	0.04	1.00	105
बेल	240	—	—	0.09	0.01	0.60	23
केला	—	150	1	0.01	0.05	0.40	153
पपीता	2020	40	46	0.01	0.01	0.40	40
अंगूर	—	—	3	0.03	0.02	0.40	45

रोजमर्रा की जिंदगी में चुस्त–दुरूस्त रहने से लेकर बीमारी के बाद कमजोरी से निवारण के लिए फलों से मिलने वाला पोषण बहुत उपयोगी है। मौसमी फलों में उपस्थित पोषक तत्व, खनिज लवण और विटामिन शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बनाए रखते हैं, जिससे हमारा स्वास्थ्य अच्छा बना रहता है। उदाहरण के तौर पर पीले रंग के फल विटामिन 'ए' से भरपूर होते हैं तथा रंग–बिरंगे रसीले फलों में मौजूद एन्टीऑक्सीडेन्ट पदार्थ शरीर में कैंसर जैसी भयानक बीमारी की रोकथाम में सहायक होते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) की अनुशंसा के अनुसार हर व्यक्ति को कम से कम 90–110 ग्राम फलों का सेवन प्रतिदिन करना चाहिए वर्तमान में भारत में 172 ग्राम व राजस्थान में 25 ग्राम फल उपलब्धता प्रति व्यक्ति प्रतिदिन है। विकसित देशों से तुलना करें तो स्थिति और भी बदतर दिखाई देती है क्योंकि स्विट्जरलैण्ड एवं अमेरिका में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति फल उपभोग क्रमशः 419 एवं 223 ग्राम है।

आज तक की उपलब्धियाँ संतोषजनक तो हैं परन्तु अभी भी इस क्षेत्र में देश को बहुत आगे जाने की जरूरत है। अनुमान है कि सन् 2025 में देश की आबादी लगभग 135 करोड़ होगी जिसके लिए 95 मिलियन टन फलों की जरूरत पड़ेगी जिसके लिए आज "सुनहरी क्रान्ति" (Golden Revolution) के क्रियान्वयन की जरूरत है। उद्यानिकी फसलें परम्परागत फसलों की तुलना में अधिक आमदनी, पोषणता व आजीविका सुरक्षा प्रदान करने में सक्षम हैं।

(2) औषधीय महत्व (Medicinal Importance) : प्राचीनकाल से ही विभिन्न फलों का औषधीय रूप से उपयोग कई वर्षों से किया जाता रहा है जैसे स्वास्थ्यवर्धक च्यवनप्राश बनाने में आँवलों का उपयोग तथा त्रिफला चूर्ण बनाने में हरड़ (*Termenalia Chebula* Retz.), बहेड़ा (*Termenalia bellirica* (Gaertn.) Roxb.) व आँवला (*Emblica officinalis* L.) का उपयोग किया जाता है। विभिन्न रोगियों को मौसम्बी का रस व नारियल पानी पिलाना हितकर रहा है। विभिन्न फलों में विटामिन्स व एन्टीऑक्सीडेन्टस भरपूर होते हैं जो हमारे शरीर को रोगों से लड़ने की क्षमता प्रदान करते हैं।

फलदार वृक्षों एवं फसलों से आय का तुलनात्मक अध्ययन

फल / फसल	उत्पादन (टन / हे.)	मूल्य (रु. / टन)	सकल आय (रु.)
गेहूँ	4.00	16,000	64,000
आम	8.43	10,000	84,300
केला	30.24	4,000	1,20,960
पपीता	21.83	5,000	1,09,150
अंगूर	16,95	12,000	2,03,400

(3) आर्थिक महत्त्व (Economic Importance) :

आय का स्रोत : खाद्यान्नों की तुलना में फलों की खेती से प्रति हेक्टेयर आय अधिक प्राप्त होती है तथा प्रति इकाई क्षेत्रफल में एक वर्ष में अधिक रोजगार दिवसों का सृजन होता है।

विभिन्न ताजे फलों व उनके उत्पादों से विदेशी मुद्रा का अर्जन होता है। फलों की विश्व निर्यात बाजार में हमारे देश की भागीदारी 0.3 प्रतिशत है। हमारे देश से होने वाले कुल बागवानी के निर्यात में ताजे फलों का योगदान 11 प्रतिशत है, जिसमें से 60 प्रतिशत योगदान आम एवं अंगूर का है। राजस्थान की हिस्सेदारी राष्ट्रीय स्तर पर क्षेत्रफल व उत्पादन में लगभग 1 प्रतिशत मात्र है।

रोजगार सृजन : उद्यानिकी फसलें खाद्यान्न फसलों की तुलना में 4–6 गुणा अधिक मानव दिवस प्रति हेक्टेयर की आवश्यकता होती है तथा ये फसलें रोजगार के अधिक अवसर प्रदान करने व गाँव से शहर की ओर पलायन को कम करने में सहायक हैं।

क्र.सं.	कृषि व्यवसाय	मानव दिवस (प्रति हेक्टेयर)
1.	खाद्यान फसलें	143
2.	फल फसलें	860
3.	सब्जी फसलें	912
4	पुष्प व औषध फसलें	547

(4) औद्योगिक महत्त्व (Industrial Importance) : विभिन्न प्रकार के उद्योगों जैसे फल परिरक्षण, मधुमक्खी (मौन)

पालन, पपेन उत्पादन (पपीता), रेशा उद्योग (केला, बास), मदिरा उद्योग (अंगूर, सेब, काजू, अनन्नास), नर्सरी माध्यम–कोकोपीट उद्योग (नारियल) आदि का विकास फलोत्पादन पर निर्भर करता है तथा उनके कच्चे माल का स्रोत भी फल फसले हैं।

(5) धार्मिक महत्व (Religious Importance) :

फल प्राचीन काल से संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं तथा हर अच्छे व शुभ कार्य की शुरूआत में फलों की आवश्यकता होती है जैसे नारियल। सावन माह में भगवान शिव की पूजा बेल पत्र से करने का विशेष महत्व है तथा विवाह जैसे शुभ कार्यों में मण्डप केले के पत्तों से तथा आम के पत्तों की वन्दनवार से सजाना तथा हवन आदि मांगलिक कार्यों में आम की लकड़िया आदि सभी धार्मिक महत्व का परिचायक है।

(6) पर्यावरण से सम्बन्धित महत्व (Environmental Importance) : पर्यावरण प्रदूषण व मृदा क्षरण को सुधारने में भी फल वृक्षों का काफी योगदान हैं। अन्य वृक्षों की तरह फल वृक्ष भी आक्सीजन दाता है जो पर्यावरण में प्रदूषण स्तर को कम करते है तथा तेज हवा व जल बहाव वाले क्षेत्रों में हवा व जल की गति को नियंत्रित कर क्षरण की समस्या को कम करने में फलदार वृक्ष सक्षम है जैसे काजू का प्रादुर्भाव भारत में समुद्र के किनारे मृदा क्षरण को रोकने के उद्देश्य से किया गया था।

फलोत्पादन की वर्तमान स्थिति

उद्यानिकी फसलों में लगभग 90 प्रतिशत हिस्सेदारी फल व सब्जी फसलों की है। भारत विश्व में इन फसलों के उत्पादन का दूसरा बड़ा राष्ट्र है। साथ ही कुछ फसलों जैसे आम, केला, पपीता, काजू, सुपारी, आलू व भिण्डी आदि में प्रथम स्थान रखता है।

वर्तमान में देश के कुल कृषि के सकल घरेलू उत्पाद में उद्यानिकी फसलों की हिस्सेदारी 30 प्रतिशत से अधिक है, जो कुल फसल क्षेत्रफल के मात्र 13.8 प्रतिशत भू–भाग से ली जा रही है। सभी उद्यानिकी फसलों (फल, सब्जी, पुष्प, सुगंधीय, मसाले, रोपण, औषधीय, मशरूम व शहद) का उत्पादन 2998 लाख टन है जो खाद्यान फसलों से अधिक हो रहा है। (वर्ष 2016–17 के तृतीय अनुमान के अनुसार)। राष्ट्रीय बागवानी बोर्ड के वर्ष 2016–17 के तृतीय अनुमान के अनुसार 937.1 लाख टन फलों का उत्पादन 64.6 लाख हैक्टेयर क्षेत्र से हुआ है।

विगत दशक में देखा गया कि उद्यानिकी फसलों की घरेलू खपत में बढ़ोत्तरी 2.3 प्रतिशत दर से हो रही है वहीं खाद्यान्न फसलों की खपत 1.3 प्रतिशत दर से घट रही है। उद्यानिकी फसलों का क्षेत्र 2.7 प्रतिशत वार्षिक दर से तथा उत्पादन 7 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ा है, वहीं इन फसलों में सर्वाधिक वृद्धि दर की बात करें तो फल फसलों में 9.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर देखी गई।

फलोत्पादन में अग्रणी राज्य क्षेत्रफल के अनुसार महाराष्ट्र व उत्पादन में उत्तरप्रदेश अग्रणी रहे, तथा फलवार सर्वाधिक क्षेत्रफल आम के अन्तर्गत तथा उत्पादन में केला है।

राजस्थान में उद्यानिकी फसलों के अन्तर्गत कुल फसल क्षेत्रफल का 3.8 भाग आता है। राजस्थान के उद्यान विभाग में वर्ष 2016–17 में सभी उद्यानिकी फसलों (फल, सब्जी, पुष्प, औषध–सुगन्धीय व बीजीय मसालें जैसें धनीया, जीरा, सौंफ, अजवायन आदि) को 16.29 लाख हेक्टेयर क्षेत्रफल से 46.84 लाख टन उत्पादन लिया जा रहा है। फल उत्पादन वर्ष 2016–17 में फलोत्पादन 53092 हेक्टेयर भूमि में उत्पादन 961597 टन रहा।

जिला झालावाड़ फलोत्पादन के अन्तर्गत क्षेत्रफल व उत्पादन में अग्रणी है।

भारत में उगायें जाने वाले फलों के अन्तर्गत क्षेत्रफल, उत्पादन व उत्पादकता वर्ष 2016–17 के तृतीय अनुमान के आधार पर निम्न हैः–

क्र.सं.	फल फसल	क्षेत्रफल (लाख हे.)	उत्पादन (लाख टन)	उत्पादकता (टन प्रति हे.)
1.	आम	22.67	202.95	8.95
2.	केला	8.52	302.75	35.53
3.	अमरूद	2.60	36.15	13.90
4.	नींबू वर्गीय फल	10.37	120.53	11.62
5.	अनार	1.14	19.69	17.27
6.	आँवला	0.91	10.25	11.26
7.	पपीता	1.38	61.45	44.52
8.	अंगूर	1.36	27.84	20.47
9.	अनन्नास	1.14	19.69	17.27
10.	सेव	2.78	22.58	8.12
11.	बेर	0.50	5.26	10.52
	कुल	64.6	937.1	14.51

विभिन्न फलों के अन्तर्गत क्षेत्रफल व उत्पादन निम्न हैः–

क्र.सं.	फल फसल	क्षेत्रफल (हजार हे.)	उत्पादन (हजार टन)	उत्पादकता (टन/हे.)
1.	आम	5.16	54.79	10.62
2	अमरूद	4 17	27 17	6 51
3.	नींबू	2.95	16.66	5.64
4.	अनार	2.86	10.38	3.63
5.	आँवला	1.60	13.75	8.59
6.	संतरा	23.35	496.95	21.28
7.	किन्नो	9.55	204.26	21.39
8.	पपीता	0.74	8.71	11.77
9.	बेर	0.70	4.70	6.71
10.	सीताफल	0.55	4.28	7.78
	कुल	53.09	961.60	18.11

फलोत्पादन का भविष्य :–

भारत वर्ष में जलवायु विविधता का लाभ यह है कि हम सभी प्रकार के फलों की खेती आसानी से कर सकते हैं पर प्रति ईकाई उत्पादकता का स्तर विश्व स्तर से कम है जैसे नींबू वर्गीय फलों की भारत में औसत उत्पादकता 8–10 टन प्रति हेक्टेयर है जबकि स्पेन, इटली आदि देशों में 17–30 टन प्रति हेक्टेयर है वहीं अनन्नास की औसत उत्पादकता 15–20 टन जबकि हवाई द्वीप व फिलीपीन्स में 60–70 टन तक प्राप्त करते है अतः आने वाले वर्षो में विभिन्न फलों की प्रति ईकाई उत्पादकता तथा गुणवत्ता बढ़ाने की आवश्यकता हैं।

भविष्य में कृषि जोत का आकार छोटा होते रहने से वर्तमान स्वरूप को बदलकर सघन बागवानी लगभग सभी फल फसलों में अपनाने की आवश्यकता है अतः इस हेतु उद्यानिकी क्रियाओं के मानकीकरण पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

खेती अब व्यवसाय का रूप लेती जा रही है अतः फसल तंत्र में अधिक आय देने वाली उद्यानिकी फसलों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। खाद्य प्रसंस्करण मंत्रालय की रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान में भारत का प्रसंस्करण स्तर 1.0 प्रतिशत है जिसकी 2025 तक 2.5 प्रतिशत तक बढ़ने की संभावना है।

फल उत्पादन व निर्यात के महत्व को देखते हुए इस दिशा में सरकार भी विभिन्न मिशन मोड प्रोजेक्ट इनके प्रोत्साहन हेतु लेकर आ रही है जैसे 2005 में राष्ट्रीय हार्टीकल्चर मिशन (NHM), 2006 में राष्ट्रीय कृषि विकास योजना (RKVY) व राष्ट्रीय कृषि नवोन्वेषी परियोजना (NAIP), 2016 में समन्वित बागवानी विकास मिशन (MIDH) आदि।

राजस्थान प्रदेश में आर्द्र, उपोष्ण तथा शुष्क तरह की जलवायु है, जिसमें मुख्यतः संतरा, नींबू, किन्नो, सीताफल, अमरूद, आम, अनार, बेर, आँवला आदि के विकास की प्रबल सम्भावना है। क्षेत्रवार, बॉसवाड़ा, उदयपुर व डूंगरपुर जिलों में आम, हाड़ोती (कोटा, झालावाड़) में संतरा, सवाई माधोपुर व बूँदी में अमरूद, चितौड़ व राजसमंद में सीताफल, बीकानेर व जोधपुर में बेर, गंगानगर व हनुमानगढ़ में किन्नो तथा जैसलमेर में खजूर का सघन क्षेत्र बनाया जा सकता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

1. आम उत्पादन में भारत का विश्व में प्रथम स्थान है। विश्व के कुल आम उत्पादन का लगभग 40 प्रतिशत भाग भारत वर्ष में पैदा होता है।
2. केले के फलों में कार्बोहाइड्रेट (27%) एवं विटामिन बी–1 प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। विश्व में भारत सबसे बड़ा केला उत्पादक राष्ट्र है।
3. भारत में अमरूद का क्षेत्रफल व उत्पादन आम, केला, नींबू वर्गीय फलों के बाद चौथे स्थान पर आता है। इसकी खेती मुख्य रूप से भारत, ब्राजील, मैक्सिको, थाईलैण्ड, अमेरिका, न्यूजीलैण्ड, फिलीपीन्स, चीन, इण्डोनेशिया, वेनेजुएला एवं आस्ट्रेलिया में की जाती है।
4. बेर की पत्तियों में 5.6 प्रतिशत पाच्य प्रोटीन और 49.7 प्रतिशत कुल पाच्य पोषक तत्व पाया जाता है।
5. अंगूर की उत्पादकता में भारतवर्ष का विश्व में प्रथम स्थान है। भारतवर्ष में उगायी जाने वाली अधिकतर जातियाँ ताजा फलों के रूप में प्रयोग में ली जाती हैं।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक

1. भारत में सर्वाधिक मात्रा में कौनसा फल पैदा किया जाता है?
   (अ) आम (ब) चीकू
   (स) केला (द) अनार
2. राजस्थान का कौनसा जिला छोटा नागपुर कहलाता है?
   (अ) कोटा (ब) भीलवाड़ा
   (स) सवाई माधोपुर (द) झालावाड़
3. फलों को सुरक्षा प्रदान करने वाले खाद्य क्यों कहते है?
   (अ) विटामिन्स व एन्टीऑक्सीडेन्टस से भरपूर होते हैं।
   (ब) इसमें अधिक आय किसान प्राप्त कर सकता है।
   (स) ये स्वास्थ्यवर्धक व भूमि के क्षरण को रोकते हैं।
   (द) उपरोक्त सभी
4. फल उत्पादन को बढ़ावा देने वाली कौनसी क्रांन्ति सम्बन्धित है?
   (अ) हरित क्रांन्ति (Green)
   (ब) सुनहरी क्रांन्ति (Golden)
   (स) गोल क्रांन्ति (Round)
   (द) इन्द्रधनुषी क्रांन्ति (Rainbow)
5. सावन माह में भगवान शिव की पूर्जा–अर्चना में कौनसे फल वृक्ष का महत्व है?
   (अ) बेल पत्र (ब) आम
   (स) केला (द) उपर्युक्त सभी
6. गंगानगर व हनुमानगढ़ जिले कौनसे फल का उत्पादन प्रमुखता से करते है?
   (अ) आँवला (ब) किन्नो
   (स) अनार (द) खजूर

अतिलघूत्तरात्मक :

1. अकबर ने एक लाख आम के पौधे कहाँ लगवाये थे?
2. त्रिफला के प्रमुख घटक लिखो।
3. रेशा उद्योग में कौनसे फलदार वृक्ष उपयोग में आते हैं?
4. उत्पादकता की दृष्टि से कौनसा फल अग्रणी है?
5. कोकोपीट नर्सरी में प्रयुक्त माध्यम किस फसल का उप–उत्पाद है?
6. MIDH का पूरा नाम बताइये।
7. सीताफल उत्पादन की दृष्टि से राजस्थान के प्रमुख जिले कौन–कौन से हैं।
8. वर्तमान में भारत में प्रतिव्यक्ति फल उपलब्धता बताइये।
9. वर्तमान में फल उत्पादन बताइये।
10. भारत में कौनसे फल की उत्पादकता सर्वाधिक है?

लघूत्तरात्मक :

1. उद्यानिकी में सरकार का योगदान लिखो।
2. राजस्थान के आम, अमरूद व आँवला उत्पादन में अग्रणी जिलों के नाम बताइये।
3. उत्पादकता की दृष्टि से कौनसा फल अग्रणी है?
4. विटामिन ए व सी के मुख्य फल स्रोत बताइये।

निबन्धात्मक :

1. फलोत्पादन का भविष्य भारत व राजस्थान के परिप्रेक्ष्य में बताइये।
2. फलोत्पादन के महत्त्व का विस्तृत वर्णन करो।

उत्तरमाला

1 (स) 2 (द) 3 (अ) 4 (ब) 5 (अ) 6 (ब)

अध्याय – 8
प्रवर्द्धन (Propagation)

पौधों की संख्या में सतत् बढोत्तरी (Multiplication & perpetuation) करने की क्रिया को पादप प्रसारण या प्रवर्द्धन कहते हैं, इसे बीज (लैंगिक प्रसारण), वानस्पतिक (अलैंगिक प्रसारण) व उत्तक संवर्द्धन (Tissue culture) तरीकों द्वारा किया जाता है।

बीज द्वारा प्रसारण (Seed propagation)

बीज द्वारा तैयार किये गये पौधे बीजू पौधे (seedling) कहलाते हैं। इसके द्वारा प्रसारण के कई लाभ हैं–

1. कम खर्च व आसानी से पौधे तैयार होते हैं।
2. बीजू पौधे विभिन्न जैविक व अजैविक तनाव को सहन करने में ज्यादा सक्षम होते हैं।
3. प्रसारण की सरल विधि है तथा पौधे दीर्घ आयु वाले होते हैं।
4. प्रजनन कार्य या किस्म सुधार बीज द्वारा ही किया जाता है।
5. कुछ फलदार वृक्षों में बहुभ्रूणता (नींबू, जामुन) के कारण बीजू पौधे मातृ वृक्ष के समान गुणों वाले होते हैं तथा कुछ पौधों में वानस्पतिक प्रसारण नहीं होता या आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं होते जैसे पपीता, फालसा, मैंगोस्टीन आदि।

बीज द्वारा प्रसारण से हानियाँ

1. इन पौधों में मातृ वृक्ष के समान गुण नहीं होते अर्थात् True to type नहीं होते।
2. बीजू पौधे लम्बी अवधि के बाद फलन में आते हैं।
3. पौधों की लम्बाई आकार अधिक होने से प्रबंधन व्यय अधिक होता है।
4. कुछ फलदार वृक्षों में बीज नहीं बनते कैसे केला, अनन्नास, अंगूर, शहतूत आदि अतः इन्हें बीज द्वारा उगाना असंभव है।

बीज द्वारा प्रसारण

वानस्पतिक प्रसारण (Vegetative propagation) :

इस विधि में बिना बीज की सहायता से पौधे के विभिन्न कायिक भागों जैसे तना, जड़, पत्ती व इनके रूपान्तरित भागों से नये पौधे तैयार किये जाते हैं। इस विधि के निम्न लाभ हैं:–

1. इसमें पौधे मातृ पौधे के समान गुणों वाले (true to type) होते हैं।
2. फलन में जल्दी आते हैं (Precocious)।
3. बीज रहित पौधों का प्रसारण किया जा सकता है।
4. इस विधि द्वारा निम्न श्रेणी के पौधों को उच्च श्रेणी में परिवर्तित किया जा सकता है (Top working)।
5. इन पौधों का आकार कम होने से अधिक सघनता (High density) तथा प्रबंधन उपाय आसानी से कर सकते हैं।

हानियाँ:–

1. ये पौधे बीजू पौधों की तुलना में कम आयु के होते हैं।
2. प्रजनन (Breeding) द्वारा फसल व किस्म सुधार सम्भव नहीं हैं।
3. जैविक (Biotic) व अजैविक (abiotic) तनावों (stresses) को सहन करने में बीजू पौधों की तुलना में कम सक्षम होते हैं।

वानस्पतिक प्रसारण के प्रकार

1. कलम द्वारा (Cutting) :

इस विधि में पौधे के भाग जैसे जड़, तना या पत्ती को पौधे से अलग करके उपयुक्त माध्यम (Media) में लगा दिया जाता है जिससे वह नये पौधे को जन्म दे सकें।

जड़ कलम (Root cutting) : सेव, आड़ू, लीची, अमरूद आदि पौधों के प्रवर्द्धन के लिए 0.5–1.0 सेमी. मोटाई युक्त तथा 10–15 सेमी. लम्बी मूल जड़ों से कलम तैयार की जाती है जिन्हें भूमि के समानान्तर दबा दिया जाता है जिनमें फुटान निकलते ही नया पौधा तैयार हो जाता है।

पर्ण (पत्ती) कलम (Leaf cutting) : जिन पौधों की मोटी व मांसल गूदेदार पत्तियाँ होती हैं उनमें इस विधि से प्रवर्द्धन किया जाता है। इन पौधों की पत्तियों के किनारों में अपस्थानिक कलिकायें उपस्थित रहती हैं जो भूमि के सम्पर्क में आने से, नमी

युक्त माध्यम में अंकुरण हो कर नये पौधे को जन्म देती हैं। इन अंकुरित कलिओं को पत्तीभ्रूण (Leaf embryo) कहा जाता है। उदाहरणः ब्रायोफाइलम तथा बिगनोनिया आदि।

तना कलम (Stem cutting) : किसी पौधे के तने व शाखाओं से जो कर्तनें तैयार करके लगायी जाती हैं वह तना कलम कहलाती हैं। शाखा की लकड़ी के कठोरपन या परिपक्वता के आधार पर इन्हें चार भागों में बाँटा जा सकता हैः–

(अ) कठोर काष्ठीय कलम (Hard wood cutting): लगभग एक वर्ष पुरानी पूर्ण परिपक्व शाखा, जिसमें भोज्य पदार्थ (कार्बोहाइड्रेट) अधिक तथा रंग भूरा व मोटाई लगभग 2.0 सेमी. की होती है। चयनित कलम की लम्बाई 15–25 सेमी. (औसतन 22.5 सेमी.) तथा पत्ती विहीन तैयार करके नर्सरी में भूमि के लम्बवत् (45 डिग्री कोण पर) लगभग दो तिहाई भूमि के अन्दर में लगा दिया जाता है। इन कलमों में पहले पत्तियाँ तथा बाद में जड़ें निकलकर लगभग 60–70 दिन में पौधा तैयार हो जाता है। उदाहरण– अंगूर

(ब) मध्यम कठोर काष्ठीय कलम (Semi hard wood cutting) : ये कलमें 6–9 माह पुरानी पिछले मौसम की वृद्धि वाली शाखा से तैयार करते हैं तथा पत्ती विहीन रखते हैं। इसकी लम्बाई भी कठोर काष्ठ कलम के समान ही रखते हैं। अनार, अंजीर, लैमन, नाशपाती आदि।

(स) मुलायम या कोमल काष्ठ कलम (Soft wood cutting) : ये कलमें इसी मौसम की वृद्धि की लगभग 6 माह पुरानी शाखा जिसकी लम्बाई 5–10 सेमी. रखकर तैयार करते हैं। चयनित शाखा हरे रंग की होती है। उदाहरणः– कोलिएस, चमेली आदि।

(द) शाकीय कलम (Herbaceous cutting) : नयी वृद्धि वाली प्ररोह जिसका रंग हरा पत्तियाँ अधिक होती है लम्बाई 7–15 सेमी पत्तियों युक्त कलम होती हैं तथा इन्हें उचित माध्यम में ही लगाया जाता है क्योंकि काष्ठ उत्तकों का निर्माण नहीं होता। उदाहरणः– कारनेशन, गुलदाउदी, कोलिएस आदि।

कठोर काष्ठीय | मध्यम कठोर काष्ठीय | शाकीय कलम | मुलायम या कोमल काष्ठ | पर्ण (पत्ती)

2. दाब कलम (Layering) :

मातृ पौधे की किसी शाखा या टहनी को बिना उससे पृथक किये उसमें कृत्रिम रूप से जड़ उत्पन्न कराने की क्रिया को दाब कलम कहा जाता है।

(अ) साधारण दाब (Simple layering) : इस प्रवर्द्धन विधि में 9 से 12 माह पुरानी शाखा के एक स्थान से 2.5 सेमी. चौड़ाई में छाल निकाल दी जाती हैं तथा लगभग 15 सेमी. सिरा भूमि से ऊपर रखकर शाखा को भूमि में दबा देते हैं। लगभग डेढ़ माह बाद जड़े निकालने पर इस शाखा को मातृ पौधें से अलग कर स्वतन्त्र पौधा तैयार हो जाता है।

(ब) शीर्ष दाब (Tip layering) : ब्लैक बेरी, चमेली, रास्पबेरी आदि पौधों में मुलायम शाखों के शीर्ष भाग को मोड़कर उसको 2.5 सेमी. चौड़ाई की छाल हटाकर जमीन में साधारण दाब की तरह दबा देते हैं।

(स) सर्पाकार दाब (Compound or serpentine Layering) : कभी–कभी पौधों की लम्बी शाखाओं को साधारण दाब की तरह दो या तीन स्थानों पर 2.5 सेमी. चौड़ाई में छाल निकाल कर उन स्थानों को भूमि में दबा दिया जाता है। नियमित देखभाल से इन स्थानों पर जड़ें निकलने पर इन्हे अलग अलग काटकर भूमि में लगा दिया जाता है। इस विधि द्वारा एक ही

शाखा से अधिक पौधे तैयार किये जा सकते हैं। उदाहरण स्ट्राबेरी, मोगरा, चमेली आदि।

(द) ट्रेन्च दाब (Trench layering) : इस विधि में समूची शाखा या वृक्ष को नाली बनाकर दबा दिया जाता है तथा टहनी (शाखाओं) के हर गाँठ से जड़ व प्ररोह निकलता है जिससे नये पौधों का निर्माण होता है। यह विधि पुराने वृक्षों से पौधे तैयार करने में भी उपयोग लेते हैं। उदाहरण– सेब, नाशपाती, आड़ू आदि।

(य) माउण्ड या स्टूल दाब (Mound or stool layering) : इसमें पौधों को उसके सुषुप्तकाल में भूमि के पास से काट दिया जाता है। ऐसा करने से उसके तने से छोटी–छोटी अनेक शाखाएँ निकलती है। जब शाखाएँ 8–10 सेमी. की हो जावे तो उनकी जमीन के पास से 2–2.5 सेमी. आकार की छाल निकालकर उन पर थोड़ी–थोड़ी मिट्टी चढ़ाते है, ऐसा तैयार किया जाता है। छाल हटे भाग को मध्य में रखकर, उस पर गीली मॉस घास (Sphagnum moss) को अल्काथीन के टुकड़े के साथ लपेट कर बाँध देते हैं। कुछ समय बाद जड़े निकल आने पर उसे काट कर भूमि में लगा दिया जाता है।

3. उपरोपण (Grafting) :

प्रवर्द्धन की इस विधि में पौधा साधारणतया दो भागों से मिलकर बनता हैं। एक मूलवृन्त (Rootstock) जो बीजू तथा निम्न श्रेणी का होता है तथा इसके ऊपर जोड़े जाने वाला दूसरा भाग उच्च श्रेणी का मातृ या पैतृक गुणों का सांकुर (Scion) होता है। ऐसी सभी विधियाँ जिसमें मूलवृन्त व सांकुर डाली (Scion) जोड़कर नया पौधा तैयार किया जाता है। उपरोपण या ग्राफ्टिंग

ट्रेन्च दाब

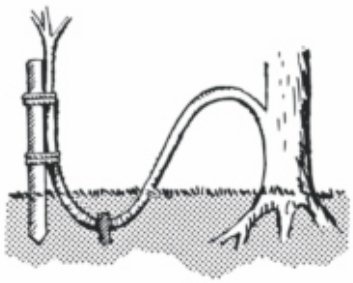

साधारण दाब

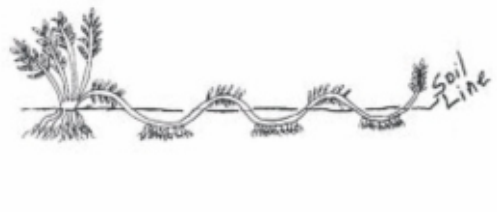

सर्पाकार दाब

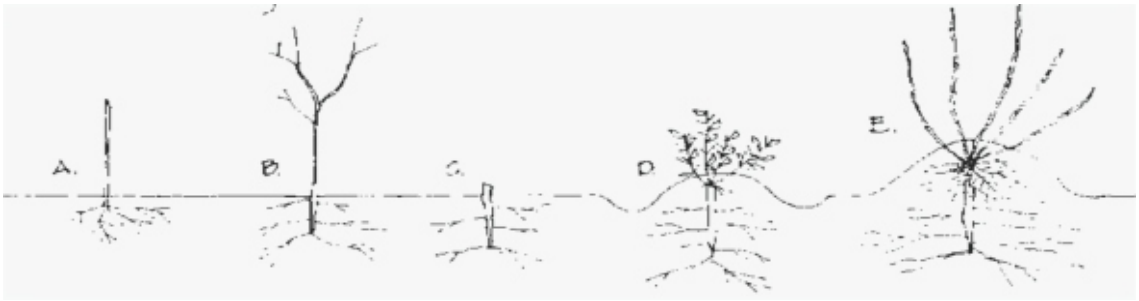

माउण्ड या स्टूल दाब

माउण्ड या स्टूल दाब

गूट्टी या वायु दाब

कहा जाता है। यहाँ सांकुर एक कली (Bud) के रूप में प्रयोग करने पर कलिकायन (Budding) कहलाता है।

ग्राफ्टिंग दो प्रकार की होती है–

1. अटैच्ड या भेंट कलम (Inarching) – जिसमें मूलवृन्त को पैतृक या मातृ वृक्ष की शाख (Scion) के पास ले जाते हैं तथा सांकुर शाख को मातृ या पैतृक वृक्ष से अलग नहीं करते जब तक कि रोपण ठीक से सम्पन्न नहीं हो जाता है। उदाहरण– आम, अमरूद, चीकू आदि।

2. डिटैच्ड ग्राफ्टिंग– इसमें मातृ या पैतृक पौधे की सांकुर शाख को नर्सरी में तैयार मूलवृन्त पर रोपण किया जाता है। इस विधि का विवरण निम्नानुसार है–

1. साधारण ग्राफ्टिंग (Simple grafting)– इसे स्पलिस ग्राफ्टिंग भी कहते जहाँ समान मोटाई के मूलवृन्त व सांकुर को विपरीत दिशा में 2.5–4.0 सेमी. लम्बाई से ढलानदार कटाव बनाते हैं तथा रोपण पट्टिका से बाँध देते हैं।

2. जीभी ग्राफ्टिंग (Tongue grafting)– यह विधि साधारण ग्राफ्टिंग की तरह ही है। इस विधि में साधारण ग्राफ्टिंग के लिए कटान तैयार करने के बाद मूलवृन्त में ऊपर से नीचे की ओर तथा सांकुरडाली में नीचे से ऊपर को जिव्हा आकार का कटान बनाकर दोनों को आपस में फंसा कर बाँध दिया जाता है।

3. वीनियर ग्राफ्टिंग – विस्तृत विधि आम में पढ़े।

4. वैज या क्लैफ्ट ग्राफ्टिंग (Wedge or cleft) – इस विधि में मूलवृन्त को भूमि से 22.5 सेमी. ऊपर से काट देते है। शीर्ष के स्थान पर अंग्रेजी के शब्द 'वी' आकार का लगभग 4–5 सेमी. गहरा कटान बनाते हैं। सांकुर डाली के निकटस्थ सिरे पर मूलवृन्त के 'वी' आकार में लगाने योग्य फाना (वैज) बनाकर, मूलवृन्त के कटान में फंसाकर अच्छी प्रकार से बांध दिया जाता है। करने से शाखाओं से जड़े निकल कर पौधा तैयार हो जाता है। उस समय इनको पौधे के समीप से काटकर स्वतंत्र पौधे के रूप में रोपण कर देते हैं इस विधि को स्टूलिंग भी कहते है। उदाहरण– सेब, अमरूद, लीची आदि।

(र) गूट्टी या वायु दाब (Air Layering) : फलवृक्षों जैसे नींबू, लीची, अनार, अमरूद आदि के प्रवर्धन हेतु दाब की यह विधि सर्वाधिक उपयोग में ली जाती है। ऐसी शाखायें जो भूमि से अधिक ऊँचाई पर होती है उन पर यह विधि अपनायी जाती है। इस विधि को मारकोटेज, चायनीज लेयरिंग भी कहते हैं। इस विधि में चयन की गई शाखा को साधारण दाब की तरह

5. स्टोन या एपिकोटाइल ग्राफ्टिंग (Stone or epicotyl grafting)– विस्तृत विधि आम से पढ़ें।

6. मृदु काष्ठ ग्राफ्टिंग (Soft wood grafting)– सीताफल, कटहल, आम, काजू, चीकू आदि फसलों के प्रवर्द्धन में उपयोगी है। मूलवृन्त 10–12 सेमी. ऊँचाई पर लगभग 5 सेमी. का ढलानदार कट लगाते हैं तथा सांकुर पर समान लम्बाई का वैज आकार के कटान लगाकर दोनों को रोपण पट्टिका से बांध देते हैं। अब इस पर जुड़ाव भाग (Union) के नीचे आने वाले फुटान समय–समय पर हटाते रहें। इन सीटू (In situ) तरीके से लगाये गये पौधों में भी यह प्रभावी विधि हैं।

7. सेतू उपरोपण (Bridge grafting)– सेतू उपरोपण ऐसे वृक्षों में करते हैं जिनमें मूलतंत्र और ऊपरी भाग स्वस्थ है। परन्तु कॉलर के पास का कुछ भाग क्षतिग्रस्त हो गया है। यह फरवरी मार्च में नयी वृद्धि प्रारम्भ होने से पहले की जाती है। एक वर्ष पुरानी शाखा की सांकुर के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसमें स्थान की लम्बाई के अनुसार सांकुर डाली काटकर दोनों सिरों को नुकीला बनाते हुए धनुषाकार में प्रत्यारोपित किया जाता है, यहाँ ध्रुवता (Polarity) का विशेष ध्यान रखा जाता है। अतः इस विधि द्वारा ट्रेक्टर हल या नाशी जीवों से नुकसान हुए (जमीनतल के पास से) घायल वृक्षों को सामान्य बनाया जाता है। उदाहरण– सेब, नाशपती, चेरी, अखरोट आदि।

8. दोहरी कलम बाँधना या उपरोण (Double grafting)– जब मूलवृंत और सांकुर के बीच मध्यस्थ (Inter mediate root stock) का प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रथम मिलान मूलवृंत और मध्यस्थ मूलवृंत व दूसरा मध्यस्थ मूलवृंत और सांकुर के बीच होता है। इस उपरोपण का उपयोग विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु ही करते हैं। जैसे– मुख्य पौधे की वृद्धि नियंत्रण, सांकुर में जैविक व अजैविक तनावों को सहन की क्षमता बढ़ाने व सांकुर व मूलवृंत के मध्य अनुकूलता बैठाना आदि।

अटैच्ड ग्राफ्टिंग

भेंट कलम ग्राफ्टिंग

डिटैच्ड ग्राफ्टिंग

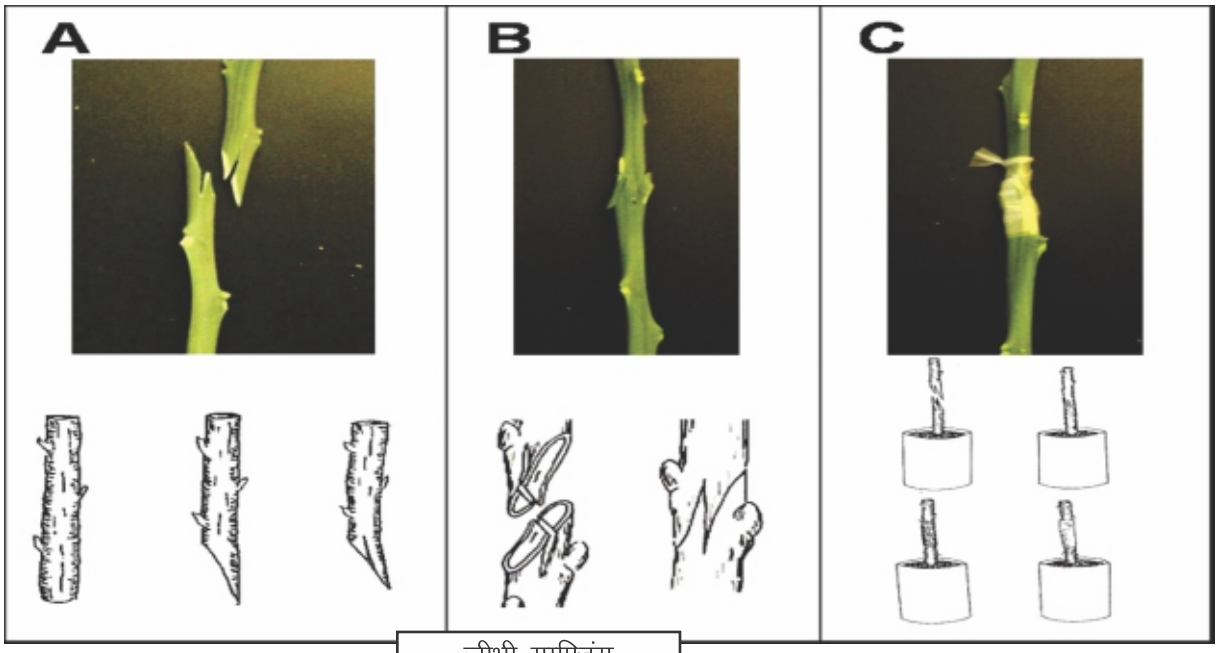

जीभी ग्राफ्टिंग

वीनियर ग्राफ्टिंग

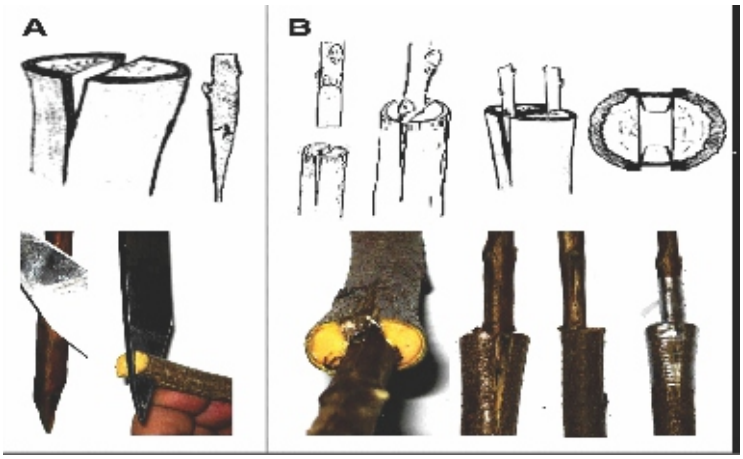

वैज या क्लैफ्ट ग्राफ्टिंग

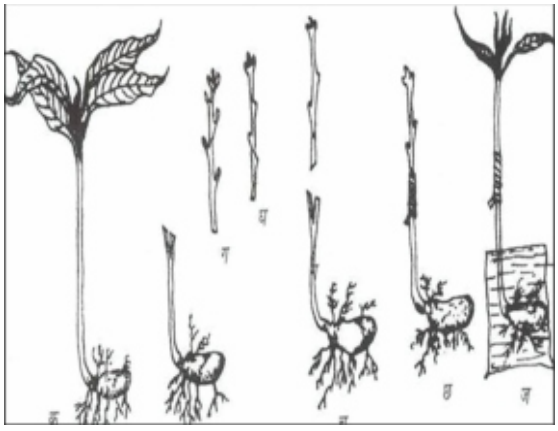

स्टोन या एपिकोटाइल ग्राफ्टिंग

मृदु काष्ठ ग्राफ्टिंग

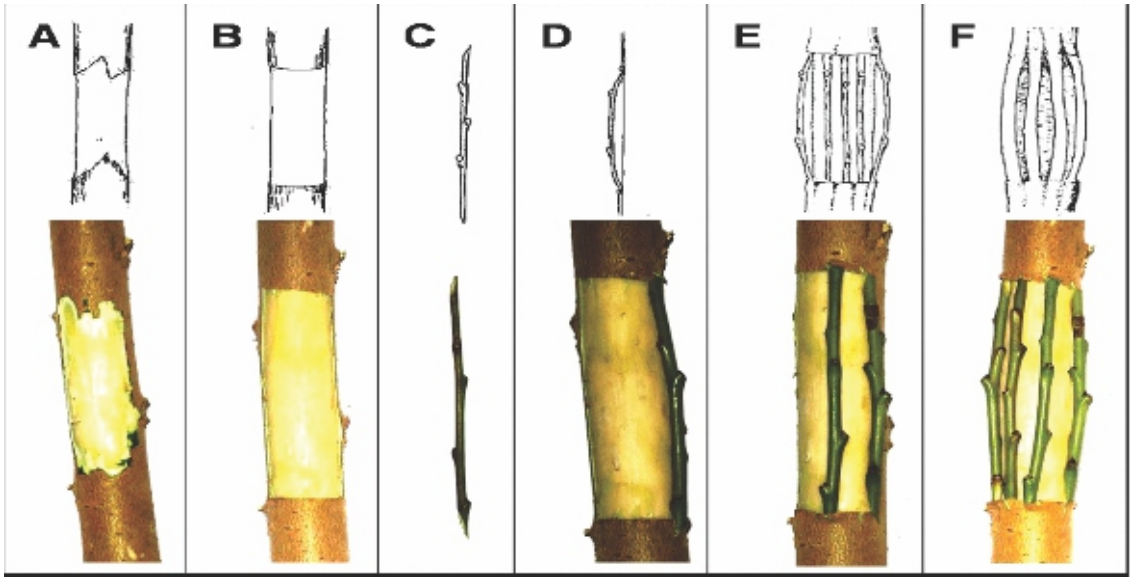

सेतू उपरोपण

4. कलिकायन (Budding)– कलिकायन या चश्मा चढाने की निम्न विधियाँ प्रमुख है–

(1) टी या शील्ड कलिकायन (T या Shield budding) – मूलवृन्त पर अंग्रेजी के टी आकार का 2.5–3.5 सेमी लम्बा कटान लगाते हैं तथा इतना ही एक समानान्तर कट देकर छाल को ढीला किया जाता है अब शील्ड आकार की छाल जिस पर कलिका (उन्नत किस्में) हो सांकुर के रूप में लेकर इसे टी आकार में प्रविष्ट करके पॉलीथीन स्ट्रीप से अच्छी तरह बांध देते हैं तथा बाँधते समय ध्यान रखें की कलिका कक्ष (Axil) खुला रहे, यही नये प्ररोह के रूप में आगे विकसित होगा। इसी तरह मूलवृंत पर कटाव केवल लम्बवत् हो तो आई कलिकायन, एक लम्बवत् कट के दोनों सिरों पर समानान्तर कटान करें तो एच कलिकायन तथा उल्टा शील्ड कलिकायन हो तो उल्टा टी कलिकायन (Inverted T budding) कहते हैं। इन विधियों द्वारा बेर, मौसम्बी, किन्नो, हाइब्रिड गुलाब, आलूबूखारा, आडू आदि का प्रवर्द्धन किया जाता है।

2. पैबन्द कलिकायन (Patch budding)– पैच बडिंग में मूलवृन्त पर भूमि से 20–25 सेमी. ऊँचाई पर 2.5–3 सेमी. लम्बी आयताकार आकृति में छाल काट कर अलग कर दी जाती है। अब इसी आकार की कलिका छाल सहित निकालकर मूलवृन्त पर तैयार कटान पर लगा कर बांध दिया जाता है। यह विधि आँवला, अखरोट में अपनाई जाती है।

जब मूलवृन्त पर तीन तरफ कटान लगाकर छाल फ्लेप (Bark flap) को उठा लिया जाता है तथा सांकुर शाखा से कलिका युक्त छाल (आकार में मूलवृन्त के कटान से थोड़ी छोटी) इस फ्लेप में बाँध देते हैं इसे फॉरकर्ट कलिकायन (Forket or flap budding) कहते हैं।

3. छल्ला कलिकायन (Ring budding)– मूलवृन्त के ऊपरी भाग के कटे हुए सिरे से 2.5 सेमी. नीचे तक छाल हटाकर वलय बना दी जाती है। अब वलय के रूप में बराबर व्यास की कलिका निकाल कर पहना दी जाती है। सिनकोना, शहतूत, बेर आदि।

जब मूलवृन्त के चारों ओर से घेरे के रूप में छाल हटा कर कलिका ट्यूब रूप से निकालकर मूलवृन्त पर बांध देते हैं इसमें वलय न होकर कटान होता है तो फ्लूट कलिकायन (Flute budding) कहलाता है।

4. चिप कलिकायन (Chip budding)– मूलवृन्त में जमीन से 1 फीट ऊँचाई पर 3.5–5 सेमी. लम्बाई की एक खांचा (Groove) तैयार किया जाता है। सांकुर शाखा को लकड़ी सहित छाल इसी आकार में काट कर लगाकर बाँध दिया जाता है। अंगूर में प्रवर्द्धन हेतु अपनाई जाती है।

5. शिखर रोपण (Top working)– बीजू, पुराने वृक्ष निम्न श्रेणी की किस्म में कलिकायन या उपरोपण क्रिया द्वारा इच्छित किस्मों में परिवर्तित करने की विधि शिखर रोपण या टॉप वर्किंग कहलाता है। यह बीजू व जीर्णोद्धार किये जा सकने वाले वृक्षों में अपना सकते हैं। आम, अमरूद, आँवला, नींबू वर्गीय फल, सेब आदि में कर सकते हैं।

जब पुराने पौधों को बिना शिरोहीन (Head back) किये विभिन्न शाखाओं के पार्श्व में अधिक संख्या में उपरोपण या कलिकायन कर इच्छित किस्मों में परिवर्तित क्रिया अपनाई जाती है तो उसे फ्रेम वर्किंग (Frame working) कहते हैं।

जब किसी पौधे पर एक ही प्रकार की कलिकायन या रोपण की क्रिया लगातार दो बार की जाती है तो इसको दोहरा रोपण (Double working) कहते हैं। यह साधारणतया तभी करते हैं जब मूलवृन्त तथा शाख के बीच मिलने की असमर्थता (incompatability) को दूर करना होता है।

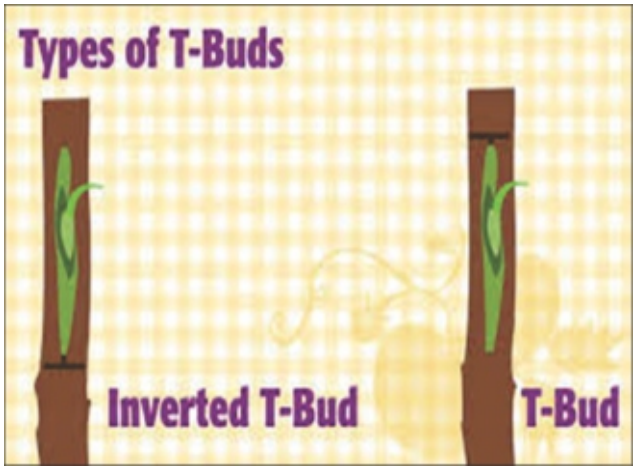

टी या शील्ड कलिकायन

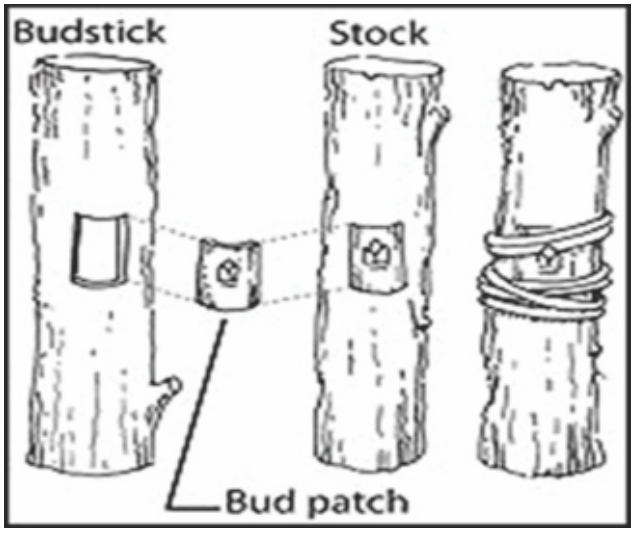

पैबन्द कलिकायन

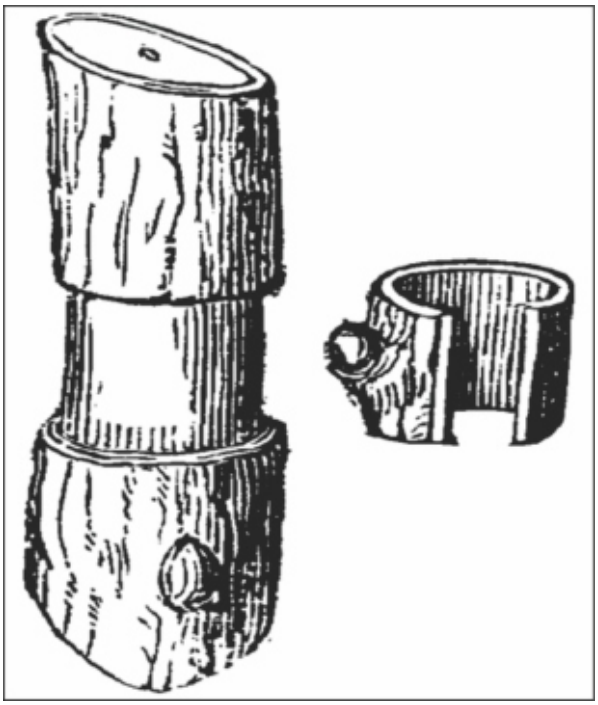

छल्ला कलिकायन

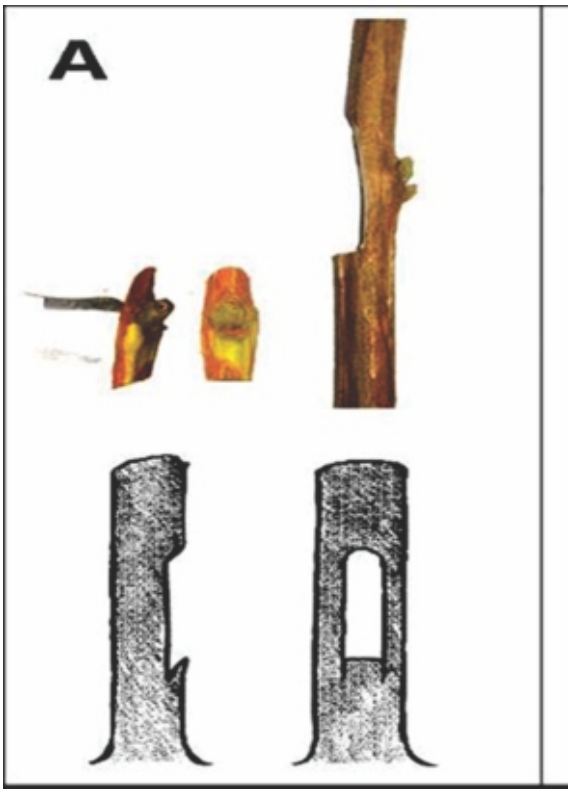

चिप कलिकायन शिखर रोपण

6. ऊत्तक संवर्धन (Tissue culture)– ऊत्तक संवर्धन में एक कोशिका से पूरा पौधा बनने की क्षमता होती है, इस क्षमता को टोटियोपोटेन्सी (Totiopotency) कहते हैं। यह पादप प्रवर्द्धन या प्रसारण की नवीनतम विधि है। इसमें पौधे के किसी सूक्ष्म भाग (Ex plant) जैसे तना, जड़, पत्ती, पराग, भ्रूण आदि को कृत्रिम माध्यम में प्रत्यारोपित कर नये पौधे तैयार किये जाते हैं। इस विधि में कम जगह व पौधों से लाखों पौधे तैयार एक साथ किये जा सकते हैं। केला, खजूर, स्ट्रोबेरी, अनार आदि फलदार पौधे इस विधि से तैयार किये जा रहे हैं। इस विधि में कृत्रिम माध्यम (Artificial media) जो कि लवण, शर्करा, विटामिन्स, अमीनो अम्ल, वृद्धि नियामक पदार्थ तथा अन्य कार्बनिक पदार्थों का मिश्रण होता है। केले में विषाणु रहित पौधे इस विधि से तैयार कर सकते हैं जिसमें प्ररोह का शीर्ष विभाज्योतकी मेरिस्टम भाग को एक्स प्लान्ट (Ex plant) के रूप में लेते हैं।

7. अलैंगिक प्रवर्द्धन में पौधे के जड़, तना, पत्तियाँ आदि के रूपान्तरण से मातृ वृक्ष के समान गुणों वाले पौधे तैयार होते हैं जिन्हें पौधे प्रसारण में उपयोग में ले सकते हैं जो निम्न हैं–

1. ऊपरी भूस्तारी (रनर्स)– विशेष तने जो भूमि पर लेट कर बढ़ते हैं तथा भूमि के सम्पर्क पर आने पर पर्व संधि या गाँठ से जड़ें निकलकर नया पादप बन जाता है उदाहरण– स्ट्रोबेरी।

2. अन्तः भूस्तारी (सकर्स)– भूमि के अन्दर तने जड़ तंत्र के समीप से निकले प्ररोह जिनमें अपस्थानिक (adventitious) कलिकाएँ होती हैं तथा जिनसे नया पौधा बन जाता है उदाहरण– अनन्नास, केला, बांस, आदि।

3. भूस्तारी (स्टोलन)– तने के आकार से निकली पार्श्व पतली शाख जिनमें पर्व संधियाँ लम्बी होती है तथा अन्तिम सिरे पर जड़ें निकलकर नया पौधा बनता है जैसे– दूब घास, पुदीना।

4. शल्ककंद (बल्ब)– तने का रूपान्तर है जिसमें छोटा उर्द्धवांतर तने का कक्ष मांसल शल्क (स्केल्स) से घिरा रहता है। इसी में भोज्य पदार्थ संग्रहित रहता है तथा बाह्य आवरण सूखा व पतला झिल्लीनुमा परत से ढका रह भी सकता है (जैसे प्याज) इसे टूनिकेटेड बल्ब या बाह्य आवरण विहीन भी हो सकता है (जैसे लिली) इसे नॉन–टूनिकेटेड बल्ब कहते हैं।

5. घनकंद (कोर्म)– तने के कक्ष का आधारीय भाग सूखे स्केल्स जैसी पत्तियों से ढका रहता है तथा इस तने पर पर्व व पर्व संधियां बनी रहती है जैसे ग्लेडियोलस, केसर, फ्रीसिया आदि। पुराने कोर्म के साथ नये छोटे–छोटे कोर्म सदृश्य संरचनाएँ कोरमेल कहलाती है। रोपण में साबुत (ग्लेडियोलस) या टुकड़े काटकर विभिन्न भागों जिसमें हर भाग में एक कलिका हो (याम) उपयोग में ले सकते हैं।

6. कंद (Tuber)– भूस्तारी (स्टोलन) तने का आधार भोज्य पदार्थ का संग्रहण कर फूल जाता है। जैसे आलू, आर्टीचोक, कैलेडियम तथा इस पर बनी पर्व संधियों के कक्ष में कलिकायें होती हैं। रोपण साबुत या काटकर कर सकते हैं। कई बार ऐसे कंद पत्तियों के कक्ष में वायवीय (Aerial) भागों में बन जाते हैं उन संरचनाओं को ट्यूबरकल्स (Tubercles) कहते हैं जिन्हें पौध प्रसारण में उपयोग में लेते हैं। जैसे डायोसकोरिया याम।

7. कंदीय जड़ें (Tuberous roots)– अपस्थानिक जड़ें फूल कर भोज्य पदार्थों का संग्रहण करती है । इन पर पर्व व पर्व संधियां नहीं होती इन्हें कंदीय जड़ें कहते हैं जैसे शकरकंद।

8. राइजोम (Rhizome)– तने का रूपान्तरण जिसमें भूमिगत तना क्षैतिज रूप में वृद्धि करता है तथा इस पर पर्व व पर्व संधियां रहती है जैसे अदरक, हल्दी, केला आइरिस।

9. ऑफसूट (Off shoot)– विशेष तरह की पार्श्व शाखा जो मुख्य तनें के पास से रोजेट जैसी शक्ल में निकलती है जिसे तेज धार वाले चाकू से हटाकर पौध प्रसारण में उपयोग में लेते हैं जैसे खजूर

10. स्लीप (Slip)– फलवृन्त से भी कभी–कभी प्ररोह निकलता है जिन्हें पौधरोपण के काम लेते हैं स्लीप कहलाता है उदाः अनन्नास।

अलैंगिक प्रवर्द्धन में पौधे के जड़, तना, पत्तियाँ आदि के रूपान्तरण

शल्ककंद (बल्ब)

कंद (ट्यूबर)

कंदीय जड़ें

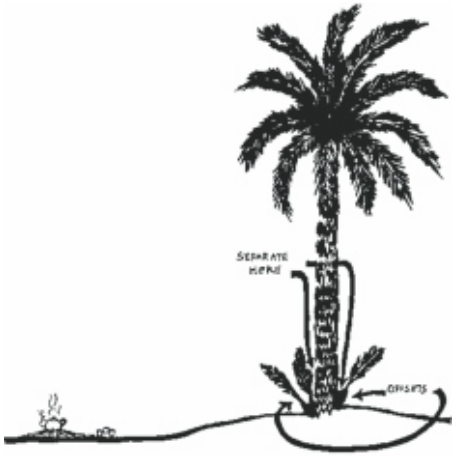

ऑफसूट

भूस्तारी (रनर्स)

स्लीप

अन्तः भूस्तारी (सकर्स)

राइजोम

भूस्तारी (स्टोलन)

घनकंद (कोर्म)

महत्वपूर्ण बिन्दु :–

1. नीबू,व अनार में कलम व गूटी करते समय उस शाखा का चुनाव करे जो एक वर्ष पुरानी व लगभग 1सेमी. मोटी हो।
2. अमरूद में वेज ग्राफ्टिंग आधुनिक व ज्यादा पौधे कम समय मे तैयार करने मे उपयुक्त प्रवर्द्धन विधि है।
3. पपीते की पौधशाला अप्रैल–जून माह उठे तल युक्त क्यारियों में कर उन्हें 5–7 सेमी. अवस्था पर पोलीथीन की थैलियों तथा 15–20सेमी. के हो जाये तो खेत में लगा देना चाहिए।
4. बेर के पौधे तैयार करने हेतु बीज बुवाई मार्च के प्रथम पखवाड़े तक कर 3–4 माह के मूलवृन्त पर कलिकायन करें तथा इसके एक –डेढ़ माह बाद सफल पौधे खेत में स्थानान्तरण योग्य हो जाते हैं।
5. अंगूर में आजकल पैच कलिकायन द्वारा डॉगरिज मूलवृन्त पर कर क्षारीय भूमि में भी खेती कर सकते हैं।
6. बीजू देशी वृक्षों (आम, ऑवला, बेर, चीकू आदि) में जीर्णोद्धार व शिखर–फ्रेम रोपण कर इच्छित किस्म में बदला जा सकता है।
7. खजूर में ऑफशूट 4–5 वर्ष पुराने पौधे के तने के पास से निकलते है तथा वृक्ष अपने आयु काल में 8–20 सकर्स पैदा करता है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. आलू का कंद किस पौध भाग का रूपान्तरण है–
   (अ) जड़ (ब) तना
   (स) शाख (द) कलिका
2. विषाणु रहित पौध कौनसी प्रवर्द्धन विधि से तैयार कर सकते हैं ?
   (अ) कलम (ब) दाब
   (स) उपरोपण (द) उत्तक संवर्द्धन
3. दाब कलम में जड़ निकालना कौनसे सिद्धान्त पर आधारित है?
   (अ) इटियोलेशन (ब) टोटियोपोटेन्सी
   (स) टॉप वर्किंग (द) स्टॉयोनिक प्रभाव
4. कौनसी दाब कलम में नये प्ररोह पर मिट्टी चढ़ाते हैं तथा इन पर जड़ें निकलने पर पौधा तैयार कर लेते हैं ?
   (अ) मारकोटेज (ब) स्टूल
   (स) मिश्रित (द) शीर्ष
5. पुराने बीजू पौधों को इच्छित किस्म में परिवर्तन हेतु निम्न में से कौनसी तकनीक अपनाई जाती है ?
   (अ) उपरोपण (ब) ब्रिज ग्राफ्टिंग
   (स) शीर्ष वर्किंग (द) छल्ला कलिकायन
6. स्ट्रॉबेरी व अनन्नास का प्रसारण क्रमशः किस विधि से करते हैं ?
   (अ) रनर व स्लीप (ब) स्लीप व रनर
   (स) दोनों सकर्स (द) कलम व ऑफ सूट
7. ग्राफ्टिंग पौधे में ऊपरी भाग को क्या कहा जाता है ?
   (अ) सांकुर (ब) मूलवृन्त
   (स) मातृ वृक्ष (द) सभी

अतिलघूत्तरात्मक –

1. प्रवर्द्धन किसे कहते हैं?
2. कलिकायन को परिभाषित करो।
3. गुटी का दूसरा नाम बताइये।
4. आम प्रवर्द्धन की विधियाँ बताइये।
5. टाटियोंपोटेन्सी क्या है?
6. केले का सत्य तना क्या कहलाता है?
7. गुठली उपरोपण कौन से फल की पौध प्रसारण की विधि है?
8. इनार्चिंग का दूसरा नाम बताइये।
9. कौन से फलदार वृक्ष को बीज से प्रवर्द्धन किया जाता है।
10. फ्रेम वर्किंग पर टिप्पणी लिखो।

लघूत्तरात्मक–

1. मृदु काष्ठ ग्राफ्टिंग क्या है।
2. शीर्ष वर्किंग कब उपयोग में लेते हैं।
3. दोहरी उपरोपण क्या है।
4. ऑफ सूट व सर्कस में अन्तर लिखों।
5. उत्तक संवर्द्धन तकनीक पर टिप्पणी लिखो।

निबंधात्मक –

1. लैंगिक व अलैंगिक पौध प्रसारण पर विस्तार से लिखो।
2. कलम व दाब कलम को परिभाषित करते हुए विभिन्न विधियों का वर्णन करो।
3. उपरोपण क्या होता है तथा इसकी विधियों का वर्णन करो।

उत्तरमाला

1. (ब) 2. (द) 3. (अ) 4. (ब) 5. (स)
6. (अ) 7. (अ)

अध्याय – 9
फलोद्यान प्रबन्धन
(Orchard Management)

फलोद्यान के स्थान का चुनाव, योजना, रेखांकन, गड्डे तैयार करना, पौधे लगाना एवं सामान्य देखभाल (Selection of site, Planning, Layout and Planting of Fruit Plants)

9.1 स्थान का चुनाव – (Selection of site)

फलोद्यान लगाना एक स्थायी एवं दीर्घकालीन नियोजन है इसलिए इसके लिए स्थान का चुनाव अति महत्वपूर्ण है। स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ फलवृक्ष उचित वृद्धि कर अधिक फल उत्पादन कर उत्पादन कर्ता को अधिक लाभ मिल सके। सम्भव हो तो ऐसे क्षेत्र का चुनाव करे जहाँ पहले से ही फलवृक्षों के बगीचे लगे हों, इससे अनेक सुविधाएँ आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं।

स्थान का चुनाव करते समय निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान देना आवश्यक है –

1. जलवायु – (Climate)

फल उत्पादन में जलवायु एक अति महत्वपूर्ण कारक है। किसी स्थान विशेष की वार्षिक वर्षा, तापमान, हवा, प्रकाश आदि के औसत को जलवायु से जाना जाता है। प्रत्येक फलवृक्ष के लिए एक निश्चित जलवायु की आवश्यकता होती है। स्थान विशेष की जलवायु के अनुसार ही फलवृक्षों का रोपण किया जाता है। जैसे–शुष्क एवं गर्म जलवायु में खजूर, बेर, अनार, आदि लगाये जाते है। गर्म एवं तर जलवायु में केला, नारियल अनन्नास आदि ठण्डी जलवायु में सेव, नाशपती आदि को लगाया जा सकता हैं। फल उत्पादन की दृष्टि से राजस्थान में शुष्क, अर्धशुष्क तथा अर्धनम जलवायु के फलों को ही उगाया जा सकता है।

2. भूमि – (Soil)

प्रायः अलग–अलग फलवृक्षों के लिए विशेष प्रकार की भूमि उपयुक्त होती है। अतः स्थान का चयन करते समय भूमि का विशेष ध्यान रखा जाता है। फलोद्यान के लिए दोमट या बलुई दोमट मिट्टी सबसे अच्छी मानी जाती है। भूमि की सतह 2 मीटर तक गहरी हो अर्थात कोई कठोर सतह नहीं हो, जिससे फलवृक्षों की बढ़वार अच्छी हो सके। भूमि अधिक अम्लीय एवं अधिक क्षारीय या लवणोयुक्त नहीं होनी चाहिए। फलोद्यान के लिए विकार रहित, जीवांशयुक्त गहरी भूमि का चयन करना चाहिए।

3. धरातल एवं स्थिति – (Topography)

फलोद्यान के लिए समतल भूमि का चुनाव करना चाहिए। अधिक ऊँची–नीची भूमि में वर्षा में कटाव की सम्भावना रहती है। साथ ही कृषि क्रियाएँ करने में कठिनाई आती है। भूमि की स्थिति जंगल, उद्योग व ईंट भट्टों के पास भी नहीं होनी चाहिए इससे फलवृक्षों की वृद्धि एवं उपज की गुणवत्ता पर हानिकारक प्रभाव होता है। आम में ब्लेकटिप नामक रोग उद्योग व भट्टे के धुएँ से प्रदूषण के कारण ही होता है।

4. सिंचाई एवं जल निकास – (Irrigation and drainage)

फलवृक्षों को अधिक पानी की आवश्यकता होती है अतः फलवृक्षों की अच्छी वृद्धि एवं फलत के लिए कम लागत पर पर्याप्त पानी उपलब्ध होना चाहिए। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में अच्छी गुणवत्तायुक्त, वर्षभर पर्याप्त पानी सिंचाई के लिए उपलब्ध रहना चाहिए क्योकि आम, अमरूद, पपीता, अंगूर, केला, नींबू, संतरा, आदि फलवृक्षों को वर्षभर नियमित सिंचाई की आवश्यकता रहती हैं। सिंचाई के साथ–साथ वर्षा ऋतु में अधिक पानी के निकास की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए, क्योंकि फलोद्यान में लगातार लम्बे समय तक पानी भरे रहने से भूमि की भौतिक दशा खराब हो जाती है जिससे फलवृक्षों की वृद्धि एवं उपज प्रभावित होती है।

5. अन्य सुविधाएँ – (Other facilities)

फलोद्यान के लिए स्थान के चुनाव में निम्न सुविधाओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। जिससे उद्यान से वांछित लाभ प्राप्त किया जा सके।

1. यातायात, परिवहन व सड़क की सुविधा अच्छी व आवश्यकता अनुरूप होनी चाहिए।
2. फलोद्यान की उपज की बिक्री हेतु बाजार की उपलब्धता सुनिश्चित हो।
3. उद्यान में विभिन्न कार्यों के लिए कुशल व अकुशल श्रमिकों की उपलब्धता हो।
4. समय–समय पर तकनीकी जानकारी की सुविधा हो।
5. उद्यान की सभी प्रकार से सुरक्षा व्यवस्था होनी चाहिए।

उद्यान योजना – (Orchard planning)

फलवृक्षों का रोपण एक दीर्घकालीन कार्य है अतः फलवृक्ष लगाने से पूर्व उसकी अच्छी प्रकार से योजना तैयार करनी चाहिए। उद्यान की सफलता एक अच्छी योजना के क्रियान्विति पर निर्भर करती है। उद्यान की योजना में निम्न बिन्दुओं का ध्यान अति आवश्यक है।

1. बाड़ लगाना – (Fencing)

स्थान के चुनाव के बाद एवं फलवृक्ष लगाने से पहले

उद्यान की सुरक्षा के लिए बाड़ लगाना अति आवश्यक है। इसके लिए कंटीली झाड़ियाँ, मिट्टी की डोल, कंटीले तार, पक्की दीवार आदि में से वित्तीय सुविधानुसार चुनाव करना चाहिए। प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक कांटेदार पौधे जैसे – जंगलजलेबी, विलायती बबूल, करौंदा, मेहन्दी, थोर, नागफनी आदि की बाड़ कर उद्यान की सुरक्षा की जा सकती है।

2. भूमि की प्रारम्भिक तैयारी – (Primary operation)

चयनित स्थान को समतल करना, पत्थर आदि निकालना तथा जंगली पैड़–पौधों एवं खरपतवारों को निकालना प्रारम्भिक कार्य होते हैं। इससे स्थान फल वृक्ष लगाने के लिए उपयुक्त अवस्था में आ जाता है। यदि स्थान पर पूर्व से ही खेती हो रही है तो प्रारम्भिक तैयारी की आवश्यकता नही रहती है बल्कि सामान्य जुताई आदि कर तैयार कर लेते हैं। अच्छा रहे भूमि समतल कर 1–2 हरी खाद वाली फसलें बुआई करने से मिट्टी की भौतिक दशा में सुधार आता है।

3. वायुरोधी वृक्ष – (Wind break)

फलवृक्षों का ठण्डी, गर्म एवं तेज हवाओं से बचाव के लिए बाग के उत्तर–पश्चिम दिशा में वायुरोधी वृक्षों का रोपण करना चाहिए। वायुरोधी वृक्ष ठण्डी, गर्म एवं तेज हवाओं से फलवृक्षों का बचाव कर उत्पादन में वृद्धि करते है। वायुरोधी वृक्ष ऊँचे, सघन, शीघ्र बढ़ने वाले जैसे– देशी जामुन, आम, नीम, शहतूत, कमरख, शीशम, आदि को लगाया जा सकता है। परन्तु इस बात का ध्यान रखे कि वायुरोधी वृक्ष, मूल वृक्षों को किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहुँचाएँ।

4. सड़क एवं रास्ते – (Road and path)

फलोद्यान की उपज का निस्तारण एवं आवश्यक सामग्री जैसे– खाद, उर्वरक, दवा, मशीन, उपकरण आदि को उद्यान के प्रत्येक भाग तक सुगमता पूर्वक पहुँचाने के लिए सड़क एवं रास्तों का प्रावधान रखना चाहिए। प्रायः उद्यान में एक मुख्य सड़क तथा प्रत्येक खण्ड या हिस्से को जोड़ने के लिए सहायक रास्ते बनाने चाहिए। सड़क व रास्ते पक्के, कच्चे, या पत्थर आदि के हो सकते हैं, परन्तु सही अवस्था में तथा आवागमन सुचारू हो सके का ध्यान रखना चाहिए। उद्यान में जमीन का अधिक उपयोग हो सके इसके लिए फलवृक्षों के बीच में उपलब्ध अन्तर का भी इस कार्य के लिए उपयोग किया जा सकता है।

5. सिंचाई की नालियाँ – (Irrigation channels)

उद्यान में प्रत्येक फलवृक्ष तक सिंचाई का पानी सुगमता से पहुँचे, इसके लिए सिंचाई की नालियाँ बनानी चाहिए। यह नालियाँ कच्ची, पक्की या सीमेन्ट के पाइपों से भी बनायी जा सकती हैं। आजकल उद्यान में सिंचाई के लिये अत्याधुनिक विधियाँ ड्रिप सिंचाई, फव्वारा सिंचाई आदि का अत्यधिक प्रचलन है। यह कम पानी में अधिक उपयोगी तथा कम कीमत पर अधिक लाभदायक रहती है।

6. आवास एवं कार्यालय – (Residance and office)

फलोद्यान की योजना में अच्छे प्रबन्धन एवं पर्याप्त देखभाल के लिए आवास एवं निरीक्षण, भण्डारण, पैकिंग, विपणन आदि के लिए कार्यालय, भवन का निर्माण भी करना चाहिए। हालांकि इनका निर्माण प्रारम्भिक लागत कम करने के लिए बाद के वर्षों में भी किया जा सकता है, परन्तु योजना में स्थान अवश्य देना चाहिए।

रेखांकन – (Layout)

फलोद्यान का अच्छा रेखांकन वह होता है, जिसमें उद्यान की भूमि का सदुपयोग हो तथा प्रत्येक फलवृक्ष को वृद्धि करने, प्रकाश के लिए पर्याप्त स्थान व उद्यानिक क्रियाएँ सुगमता से की जा सकें। फलोद्यान के रेखांकन के लिए सर्वप्रथम एक आधार रेखा खींची जाती है। यह आधार रेखा बाड़ एवं वायुरोधी वृक्षों की कतार से लगभग 5–6 मीटर की दूरी पर बनानी चाहिए।

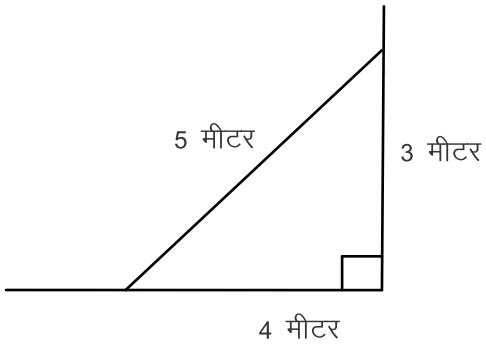

इस आधार रेखा के एक सिरे पर समकोण बनाती हुयी एक लम्बवत रेखा खींच लेते हैं। इसके पश्चात बाग का रेखांकन विभिन्न विधियों से किया जाता है। फलवृक्षों की प्रथम पंक्ति, पौधे के आपसी अन्तर की आधी दूरी पर चिन्हित की जाती है। जैसे– पौधों की दूरी 8 मीटर हो तो प्रथम पंक्ति 4 मीटर पर होगी, शेष पंक्तियाँ 8 मीटर पर रहेगी।

फलोद्यान में फलवृक्ष लगाने की प्रमुख विधियाँ निम्न है :–

1. वर्गाकार विधि
2. आयताकार विधि
3. त्रिभुजाकार विधि
4. पूरक या पंच भुजाकार विधि
5. षट् भुजाकार विधि
6. कण्टूर विधि / समोच्च रेखा विधि

1. वर्गाकार विधि – (Square system)

यह सबसे सरल, उत्तम एवं अधिक प्रयोग में ली जाने वाली विधि है। इस विधि में पंक्ति से पंक्ति एवं पौधे से पौधे का अन्तर समान रखा जाता है। इस विधि में कतार से कतार एवं पौधे से पौधे के समान दूरी पर निशान लगाकर रेखाएँ खींची

जाती है। जिस स्थान पर रेखाएँ आपस में काटती हैं। वहाँ फलवृक्ष लगाया जाता है। इस प्रकार चार फलवृक्ष मिलकर वर्ग का निर्माण करते हैं। इस विधि में बाग सघन नहीं होता तथा कृषि क्रियाएँ आसानी से की जाती हैं।

2. आयताकार विधि – (Rectangular system)

यह वर्गाकार विधि के समान ही होती है अन्तर केवल यह है कि इस विधि में पौधे से पौधे की दूरी पंक्ति से पंक्ति की दूरी से कम होती है। दो पंक्तियों के चार पौधे मिलकर आयत बनाते है। इस विधि में फलवृक्षों को पर्याप्त स्थान मिलता है तथा उद्यानिकी क्रियाएँ करने में आसानी रहती है।

3. त्रिभुजाकार विधि – (Triangular system)

इस विधि में पौधों का अन्तर वर्गाकार विधि की तरह होता है लेकिन दूसरी कतार के पौधे, पहली पंक्ति के दो पौधों के मध्य लगाये जाते हैं। इस विधि में तीन फलवृक्ष मिलकर त्रिभुज का निर्माण करते हैं। पौधे लगाने का यह क्रम आगे की पंक्तियों तक बढ़ाया जाता है। इस विधि में पौधों का अन्तर 10 मीटर है तो पहली पंक्ति का पहला पौधा 5 मीटर की दूरी पर लेकिन दूसरी पंक्ति का पौधा 10 मीटर की दूरी पर होगा। इस विधि में भूमि का सदुपयोग होता है परन्तु कृषि क्रियाओं में कठिनाई होती है।

4. पंच भुजाकार विधि– (Filler system/ Quincunx)

इसको पूरक विधि के नाम से भी जाना जाता है। यह वर्गाकार विधि की तरह ही है। परन्तु वर्गाकार विधि के चार फलवृक्षों के मध्य एक फलवृक्ष और लगाया जाता है। इस तरह पाँच फलवृक्षों से पंचभुज का निर्माण होता है। इस विधि में वर्गाकार से लगभग दो गुने फलवृक्षों का रोपण होने से बाग सघन हो जाता है। अतः चारो कोनो पर स्थायी फलवृक्ष तथा बीच में अस्थायी या पूरक फलवृक्ष को लगाते है जो कि कुछ वर्षों बाद हटा दिया जाता है। पूरक पौधे के रूप में पपीता, फालसा, अनन्नास, केला आदि का रोपण करते हैं। इससे फलोद्यान से प्रारम्भ में अतिरिक्त आय प्राप्त होती है।

5. षट्भुजाकार विधि – (Hexagonal system)

इस विधि को समत्रिबाहु त्रिभुज विधि भी कहते है। इसमें छः फलवृक्षों से मिलकर षट्भुजाकार आकृति का निर्माण होता है। तथा इनके बीच एक अतिरिक्त पौधा सातवें पौधे के रूप में रहता है। इससे बाग बहुत सघन हो जाता है। तथा वर्गाकार विधि की तुलना में लगभग 15 प्रतिशत पौधे अधिक लगते हैं। प्रायः शहर के नजदीक मँहगी भूमि में इस विधि से फलवृक्षों का रोपण किया जाता है। बाग सघन होने से कृषि क्रियाओं में असुविधा रहती है।

6. समोच्च रेखा विधि – (Contour system)

इस विधि का प्रयोग ऊँची–नीची, पहाड़ी, असमतल भूमियों में किया जाता है। इसमें ढलान के मध्य पंक्ति बनाकर कन्टूर के साथ–साथ पौधे लगा दिये जाते हैं। इसी सीध में दूसरी ढलान अर्थात कन्टूर पर पौधे लगा देते हैं।

सघन रोपण – (High density planting)

फलोद्यान में एक निश्चित क्षेत्रफल से अधिक उत्पादन लेने के लिए फलवृक्षों का आपसी अन्तर कम कर रोपण करना सघन रोपण कहलाता है। इससे प्रति ईकाई क्षेत्रफल में फलवृक्षों की संख्या अधिक होने से उपज बढ़ जाती है। इस विधि में उनके आनुवंशिकी में परिवर्तन किये बिना वृक्षों का आकार कम रखा जाता है। फलवृक्षों को छोटा बनाने के लिए बौने मूलवृन्त, बौनी जातियाँ (जैसे –आम में आम्रपाली), काट–छाँट, रसायनों का प्रयोग, उचित पोषण आदि उद्यानिक क्रियाओं को अपनाया जाता है। प्रायः बाग लगाने की वर्गाकार, आयताकार, त्रिभुजाकार विधियों में ही फलवृक्षों का अन्तर कम कर उनकी संख्या बढ़ाते है। इससे उत्पादन अधिक मिलने लगता है। यह प्रयोग शहरी क्षेत्रों में अधिक मंहगी भूमियों में किया जाता है। इस पद्धति में उद्यान प्रबन्धन पर अधिक ध्यान रखा जाता है। आम, सेव, नाशपती, आडू में यह प्रयोग किया जा रहा है। जब फलवृक्षों का अन्तर बहुत कम किया जाता है तो उसे उच्च सघन रोपण कहते हैं।

गड्डे तैयार करना – (Digging of pits)

फलों के पौधे लगाने से पहले निश्चित दूरी पर निशान लगाकर गड्डे खोदना चाहिए। गड्डे फलवृक्ष रोपण के एक माह पूर्व खोद कर खुला छोड़ना चाहिए। वर्षा ऋतु में रोपण के लिए जून माह में तथा बसन्त अर्थात फरवरी में रोपण के लिए जनवरी में गड्डे खोदना चाहिए। गड्डों का आकार फलवृक्षों के आकार पर निर्भर करता है।

पौधे लगाने से एक माह पूर्व गड्डे खोदकर लगभग 15–20 दिन धूप में खुला छोड़ना चाहिए, जिससे कि तेजधूप में हानिकारक जीवाणु आदि नष्ट हो जाएं। गड्डा खोदते समय ऊपर की आधी मिट्टी उपजाऊ होती है इसमें गोबर की खाद/कम्पोस्ट का 1:1 अनुपात में मिलाकर गड्डा भरना चाहिए। गोबर की कच्ची खाद का प्रयोग नहीं करना चाहिए अन्यथा दीमक का प्रकोप रहता है। फलवृक्षों की उचित वृद्धि हेतु गड्डे के आकार के अनुसार खाद या कम्पोस्ट प्रति गड्डे की दर से मिलाना चाहिए। गड्डा भरते समय दीमक से बचाव के लिए 60–100 ग्राम मिथाइल पैराथियान डस्ट या क्लोरोपायरीफास प्रति गड्डा मिलाना चाहिए। गड्डे को खेत की सतह से ऊँचाई

1.	छोटे आकार के फलवृक्ष जैसे–पपीता, फालसा, केला आदि।	50 x 50 x 50 सेमी आकार में
2.	मध्यम आकार के फलवृक्ष जैसे–अनार, अमरूद, नींबू आदि।	75 x 75 x 75 सेमी आकार में
3.	बडे आकार के फलवृक्ष जैसे – कटहल, आम आदि।	1 x 1 x 1 मी आकार में

तक भर कर सिंचाई करते है जिससे कि गड्डे में मिट्टी अच्छी प्रकार भर जाएं।

पौधे लगाना – (Planting)

फलोद्यान में फलवृक्षों को उनकी प्रकृति, भूमि, जलवायु आदि के अनुसार उचित दूरी पर लगाना चाहिए। फलवृक्षों का आपसी अन्तर अधिक रखने पर पौधों की संख्या कम होने से पैदावार कम हो जाती हैं। जबकि सघन रोपण से गुणवत्ता पूर्ण उत्पादन नहीं मिल पाता। अतः फलवृक्षों को पर्याप्त अन्तर पर रोपण करना चाहिए जिससे कि बाद में किसी प्रकार की कठिनाई नही हो। फलवृक्षों को लगाने की दूरी निम्नानुसार हैः–

आम, कटहल – 10 × 10 मीटर

आँवला, लीची, चीकू – 9 × 9 मीटर

अमरूद, बेर – 8 × 8 मीटर

नींबू, माल्टा, नाशपती, खजूर – 6 X 6 मीटर

पपीता, केला, अंगूर, फालसा – 3 X 3 मीटर

पौधे लगाने का समय – (Time of planting)

फलदार पौधों की रोपाई फलों के अनुसार वर्ष में दो बार होती है। सदाबहार फलवृक्षों को वर्षा ऋतु अर्थात जुलाई–अगस्त में लगाना उत्तम रहता है। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में यह कार्य सितम्बर में भी किया जा सकता है। वर्षा के अलावा पौधों को बसन्त ऋतु अर्थात फरवरी–मार्च में भी लगाया जा सकता है लेकिन इस समय ग्रीष्म में छोटे फलवृक्षों को गर्मी से बचाव एवं सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था हो। पतझड़ वाले वृक्षों को सुषुप्तावस्था अर्थात जनवरी में भी रोपण किया जा सकता है।

पौधे लगाते समय सावधानियाँ (Precautions at the time of planting)

फलों के पौधों को गड्डों में लगाते समय निम्न सावधानियाँ रखने से बाद में होने वाली कठिनाईयों से बचाव हो जाता हैः–

1. पौधा हमेशा सांयकाल लगाएं। कभी भी तेज धूप या तेज वर्षा मे रोपण नहीं करें।
2. पौधे पर लिपटी घास या पोलिथीन को सावधानी से अलग करें। पौधे के साथ लगी मिट्टी (पिण्ड) को नुकसान नहीं हो।
3. पौधे पर रोपण या कलिकायन का जुड़ाव भूमितल से 25 सेन्टीमीटर ऊपर होनी चाहिए।
4. पौधा अधिक गहराई पर नहीं लगाएं।
5. पौधा लगाने से पूर्व ऊपरी भाग की 4–5 पत्तियाँ छोडकर शेष पत्तियाँ हटा देना चाहिए।
6. पौधे को गड्डे में सीधा मध्य में लगावे तथा पौधा लगाने के बाद चारो तरफ से मिट्टी को अच्छी प्रकार दबा देना चाहिए।
7. पौधा लगाने के तुरन्त बाद सिंचाई अवश्य करें।
8. यदि आवश्यक हो तो लकड़ी, बांस आदि का सहारा लगाएं जिससे तेज हवा से पौधो को नुकसान नहीं हो।

सामान्य देखभाल – (General care)

फलोद्यान में फलवृक्ष को स्थायी रूप से रोपण के बाद वह अच्छी वृद्धि कर सके तथा स्वस्थ्य रहे इसके लिए उनकी देखभाल पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके लिए निम्न क्रियाएँ समय–समय पर की जाती है।

1. पौधों को आवश्यकतानुसार सिंचाई करना। सिंचाई सामान्यतः गर्मियों में 7–8 दिन के अन्तर पर तथा सर्दियों में 10–15 दिन के अन्तराल पर करते हैं। सिंचाई की मात्रा कम या अधिक नहीं हो कर, आवश्यकतानुसार हो। प्रायः छोटे फलवृक्षों में इसके लिए ड्रिप सिंचाई विधि अच्छी मानी जाती है।
2. फलवृक्षों के आस–पास खरपतवार भी उग आते हैं। इससे फलवृक्षों की वृद्धि प्रभावित होती है। अतः बाग में समय–समय पर निराई गुड़ाई कर खरपतवारों को निकालते रहने से मृदा की भौतिक दशा में सुधार आता है तथा पौधे अधिक तेजी से वृद्धि करते हैं।
3. फलवृक्षों को भूमि की दशा के अनुसार खाद एवं उर्वरक भी देना आवश्यक है। प्रायः वर्ष में एक बार संतुलित मात्रा में इसका प्रयोग करना चाहिए। उर्वरक प्रयोग के बाद हल्की सिंचाई अवश्य करें।
4. शीतकाल में पाले एवं ग्रीष्म में गर्म हवाओं से छोटे पौधों का बचाव अवश्य करें। इसके लिए दक्षिण दिशा में खुला छोड़कर घास/टाटियाँ/सरकण्डे से ढकना तथा छाया करनी जैसी क्रियाएँ की जानी चाहिए।
5. फलवृक्षों का बड़े होने पर फलतः के लिए अच्छा ढांचा तैयार हो, इसके लिए प्रारम्भ से ही उसकी आवश्यकतानुसार कांट–छांट तथा सधाई की क्रियाएँ की जाएं। यह कार्य प्रशिक्षित व्यक्ति ही करें। इसका ध्यान रखें।
6. कीट एवं बीमारियों से बचाव के लिए दवा आदि का छिड़काव करें तथा आवश्यक होने पर पादप हार्मोन का भी छिड़काव कर पौधों को स्वस्थ्य रखें।
7. कभी–कभी किन्हीं क्षेत्रों में तेज हवाओं से छोटे पौधों को काफी नुकसान होता है। अतः ऐसी स्थिति में उनको लकड़ी, बांस आदि का सहारा भी दें जिससे पौधे टूटे नहीं।

9. 2 प्रतिकूल मौसम एवं बचाव (Adverse weather condition and their remedies)

फलवृक्ष रोपण से लेकर बाद तक मौसम से प्रभावित होता है। फलवृक्षो की वृद्वि, फलन तथा उसकी गुणवत्ता पर मौसम का बहुत अधिक प्रभाव होता है। वातावरण में तापमान का कम या

अधिक होना, तेज हवाओं का चलना, अतिवर्षा का होना, वर्षा का असमय होना आदि सभी मौसम में परिवर्तन के लक्षण हैं। मौसम के इस प्रकार अचानक परिवर्तन से फलवृक्ष बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। इससे फलवृक्षों को काफी हानि होती है तथा उपज भी कम मिलती है।

मौसम की ऐसी परिस्थितियाँ जो फलवृक्षों की वृद्धि, विकास और उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है, प्रतिकूल मौसमी दशाऐं कहलाती है। मौसम की प्रतिकूल दशाओं में पाला, गर्म हवा या लू, ठण्डी हवाएँ, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, आँधी–तूफान आदि शामिल हैं।

पाला या तुषार (Frost)

सर्दी के दिनों में दिसम्बर–जनवरी के माह में जब वायुमण्डल का तापमान रात्रि को $0^{\circ}C$ या इससे नीचे आ जाता है, उस समय घास–फूंस व पौधों की पत्तियों पर पतली पर्त के रूप में बर्फ जम जाती है बर्फ की यह परत पाला कहलाती है।

पाले का प्रभाव (Effect of Frost)

पाले का प्रभाव सभी प्रकार के पेड़–पौधों पर देखा जाता है विशेष रूप से छोटे फलवृक्ष एवं चौड़ी पत्ती वाले फल वृक्ष इससे अधिक प्रभावित होते हैं। वातावरण में तापमान कम हो जाने से पौधों की वृद्धि एवं फलत प्रभावित हो कर रूक जाती है। कभी कभी कम तापमान की स्थिति अधिक समय तक रहने से फलवृक्षों की पत्तियों में विद्यमान कोशिका जल जमकर बर्फ बन जाता है। इससे आयतन बढ़ने के कारण कोशिका भित्ति फट जाती है और कोशिकाएँ मर जाती हैं, इससे पौधा झुलसा हुआ दिखाई देता है और अन्त में नष्ट हो जाता है। उत्तरी भारत व राजस्थान में दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह से जनवरी के अन्त तक पाले का प्रकोप अधिक रहता है। बड़े फलवृक्षों की तुलना में छोटे फलवृक्ष इससे अधिक नष्ट होते हैं।

पाले से बचाव (Precaution from Frost)

पाला तापमान के जमाव बिन्दु के कारण होता है, इस तापमान को नियंत्रित करना कठिन होता है, परन्तु कुछ उपाय ऐसे किये जाते है जिनसे पौधों के आस पास का तापमान बढ़ाया जाकर पाले से बचाव किया जा सकता है। बचाव के कुछ उपाय निम्न है–

1. **सिंचाई करना (Irrigation) :** पाले की आशंका होने पर बाग में सिंचाई करते हैं। सिंचाई सांयकाल करे, जिससे भूमि व फलवृक्षों का तापमान वातावरण से $1–2^{\circ}$ अधिक हो जाता है और पाले का असर पौधों पर कम होता है।
2. **धुआँ करना (Smudging) :** बाग में सांयकाल घासपूस, फसल अवशेष व अन्य पदार्थों को जला देना चाहिए इससे वातावरण में धुंआ होने से तापमान में वृद्धि हो जाती है। यह ध्यान रहे कि घासफूस से धुंआ अधिक होना चाहिए। यह फलवृक्षों को पाले से बचाव का प्रभावी तरीका है।
3. **गंधक के अम्ल का छिड़काव (Acid spray) :** गंधक के अम्ल का हल्की सान्द्रता (0.1%) वाले घोल का छिड़काव करने से पौधो में कम तापमान को सहन करने की क्षमता में वृद्विसे पौधो की पाले से सुरक्षा हो जाती है।
4. **टाटियाँ बांधकर (Shelter) :** नये लगाये गये छोटे फलवृक्षों को सर्दी में घास, सरकण्डे, जूट, मूंज आदि की टाटियाँ बनाकर सायंकाल से सूर्य निकलने तक ढक देते है। इससे उनका कुछ हद तक बचाव हो जाता है।
5. **विद्युत हीटर द्वारा (By electric heater) :** प्रायः यह प्रयोग विदेशो में किया जाता है। इसमें छोटे क्षेत्र में रात्रि के समय उद्यान में स्थान–स्थान पर विद्युत चालित हीटर का प्रयोग करते है। इससे बाग के एक निश्चित क्षेत्र में वातावरण गर्म होकर तापमान में वृद्धि हो जाती है। इससे फलवृक्षों का बचाव होता है। यह एक महंगा तरीका है, हमारे देश में बहुत ही सीमित क्षेत्र में प्रयोग होता है।
6. **वायुरोधी वृक्ष लगाना (Wind breaks) :** फलोद्यान को ठण्डी एवं गर्म हवाओं, लू आदि से बचाव के लिए बाग के उत्तर पश्चिमी दिशा में नीम, जामुन, देशी आम, शहतूत आदि वृक्षों का रोपण किया जाता है। इन वृक्षों से फलवृक्षों की उत्तरी ठण्डी हवाओं से बचाव होता है। साथ ही गर्म हवाएँ व लू से भी बचाव होता है।
7. ऐसे क्षेत्र जहाँ पाले की सम्भावना अधिक होती है उन स्थानों पर फलवृक्षों की पाला रोधी किस्मों का रोपण करना चाहिए।

गर्म हवाएँ (Hot winds) :

भारत के मैदानी क्षेत्रो विशेषकर उत्तरी भारत में गर्मी के दिनों में मई–जून के माह में अधिक तापमान के कारण गर्म हवाएं चलती है इन हवाओं को ''लू'' कहते हैं। इन गर्म हवाओं से भूमि के साथ–साथ वातावरण के तापमान में भी बढ़ोत्तरी होती है जिससे छोटे फल वृक्ष, फूल, फल आदि झुलसकर नष्ट हो जाते है।

गर्म हवाओं का प्रभाव (Effect of hot winds) : गर्म हवाओं से तापमान में वृद्धि हाती है, जिससे वृक्षों की वाष्पोत्सर्जन में बढ़ोतरी होती है, इससे पौधों से पानी का तेजी से ह्रास होने लगता है। पौधा पानी की कमी को सहन नही कर पाता और एक स्थिति के बाद झुलस कर नष्ट हो जाता है। सामान्यत गर्म हवाओं से वातावरण का तापमान अधिक हो जाता है, इससे भी पौधों की पत्तियाँ, कोमल टहनियाँ, फूल, फल आदि झुलस कर नष्ट होते हैं। छोटे पौधों पर यह अधिक नुकसान करता है। कभी कभी पूरा पौधा ही सूखकर नष्ट हो जाता है।

बचाव के उपाय (Precautions) :

1 गर्मी के दिनों में उद्यान में सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था हो, जब तापमान में बढ़ोतरी हो उस समय पर्याप्त सिंचाई कर फलवृक्षो को बचावें।

2 फलोद्यान के चारो तरफ वायुरोधी वृक्ष लगाकर गर्म हवाओं से सुरक्षा करें।

3. बड़े व पुराने फलवृक्षो के तनों पर सफेद चूने का लेप करे या इन पर कुछ समय के लिए तापरोधी पदार्थो को लपेट देवे।

4. प्रायः गर्म हवाएँ पश्चिम दिशा से चलती है, अतः छोटे फलवृक्षो के इस दिशा में टाटियाँ या सरकण्डे लगाकर लू से रक्षा करें।

5 पानी की पर्याप्त मात्रा हो तो गर्मी में दोपहर के समय उद्यान में स्प्रिकलर या फव्वारा से उद्यान में पानी छिड़के, जिससे आस–पास के वातावरण का तापमान कम होकर फलवृक्षों का बचाव हो सकें।

अतिवृष्टि –

वर्षा का अत्यधिक मात्रा में लम्बे समय तक होना अतिवृष्टि कहलाता है। इससे फलोद्यान में पानी भरने से समस्या होती है वही फलवृक्षों से फल, फूल झड़ने व परागकण नष्ट होने से फलत भी प्रभावित होती है। अतिवृष्टि से छोटे फलवृक्षों के गलने, रोग लगने व कींटो के प्रकोप से बहुत अधिक नुकसान होता है। उद्यान में पानी भरा रहने पर भूमि की भौतिक दशा भी प्रभावित होकर फलवृक्षो को नुकसान करती है।

अतिवृष्टि वाले क्षेत्रों में स्थित फलोद्यान में जल निकास की उचित व्यवस्था होने से फलवृक्षो को कुछ हद तक बचाया जा सकता है।

अनावृष्टि :–

वर्षा का नही होना या बहुत कम मात्रा में होना अनावृष्टि कहलाता है। ऐसी स्थिति में पानी के अभाव में फलवृक्षों की वृद्धि एवं फलत बहुत अधिक प्रभावित होती है पानी के अभाव में पौधों की कार्यिकीय क्रियाएँ सुचारू रूप से सम्पन्न नही होने के कारण फलवृक्षों से उत्पादन नही मिल पाता तथा कभी कभी पौधे सूखकर नष्ट हो जाते हैं।

उद्यान में अनावृष्टि से उत्पन्न पानी की कमी की पूर्ति के लिए सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था हो जिससे नियमित सिंचाई की जा सके। कम पानी की स्थिति में ड्रिप सिंचाई पद्धति का उपयोग लाभदायक रहता है। फलोद्यान में नमी बनाये रखने के लिए फलवृक्षो के आस पास पलवार (मल्चिंग) का प्रयोग करना चाहिए। फलवृक्षों में रासायनिक उर्वरकों के साथ साथ कार्बनिक खादों का अधिक प्रयोग करना चाहिए। वर्षा के जल का उचित संरक्षण कर, पानी की कमी की पूर्ति की जा सकती है।

आँधी–तूफान –

कभी कभी मौसम में अचानक परिवर्तन के कारण आँधी तूफान आते है जिसमें अत्यधिक तेज गति से हवा वर्षा के साथ आती है। यह स्थिति फलोद्यान के लिए काफी नुकसानदायक रहती है। क्योकि अचानक उत्पन्न ऐसी परिस्थिति से बचाव का कोई संतोषजनक उपाय नही है। तेज आँधी तूफान से फलवृक्षों की शाखाएं टूटना, फलवृक्षों का जड़ से उखड़ना, फूल व फलों का झड़ना तथा परागण प्रक्रिया में अवरोध से सम्पूर्ण फलोद्यान प्रभावित होकर कभी कभी अफलत की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इससे बचाव के लिए फलोद्यान के चारो तरफ वायुरोधी वृक्ष लगाना तथा पक्की ऊँची दीवार बनाकर हवाओं की गति को कम किया जा सकता है। छोटे फलवृक्षों जैसे केला, पपीता आदि को बांस लकड़ी आदि का सहारा लगाना चाहिए।

9.3 उद्यान मे अफलन की समस्याएँ एवं समाधान (Unfruitfulness and their Remedies)

अफलन से तात्पर्य है कि फलवृक्षो में फूल एवं फल नही बनना अथवा बहुत कम या आंशिक रूप से ही आना। अफलन फलोद्यान की एक प्रमुख समस्या है। कभी–कभी वृक्षो पर एक टहनी पर फूल फल लगते हैं जबकि दूसरी टहनी वंचित रह जाती है। ऐसी परिस्थिति में फलोद्यान अनुत्पादक कहलाता है। अर्थात उद्यान से कम फलत या आंशिक फलत के कारण आमदनी कम एवं लागत अधिक होने को फलोद्यान की अनुत्पादकता कहते हैं।

अफलन के कारण (Factors of unfruitfulness) :

प्रायः फलोद्यान में अफलन निम्न दो प्रकार के कारको के कारण होता हैं–

(1) बाह्य कारक **(External factor)**

(2) आंतरिक कारक **(Internal factor)**

(1) बाह्य कारक (External factor) : फलवृक्षों में फूल उत्पन्न होने से लेकर फल पकने तक विभिन्न प्रकार की उद्यानिक क्रियाएँ, मौसम की दशाँए जैसे अनेक कारक होते हैं। जो अफलन की स्थिति उत्पन्न करते हैं। जैसे–

1. **पोषक तत्वों की स्थिति (Nutrients) :** फलवृक्षों में अच्छे फल उत्पादन के लिए पोषक तत्वों की संतुलित मात्रा का उपलब्ध होना आवश्यक होता है। इन तत्वो में से किसी एक की भी कमी या अधिकता के कारण असन्तुलन हो कर अफलन होता है। जैसे अच्छे फलन के लिए कार्बोहाइड्रेट नाइट्रोजन (C:N) अनुपात में सन्तुलन होना आवश्यक है। फास्फोरस, सल्फर, बोरान तत्वों की कमी से भी फूल नहीं आते हैं। नाइट्रोजन की अधिकता केवल वानस्पतिक वृद्धि को ही बढ़ावा देती है। इस प्रकार फलवृक्षों को संतुलित पोषक तत्वों की उपलब्धता फलन

के लिए आवश्यक है।

2 **मौसम की स्थिति (Weather) :–** कभी–कभी फलवृक्षों पर फूल एवं फल बनते समय मौसम में अचानक परिवर्तन से तेज हवाएँ, आँधी, तूफान, असमय वर्षा पाला लू जैसे प्रतिकूल परिवर्तन होते हैं। विशेषकर फूल आते समय वर्षा, तेज हवाएँ परागण की क्रिया बाधित करती हैं। इससे फलन प्रभावित होकर अफलन की स्थिति उत्पन्न करती है।

3. **रोग एवं कीटो का प्रकोप (Insect and diseases) :** फलोद्यान में कभी कभी कीट एवं रोग के कारण फलन की दशा में अत्यधिक नुकसान होता है जिससे फलवृक्षों से किसी प्रकार उत्पादन नही हो कर अफलन हो जाता है जैसे आम में आम का फुदका कीट, बेर में छाछ्या रोग, पपीता में मोजेक आदि।

4. **सिंचाई (Irrigation) :** फलवृक्षों को पर्याप्त एवं समय पर सिंचाई नही करने से भी काफी नुकसान होता है, विशेष कर फूल फल आते समय, पानी की कमी से फलवृक्षों की आन्तरिक कियाएं प्रभावित होती हैं। जिससे फलन पर विपरीत प्रभाव होता है।

5. **कटाई–छँटाई (Pruning) :** फलवृक्षों में समय पर कटाई छँटाई करने से वृद्विएवं फलत अच्छी प्राप्त होती है। अतः समय पर फलवृक्षों की आवश्यकतानुसार काट–छाँट नही करने पर अफलन की स्थिति उत्पन्न होती है। जैसे बेर, अंगूर आदि।

6. **अनुपयुक्त भूमि (Soil condition) :** फलवृक्षों को प्रतिकूल एवं विकारयुक्त भूमि में रोपण करने से भी फूल–फल प्रभावित होता हैं। भूमि के कठोर, पथरीली, कार्बनिक पदार्थ की कमी की स्थिति में वृद्धि प्रभावित होती है तथा उचित पोषक तत्वों के अभाव में अफलन होता है।

आंतरिक कारक (Internal factor) : ऐसे कारक फलवृक्षों की आंतरिक परिस्थितियों से सम्बन्ध रखते हैं जिससे फलवृक्षो में फूल आने के बाद किन्ही कारणों से प्रभावित होकर वह समय पर फल नही बनकर नष्ट हो जाता है। ऐसे कारक निम्न तीन प्रकार के हैं :–

1. आनुवंशिकी कारक **(Genetical factors)**
2. दैहिक कारक **(Physiological factors)**
3. फलवृक्षों की विकासीय प्रवृत्ति **(Evolutionary tendencies of fruit plants)**

1. **आनुवंशिकी कारक (Genetical factors) -** इसमें फलवृक्षों के निम्न आनुवांशिकीय विकार उत्पन्न होने से पूर्ण फूल बनने में समस्या आती है, जैसे :–

(अ) असंगतता (Incompatibility) – इसमें पुष्पों में जननांगो के पूर्ण विकसित होने के बाद भी बीजाण्ड एवं परागकण में असंगति होती है जिससे फूल परागित होने के बाद भी नष्ट हो जाता है। जैसे आड़ू, नाशपाती, सेव आदि में

(ब) संकरीकरण (Hybridity) – कुछ फलवृक्षों में संकरीकरण के समय गुणसूत्रों के असमान विभाजन के कारण स्वबंध्यता की स्थिति उत्पन्न होती हैं जिससे फूल से फल का निर्माण नहीं हो पाता।

(स) स्वबंध्यता (Self Sterility) – फलवृक्षों के पुष्पों में पूर्ण जननांगों (नर एवं मादा) के उपस्थित होने के बाद भी दोनो का आपस में निषेचन नही हो पाता और फूल से फल नही बन पाते हैं। अर्थात एक ही प्रकार की जाति में उसी जाति के परागकणों का अक्षम होना तथा अफलन होना।

2. **कायिकीय प्रभाव (Physiological factors) :** कभी–कभी फलवृक्षों में अन्य कारकों के अलावा कायिकीय क्रियाएँ जैसे नाइट्रोजन की अधिक मात्रा, कार्बोहाइड्रेट का स्तर, पादप हार्मोन का प्रभाव, मात्रा एवं संतुलन आदि ऐसे कारक हैं जो पौधों की वृद्वि, फूल लगने एवं फल बनने को प्रभावित करते हैं। नाइट्रोजन की अधिकता से वानस्पतिक वृद्धि का अधिक होना तथा कार्बोहाइड्रेट का कम होना अफलत को बढ़ाता है। रासायनिक पदार्थ (हार्मोन) आदि की मात्रा एवं संतुलन अनेक क्रियाओं में बाधा बनती हैं। इससे फूलों का कम बनना, फल नहीं लगना एवं फूल तथा फलों का समय से पूर्व झड़ना आदि समस्या रहती हैं। इससे फलवृक्षों पर फल नही बनते या बहुत कम अथवा पकने तक नही रूकते हैं और फलोद्यान अफलत की स्थिति में आकर अनुत्पादक हो जाता है।

3. **फलवृक्षों की विकासीय प्रवृति (Evolutionary tendencies) -** इसमें फलवृक्षों पर फूल खिलने के बाद परागण की क्रिया से लेकर फल बनने तक विभिन्न स्थितियाँ होती हैं जिसमें फूलों की संरचना, परागणकण का उर्वर होना, जननांगों का सही अवस्था में होना आदि शामिल हैं। इनमें से एक भी स्थिति विकार युक्त होने पर अफलन होता है।

(अ) अपूर्ण फूलों का बनना (Formation of degenerated flowers) : कुछ फल वृक्षों पर पूर्ण फूलों का निर्माण नही होता। जब एक ही पौधों पर मादा एवं नर फूल अलग–अलग स्थान पर उत्पन्न होते हैं ऐसी स्थिति उभयलिंगाश्रयी

(मोनोसियस) होती है जैसे कटहल। परन्तु जब नर एवं मादा फूल अलग–अलग पौधो पर उत्पन्न हो तो वह एकलिगांश्रयी (डायोसिस) कहते हैं जैसे खजूर, पपीता। ऐसे में नर फूलों या पौधो की पर्याप्त संख्या में नही होने से परागण की क्रिया पूर्ण नही हो पाती और अफलत की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(ब) जननांगों के परिपक्वता में भिन्नता (Dichogamy) : फलवृक्षों पर फूल खिलने के बाद उपस्थित जननांगों में परिपक्वता का समय अलग–अलग होता है। जैसे नर अंगो के पहले परिपक्व होने को ''प्रोटोएण्ड्री'' (सीताफल में) तथा मादा अंगो के पहले परिपक्व होने को ''प्रोटोगायनी'' (चीकू में) कहते है। ऐसी स्थिति में स्वयंसेचन के नहीं होने के कारण अफलन की स्थिति होती है।

(स) पराग का उर्वर न होना (Impotent pollen): फलवृक्षों में कभी–कभी फूल तो पूर्ण होते हैं परन्तु उनमें उपस्थित परागकण जीवनक्षम नही होते, जिससे परागण में सेंचन की क्रिया पूर्ण नही होती है और अफलत होती है, जैसे अंगूर में कुछ किस्में।

(द) विषमवर्तिकात्व (Heterostyly) : कुछ फलवृक्षों में फूल की बनावट ही विकार युक्त होती है जिसमें वर्तिका (स्टाईल), पुंकेसर तन्तु (फिलामेन्ट) से लम्बी अथवा विपरीत होती है, इससे पुष्प के स्वयं निषेचन में बाधा आती है, और फल का निर्माण नही होता है।

अफलन की समस्या का उपाय (Control measures of unfruitfulness) – निम्न उद्यानिकी क्रियाओं के द्वारा फलोद्यान की अफलन की समस्या में कमी लायी जा सकती है।

1. **पराग वाले फलवृक्ष लगाना (Pollinizers) :** जिन फलवृक्षों में पराग सेचन वाले वृक्ष कम होते है वहां पराग देने वाले वृक्षों को स्थान स्थान पर लगाना चाहिए। इनको पोलीनाइजर्स कहते है। इससे परागकण पर्याप्त मात्रा में मिलते है, और फलन भी अच्छा होता है। जैसे सेव, बेर, आम की कुछ जातियाँ एवं पपीते में नर पौधे लगाना।
2. **जड़ो की काट–छाँट (Root prunning) :** इसमें फूल आने के एक माह पूर्व फल वृक्षों के फैलाव में चारो तरफ 50–60 सेमी0 गहरी खाई खोद देते हैं। खाई पार की जडे काटकर खाद मिट्टी के मिश्रण से भर, सिंचाई करते हैं इससे कार्बोहाइड्रेट की मात्रा के बढ़ने से फसल अच्छी होती है।
3. **वलय बनाना (Ringing) :** इस क्रिया में फलवृक्षों की चयनित शाखाओं पर चारो ओर 5 सेमी. चौड़ी छाल उतार कर वलय बना देते हैं। वलय अधिक गहरी नही हो एवं लकड़ी (जाइलम) को नुकसान नही करें ऐसा करने से शाखाओं में कार्बोहाइड्रेट का स्तर बढ़कर फलत को बढ़ावा मिलता है।
4. **फलोद्यान का प्रबन्धन (Orchard management) :** फलोद्यान का अच्छा एवं वैज्ञानिक प्रबन्धन अफलत की समस्या को कम करता है। इसमें समय पर निराई–गुड़ाई, पोषण, काट–छाँट, रोग–कीटो से बचाव, पौधो को खुला बनाना आदि उद्यानिक क्रियाएँ समय पर करते रहना चाहिए। इससे उद्यान से अच्छी उपज मिलती है।
5. **उद्यान में परागण क्रिया (Pollination) :** फलवृक्षों में फूल आने के बाद परागण की क्रिया समय पर एवं अधिक हो इसके लिए पराग ले जाने वाले कीटों का विशेष प्रबन्ध करना चाहिए। जैसे बाग में भौरे, तितली, मधुमक्खी आदि को आकर्षित करना, इससे निषेचन की क्रिया समय पर सम्पन्न होने से अफलत दूर होती है।
6. **पादप हार्मोन का प्रयोग (Use of plant growth regulators) :** आम, नीबू आदि फलवृक्षों में हार्मोन के असंतुलन के कारण फूल एवं फल समय से पहले गिर जाते हैं। इसके लिए 2,4–D, NAA आदि वृद्धि नियामकों का छिड़काव करना चाहिए। जैसे नीबू में 2,4–D, 10 पीपीएम. का छिड़काव मई एवं सितम्बर माह में करने से फलवृक्षों से फूल एवं फल का झड़ना रूक जाता है और फलत अच्छी होती है।

9.4 फलोद्यान में विभिन्न पादप वृद्धि नियन्त्रकों का प्रयोग (Use of plant growth regulators in orchard)

पादप वृद्धि नियन्त्रक पोषक तत्व के अतिरिक्त वह कार्बनिक पदार्थ है, जिसकी सूक्ष्म मात्रा ही पौधों की कार्यिकीय क्रियाओं को नियंत्रित करती है। ऐसे पदार्थ पादप हार्मोन्स या पादप नियंत्रक या वृद्धि नियंत्रक या पादप वृद्धि पदार्थ कहलाते हैं। पादप नियंत्रको का निर्माण पौधों में विभिन्न स्थानों पर होता है तथा वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति कर पौधों की विभिन्न क्रियाओं में भाग लेते हैं। पादपों के अतिरिक्त इनका निर्माण कृत्रिम रूप से भी किया जा कर प्रयोग में लिया जाता है।

पादप वृद्धि नियंत्रकों को निम्न पाँच भागों में विभाजित किया गया है –

1.ऑक्सिन	(Auxin)
2.जिब्रेलिन्स	(Gibberellins)
3.साइटोकिनिन्स	(Cytokinins)
4.वृद्धि रोधक	(Inhibitors)

5.इथाइलीन (Ethyline)

1. **ऑक्सिन (Auxin) :** ऑक्सिन पौधों में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। प्राकृतिक ऑक्सिन नयी पत्तियों एवं ऊपरी कलियों में बनते है, तथा बाद में विभिन्न स्थानों पर क्रियाओं में भाग लेते है। इनका प्रयोग पौधो मे कोशिका विभाजन, जड़ो का निर्माण, फूलों एवं फलों को गिरने से रोकना, फलों को बीज रहित बनाना, खरपतवार नियंत्रण आदि में होता है। उदाहरण – इण्डोल एसिटिक अम्ल (IAA), नेप्थेलीन एसिटिक अम्ल (NAA), इण्डोल ब्यूटाइटिक अम्ल (IBA) 2,4–डाईक्लोरोफिनाक्सी एसिटिक अम्ल (2, 4-D) आदि।
2. **जिब्रेलिन्स (Gibberellins) :** यह पौधों में निर्मित रासायनिक पदार्थ हैं, जो पौधों में कोशिका विभाजन के साथ–साथ उनका लम्बवत आकार बढाने में सहायक होता है। यह फलों का आकार बढ़ाने, फलों को बीजरहित बनाने, बीज व कलिकाओं की सुषुप्तावस्था हटाने में सहायक है। जिब्रेलिक अम्ल (GA) एक ऐसा कृत्रिम रसायन है जो जिब्रेलिन के समान ही कार्य करता है।
3. **साइटोकाइनिन्स (Cytokinins) :** यह पौधों में कोशिका विभाजन में सहायक रसायन है। बीज एवं कलिकाओं की सुषुप्ता हटाने, जड़ों, प्ररोहों तथा रेशे के निर्माण में सहायक है। काइनेटिन, जिएटिन, 6–बेन्जाइल एडिनिन आदि ऐसे प्राकृतिक एवं कृत्रिम रसायन हैं।
4. **वृद्धि रोधक (Inhibitors) :** यह वृद्धि रोधक रसायन है। जो पौधों में बीज व कलिकाओं की वृद्धि रोकना, बीज में अंकुरण रोकना, जैसी वृद्धि वाली क्रियाओं में अवरोध पैदा करता है। यह पौधों में बौनापन भी उत्पन्न करता है, जैसे मैलिक हाइड्रेजाइड (MH) ऐसा रसायन है जो प्याज के भण्डारण में अंकुरण को रोकता है।
5. **इथाइलीन (Ethylene) :** इसको फल पकाने वाले रसायन के रूप में जाना जाता है। यह गैस के रूप में कार्य करती है। तथा बहुत कम सान्द्रता में अधिक सक्रिय होता है। यह बेर, खजूर, चीकू, केला, सिट्रस आदि फलों को पकाने में सहायक है। यह फलों को पकाने के साथ पौधों की अन्य क्रियाओं में भी उपयोगी है। कृत्रिम रसायन के रूप में ईथरॉल, व्यापारिक उत्पाद ऐथ्रेल का उपयोग किया जाता है।

पादप वृद्धि नियंत्रकों का उद्यानिकी में उपयोग (Use of plant growth regulators in horticulture)

फलोद्यान में पादप वृद्धि नियंत्रको का प्रयोग विभिन्न कार्यों में किया जाता है –

1. **वानस्पतिक प्रवर्धन पर प्रभाव (Effect on vegetative propogation) :** फलवृक्षों में वानस्पतिक प्रवर्धन की विधियों में, जैसे– कलम तथा दाब कलम में जड़ों को शीघ्र तथा सुगमता पूर्वक विकसित करने में हार्मोन का प्रयोग किया जाता है। अनार, अंगूर आदि की कलमों को आईबी.ए.(100–500 पी पीएम) से उपचारित करने से जड़े शीघ्र निकलती हैं। इसके अलावा मूलवृन्त एवं सायन का मिलन कराने में भी हार्मोन्स का उपयोग किया जाता है। नींबू प्रजाति में गूटी में आई.ए.ए. तथा एन.ए.ए. 100 पीपीएम का प्रयोग किया जाता है।
2. **फूलों के नियंत्रण के लिए जिब्रेलिन्स (Initiation of flowering) :** फलवृक्षों में फूलो को शीघ्र लाने, विलम्ब से या फिर अधिक फूलो को कम करने जैसी क्रियाओं में हार्मोन्स का उपयोग किया जाता है। आम, अमरूद में एन. ए.ए.(200–500 पीपीएम) का प्रयोग किया जाता है। इसके अलावा अमरूद एवं अनार में फूलों को कम करने (विरलीकरण) के लिए 200 पीपीएम एन.ए.ए. का उपयोग किया जाता है।
3. **फलों एवं फूलों को झड़ने से रोकने में (Effect on preharvest fruit drop) :** फलवृक्षों में फूल झड़ने एव फलों के पकने से पूर्व झड़ने से रोकने के लिए वृद्धि नियंत्रक का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जाता है। आम नींबू, नारंगी, में एन.ए.ए, 2, 4,–D तथा जिब्रेलिक अम्ल का 15–20 पीपीएम के घोल का छिड़काव किया जाता है।
4. **फलों को पकाने में (Effect on fruit ripening) :** बाजार की मांग के अनुसार फलों को जल्दी पकाने या देर से पकाने में भी हार्मोन्स का प्रयोग किया जाता है। आम, केला, चीकू, खजूर, आदि में फलों को हार्मोन्स से पकाया जाता है। इसके लिए एथ्रेल (500–1000पीपीएम) का प्रयोग किया जाता है। परन्तु इसका प्रयोग नियंत्रित मात्रा में तथा सावधानी से करना चाहिए।
5. **फल बनाने व आकार बढ़ाने पर प्रभाव (Effect on fruit setting) :** अनेक फलवृक्षों में फल लगने पर हार्मोन्स का प्रयोग कर अधिक फूलों से फल बनाये जाते हैं। जैसे आम में एन.ए.ए 10 पीपीएम के उपयोग से अधिक फल लगते हैं। नींबू व अंगूर में फलों के आकार में वृद्धि करने के लिए जिब्रेलिक अम्ल (25से 50पीपीएम) तथा एन.ए.ए का प्रयोग किया जाता है।
6. **फलों को बीज रहित बनाने में (Seedless fruits) :** कुछ फलों में गुणवत्ता सुधार के लिए बीजरहित फल तैयार करने में भी हार्मोन्स का उपयोग किया जाता है। ऐसे फल बिना निषेचन तथा परागण के तैयार होते हैं, जिससे फल बीज रहित बनता है। इसके लिए आईएए, आईबीए, आईपीए, एनएए का प्रयोग किया जाता है।

7. **खरपतवार नियंत्रण में उपयोग (Effect on weeds) :** फलोद्यान मे खरपतवार एक प्रमुख समस्या होती है। इसको निराई–गुड़ाई करने से समय, श्रम व अधिक धन खर्च होता है। परन्तु हार्मोन्स का छिड़काव कर इन पर नियंत्रण किया जा सकता है। इसके लिए 2,4–डी की 0.1 प्रतिशत की मात्रा का उपयोग चौडी पत्ती वाले खरपतवार के लिए किया जाता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त हार्मोन्स का उपयोग कलिकाओं की प्रसुप्ति समाप्त करने, बीजों को उपचारित कर अंकुरण बढ़ाने, पादप प्रजनन, भण्डारण की अवधि बढ़ाने, एकान्तरित फलन को रोकने जैसे अनेक कार्यों में सफलता पूर्वक किया जा रहा है।

पादप नियंत्रको को प्रयोग करने की विधियाँ (Methods of Application) : फलोद्यान में विभिन्न कार्यों में पादप हार्मोन्स अथवा पादप वृद्धि नियंत्रकों का प्रयोग किया जाता है। इन नियंत्रकों की यह मात्रा बहुत सूक्ष्म होती है। जिसकी सान्द्रता पीपीएम (अर्थात एक भाग रसायन प्रति दस लाख भाग पानी) में व्यक्त की जाती है। इसलिए इतनी सूक्ष्म मात्रा की सान्द्रता वाला घोल बनाने या प्रयोग करने में अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है। जब एक मिली या मिलीग्राम पादप नियंत्रक रसायन को एक लीटर पानी में घोला जाता है, तब एक पीपीएम की सान्द्रता का घोल तैयार होता है। ये पादप वृद्धि नियंत्रक विभिन्न रासायनिक प्रकृति के होने के कारण सीधे पानी में नहीं घुलते हैं। अतः इनका घोल बनाने के लिए पहले इनको एल्कोहल या अमोनियम हाइड्रॉक्साइड या अमोनिया विलयन की अल्प मात्रा में घोल कर परिशुद्ध पानी में मिलाते हैं।

पादप नियंत्रकों की प्रयोग विधियाँ निम्न हैं –

1. **घोल के रूप में (Liquid form)** – सान्द्रता के अनुसार यह दो प्रकार से प्रयोग किया जाता है।
   - **(अ) अधिक समय के लिए डुबोना**– इसमें कम सान्द्रता (25–50 पीपीएम) के घोल में कलमों के निचले सिरो को 24 घण्टो के लिए डुबाकर प्रयोग लिया जाता है।
   - **(ब) कम समय के लिए डुबोना** – इसमें अधिक सान्द्रता (500–2000 पीपीएम) के घोल में कलमों के निचले सिरे को कम समय (सेकण्ड से मिनट तक) के लिए डुबोकर प्रयोग लिया जाता है।
2. **छिड़काव के रूप में (Spray method)** – फलवृक्षों पर विभिन्न उपयोगों के लिए वांछित सान्द्रता का घोल बनाकर छिड़काव किया जाता है।
3. **पाउडर के रूप में (Powder form)** – इसमें कलमों के निचले सिरे को गीला कर पाउडर में मिश्रित रसायन से उपचारित किया जाता है। इसके लिये सेरेडेक्स रूटेक्स आदि रसायन तैयार स्थिति में उपलब्ध होते है।
4. **पेस्ट के रूप में (Paste form)** – इस विधि में रसायन के चूर्ण को लिनोलिन या अन्य जेल में मिलाकर प्रयोग लिया जाता है।
5. **वाष्प के रूप में (Vapour form)** – ग्रीन हाऊस जैसे बन्द स्थान में रसायन को किसी गर्म प्लेट पर डालकर वाष्प के रूप में उपचारित करते हैं।
6. **ऐरोसोल के रूप में (Aerosol form)** – रसायन को बारीक छिद्र वाले नोजल लगे पम्प में भरकर दबाव से छिड़काव करते है। इसमें रसायन वाष्प के रूप में निकल कर कार्य करता है।
7. **इंजेक्शन के रूप में (Injecton form)** – रसायन के घोल को इंजेक्शन में भरकर फलवृक्षों के विशेष भाग पर प्रयोग करते हैं।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक –

1. शुष्क एवं गर्म जलवायु के लिए उपयुक्त फल है–
   (अ) बेर (ब) आम
   (स) अंगूर (द) सेव
2. फलवृक्षों के लिए भूमि की गहराई होनी चाहिए–
   (अ) 4.5 मी. (ब) 3 मी.
   (स) 2 मी. (द) 1 मी.
3. पंचभुजाकार विधि में पूरक पौधों के लिए उपयुक्त है–
   (अ) आम (ब) पपीता
   (स) खजूर (द) नींबू
4. पपीता का पौध रोपण का अन्तर है–
   (अ) 6×6 मी. (ब) 5×5 मी.
   (स) 3×3 मी. (द) 7×7 मी.
5. बाग लगाने के लिए सिंचाई की उपयुक्त विधि है–
   (अ) प्रवाह विधि (ब) ड्रिप पद्धति
   (स) नालियाँ बनाकर (द) वलय विधि
6. पाले से बचाव के लिए गंधक के घोल की सान्द्रता होती है।
   (अ) 1% (ब) 3%
   (स) 1.5% (द) 0.1%
7. ठण्डी हवाओं से बचाव के लिए वायुरोधी वृक्ष लगाते हैं।
   (अ) पूर्व में (ब) पश्चिम में
   (स) उत्तर में (द) दक्षिण में
8. ''लू'' कहलाती है –
   (अ) अत्यधिक गर्म हवा (ब) सामान्य हवा
   (स) ठण्डी हवा (द) गर्म हवाएं

9. फलवृक्षो के तनो पर सफेद चूना से बचाव होता है–
(अ) ठण्ड से (ब) लू से
(स) वर्षा से (द) रोगो से

10. पलवार (मल्चिंग) से बचाव होता है–
(अ) रोग का (ब) कीट का
(स) नमी का (द) कोई नही

11. नीबू में फलो को गिरने से रोकता है।
(अ) 2,4–D (ब) आई.ए.ए.
(स) आई.बी.ए. (द) सेरेडेक्स

12. निम्न में से फलत के लिये उपयुक्त है–
(अ) फॉस्फोरस (ब) नाइट्रोजन
(स) प्रोटीन (द) कार्बोहाइड्रेट

13. प्रोटोगायनी सम्बन्धित है –
(अ) पुष्प (ब) जड़
(स) तना (द) पत्ती

14. निम्न में से काट–छाँट अति आवश्यक है –
(अ) पपीता (ब) आम
(स) अमरूद (द) बेर

15. पोलीनाइजर्स है –
(अ) कीट (ब) फल वृक्ष
(स) रोग (द) वायुरोधी

16. वृद्धि निरोधक पादप नियन्त्रक है –
(अ) 1AA (ब) NAA
(स) ABA (द) 1BA

17. 2, 4– डी है –
(अ) वृद्धि कारक (ब) रोग नाशक
(स) कीट नाशक (द) कवक नाशक

18 भण्डारण में प्याज को उपचारित करते हैं –
(अ) MH (ब) 1BA
(स) 2,4-D (द) GA_3

19. जड़ उत्पत्ति वाला हार्मोन है –
(अ) GA_3 (ब) 1AA
(स) 1BA (द) काइनेटीन

20. फूल आने के लिए एनएए की सान्द्रता है –
(अ) 20 पीपीएम (ब) 30 पीपीएम
(स) 40 पीपीएम (द) 50 पीपीएम

अतिलघूत्तरात्मक–

21. फलोद्यान के लिए स्थान का चुनाव के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं के नाम लिखिए।
22. वायुरोधी वृक्षों की सूची बनाइये।
23. प्रतिकूल मौसम से क्या तात्पर्य है?
24. पाला या तुषार की परिभाषा लिखिए।
25. ''स्वबंध्यता'' का उदाहरण वाले फलवृक्ष का नाम लिखिए।
26. अफलन के दो बाहय प्रमुख कारकों के नाम लिखिए।
27. पौधों में वृद्धि एवं फलन के लिए एक कारक का नाम लिखिए।
28. आईबीए रसायन का मुख्य उपयोग लिखिए।

लघूत्तरात्मक

29. उद्यान मे बाग लगाने की विभिन्न विधियों का सचित्र वर्णन कीजिए।
30. लू से फलवृक्षों पर क्या प्रभाव होता है?
31. पाले से बचाव के कोई तीन उपाय बताइये?
32. अफलन में काट–छाँट का महत्त्व लिखिए।
33. अफलत को दूर करने में पादप हार्मोन का प्रयोग लिखिए।
34. प्रवर्धन में पादप नियंत्रकों का उपयोग लिखिए।
35. पादप वृद्धि नियन्त्रकों का वर्गीकरण कीजिए।

निबन्धात्मक

36. प्रतिकूल मौसम फलोद्यान को कैसे नुकसान करता है?इससे बचाव के उपायों का उल्लेख कीजिए।
37. अफलन एवं अनुत्पादकता में अन्तर करिए ?अफलन के बाह्य कारकों का वर्णन करते हुए, उपायों को सूचीबद्ध कीजिए।
38. पादप वृद्धि नियंत्रक की परिभाषा लिखिए। उद्यानिकी में अधिक उपज के लिये इसकी भूमिका का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला

(1) अ	(2) स	(3) ब	(4) स	(5) ब
(6) द	(7) स	(8) अ	(9) ब	(10) स
(11) अ	(12) द	(13) अ	(14) द	(15) ब
(16) स	(17) द	(18) अ	(19) स	(20) अ

अध्याय–10
फलोत्पादन
(Fruit Production)

आम *(MANGO)*

वानस्पतिक नाम *(Botanical name)* **:मैंजीफेरा इंडिका एल.** *(Mangifera indica L.)*

कुल *(Family)* **: एनाकार्डिएसी** *(Anacardiaceae)*

गुणसूत्र संख्या *(Chromosome no.)* **:** $2n = 4x = 40$

उद्‌गम स्थल (Centre of origin) **: भारत–बर्मा** (Indo Burma)

फल प्रकार (Fruit Type) **: अष्ठिल** (Drupe)

खाया जाने वाला भाग (Edible part) **: मध्य फल भित्ती** (Mesocarp)

हमारे देश में उगाये जाने वाले फलों में आम सबसे अधिक लोकप्रिय है। इसी कारण इसे फलों का राजा कहा जाता है। इसका फल विटामिन 'ए' (4800 आई.यू.) का श्रेष्ठ स्रोत है। ताजा फल के उपयोग के अलावा इसका उपयोग अचार, अमचूर, चटनी, स्क्वेश तथा मुरब्बा आदि उत्पाद बनाने में भी किया जाता है। आम उत्पादन में भारत का विश्व में प्रथम स्थान है।

जलवायु एवं भूमि (Climate & Soil)

आम के लिये उष्ण व उपोष्ण जलवायु उपयुक्त मानी गई है। इसके लिये वे क्षेत्र सर्वाधिक उपयुक्त हैं जहाँ जून से सितम्बर तक पर्याप्त वर्षा होती है तथा पुष्पन व फलन के समय मौसम साफ रहता हो। आम की वृद्धि के लिये 24–27° से. तापक्रम सर्वाधिक उपयुक्त रहता है। बहुत कम व अधिक वर्षा वाले स्थान आम की खेती के लिये उपयुक्त नहीं माने जाते हैं।

आम की उचित बढ़वार एवं फलन के लिये जीवांशयुक्त गहरी बलुई दोमट मिट्टी जिसमें जल निकास की उचित व्यवस्था हो, उपयुक्त रहती है। ऐसी भूमि जिसके 2 मीटर गहराई तक अवरोध न हो आम उत्पादन के लिये अच्छी रहती है। भूमि का पी. एच. मान 6.5 से 7.5 होना आम उत्पादन के लिये उत्तम रहता है। चूनायुक्त, कंकरीली, पथरीली व ऊसर भूमि इसकी खेती के लिये अनुपयुक्त रहती है।

उन्नत किस्में (Improved Varieties): उत्तरी भारत में

अगेती – बाम्बे ग्रीन (सरोली) व केसर

मध्यम – लंगड़ा, दशहरी, मल्लिका व आम्रपाली

पिछेती – चौसा व फजली

अन्य किस्मों में पूसा अरूणिमा, पूसा सूर्या, पूसा लालिमा, पूसा श्रेष्ठा, पूसा प्रतिभा व पूसा पीतांबर किस्में भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली तथा अम्बिका व अरूणिका, सी. आई.एस.एच., लखनऊ से विकसित की गयी हैं। भारत से निर्यात अल्फान्सो (हापुस) किस्म का तथा अधिकतम उत्पादकता वाली किस्म तोतापुरी (बैंगलोरा) है। सिन्धू नामक आम की संकर किस्म (रत्ना X अल्फान्सो) लगभग बीज रहित (6 ग्राम की अवशेष मात्र गुठली) होती है जिसे फल अनुंसधान केन्द्र, वैनगुरला, बी.एस.के. वी. दापोली (महाराष्ट्र) ने विकसित की है।

प्रवर्धन (Propagation)

आम को बीज व वानस्पतिक विधियों द्वारा प्रवर्धित किया जा सकता है। आम की व्यावसायिक किस्में एकल भ्रूणता (monoembryony) वाली तथा मूलवृन्त के रूप में उपयोग में आने वाली किस्में बहुभ्रूणता (Polyembryony) वाली हैं जैसे चन्द्र किरण, मूलगोवा, ओल्यूर, बप्पाकाई, एम 13–1, वल्लाईकोल्मबन जो बौनापन व लवणीय सहनशीलता दर्शाती हैं। अच्छे गुणों वाले इच्छित पौधे तैयार करने के लिए वानस्पतिक विधियों का ही प्रयोग किया जाता है। इन विधियों में इनार्चिंग, वीनियर ग्राफ्टिंग, सॉफ्टवुड ग्राफ्टिंग एवं स्टोन ग्राफ्टिंग प्रमुख है। यहाँ वीनियर व स्टोन ग्राफ्टिंग का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है।

वीनियर ग्राफ्टिंग : यह आम के प्रवर्धन की सरल विधि है एवं व्यावसायिक तौर पर अपनायी जा सकती है। वीनियर ग्राफ्टिंग के लिए मूलवृन्त इनार्चिंग के समान ही तैयार किये जाते है। इसके लिए मूलवृन्त में 20 सेमी. ऊँचाई के निचले हिस्से पर 3–4 सेमी. लम्बा चीरा लगावें। चीरे के आधार पर एक आड़ा चीरा और लगावें जिससे कटा हुआ लकड़ी का टुकड़ा बाहर आ जाए। सांकुर शाखा पर एक तरफ लम्बा कलम के आकार का चीरा लगावें तथा दूसरी तरफ छोटा कट लगावें। मूलवृन्त मे कटी

सांकुर शाखा को ठीक से बैठा देवें तथा पॉलीथीन की पट्टियों (200 गेज) से बाँध देवें। मूलवृन्त का ऊपरी भाग लगभग

10 दिन बाद काट देवें। वीनियर ग्राफ्टिंग करने का कार्य भी इनार्चिंग की तरह जुलाई माह में ही उपयुक्त रहता है।

कलम बंधन हेतु वांछित किस्म की 5–6 माह पुरानी स्वास्थ्य शाखाओं (प्ररोह) का उपयोग करना चाहिए। सांकुर शाख की पत्तियों को कलम बांधने के एक सप्ताह पूर्व डण्ठल छोड़ते हुए हटा दिया जाता है। सांकुर प्ररोह जिनमें शीर्ष कलिका फूल गयी हो (फूटने से पूर्व स्थिति में) मातृ वृक्ष से प्रातः अथवा सायंकाल में एकत्रित कर लेनी चाहिए। इस सांकुर शाख को अखबार में या किसी अन्य पेपर में लपेट कर टाट के टुकड़े में रख कर पानी का ऊपर से छिड़काव कर नम बनाये रखते हैं तथा इनका उपयोग कलम बंधन के लिए कर सकते हैं।

- स्टोन या इपिकोटाइल ग्राफ्टिंग :– इस विधि में गुठली के अंकुरित होते ही 8–15 दिन के अन्दर बीजू पौधे वाले मूलवृन्त में लगभग इसी मोटाई की सांकुर को वेज (खूँटें) का आकार बनाते हुए तथा मूलवृन्त में इसे लगाने हेतु चीरा लगाकर फँसा दिया जाता है। सफल कलम 2–4 सप्ताह में बढ़वार शुरू कर देती है। महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र की प्रचलित विधि हैं।

पौधे लगाने की विधि (Planting method)

उन्नत विधियों द्वारा प्रवर्धित किये गये पौधों का वर्षा ऋतु (जुलाई–अगस्त) में रोपण किया जाना चाहिए। उद्यान भूमि को समतल कर रोपाई के एक माह पूर्व 1×1×1 मीटर आकार के गड्ढे 10×10 मीटर की दूरी पर खोदकर उन्हे खुला छोड़ देवें। प्रत्येक गड्ढे में 25 किलो सड़ी हुयी गोबर की खाद एक किलोग्राम सुपर फास्फेट तथा 50–100 ग्राम क्यूनॉलफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण मिट्टी में अच्छी तरह मिलाकर गड्ढा पुनः भर देवें। संकर किस्मों को कम दूरी पर भी लगाया जा सकता है (आम्रपाली या अन्य बौनी किस्म को 2.5× 2.5 मीटर की दूरी पर तथा दशहरी को सघन बागवानी हेतु 5.0×5.0 मीटर अन्तराल)।

खाद एवं उर्वरक (Manure & fertilizer)

आम की उचित बढ़वार के लिए पर्याप्त मात्रा में खाद, उर्वरक एवं अन्य पोषक तत्वों का प्रयोग आवश्यक होता है। अधोलिखित तालिका के अनुसार आम के वृक्षों में खाद देनी चाहिए। गोबर की खाद को दिसम्बर तथा सुपर फॉस्फेट व म्यूरेट ऑफ पोटाश को जनवरी माह में देना चाहिए जबकि नत्रजन की आधी मात्रा फूल आने के बाद व शेष आधी मात्रा फल तोड़ लेने के बाद देनी चाहिए। जस्ते की कमी होने पर 0.3 प्रतिशत जिंक सल्फेट के तीन छिड़काव पुष्पन के पश्चात् करना चाहिए। (सारणी 10.1)

सारणी 10.1 : खाद एवं उर्वरक

खाद व उर्वरक	प्रथम वर्ष	द्वितीय वर्ष	तृतीय वर्ष	चतुर्थ वर्ष	पंचम वर्ष व बाद में	देने का समय
गोबर की खाद	15	30	45	60	75	दिसम्बर
सुपर फॉस्फेट	0.25	0.50	0.75	1.00	1.00	जनवरी
म्यूरेट ऑफ पोटाश	–	–	–	0.25	0.50	जनवरी
यूरिया	0.25	0.75	0.75	1.00	1.25	आधा भाग फूल आने के बाद (मार्च) व शेष जून

कटाई–छँटाई (Training & pruning) : पौधों को उचित आकार देने हेतु कटाई–छँटाई अति आवश्यक है। यदि पेड़ की शाखाएँ अधिक नीचे से निकल रही हों तो उसे कटाई–छँटाई द्वारा हटा देना चाहिए। पौधे को सही आकार देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मुख्य तने से 75–100 सेमी. ऊँचाई तक शाखाएँ नहीं निकले और आगे अलग–अलग दिशाओं में मुख्य शाखाओं के बीच में 20 से 25 सेमी. का अन्तर रहे। ऐसी शाखाएँ जो आपस में एक–दूसरे के समानान्तर जा रही हों काट देनी चाहिए।

सिंचाई एवं निराई–गुड़ाई (Irrigation & interculture) : आम के बाग में वर्षा ऋतु को छोड़कर गर्मियों में प्रति सप्ताह तथा शीत ऋतु में 15 दिन के अन्तराल पर सिंचाई करनी चाहिये परन्तु नये लगाये गये पौधों को (बरसात छोड़कर) 3–4 दिन के अन्तराल पर सींचना चाहिए। फल बनते समय भूमि में पर्याप्त नमी होना आवश्यक होता है परन्तु फूल आने से फल बनने तक सिंचाई नही करनी चाहिए।

आम के बगीचों को खरपतवारों से होने वाले नुकसान से बचाने के लिए व भूमि की उर्वराशक्ति बनाये रखने के लिए निराई–गुड़ाई की आवश्यकता होती है। आम के बगीचों में प्रतिवर्ष 2–3 जुताई करके खरपतवार रहित कर देना उपयुक्त रहता है। आम के बगीचे में प्रारम्भिक 3–4 वर्ष तक अन्तःफसलें उगायी जा सकती हैं। अन्तःफसल उगाने से कृषकों को

अतिरिक्त आमदनी प्राप्त होने के साथ–2 आम के पौधे का रखरखाव भी अच्छी तरह से हो जाता है। अंतः फसल हेतु हो सके तो दलहनी फसलों का उपयोग करना चाहिए। इसके लिए ग्वारफली, लोबिया, मूंग, उड़द, मटर, चना (दलहनी फसलें), सब्जियों में पत्तागोभी, फूलगोभी, टमाटर, बैंगन, भिण्डी आदि तथा फूलों में गेंदा, रजनीगंधा, ग्लैडियोलस, मसालों में मिर्च, हल्दी, प्याज, लहसुन एवं अदरक आदि अन्तः फसल के रूप में ली जा सकती हैं।

पौध संरक्षण (Plant protection)

आम की फसल को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कीटों व व्याधियों मे निम्नलिखित प्रमुख हैं – (सारणी 10.2)

कार्यिकीय विकार (Physiological disorder)

- **पुष्पशीर्ष विकृति (मेंगों मालफोर्मेशन) या गुच्छा–मुच्छा रोग :** इस रोग से प्रभावित पत्तियाँ एवं पुष्पक्रम गुच्छों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं व पौधे की बढ़वार रूक जाती है तथा उपज पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। अभी तक इस रोग के स्पष्ट कारणों का पता नही चल सका है। अतः इसे कवक, माइट कीट, हार्मोन असंतुलन व वातावरणीय कारक से होने वाला विकार मानते हैं, परन्तु इसके प्रभाव को कम करने के लिए रोगी भाग को नष्ट करने के साथ 200 पी.पी.एम. अल्फा–नेफ्थेलीन एसीटिक अम्ल का छिडकाव सितम्बर–अक्टूबर माह मे करना चाहिये तथा शीघ्र आने वाले (अगेती) पुष्पक्रम को तोड़ देना चाहिए।
- **ब्लैक टिप :** यह व्याधि आम के उन बगीचों में पाई जाती है जो ईंट के भट्टों के 600 मीटर के क्षेत्र में हों। क्योंकि भट्टों से निकलने वाली विषाक्त गैसें जैसे कार्बन मोनो–ऑक्साइड, एसिटाइलीन, सल्फर डाईऑक्साइड आदि इस विकार के कारक हैं। इससे बचाव के लिये आम के बाग ईंट के भट्टों से दूर लगायें तथा भट्टों की चिमनियाँ ऊँची होनी चाहिये साथ ही कास्टिक सोड़ा (0.8%) या पोटेशियम हाइड्रोक्साइड (0.5%) या बोरेक्स (1%) का छिड़काव लाभप्रद सिद्ध हुआ है।

सारणी 10.2 : कीट एवं व्याधियाँ

क्र.स.	कीट / व्याधि	विवरण	प्रबंधन
1	कीट– मिली बग (*Drosicha mangiferae*)	इस कीट के निम्फ मुलायम टहनियों, पुष्पक्रम तथा छोटे फलों के डण्ठलों पर एकत्रित होकर रस चूसते है।	पेड़ के तने के चारों ओर पोलीथीन की ग्रीस लगी 30–40 सेमी. चौड़ी पट्टी जमीन से 60 सेमी. की ऊँचाई पर लगाये। दिसम्बर माह में खेत की जुताई करें।यदि पेड़ पर मिली बग चढ़ गयी हो तो इमिडाक्लोप्रिड 30.5 एस.सी 1–1.5 मिली दवा प्रति 3 लीटर पानी के हिसाब से छिड़काव करें।
2	आम का फुदका (*Hopper*) (*Amiritodus atkinsoni*)	सर्वाधिक नुकसान पहुँचाने वाला भूरे रंग का बहुत ही छोटा कीट (वयस्क व निम्फ) होता है व आम के फूल, छोटे फल तथा नई वृद्धि का रस चूसता है।	इमिडाक्लोरप्रिड–17.5 एस.एल. दवा 1 मिली प्रति तीन लीटर पानी में घोलकर छिड़काव करें
3	छाल भक्षक कीट (*Inderbela sp.*)	कीट की इल्ली (Caterpillar) तने में छेद कर छाल को खाती रहती है। तने एंव शाखाओं में सुरंग बना कर वृक्ष को खोखला बना देता है।	रूई को पेट्रोल या केरोसीन या कीटनाशी (क्यूनॉलफॉस–25 ईसी) रसायन में भिगोकर कीट की सुरंगो के अन्दर भर देना चाहिए तथा ऊपर से चिकनी मिट्टी लगा देवें।
4	व्याधि –चूर्णी फफूंद (*Oidium mangiferae*) कवक	टहनियों, पत्तियों व पुष्पक्रमों पर सफेद चूर्ण दिखाई देता है।	घुलनशील गंधक 2.5 ग्राम या कैराथेन 1 मिली. प्रति लीटर पानी में घोलकर दो बार छिड़काव करना चाहिए।
5	श्यामव्रण (*Colletotrichum sp.*) कवक	पत्तियों पर भूरे व काले फफोलेनुमा धब्बे दिखाई देते हैं तथा पत्तियाँ गिरने लगती हैं।	कॉपर ऑक्सीक्लोराइड 3 ग्राम या मेन्कोजेब 2 ग्राम प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करें तथा रोग ग्रस्त टहनियों व पत्तियों को काट कर नष्ट कर देवें।

- **स्पंजी उत्तक :** अल्फान्सो आम की मुख्य समस्या है। कारण : उष्ण क्षेत्रों में भूमि के ताप संवहन से फलों की मध्य फल भित्ति में एमाइलेज एन्जाइम अक्रिय हो जाता है तथा उत्तकों में हवा भर जाती है जिससे फल गल जाता है। इन क्षेत्रों में आम में पलवार (मल्चिंग) तथा 75% परिपक्वता पर तुड़ाई के साथ–2 कैल्शियम क्लोराइड (0.8%) का छिड़काव कारगर रहता है।
- **एकान्तर फलन :** प्रायः आम की फसल में ऐसा देखा गया है कि पूर्ण विकसित आम के वृक्ष एक वर्ष अच्छी उपज देते हैं व दूसरे वर्ष उपज बहुत कम या नहीं होती है। आम के वृक्षों की इस प्रकार की प्रवृत्ति को एकान्तर फलन (Alternate or biennial bearing) कहते हैं। जिस वर्ष अच्छी उपज होती है उसे "ऑन इयर" कहते हैं तथा जिस वर्ष उपज बहुत कम या नही होती है उस वर्ष को "ऑफ इयर" कहते हैं। दशहरी, लंगड़ा, अल्फांसो आदि प्रतिवर्ष फल नहीं देती है। कुछ व्यवसायिक किस्मों का आनुवांशिक गुण है यद्यपि नीलम, बैंगलोरा आदि प्रतिवर्ष फल देती हैं किन्तु इनकी गुणवत्ता स्तरीय नहीं होती।

नियंत्रण के उपाय –

1. उचित समय पर खाद, उर्वरक एवं वृद्धि नियंत्रकों का प्रयोग तथा सिंचाई, निराई, गुड़ाई तथा कीट एवं व्याधियों पर नियंत्रण से अनियमित फलन की समस्या को कम किया जा सकता है।
2. नियमित फल देने वाली किस्में जैसे आम्रपाली, मल्लिका, रत्ना आदि किस्मों का रोपण करना चाहिए।
3. कुछ शाखाओं के फूल फल बननें से पूर्व ही तोड़ दिये जाए तथा शेष को फलने दिया जाए तो अगले वर्ष जिनमें फलन नही लिया गया है उनमें फलन होगा तथा उत्पादन में प्रतिवर्ष सन्तुलन बना रहेगा।
4. सितम्बर अक्टूबर माह में पेक्लोब्यूट्राजोल (5–10 ग्राम/वृक्ष) मृदा में मिलाने से "ऑफ इयर" में भी फल बननें की संभावना रहती है।

तुड़ाई एवं उपज (Harvesting & yield)

आम की परिपक्वता 75 प्रतिशत होने पर तुड़ाई प्रातः 7–11 बजे तथा अपराह्न 3–7 बजे के मध्य की जाये। फलों को एक जैसा पकाने हेतु 100–500 पी. पी. एम. इथरेल गुनगुने पानी के घोल में 5 मिनट तक उपचारित कर छाया में सुखाया जाये।

आम के एक वयस्क पौधे से 80 से 100 किलोग्राम फल प्राप्त हो जाते है वैसे पैदावार पेड़ की उम्र, किस्म तथा बगीचे की देखभाल पर भी निर्भर करती है। राष्ट्रीय स्तर पर इसकी प्रति हेक्टेयर उपज 8–9 टन तक होती है। इसके फलों को 5–16 डिग्री सेल्सियस तापक्रम व 85–90 प्रतिशत आपेक्षिक आर्द्रता पर 2–3 सप्ताह तक भण्डारित किया जा सकता है।

नींबू (Lime)

वानस्पतिक नाम (Botanical Name) :
सिट्रस ऑरेन्टीफोलिया स्विंगल
***(Citrus aurantifolia* Swingle.)**
कुल (Family) : रूटेसी (Rutacae)
गुणसुत्र संख्या (Chromosome No.) : X = 9 2n = 18
फल प्रकार (Fruit type) : हेस्पेरीडियम सरस (Berry)
खाये जाने वाला भाग (Edible part) :
रसीले प्लेसेन्टल रेशे
उद्गम स्थल (Centre of origin) : भारत (India)

नींबू सम्पूर्ण भारत में उगाया जाता है तथा नींबू वर्गीय फलों में संतरा तथा मौसमी के बाद तीसरा मुख्य फल है। विश्व में भारत नींबू उत्पादन में प्रथम स्थान रखता है। इसे आंध्रप्रदेश, बिहार, गुजरात, तमिलनाडु, मध्यप्रदेश आदि राज्यों में प्रमुखता से उगाया जाता है।

जलवायु व भूमि (Climate & Soil) :

नींबू की खेती उष्ण से शीतोष्ण जलवायु तक सफलतापूर्वक की जा सकती है। शुष्क एवं अर्धशुष्क क्षेत्र जहाँ पानी की सुविधा हो, इसकी खेती के लिए उत्तम रहते हैं। इसकी फसल बागवानी के लिये उपयुक्त तापक्रम 16 से 32° से. है। राजस्थान के उन भागों में जहाँ पाला कम पड़ता है तथा वातावरण नम व जाड़े की ऋतु लम्बी होती है, वहाँ इसकी खेती सफलतापूर्वक की जाती है।

नींबू की खेती सभी प्रकार की मृदाओं में की जा सकती है किन्तु उपजाऊ दोमट भूमि सर्वोतम मानी गयी है। भूमि जीवांश युक्त व 2 मीटर गहरी होनी चाहिए। अधिक रेतीली व चिकनी मिट्टी इसके लिए उपयुक्त नहीं रहती है। भूमि में जल निकास की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved Varieties) :

भारत में उगाई जाने वाली विभिन्न किस्मों में कागजी, कागजी कलाँ, बारहमासी नींबू, इन्दौर सीडलैस, पन्त लेमन–1

सारणी 10.3 : खाद एवं उर्वरक

पौधे की आयु (वर्ष)	गोबर की खाद (किग्रा.)	यूरिया (ग्राम)	सुपर फॉस्फेट (ग्राम)	म्यूरेट ऑफ पोटाश (ग्राम)
1	10	125	250	–
2	20	250	500	–
3	30	375	750	200
4	40	500	1000	200
5	50	625	1250	400

आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त कई नयी किस्में जैसे विक्रम व प्रमालिनी (एमएयू, परभनी (महाराष्ट्र) सई शर्बती (एमपी के वी, राहुरी) तथा जयदेवी (तमिलनाडू) व तेनाली (आन्ध्रप्रदेश) आदि विकसित की गयी हैं जो अधिक उपज तथा उत्तम गुणवत्ता वाली हैं।

प्रवर्धन (Propagation) :

नींबू का प्रवर्धन बीज व गूटी दाब विधियाँ व्यावसायिक तौर पर अपनायी जाती है।

पौध रोपण विधि (Planting methods) :

नींबू के पौधे लगाने के लिए मई–जून के महीने में 75×75×75 सेमी. आकार के गढ्ढे 5-6×5-6 मीटर की दूरी पर खोदे जाते हैं। उक्त गड्ढों को 10–15 दिन छोड़ने के बाद प्रत्येक गड्ढे में 20 किलोग्राम गोबर की खाद, 1 किलोग्राम सुपर फॉस्फेट तथा 50 से 100 ग्राम क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत पाउडर मिट्टी के साथ मिलाकर पुनः भर देना चाहिए। जुलाई–अगस्त माह में तैयार गड्ढों में पौधे लगाना उपयुक्त रहता है पौधा रोपण के तुरन्त बाद सिंचाई अवश्य करें।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) :

नींबू के पौधों को सारणी 10.3 के अनुसार खाद व उर्वरक देवें–

देशी खाद, सुपर फॉस्फेट तथा म्यूरेट ऑफ पोटाश की पूरी मात्रा व यूरिया की आधी मात्रा फूल आने के 6 सप्ताह पूर्व देवें। यूरिया की शेष आधी मात्रा फल बनने पर देवें।

सिंचाई :

वर्षा ऋतु में प्रायः सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती है। नींबू में सर्दी में 25 दिन के अन्तराल पर व गर्मी में 15 दिन के अन्तराल में सिंचाई करनी चाहिए। फूल खिलने के समय सिंचाई नहीं करनी चाहिए अन्यथा फूल झड़ने की सम्भावना रहती है।

संधाई व कटाई–छँटाई (Training & pruning) :

प्रारम्भिक अवस्था में निश्चित आकार प्राप्त करने के लिये कटाई–छँटाई करनी चाहिए। साधारणतः नींबू में किसी विशेष कटाई–छँटाई की आवश्यकता नहीं पड़ती है, परन्तु वर्ष में एक बार रोग ग्रसित, सूखी व एक दूसरे में फसी शाखाओं की कटाई–छँटाई करना चाहिए। तथा नियमित अन्तराल पर जड़ क्षेत्र से काट–छाँट (Root-pruning) दिसम्बर–जनवरी माह में करने पर फरवरी–मार्च में पुष्पन अच्छा होता हैं।

पौध संरक्षण (Plant protection) : कीट प्रबन्ध (Insect management)

1. नींबू की तितली (Lemon butterfly-*Papilio demoleus* - इस के डिम्भ (Larvae) नर्सरी में व नये पौधों की नयी पत्तियों को खाकर काफी क्षति करते हैं। आरम्भ में ये चिड़ियों के विष्ठा (बीट) की तरह होते हैं जो बाद में बढ़कर 5.0 सेमी लम्बे तथा पत्तियों की भाँति हरे रंग के हो जाते है। इन कीटों से सबसे अधिक क्षति अप्रैल–मई तथा अगस्त से अक्टूबर माह में होती है इसके नियंत्रण हेतु डाइमिथोएट–30 ईसी दवा 1–1.5 मिली प्रति लीटर की दर से छिड़काव करें।

2. पर्ण सुरंगी (Leaf minor-*Phyllocnistis citrella*)– इसके लार्वा पत्तियों में अनियन्त्रित आकार की सुरंगे बनाते हैं जो मुख्यतः कोमल पत्तियों पर आक्रमण करते हैं तथा प्रकाश संश्लेषण क्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है साथ ही ये सिट्रस केंकर रोग का भी वहन करते हैं। इसके नियंत्रण हेतु जब पेड़ो में नये फुटान हो रहे हो तो इन पर (फरवरी–मार्च व मई–जून) डाइमिथोएट–30 ईसी दवा 1–1.5 मिली प्रति लीटर पानी में मिलाकर छिड़काव करके नियंत्रण किया जा सकता है।

व्याधि प्रबंध (Disease management) :– नींबू का केंकर (Citrus canker) यह रोग एक जीवाणु (*Xanthomonas campestris* pv. *citri*) से होता है। इस रोग में पत्तियों, टहनियों व फलों पर हल्के पीले धब्बे दिखाई देने लगते हैं जो बाद में भूरे और खुरदरे व कॉर्कनुमा हो जाते हैं। कागजी नींबू सर्वाधिक प्रभावित होता है नया बाग हमेशा स्वस्थ पौधों से लगायें तथा रोग के फैलाव को कम करने हेतु पर्ण सुरंगी कीट का नियंत्रण करें तथा कटाई–छँटाई के बाद कॉपर ऑक्सीक्लोराइड (2.5–3 ग्राम/लीटर) के साथ स्ट्रेप्टोसाइक्लिन (250 से 500 पीपीएम) की दर से घोल बनाकर मार्च माह में छिड़काव की संस्तुति की जाती है।

उपज एवं भण्डारण (Harvesting and yield) : नींबू का पौधा 3–4 वर्ष की आयु के पश्चात् फल देने योग्य हो जाता है। फलों की तुड़ाई पूर्ण परिपक्व अवस्था में करनी चाहिए। नींबू का रंग हल्का पीला हो जावे तब उन्हें तोड़ लेना चाहिए। पूर्ण विकसित पौधे से लगभग 1000 फल प्रति पौधा व औसतन 50–75 किग्रा प्रति पौधा उपज प्राप्त होती है। नींबू के फलों को 8–10 डिग्री सेल्सियस तापक्रम पर 85–90 प्रतिशत आपेक्षिक आर्द्रता पर 3–6 सप्ताह तक भण्डारित किया जा सकता है।

संतरा (Mandarin)

वानस्पतिक नाम (Botanical name) : सिट्रस रेटिकुलाटा बाल्कों (*Citrus reticulata* Balnco.)

कुल (Family) : रूटेसी (Rutaceae)

गुणसूत्र संख्या (Chromosome no.) : X=9 2n=18

फल प्रकार (Fruit type) : हेस्पेरिडियम सरस (Berry)

खाये जाने वाला भाग (Edible part): रसीले प्लेसेन्टल रेशे

उद्‌गम स्थल (Centre of origin) : दक्षिणी चीन (South China)

भारत में नींबू प्रजाति के फलों में संतरे का सबसे महत्वपूर्ण स्थान है इसे मेन्डरिन भी कहते हैं। इसका छिलका फाँकों से चिपका नहीं रहता है अतः आसानी से छीला जा सकता है (Loose Skin orange)। संतरा अपनी सुगंध व स्वाद के लिए प्रसिद्ध है। इससे विटामिन 'सी', 'ए' व 'बी' प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इसका पानक (Squash) बहुत लोकप्रिय उत्पाद है।

जलवायु व भूमि (Climate & soil) : संतरा उष्ण व उपोष्ण जलवायु का पौधा है। जिन क्षेत्रों में वर्षा 75 से 100 सेमी. होती है वहाँ पर इसकी खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है। संतरे के लिए वातावरण में अधिक आर्द्रता होनी चाहिए। अतः इसकी खेती के लिए गर्म एवं नम जलवायु आदर्श है। इसके लिए 23 से 40° सेल्सियस तापक्रम उपयुक्त रहता है। भारत में संतरा की खेती के लिये नागपुर (महाराष्ट्र) विख्यात है।

संतरे की खेती सभी प्रकार की अच्छे जल निकास वाली जीवांश युक्त भूमि में की जा सकती है, परन्तु गहरी दोमट मिट्टी इसके लिए सर्वोतम मानी जाती है। भूमि की गहराई 2 मीटर होनी चाहिये। मृदा का पी.एच. 6 से 8 उचित रहता है। इसकी सफलतम खेती के लिये अवमृदा कंकरीली, पथरीली व कठोर नहीं होनी चाहिये।

उन्नत किस्में (Improved varieties) : भारत में उगाई जाने वाली किस्मों में नागपुरी संतरा, खासी संतरा, कुर्ग संतरा, दार्जिलिंग संतरा, लाहौर लोकल आदि प्रमुख हैं। भारतीय संतरा में नागपुर संतरा सर्वोपरि है एवं विश्व के सर्वोतम संतरा में इसका स्थान है। किंग (*Citrus nobilis*) तथा विलोलीफ (*Citrus deliciosa*) के संकरण से तैयार 'किन्नों' किस्म पंजाब व राजस्थान में व्यावसायिक महत्व की किस्म है।

प्रवर्धन (Propagation) : संतरे का वानस्पतिक प्रवर्धन कलिकायन (शील्ड व पैच) विधि द्वारा किया जाता है। कलिकायन के लिये मूलवृन्त के रूप में जट्टी खट्टी (सीट्रस जम्भिरी), रंगपुर लाइम, क्लिओप्टरा मेन्डेरिन, ट्रायर सिट्रेन्ज तथा करना खट्टा काम में लेते हैं। मूलवृन्त फरवरी–मार्च माह में तैयार किये जाते है,जिन पर कलिकायन सितम्बर–अक्टूबर व फरवरी–मार्च में किया जाता है।

पौध रोपण विधि (Planting method) : कलिकायन किये गये पौधे दूसरे वर्ष जब लगभग 60 सेमी. के हो जाये तो पौधारोपण हेतु उपयुक्त माने जाते हैं। संतरे के पौधे लगाने के लिए 90 घन सेमी. आकार के गड्ढे मई–जून में 6×6 मीटर की दूरी पर खोदे जाते हैं। उत्तरी भारत में पौध लगाने का समय जुलाई–अगस्त है तथा पौध लगाने से पूर्व प्रत्येक गड्ढे को 20 किलोग्राम गोबर की खाद, 1 किलोग्राम सुपर फास्फेट व मिट्टी के मिश्रण से भरना चाहिए। दीमक के नियंत्रण के लिए क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण 50–100 ग्राम प्रति गड्ढा देना चाहिए।

सारणी 10.4 : खाद एवं उर्वरक

पौधे की आयु	गोबर की खाद (किग्रा.)	यूरिया (ग्राम)	सुपर फॉस्फेट (ग्राम)	म्यूरेट ऑफ पोटाश (ग्राम)
एक वर्ष	15	125	250	–
दो वर्ष	30	250	500	–
तीन वर्ष	45	375	750	200
चार वर्ष	60	500	1000	200
पाँच वर्ष	75	625	1250	400

सारणी 10.5 : कीट एवं व्याधियाँ

क्र.स.	कीट–नाशीजीव / व्याधि	विवरण	प्रबंधन
1	कीट–फल चूसक शलभ (Fruit sucking moth) (*Eudocima sp.*)	रात में सक्रिय रहते हैं तथा फलों का रस चूसते हैं वहाँ से कवक आदि के संक्रमण में फल सड़कर गिर जाते हैं। वर्षा काल में अधिक सक्रिय रहता है।	प्रकाश प्रपंच (Light trape) तथा विष चुगा या प्रलोभक 1:10 (गुड़ / शक्कर में मैलाथियॉन 50 ईसी) मिट्टी के प्याले में (प्रति प्याला 100 मिली) खेत के विभिन्न स्थानों पर टांगे व खेत को साफ सुथरा रखें।
2	सिट्रस साइला (*Diaphorina citri*)	निम्फ (Nymph) पौधे के नई वृद्धियों का रस चूसते हैं साथ ही एक प्रकार का मीठा द्रव छोड़ता है जिस पर काली फफूंद (sooty mould) पनपने से पौधे की प्रकाश संश्लेषण पर बुरा असर पड़ता है।	नियंत्रण डाइमिथोयट 30 ईसी की 800 मिली मात्रा की 500 लीटर पानी की दर से छिड़काव किया जाता है।
3	छाल भक्षक कीट	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें।	
4	नाशीजीव– नींबू मूल ग्रंथी सूत्रकृमि (*Tylenchulus semipenetrans*)	पत्तियाँ पीली तथा टहनियाँ सूखने लगती हैं। जड़ क्षेत्र गुच्छेदार, उस पौधे पर फल छोटे व कम लगते हैं तथा जल्दी गिर जाते हैं ।	ऐसी पौधशाला से पौधे नहीं ले। पौधशाला की मिट्टी का शोधन करें तथा फोरेट 10 जी 5–10 ग्राम प्रति पौधा या तरल रूप में विद्यमान कार्बोफ्यूरान 2–3 मिली प्रति लीटर दर से भूमि का मंजन (ड्रेचिंग) करें।
5	व्याधि – एन्थ्रेक्नॉज (*Colletotrichum gloeosporoides*) कवक	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें।	
6	ग्रीनिंग (Greening) /HLB (Huanglongbing) जीवाणु सदृश्य सूक्ष्मजीवों (BLOs)	संचरण सिट्रस साइला द्वारा होता है। मौसम्बी व टेंजेलो में समस्या है। पत्तियों में हरिमाहिनता व फलन कम तथा परिपक्व नहीं होतें।	स्ट्रेप्टोसाइक्लिन व टेट्रासाइक्लीन जैसे जीवाणुनाशियों का उपयोग किया जाता है
7	गोंदाति (*Gummosis*) (*Phytophthora palmivora*) कवक	मुख्य तने के निचले भाग तथा कभी मुख्य शाखाओं पर गोंद जैसा पदार्थ निकलने लगता है व तने की छाल आवरण विहीन हो जाती है।	बाग में जल निकास की समुचित व्यवस्था करें तथा समय–समयपर मुख्य तने के 50–60 सेमी. ऊँचाई तक बोर्डो पेस्ट का लेपन ,प्रतिरोधी मूलवृन्तों (खट्टी नारंगी, ट्राइफोलिएट तथा रंगपुर लाइम) का उपयोग एवं संक्रमित भाग को छील कर उस स्थान पर बोर्डो लेप (1:2:15) या कॉपर ऑक्सीक्लोराइड लेप (1:10) का प्रयोग करें।
8	ट्रिस्टेजा (Tristeza) विषाणु जनित तीव्र क्षरण (quick decline) रोग है। कागजी नींबू इसका मुख्य सूचक पौधा है।	तने में छाल में गड्ढे (pit) तथा शहद के छत्तेनुमा संरचनायें बन जाती है। जड़ सूख जाता है वृक्ष मर जाता है। रोग संचरण भूरा सिट्रस माहू (*Toxoptera citricida*) द्वारा होता है।	बचाव ही उपाय है जिनमें सहनशील मूलवृन्तों का प्रयोग (रंगपुर लाइम, रफ लेमन, क्लयोपेट्रा, ट्राइफोलिएट ओरेन्ज, सिट्रेंज आदि), माहू का नियंत्रण, प्रवर्धन में विषाणु विहीन कलिका का चुनाव तथा क्रॉस प्रोटेक्सन (Cross protection) में सहनशील पौधों का उपयोग आदि है।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : सन्तरे के पौधे से उत्तम गुणवता वाले अधिक फल प्राप्त करने के लिये खाद एवं उर्वरकों का उचित प्रबन्धन करना चाहिए। सन्तरे के पौधे में सारणी 10.4 अनुसार खाद व उर्वरक देने की अनुशंसा की जाती है –

गोबर की खाद, सुपर फॉस्फेट, म्यूरेट ऑफ पोटाश की पूरी मात्रा दिसम्बर–जनवरी में देना चाहिये। यूरिया की 1/3 मात्रा फरवरी में फूल आने से पहले तथा 1/3 मात्रा अप्रैल में फल बनने के बाद और शेष 1/3 मात्रा अगस्त माह के अन्तिम सप्ताह में देवें। सन्तरा में फरवरी व जुलाई माह में गौण तत्वों का छिड़काव करना उचित रहता है। इसके लिये 550 ग्राम जिंक सल्फेट, 300 ग्राम कॉपर सल्फेट, 250 ग्राम मैंगनीज सल्फेट, 200 ग्राम मैग्नेशियम सल्फेट, 100 ग्राम बोरिक एसिड, 200 ग्राम फेरस सल्फेट व 900 ग्राम चूना लेकर 100 लीटर पानी में घोल बनाकर छिड़काव करें।

सिंचाई व अन्तःशस्यन (Irrigation & interculture) :

सर्दी में दो सप्ताह व गर्मी में एक सप्ताह के अंतराल पर सिंचाई करनी चाहिए। फल लगते समय पानी की कमी से फल झड़ने लगते हैं। फल पकने के समय पानी की कमी से फल सिकुड़ जाते हैं व रस की प्रतिशत मात्रा घट जाती है। अतः जब सन्तरे का उद्यान फलन में हो तब आवश्यकतानुसार सिंचाई करनी चाहिए। खाद देने के बाद सिंचाई करना परम आवश्यक है। बगीचे को साफ सुथरा रखे तथा दक्षिणी व मध्य भारत में मृदा बहार में पुष्पन रखे परन्तु ऊपरी भारत में वृक्ष शीत सुषुप्तावस्था (Winter rest) होने से वसंत में पुष्पन होता है।

संधाई व कटाई–छँटाई (Training & pruning) : संतरे का सुन्दर ढांचा बनाने के लिए प्रारम्भिक वर्षो में कटाई–छँटाई की जाती है। फल देने वाले पौधे को कटाई–छँटाई की कम आवश्यकता होती है परन्तु सूखी व रोगग्रस्त टहनियों को काटते रहना चाहिए।

पौध संरक्षण (Plant protection) : फसल को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कीट–नाशीजीव व व्याधियाँ में निम्नलिखित प्रमुख हैं – सारणी 10.5

फलों का गिरना (Fruit drop)– यह लगभग सभी नींबू वर्गीय फसलों की समस्या है आर्थिक दृष्टि से हानि जब फसल तुड़ाई के 1–1.5 माह पर गिरने लगे तब 2–4 डी सोडियम लवण बागवानी ग्रेड (10 पीपीएम) या एन.ए.ए. (प्लेनोफिक्स) 20–50 पीपीएम का घोल बनाकर छिड़काव हितकर रहता है। इसके अतिरिक्त फलन के समय भूमि में समुचित नमी बनाये रखना चाहिए तथा कवक जनित रोग (एन्थेक्नॉज, गोदाति आदि) का तुरन्त उचित निदान लाभकारी रहता है।

तुड़ाई व उपज (Harvesting & yield) – कलिकायन द्वारा तैयार किये गये पौधे 3–5 वर्ष की आयु में फल देते है। प्रायः पुष्पन के 8 से 9 माह बाद पक कर तैयार हो जाते है। सन्तरे के फलों का रंग हल्का पीला हो जाये तब इन्हें तोड़ लेना चाहिये। सन्तरे की उपज 600 से 800 फल तथा औसतन 70 से 80 किग्रा प्रति पौधा प्राप्त होती है। सन्तरा के फलों को 5–6 डिग्री तापक्रम व 85–90 प्रतिशत आपेक्षिक आर्द्रता पर 4 महीने तक भण्डारित किया जा सकता है।

केला (BANANA)

वानस्पतिक नाम (Botanical name) :
मूसा पेराडिसियाका एल
(*Musa paradisiaca* L.)
कुल (Family) : म्यूजेसी (Musaceae)
गुणसूत्र (Chromosome no.) : 2n = 3x = 33
खाये जाने वाला भाग (Edible Part) : मध्य व अन्तः फल भित्ती (Meso-endoearp)
उद्गम स्थल (Centre of origin) : भारत तथा मलाया
फल का प्रकार (Fruit Type) **: सरस (Berry)**

केला प्राचीन काल से ही भारत वर्ष में उगाया जा रहा है। इसे कल्पतरू, एडम्सफिंग व एपल ऑफ पेराडाइज के नाम से भी जानते हैं। केले का उपयोग फल तथा सब्जी के रूप में किया जाता है। औद्योगिक स्तर पर आटा, चॉकलेट, फिग, चिप्स इत्यादि तैयार किये जाते हैं। विश्व में भारत सबसे बड़ा केला उत्पादक राष्ट्र है।

जलवायु एवं भूमि (Climate & Soil)

यह उष्ण कटिबन्धीय जलवायु का फल वृक्ष है। इसके लिए गर्म, अधिक आर्द्रता एवं अधिक वर्षा वाले क्षेत्र उत्तम

होते हैं। जहाँ गर्मियों में तेज हवायें चलती हैं व जाड़े में पाला पड़ता है ऐसे क्षेत्र इसकी खेती के लिए उपयुक्त नहीं होते हैं। केले की अच्छी पैदावार के लिए पाला रहित, तेज व गर्म हवाओं रहित क्षेत्र तथा अधिक वर्षा क्षेत्र जो ठीक तरह से वितरित हो उपयुक्त पाये जाते हैं। इस फसल के लिए औसत तापमान 20–30 सेंटीग्रेड उपयुक्त है।

केले की खेती के लिये गहरी उपजाऊ व नमी को अधिक समय तक रोकने वाली भूमि उपयुक्त होती है। समुद्र के डेल्टाओं की रेतीली दोमट, गहरी एलूविअल दोमट व काली कपासीय मृदा केले की खेती के लिए उत्तम होती है। सफल खेती में भूमि का पीएच मान 6.5–7.5 होना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties)

भारत में केले की किस्मों को मुख्यतः दो समूहों में बाँटा गया है :–

1. **फलों के रूप में प्रयोग की जाने वाली :** पूवन, रसथाली, वीरूपक्षी, चक्रकेली; ड्वार्फ केवेन्डिश, बसराई ड्वार्फ, हरीछाल, रोबस्टा, कारपुरावल्ली (सबसे अधिक मिठास युक्त), लाल केला, हिल बनाना, G-9, सी ओं–1 (संकर किस्म कदली × (म्यूसा बालविसियाना × लेडन) एवं कुन्नन (नवजात शिशुओं के खाद्य उत्पाद बनाने के लिए उपयुक्त)
2. **सब्जी के रूप में प्रयोग की जाने वाली :** पुवन एवं नेन्द्रान (फिग एवं चिप्स बनाने के लिए भी उपयुक्त)

प्रवर्धन (Propagation)

सकर्स द्वारा (Propagation by suckers) : केले में सकर्स दो प्रकार के होते हैं :–

तलवार सकर्स (Sword suckers) : इन सकर्स की पत्तियाँ लम्बी (45 से 60 सेमी.) तलवार की तरह नुकीली व पतली होती हैं। इनसे तैयार पौधा जल्दी बढ़ता है (रोपण के 11 माह में फलन) रोपित सकर्स की उम्र तीन से चार माह की होनी चाहिए तथा वजन 500 ग्राम कम से कम होना चाहिए(साधारणतः वजन 500–750 ग्राम)। इसे रोपण हेतु काम में मुख्यतः लेते हैं।

चौड़ी पत्ती वाले (Water suckers) : ये चौड़ी पत्ती वाले तथा कमजोर सकर्स होते हैं। इनके द्वारा तैयार पौधे धीमी गति से बढ़ते हैं (रोपण के 15 माह में फलन)।

पादप ऊत्तक संवर्धन (Tissue culture) : केले के पौधों के प्रसारण की आधुनिक विधि हैं। इस विधि में अधिक संख्या में शीघ्रता से एक साथ विषाणु रहित पौधे तैयार हो सकते हैं। केले की G-9 किस्म का प्रवर्धन पादप ऊत्तक संवर्धन तकनीक से ही प्रमुखता से किया जा रहा है।

पौधे लगाने की विधि (Planting method)

गहरी जुताई कर खेत को अच्छी तरह तैयार करें। 1.5×1.5 मीटर की दूरी पर 30×30×30 सेन्टीमीटर आकार के गड्ढे खोदें। इन गड्ढों में आधी मात्रा कम्पोस्ट व आधी मात्रा मिट्टी से मिलाकर भरें। 50 ग्राम क्यूनॉलफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण भूमि–जनित कीटों के नियन्त्रण हेतु गड्ढों में मिलावें। जुलाई की पहली वर्षा के बाद ही सकर्स लगा देने चाहिए। देरी करने से केले की पैदावर पर बुरा असर पड़ता है। सकर्स गड्ढे के बीचों–बीच सायंकाल के समय पूरी तरह जमीन के अंदर लगाकर दबा देने चाहिये एवं सिंचाई कर देनी चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure & fertilizer)

प्रति पौधा 10 से 15 किलोग्राम गोबर की खाद, 150 ग्राम यूरिया, 150 ग्राम सुपर फॉस्फेट तथा 250 ग्राम म्यूरेट ऑफ पोटाश का प्रयोग उपयुक्त होता है। इस खाद की मात्रा को गाँठें लगाने के 3, 4 व 5 माह बाद बराबर भागों में बांट कर देनी चाहिये। नत्रजन का ह्रास तेजी से होता है अतः इसे 3 से 5 बार, 30–40 दिन के अन्तराल पर देते हैं। फॉस्फोरस का अवशोषण रोपण के 2–3 माह पर अधिक होता है। वहीं पोटाश की मात्रा पुष्पक्रम निकलने के साथ ही बढ़ती है। कई अनुसंधानों के परिणाम में सिद्ध हुआ है कि केले को उर्वरक 1: 1: 4 (नत्रजन : फॉस्फोरस : पोटाश) के अनुपात में देने से अधिकतम उपज प्राप्त होती है।

सिंचाई एवं निराई–गुड़ाई (Irrigation & interculture)

केले को पानी की अधिक आवश्यकता होती है। पौधे रोपण के तुरन्त बाद यदि वर्षा नहीं होती है तो सिंचाई कर देनी चाहिए। आवश्यकतानुसार 7 से 10 दिन के अन्तराल पर पानी देते रहना चाहिए। जल प्लावन की स्थिति इसके लिये ठीक नहीं है, अतः जल निकास की अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए, इससे इसकी बढ़वार ठीक रहती है। केले में सिंचाई 7.5 सेमी. गहराई पर प्रति 8–10 दिन के अन्तराल पर तथा 12.5 सेमी. प्रति 15 दिन के अन्तराल पर देनी चाहिए।

वर्षा ऋतु के 2–3 माह में केले के आभासी तने (Pseudo stem) के पास मिट्टी चढ़ाने से पौधे गिरते नहीं हैं। फूल व फल आने पर लकड़ी का सहारा देना चाहिए इसे प्रोपिंग (propping) कहते हैं। पौधे के आधार से अनेक सकर्स निकलते हैं। इन्हें बने रहने दिया जाये तो वे पौधे की खुराक खींच लेते हैं जिससे पैदावार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तथा पेड़ी फसल (रेटूनिंग) लेने पर केवल 1–2 सकर्स ही बढ़ने दिया जाता है। अन्य सकर्स को हटाने हेतु 2–4 डी या पेट्रोल का प्रयोग किया जा सकता है। इस क्रियाकलाप को डिसकरिंग (Desuckering) कहते हैं।

पौध संरक्षण (Plant protection)

फसल को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कीट–नाशीजीव व व्याधियाँ मे निम्नलिखित प्रमुख हैं –सारणी 10.6

सारणी 10.6 : कीट एवं व्याधियाँ

क्र. स.	कीट–नाशीजीव /व्याधि	विवरण	प्रबंधन
1	कीट–बीटल (Stem Weevil: *Cosmopolites sordidus*)	कीट काले रंग के नये पत्तों एवं छोटे–छोटे फलों के कोमल छिलकों को खुरच कर खाते हैं, जिससे पत्तियों एवं फलों पर काली धारियाँ दिखाई पड़ती हैं। जुलाई से अक्टूबर में सक्रियता अधिक होती है।	मिथाइल डिमेटॉन 25 ईसी एक मिलीलीटर प्रति लीटर पानी के दर से छिड़काव करें।
2	तना छेदक (Stem Borer: *Odoiporus longicollis*)	लट तने में छेद करके अन्दर चले जाते हैं व प्रौढ़ काले रंग के मुँह लम्बा व सुई जैसा होता है, ये तने को खोखला कर देते हैं। इस कारण पौधा मर जाता है। वर्षा के दिनोमें अधिक सक्रिय रहता है।	गम्भीर रूप से प्रभावित पौधों को खेत से हटाकर जला देवें। फोरेट 10 जी 5 ग्राम प्रति पौधा या कार्बोरिल 50 डब्ल्यू पी 2 से 4 ग्राम प्रति लीटर पानी के हिसाब से छिड़काव करें।
3	नाशीजीव– बेरोइंग सूत्रकृमि *(Radopholus similis)*	छोटे काले घाव जड़ों पर बना देते हैं जिसमें कई कवक भी आसानी से अन्दर प्रवेश करने से पौधे को दोहरा नुकसान होता है।	राइजोम हमेशा सूत्रकृमि मुक्त क्षेत्र से ही चयन करना चाहिए तथा इनका उपचार किसी दानेदार सूत्रकृमिनाशी (फोरेट) से कर उष्ण जल उपचार (55 ^{0} सेंटीग्रेड पर 20 मिनट) कर छाया में सुखाकर रोपण करें। प्रति गड्ढा 50 ग्राम मिथाम सोडियम को बेजोमेट के साथ मिलाकर इसे 5–10 दिन ढकने के बाद पौधा लगायें।
4	व्याधि– गुच्छ शीर्षरोग (Bunchy top): विषाणु रोग प्रसारण बनाना एफिड (*Pentalonia nigronervosa*) द्वारा ।	पौधों की पत्तियाँ अपरिपक्व अवस्था में ही खुल जाती हैं और सिरे पर सघन पर्ण गुच्छ बनाती हैं, उन पर गहरे हरे रंग के धब्बे व धारियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। देर से संक्रमित पौधो मे फलों के गुच्छे आकार में छोटे रह जाते हैं।	रोग रहित सकर्स का प्रयोग करें। बाग में रोगी पौधों का पता लगते ही उसे समूल उखाड़ कर नष्ट करे। कीटनाशी डाइमिथोएट 30 ई सी या मिथाइल डिमेटोन एक मिलीलीटर प्रति लीटर पानी के घोल का छिड़काव करे।
5	पनामा रोग (फ्यूजेरियम म्लानी) (*Fusarium oxysporum* f.sp. *Qubense)*	पत्तियाँ पीली , डण्ठल टूट जाते हैं और नीचे की ओर लटकी पत्तियाँ सूख कर गिर जाती हैं। स्तम्भ लम्बाई में फट जाता है और पौधा चार से छः सप्ताह में सूख जाता है। रोगी पौधों की जड़ें काली होकर सड़ने लगती हैं। यह रोग रोगी पौधों से आस–पास के पौधों में फैलता जाता है।	पौधों को आसपास की मिट्टी सहित निकाल कर नष्ट कर देना चाहिये तथा रोगी पौधों के गड्ढे में चूना डालकर भूमि को पानी से 2 से 6 माह तक भरकर रखने से भूमि वापस केला उगाने के लिए उपयोगी बन सकती है। रोग ग्रस्त क्षेत्र में केले की कैवेन्डिश किस्म या पूवन रोगरोधी किस्में हैं।
6	पत्तीधब्बा रोग (सिगाटोका पर्ण धब्बा) कवक (*Mycosphaerella musicola)*	रोगग्रस्त पौधे की पत्तियाँ छोटी व भूरे रंग के धब्बे युक्त हो जाती हैं। फल छोटे आकार के कोणित ही रहते हैं। यह रोग वर्षा के मौसम में जब तापमान 23–25^{0} सेंटीग्रेड हो तो तेजी से फैलता है।	रोकथाम हेतु जल निकास की समुचित व्यवस्था करें, उचित पादप अन्तराल रखें तथा संक्रमित भाग निकाल दें। रसायन में डाइथेन एम–45 जिनेब (डायथेन जेड़–78) 0.1 प्रतिशत की दर से नियमित अन्तराल पर छिड़काव लाभकारी रहता है।

तुड़ाई एवं उपज (Harvesting & yield)

केले की परिपक्वता की जाँच उसकी 3/4 कोणिता (Angularity) से करते हैं। जब फल पूर्ण विकसित लगभग गोल, हल्के हरापन लिए हुए हो जाए तब इनकी तुड़ाई करनी चाहिए। फलन उम्र पौधे रोपण के समय लिए नए सकर्स, किस्म व स्थान पर निर्भर करती है जैसे पूवन, मोन्थन, रसथाली व ड्वार्फ कैवन्डिश किस्में पौध रोपण के 11–12 महीने में तैयार होती हैं। वहीं बसराई ड्वार्फ महाराष्ट्र क्षेत्र में 14 महीने लेती है। फूल आने से 5 माह बाद फल तैयार हो जाते हैं। सामान्यतः भारत में इसकी तुड़ाई अप्रैल से सितम्बर में की जाती है तथा उपज किस्मों के आधार पर 30 से 40 टन/हेक्टेयर होती हैं।

साधारणतया फलों को वायु रहित कमरे में रख देते हैं तथा एक कोने में धुआँ करने से 30 से 48 घंटे में फल पककर तैयार हो जाते हैं। आजकल रसायनों तथा हार्मोन से भी फलों को पकाया जाता है। इसमें हवा रहित कमरों में एक पात्र में 200 मि. ली. ईथरेल व 10–15 ग्राम सोडियम हाइड्रोक्साइड (NaOH) का घोल प्रति क्विंटल दर से रखकर छोड़ देते हैं। 48 घंटे में केले पक जाते हैं या ईथरल के 1000 पी.पी.एम. में डुबोकर फलों को रखने पर एक जैसे सुनहरे पीले रंग के फल दूसरे दिन तैयार हो जाते हैं। पके फलों को 12–13 डिग्री सेल्सियस तापक्रम व 85–90 प्रतिशत आपेक्षिक आर्द्रता पर एक सप्ताह तक भण्डारित किया जा सकता है।

अमरूद (GUAVA)

वानस्पतिक नाम : Botanical name) :
सीडियम गुवाजावा एल.
***(Psidium guajava* L.)**

कुल (Family) : मिरटेसी *(Myrtaceae)*

गुणसूत्र संख्या (Chromosome no.) : 2n=2x=22

खाये जाने वाला भाग (Edible part) :
पुष्पासन व फल भित्ती

उत्पत्ति स्थल (Centre of origin) : मैक्सिको पेरू

फल का प्रकार (Fruit type) : सरस (Berry)

अमरूद के फलों में विटामिन 'सी' (300 मिग्रा/100 ग्राम गूदे) प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इसी पोषण मान के कारण इस फल को उष्ण कटिबंधीयों का सेव भी कहते है (Apple of the tropics) फल ताजे रूप में खाने के अलावा गुणवत्ता युक्त जैली बनाने में प्रयोग किये जाते हैं। हमारे देश में उत्तर प्रदेश का इलाहाबाद जिला अच्छी गुणवत्ता वाले अमरूद के लिए प्रसिद्ध है।

जलवायु एवं भूमि (Climate & soil)

अमरूद उष्ण तथा उपोष्णीय क्षेत्र का फल है। इसकी फसल उत्पादन हेतु उपयुक्त तापमान 23–28° से. तथा गुणवत्ता युक्त फल शरदकाल में रात का तापमान 10° से. पर बना रहता है तब होता है। जिन क्षेत्रों में वार्षिक वर्षा 250 सेमी. से अधिक होने पर फलों की गुणवत्ता अच्छी नहीं होती। इसका पौधा सूखे की दशा में कम प्रभावित होता है लेकिन वह पाले में शीघ्र ही प्रभावित हो जाता है। यह विभिन्न प्रकार की मिट्टियों में उगाया जा सकता है। वैसे गहरी उपजाऊ बलुई दोमट मिट्टी अमरूद की खेती के लिये उपयुक्त रहती है। मृदा क्षारीयता का मान पी एच 7.6 से अधिकता होने पर उखटा रोग की सम्भावना को बढ़ा देता है।

उन्नत किस्में (Improved varieties)

भारत में उगाई जाने वाली किस्मों में इलाहाबाद सफेदा व लखनऊ–49 (सरदार) प्रमुख है।

इसके अतिरिक्त अर्का मृदुला, अर्का अमूल्या, अर्का किरण, अर्का रश्मि नवीन किस्में हैं जो राष्ट्रीय बागवानी अनुसंधान संस्थान, बैगलूरू एवं ललित व श्वेता केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊ से एवं पंत प्रभात किस्म गो.व.प. कृषि एवं प्रौ.वि.वि, पंतनगर, उत्तरांचल से तथा हिसार सफेदा व हिसार सूर्खा किस्में हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय, हिसार से विकसित की गई हैं।

प्रवर्धन (Propagation)

अमरूद का प्रवर्धन वानस्पतिक तरीके से ही किया जाना चाहिए। बीज से प्रसारित पौधे का प्रयोग मूलवृन्त के लिये किया जाता है जिस पर इनार्चिंग एवं वेंज ग्राफ्टिंग करते है। अमरूद के पौधों को स्टूलिंग एवं लेयरिंग द्वारा भी तैयार किया जाता है।

पौधे लगाने की विधि (Planting method)

पौधे लगाने का उचित समय जुलाई–अगस्त है लेकिन जहाँ सिंचाई की सुविधा हो वहाँ फरवरी के अन्त में भी पौधे लगाये जा सकते है। पौधे लगाने के लिये 60×60×60 सेन्टीमीटर आकार के गड्ढ़े, गर्मी के दिनों (मई, जून) में तैयार किये जाते हैं। इन गड्ढों में 25 किलो अच्छी सड़ी हुई गोबर की खाद, 50 से 100 ग्राम क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण तथा मिट्टी के मिश्रण से भरकर वर्षा ऋतु में पौधों को लगा दिया जाता है।

पौधे से पौधे की दूरी 6 से 7 मीटर रखनी चाहिये। सघन पौधा रोपण के लिए अमरूद के पौधे 3×6 मीटर पौधे से पौधे × कतार से कतार की दूरी पर भी लगाये जा सकते है। अति सघन बागवानी (मेडो आरचर्ड) हेतु पौधों को 2×1 मीटर की दूरी पर लगाया जाता है।

सारणी 10.7 : अमरूद में बहार नियंत्रण

बहार का नाम	फूल आने का समय	फलों की तुड़ाई
अम्बे बहार	फरवरी – मार्च	वर्षा (जुलाई–अगस्त)
मृग बहार	जुलाई–अगस्त	सर्दी (नवम्बर–दिसम्बर)
हस्त बहार	सितम्बर–अक्टूबर	बसंत (मार्च–अप्रैल)

खाद एवं उर्वरक (Manure & fertilizer)

प्रति पौध खाद एवं उर्वरक निम्न दर्शायी गयी तालिका 10.8 के अनुसार डालें:–

वर्षा ऋतु वाली फसल के लिये देशी खाद, सुपर फॉस्फेट, म्यूरेट ऑफ पोटाश की पूरी मात्रा तथा यूरिया की आधी मात्रा दिसम्बर माह में तथा बची हुई यूरिया की आधी मात्रा मार्च अप्रैल में देनी चाहिये। इसी प्रकार शरद ऋतु की फसल के लिये देशी खाद, सुपर फॉस्फेट, पोटाश व यूरिया की आधी मात्रा जून तथा शेष यूरिया की मात्रा सितम्बर माह में दे देनी चाहिये। सर्दी की फसल लेना अधिक लाभप्रद है क्योंकि फल अच्छे गुणवत्ता वाले व कीट/व्याधि से मुक्त होते हैं। सूक्ष्म तत्वों में जिंक व बोरोन

सारणी 10.8 : खाद एवं उर्वरक

वृक्ष की आयु वर्ष में	मात्रा किलोग्राम प्रति पौधा			
	गोबर की खाद	यूरिया	सुपर फॉस्फेट	म्यूरेट ऑफ पोटाश
1–3	10–20	0.05–0.25	0.15–1.50	0.20–0.40
4–6	25–40	0.30–0.60	0.50–2.00	0.40–0.80
7–10	40–50	0.75–1.00	2.00	0.80–1.20
10 से अधिक	50	1.00	2.50	1.20

की कमी से पत्तियों का आकार छोटा रहता है। पौधे की वृद्धि रूक जाती है तथा फल फटने जैसी समस्या आ जाती है। इसके नियंत्रण हेतु 0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट व 0.3 प्रतिशत बोरेक्स का छिड़काव अगस्त व अक्टूबर माह में करना चाहिए।

संधाई व कृन्तन (Training & pruning) :

अमरूद को आरम्भिक वर्षों में साधने हेतु परिवर्तित केन्द्रीय प्ररोह विधि (modified central leader system) काम में लेते हैं। इस विधि में पौधों को 75 सेमी. तक सीधे बढ़ने देते हैं तथा फिर इस ऊँचाई से काट देते हैं जिससे पार्श्व शाखाएँ निकलती हैं। 20–25 सेमी. के अंतर पर 3–4 शाखाएँ चुन ली जाती हैं। अब प्रत्येक 2–3 साल में शीर्ष व किनारे की शाखाओं की छँटाई कर देने से आकार नियंत्रित रहता है। अमरूद में फूल तथा फल, नई वृद्धि शाखाओं पर ही लगते है अतः कृन्तन नियमित प्रति वर्ष अपनाना चाहिये। जिससे नयी वृद्धि अधिक मात्रा में हो। इसके लिए समय अप्रैल माह तथा सघन बागवानी में आवश्यकतानुसार (साधारणतया सितम्बर व फरवरी माह) करें।

बहार नियंत्रण (Crop regulation) :

अमरूद के पौधे पर वर्ष में तीन बार फूल आते हैं। मृग बहार से मिलने वाले फलों की गुणवत्ता अच्छी होती है। इस समय बरसात होने से सिंचाई की कम आवश्यकता होती है। शेष ऋतुओं की बहार को नष्ट कर देना चाहिये। फलतः रोकने के लिये फूलों को हाथ से तोड़ देना चाहिये अथवा फूल आने से 1–1.5 माह पहले पानी नहीं देना चाहिये एवं बाग की गुड़ाई कर देनी चाहिये। एन.ए.ए. के 100 पी.पी.एम. (100 मिग्रा/लीटर) उर्वरक ग्रेड यूरिया का 10 से 15 प्रतिशत सान्द्रता (100 से 150 ग्राम प्रति लीटर) का छिड़काव 15 अप्रैल से 15 मई (50 प्रतिशत पुष्पन अवस्था) में करना चाहिये। इससे बहार नियंत्रण में मदद मिलती है। सारणी 10.7

सिंचाई एवं अन्तराशष्यन (Irrigation & interculture) :

गर्मियों में प्रायः 7 से 10 दिन एवं सर्दियों में 15 से 20 दिन के अंतर से सिंचाई करनी चाहिए। वर्षा ऋतु की फसल लेने के लिये सिंचाई फरवरी मार्च में शुरू करनी चाहिये तथा शरद ऋतु की फसल के लिये सिंचाई जून माह में प्रारम्भ कर देनी चाहिये। फल विकास के समय उचित नमी होना आवश्यक होता है। आरम्भ के तीन वर्षों तक आय का साधन बना रहे इसके लिए मटर, ग्वार, चौला, मिर्च, बैंगन आदि फसलों की खेती की जा सकती है।

पौध संरक्षण (Plant protection)

फसल को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कीटों व व्याधियाँ मे निम्नलिखित प्रमुख हैं – सारणी 10.9

जस्ते की कमी : अमरूद की फसल, जस्ते की कमी से सामान्यतः प्रभावित होती देखी गयी है। इससे पत्तियाँ अत्यधिक छोटी व चर्मिल हो जाती हैं और उनकी शिराओं के बीच का भाग पीला पड़ ताम्र वर्ण हो जाता है। ग्रसित पेड़ों की बढ़वार रूक जाती है और ऊपर से नीचे की और शनैः शनैः मरने लगते है। फल सख्त होकर सूख कर गिर जाते हैं। नियन्त्रण हेतु जिंक

सारणी 10.9 : कीट एवं व्याधियाँ

क्र.स.	कीट / व्याधि	विवरण	प्रबंधन
1	कीट– फल मक्खी (*Bactrocera correcta*-Bezzi)	मक्खी बरसात के फलों को विशेष हानि पहुँचाती है। यह फलों के अन्दर अण्डे देती है। जिससे बाद में लटे (मैगट्स) पैदा होकर फल के अन्दर के गूदे को खाने लग जाती हैं।	प्रभावित फलों को इकट्ठा करके भूमि में गहरा गाड़ देवें अथवा नष्ट कर देवें। फेरोमोन ट्रेप लगानी चाहिए। स्पाइनोसेड 45 एस .सी. का 0.5 मिली. प्रति 1 लीटर पानी में प्रयोग करना चाहिए।
2	छाल भक्षक कीट	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें।	
3	व्याधि– म्लानि रोग (मुरझान, उखटा, सूखा या विल्ट) कवक (*Fusarium oxysporum* var.*psidi*, *Gliocladium roseum* *macrophomina sp.*) आदि	आंशिक मुरझान, जिसमें पेड़ की एक या अधिक मुख्य शाखाएँ रोग ग्रस्त होती हैं । इन शाखाओं पर कच्चे फल छोटे भूरे व सख्त हो जाते हैं। बाद की अवस्था में रोग का प्रकोप पूरे पेड़ पर होता है और वह शीघ्र सूख जाता हैं। रोग अगस्त से अक्टूबर माह में उग्र रूप धारण कर लेता है।	बाविस्टीन एक ग्राम प्रति लीटर पानी की दर से घोल कर 20 से 30 लीटर घोल प्रति वृक्ष से भूमि का मंजन (ड्रेन्च)। रोगी पेड़ों को जड़ सहित उखाड़ कर जला देना चाहिये व उस स्थान की मिट्टी को बाविस्टीन 1 ग्राम प्रति लीटर पानी की दर से दूसरा पौधा लगाने से पूर्व उपचारित करना चाहिये। प्रतिरोधी मूलवृन्त चाइनीज अमरूद (सीडियम–फ्रीड्रिक्स्थेलियेनम) का उपयोग तथा जैविक नियंत्रण उपाय में एस्पर्जिलस नाइजर(पूसा मृदा / काली सेना) व टाइकोडर्मा से करें ।
4	श्याम व्रण (एन्थ्रेक्नोज)	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें।	

सल्फेट 6 ग्राम व बुझा हुआ चूना 4 ग्राम को एक लीटर पानी में घोल कर अप्रैल व जून माह में छिड़काव करने से अच्छा लाभ होता है।

तुड़ाई एवं उपज (Harvesting & yield)

फलों का रंग जब हरे से पीले में बदलने लगे तब उन्हें सावधानी पूर्वक तोड़ लेना चाहिये। एक पूर्ण विकसित पेड़ से लगभग 40 से 50 किलोग्राम फल प्राप्त हो जाते हैं। अति सघन बागवानी (मेडो आरचर्ड) में दो वर्ष बाद लगभग 8–10 कि.ग्रा. फल प्रति पौध प्राप्त हो जाता है। तुड़ाई के बाद 9–10 डिग्री सेल्सियस तापमान पर लगभग 2–3 सप्ताह तक भण्डारित किया जा सकता है व कमरे के तापमान पर अधपके फलों को 5–6 दिन तक रखा जा सकता है।

पपीता (PAPAYA)

वानस्पतिक नाम (Botanical name) : केरिका पपाया एल (*Carica papaya* L.)

कुल (Family) : केरिकेसी (Caricaceae)

गुणसूत्र संख्या (Chromosome no.) : 2n = 2x = 18

खाये जाने वाला भाग (Edible part) : मध्य फल भित्ती (Mesocarp)

उद्गम स्थल (Centre of origin) : **उष्ण कटिबंधीय अमेरिका (मेक्सिको)**

फल प्रकार (Fruit Type) **: सरस (Berry)**

पपीता जल्दी बढ़ने वाला एक फलदार पौधा है। इसके पौधे एक ही वर्ष में फल देने लगते हैं। यह विटामिन–'ए' (2500 आई यू) तथा 'सी' (85 मिग्रा प्रति 100 ग्राम गूदे में) का अच्छा स्रोत है। पपीते के फलों से जैम, कैण्डी, सिरप आदि बनाये जाते हैं। पपीते के हरे फल अपरिपक्व फलों के लेटेक्स से पपेन बनाया जाता है। पपीते के फलों का पीला रंग वर्णक केरिकाजेन्थिन व लाल गूदे वाली किस्म में लाइकोपिन नामक रंजक पाया जाता है।

जलवायु एवं भूमि (Climate & soil)

यह उष्ण जलवायु का पौधा है जो खुले धूप वाले क्षेत्र में पानी की सुविधा के साथ उगाया जा सकता है। इसके लिये पाला हानिकारक होता है। खेती हेतु औसत तापमान 22–26 डिग्री सेल्सियस उपयुक्त रहता है। रात का औसत तापमान 12–14 डिग्री सेल्सियस से कम होने पर पौध वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जल निकास युक्त दोमट मिट्टी पपीते की खेती के लिये उत्तम रहती है। भूमि की गहराई 45 सेमी. होनी आवश्यक है।

उन्नत किस्में (Improved varieties)

1. फल उत्पादन हेतु : हनीड्यू (मधु बिन्दु), कुर्ग हनीड्यू, वाशिंगटन, कोयम्बटूर–1, को.–3, को.–4, को.–6, पंजाब स्वीट, पूसा डेलिसियस, पूसा जाइन्ट, पूसा ड्वार्फ, पूसा नन्हा, सूर्या, पंत पपीता आदि। ताइवान फल उत्पादक किस्में : नोन यू नंबर–1, रेड लेडी, सनराईज, ताइवान–786

2. पपेन उत्पादक किस्में : पूसा मैजेस्टी, को.–5, को.–2

3. उभय लिंगी किस्में : पूसा डेलिसियस, पूसा मैजेस्टी, सूर्या, सनराइज सोलो, ताइवान, सीओ–3, सी ओ–7, रेड लेडी, कुर्ग हनीड्यू आदि।

4. गृह वाटिका / गमलों में लगाने हेतु : पूसा नन्हा

5. पारम्परिक किस्में : बरवानी लाल, वाशिंगटन, रांची आदि।

नवीन किस्मों में अर्का सूर्या व अर्का प्रभात जैसी संकर किस्में, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, बैंगलूरू से विकसित की गई हैं।

प्रवर्धन (Propagation)

पपीते के प्रवर्धन की अच्छी विधि बीज द्वारा है। एक हेक्टेयर क्षेत्र की पौध तैयार करने के लिये लगभग 250–300 ग्राम बीज पर्याप्त होता है। आज–कल ऐसी किस्में विकसित हुई हैं जिनमें केवल मादा या उभयलिंगी पौधे ही होते हैं जिन्हें गाइनों–डाइसियस (gynodioecious) कहते हैं। इन किस्मों को एक गड्ढे में एक ही पौधा लगाएँ। इस प्रकार इनकी प्रति हेक्टेयर बीज दर (150 ग्राम) भी कम हो जायेगी।

पौधे लगाने की विधि (Planting method)

गर्मी के दिनों में खेत की मिट्टी पलटने वाले हल से जुताई करके धूप में खुला छोड़ देना चाहिये। इसके पश्चात् देशी हल व पाटा चलाकर भूमि को समतल एवं भुरभुरी बना लीजिए फिर जून के अन्तिम सप्ताह में 45×45×45 सेंटीमीटर आकार के गड्ढे 2×2 मीटर की दूरी पर खोदें। प्रत्येक गड्ढे में 200 ग्राम सुपर फॉस्फेट, 10 किग्रा. गोबर की सड़ी खाद व 50 ग्राम क्यूनॉलफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण मिलाकर भर देना चाहिये। जिन किसानों के पास सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो तो फरवरी–मार्च में भी पौध रोपण कर सकते हैं।

तैयार किये गये पौधों को जुलाई–अगस्त माह में बनाये गये गड्ढों में लगा देना चाहिये। प्रत्येक गड्ढे में दो पौधे लगाये। पौधे में फूल आने लगे उस समय मादा पौधे को खेत में रहने देना चाहिये। तथा 10 प्रतिशत नर पौधे जो खेत में ठीक तरह से फैले हो, को छोड़कर शेष नर पौधे को हटा देना चाहिए। गाइनो डायोसियस किस्में जिनमें मादा व उभयलिंगी फूल आते है। एक स्थान पर एक ही पौधा लगावें।

खाद एवं उर्वरक (Manure & fertilizer)

लगभग 12 से 15 माह में पपीते के पौधों में फल आने लगते है। प्रति वर्ष 25 से 30 किलो गोबर की खाद, 100 ग्राम यूरिया, 400 ग्राम सुपर फॉस्फेट व 150 ग्राम म्यूरेट ऑफ पोटाश प्रति पौधे के हिसाब से देना चाहिये। यूरिया की 25 ग्राम मात्रा पौध लगाने के दो माह बाद, 35 ग्राम पौध लगाने के चार माह बाद तथा 50 ग्राम फूल आने से पूर्व देवें। सुपर फॉस्फेट की 200 ग्राम मात्रा गड्ढा भरते समय तथा 200 ग्राम मात्रा पौध रोपण के 5 से 6 माह बाद (दिसम्बर–जनवरी) देवें। पोटाश 75 ग्राम मात्रा दिसम्बर–जनवरी में देवें। देशी खाद की मात्रा जून–जुलाई में देनी चाहिये। सूक्ष्म तत्व जिंक सल्फेट 0.5 प्रतिशत व बोरान 0.2 प्रतिशत के साथ 0.4 प्रतिशत चूना मिलाकर पर्णीय छिड़काव रोपण के 8 माह पर करने से अच्छे परिणाम मिलते हैं।

सिंचाई एवं अन्तःशस्यन (Irriagation & inter culture)

पपीते की जड़े भूमि में गहरी नहीं जाती हैं अतः थोड़े–थोड़े समय के अन्तर से सिंचाई करनी चाहिये लेकिन इस बात का विशेष ध्यान देते रहें कि पेड़ के तने के पास पानी भरा नहीं रहे वरना जड़ और तने के सड़ने की सम्भावना रहती है। गर्मियों में लगभग एक सप्ताह के अन्तर से तथा जाड़े में 10 से 15 दिन के अन्तर से सिंचाई करनी चाहिये। खेत में जल निकास की समुचित व्यवस्था रखनी चाहिये तथा तने के चारों तरफ थोड़ी मिट्टी चढ़ा देनी चाहिये ताकि पानी तने के सीधे सम्पर्क में नहीं आये। बूँद–बूँद सिंचाई पद्धति अपनाने से फल उपज व गुणवत्ता में सुधार होता है। अन्तः फसलें लेते समय ध्यान रखें साथ में सोलेनेसी (टमाटर, मिर्च आदि) व कद्दूवर्गीय सब्जियाँ न लें।

लिंग–भेद (Sex identification) : पौध रोपण के लगभग 50 दिन बाद पुष्पन आरम्भ होता है। पपीते में तीन तरह के पुष्प होते हैं नर, मादा और उभयलिंगी।

- **मादा फूल :–** ये पत्तियों के कक्ष से छोटे डण्ठलों पर

निकलते हैं। इनकी लम्बाई एक से तीन इंच तक होती है। इनका आकार बड़ा तथा नीचे से चकरीनुमा होता है। इनमें पुंकेसर नहीं होता और डिंब ग्रन्थि स्पष्ट दिखाई देती है। यह ग्रन्थि बाद में विकसित होकर अण्डाकार या गोल हो जाती है और पपीते के फल के रूप में आती है।

- **नर फूल :–** लम्बी टहनियों पर पुष्प गुच्छे लटके हुए होते हैं। फूल छोटे और पूर्ण रूप से विकसित होते हैं। ये फूल पत्तियों के कक्ष से अकेले या गुच्छे में छोटे डण्ठलों पर लगते हैं। इन फूलों में फल नहीं बनते। यह फूल मादा फूल से पतले तथा छोटी–छोटी नलिकाओं की तरह होते हैं।
- **उभयलिंगी फूल :–** उभयलिंगी पेड़ पर मध्यम आकार के नर और मादा के बीच के फूल होते हैं। यह पुष्प गुच्छों में निकलते हैं इनमें नर व मादा दोनों प्रकार के भाग एक ही फूल में होते हैं। अर्थात इनमें डिंब ग्रन्थि भी होती है और पुंकेसर भी। इस तरह के पेड़ों में लम्बे आकार के खीरा की शक्ल के फल लगते हैं। इन तीनों प्रकार के फूलों में मादा व नर फूल तो स्थिर संख्या में रहते हैं परन्तु उभयलिंगी फूलों का लिंग वातावरण में भिन्नता के अनुसार बदलता है।

पपेन निकालना (Papain extraction)

हरे एवं कच्चे पपीते के फलों से सफेद रस या दूध निकालकर सुखाये गये पदार्थ को पपेन कहते हैं। इसका प्रयोग प्रोटीन को पचाने, एल्कोहल, दवा एवं चिवंगम निर्माण में किया जाता है। पपेन एक महंगा उत्पाद होने के कारण इसका उत्पादन करके अधिक लाभ लिया जा सकता है। अधिकतम पपेन प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि पपेन सूर्य निकलने से पूर्व ही निकाल लेना चाहिए। साधारणतः प्रातः 6–9 बजे के बीच पपेन निकालना सर्वोत्तम है।

पपेन प्राप्त करने के लिए तीन–चौथाई विकसित (3 महीने पुराने) फलों पर डण्ठल की ओर से करीब 3 मि.मी. गहराई के 4–5 चीरे लम्बाई के हिसाब से लगाते हैं। प्रतिदिन ऐसी चार कट प्रति फल लगाये जाते हैं। चीरा लगाने के तत्काल बाद फलों से दूध निकलने लगता है, जिसे किसी मिट्टी या एल्यूमिनियम के बर्तन में इकट्ठा कर लिया जाता है। इस प्रकार फल की पूरी अवधि में 12 से 15 बार चीरा लगाकर दूध निकाला जा सकता है। चीरा लगाये गये फलों को पकने दिया जाता है जिनका स्वाद सामान्य फलों के समान होता है। परन्तु रंग खराब हो जाने के कारण बाजार माँग में कमी आ जाती है। अतः इन फलों का उपयोग जैम, मुरब्बा, टूटी–फ्रूटी एवं फल शेक के रूप में करना अच्छा रहता है। इकट्ठा किये गये दूध को चौड़े आकार के मिट्टी के पात्र में डालकर धूप में अथवा 50–60 डिग्री सेल्सियस तापमान पर सुखाया जाता है। तरल दूध में थोड़ा–सा (350 पी. पी.एम.) पोटेशियम मेटाबाई सल्फाईट मिला दिया जाता है। इससे पपेन लम्बे समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

बीजोत्पादन (Seed production)

पपीते का बीज उत्पादन भी एक अत्यधिक लाभकारी व्यवसाय है। पपीते में पर–परागण के कारण शुद्ध किस्म के बीज उत्पादन करना एक जटिल प्रक्रिया है। फिर भी अत्यधिक सावधानी एवं नियंत्रित परागकण द्वारा काफी हद तक सन्तोषजनक किस्म की शुद्धता रखते हुए बीज उत्पादन किया जा सकता है। बीजोत्पादन में जब मादा फूलों का परागण उभयलिंगी फूलों से किया जाता है तो मादा और उभयलिंगी संतानें समान संख्या में पैदा होती हैं। इस प्रकार के परागण किस्म निम्नता (Inbreeding depression) सबसे कम होती है तथा इस तरह की सहोदर संगम (Sib mating) से ओजपूर्ण संतति प्राप्त होती है।

चुने हुए पौधों में परागण के बाद विकसित मादा फलों में से अच्छी किस्म के गुणों के अनुसार आकार एवं भार वाले फलों को पूर्ण रूप से पकने के बाद तोड़ना चाहिए। चयनित फलों को काटकर बीज प्राप्त कर लेते हैं। बीजों को राख में रगड़कर साफ कर लेना चाहिए तथा छायादार स्थान पर सुखाना चाहिए। पूर्णरूप से सूखे, स्वस्थ, साफ, पके बीजों को कवकनाशी दवा से उपचारित करके बीजों को शुष्क हवादार एवं ठण्डे स्थानों पर एक वर्ष तक भण्डारित रखा जा सकता है।

पौध संरक्षण (Plant protection)

फसल को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कीट–नाशीजीव व व्याधियाँ मे निम्नलिखित प्रमुख हैं – सारणी 10.10

तुड़ाई एवं उपज (Harvesting & yield)

जब फल हल्का या पीलापन लेने लगे और उसमें सफेद दूध आना बन्द हो जाये तो समझना चाहिये कि फल पक गया है अतः इनकी तुड़ाई कर लेनी चाहिये। फलों को पक्षियों से बचाने के लिये इनके चारों ओर पुराना टाट बाँधा जा सकता है। पपीते से प्रति पौधा 40 से 50 किलोग्राम उपज प्राप्त होती है। प्रति पौधा औसतन 200 ग्राम पपेन प्राप्त किया जा सकता है। परिपक्व फलों को 13–14 डिग्री सेल्सियस तापक्रम पर 1–2 सप्ताह के लिए भण्डारित किया जा सकता है।

सारणी 10.10 : कीट एवं व्याधियाँ

क्र.स.	कीट–नाशीजीव / व्याधि	विवरण	प्रबंधन
1	कीट–माहू (*Mysus persicae*) एवं सफेद मक्खी (*Bemisia tabaci*)	ये कीट पत्तियों से रस चूस कर नुकसान पहुँचाते हैं। माहू मोजेक या रिंग स्पोट वायरस तथा सफेद मक्खी पर्ण कुंचन विषाणु को फैलाती हैं।	मिथाईल डेमेटोन 25 ई सी एक मिलीलीटर प्रति लीटर या डाइमिथोएट 30 ई सी एक मिलीलीटर प्रति लीटर पानी के हिसाब से छिड़काव करें।
2	नाशीजीव– मूल ग्रन्थि (सूत्रकृमि) मिलाइडोगाइनी	पौधा कमजोर और पीला पड़ जाता है और फल भी छोटे व कम लगते हैं।	पौध तैयार करते समय मिथाम सोडियम व बेंजोमेट का मिश्रण 50 ग्राम प्रति एक वर्ग मीटर क्षेत्र के हिसाब से मृदा में मिलाकर इसे 5–10 दिन तक ढककर बाद में पौध लगावे तथा खेत में ट्राइकेडर्मा से उपचारित गोबर की खाद तथा कार्बोसल्फान 25 ईसी दवा से मृदा का मंजन (ड्रेंच) कर दें।
3	व्याधि–क्लेद–गलन रोग (डेम्पिंग ऑफ) व स्तम्भ मूल संधि विगलन (कॉलर रॉट) कवक *(Pythium aphanidermatum)*	पौधशाला का रोग है जिसमें छोटे–छोटे पौधे नीचे से गलकर मर जाते हैं जिसे डेम्पिंग ऑफ कहा जाता है वहीं कॉलर रॉट में भूमि के पास से तने की ऊपरी छाल गलने लगती है तथा पौधा सूख जाता है।	बाग में पानी का निकास अच्छा होना चाहिये। रोग दिखाई देते ही रोगग्रस्त भाग को पूरी तरह हटाकर कॉपरआक्सीक्लोराइड 0.3 प्रतिशत का लेप या छिड़काव कर देवें। बोर्डो मिश्रण (5:5:50) तने के आधार के चारों ओर भूमि में डालने व तने पर छिड़काव करने से रोग का प्रसार घट जाता है। नर्सरी में पौध को रोग से बचाने के लिये मिट्टी को 3 ग्राम ताम्रयुक्त कवकनाशी प्रति लीटर पानी की दर के घोल से तर कर देवें और बीजों को थाइरम 3 ग्राम प्रति किलोग्राम बीज की दर से उपचारित कर बोयें।
4	तना या पद विगलन रोग (स्टेम या फुट रॉट) कवक (*Phytophthora palmivora*)	पेड़ों की छाल फट जाती है व शहद के छत्तेनुमा दिखाई देती है। ऐसे पेड़ गिर जाते हैं।	
5	पर्णकुंचन (लीफ कर्ल) व मोजेक (रिंग स्पोट)	पर्णकुंचन रोग से पत्तियाँ आकार में छोटी, कुंचित, विकृत व सिकुड़न लिये मोटी शिराओं वाली उल्टे प्याले के रूप में नीचे की तरफ एवं भीतर की ओर मुड़ जाती हैं। मोजेक रोग से नई पत्तियों पर चितकबरापन व सिकुड़न सबसे पहले दिखाई पड़ता है। फल छोटे विकृत वाले होते हैं।	कीटनाशी डाइमिथोएट 30 ईसी 1 मिलीलीटर/लीटर या इमिडाक्लोरप्रिड 1 मिलीलीटर प्रति 3 लीटर पानी के हिसाब से घोलकर 15 दिन के अन्तर पर छिड़काव करें। इन दवाओं का प्रयोग फल लगने से पहले ही करना चाहिये। फल लगने के बाद स्पनाइनोसाइड आधा मिली प्रति लीटर की दर से छिड़कना चाहिए। पपीते के बाग के आसपास कद्दू, लौकी, ककड़ी, बैंगन, मिर्च, टमाटर व आलू नहीं उगायें।

बेर (BER)

वानस्पतिक नाम (Botanical name) : जिजिफस मोरीसियाना लेम्क. (*Ziziphus mauritiana* Lamk.)

कुल (Family) : रैहमनेसी (Rhamnaceae)

गुणसूत्र संख्या (Chromosome no.) : 2n = 4x = 48

खाये जाने वाला भाग (Edible part) : बाह्य व मध्य फल भित्ती (Peri-Mesocarp)

उद्‌गम स्थल (Centre of origin): इण्डो–चाइना (Indo-china)

फल प्रकार (Fruit type) : अष्ठिल (Drupe)

बेर के फलों का प्रयोग ताजे फलों के रूप में सुखाकर छुआरों के रूप में, शर्बत, जैम, मुरब्बा, केण्डी, चटनी एवं अचार बनाकर किया जाता है। बेर के फल विटामिन सी (150 मिग्रा. प्रति 100 ग्राम), ए व बी कॉम्पलेक्स से भरपूर होते हैं इस पोषण के कारण अन्य फलों की तुलना में इसको बहुत ही कम पानी की आवश्यकता होती है। जलवायु भिन्नता के कारण उत्तरी भारत में ग्रीष्म ऋतु (मई–जून) में बेर के पत्ते झड़ जाते हैं और पौधे सुषुप्तावस्था में चले जाते हैं जबकि दक्षिण भारत में सम जलवायु होने के कारण पूरे वर्ष भर पौध वृद्धि होती रहती है। इसकी खेती क्षारीय तथा लवणीय भूमि में भी कर सकते है किन्तु बलुई दोमट भूमि जिसमें जीवांश की मात्रा अधिक हो इसकी खेती के लिये उपयुक्त रहती है। बेर मृदा की उच्च लवणता (21 ई.एस.पी.) को भी सहन करने में सक्षम है।

उन्नत किस्में (Improved varieties) सारणी 10.11 देखें।

प्रवर्धन (Propagation) -

बेर का प्रवर्धन कलिकायन द्वारा किया जाता है। उमरान व गोला किस्म के लिए देशी बोरड़ी (जीजीफस रोटेन्डीफोलिया) मूलवृन्त अति उपयोगी पाया गया है। स्वस्थानिक (इन सूटू) विधि में मूलवृन्त सीधे बाग में रेखांकन के अनुसार लगाये जाते हैं जिन पर अगले वर्ष पैबंद चढ़ाते हैं।

पौधे लगाने की विधि (Planting method)

मई जून माह में 1×1×1 मीटर आकर के गड्ढे 6 से 8 मीटर की दूरी पर खोद लेते हैं फिर इन गड्ढों को खुला छोड़ देते है बाद में इनमें सारणी 10.12 के अनुसार खाद व उर्वरक प्रति गड्ढा देते हैं।

खाद उर्वरक एवं दवा को खोदी हुई मिट्टी के साथ अच्छी तरह मिला देते है और फिर इस मिट्टी को गड्ढें में भर देते है। कलिकायित पौधों को थावलों के बीच लगाने के बाद सिंचाई कर देते हैं। इसकी रोपाई का उपयुक्त समय वर्षा ऋतु है।

सारणी 10.11 : बेर की उन्नत किस्में एवं पकने का समय

फसल	उन्नत किस्में	फल पकने का समय
अगेती	गोला, थार सेविका व थार भुवराज	जनवरी का प्रथम सप्ताह
मध्यम	सेब, मूण्डिया, जोगिया, कैथली व चौमूलोकल	जनवरी का अन्तिम सप्ताह
पछेती	उमरान	फरवरी अन्तिम सप्ताह से मार्च प्रथम सप्ताह

मान के कारण इसे गरीबों का सेब (poor men's apple) कहते हैं। इसके अतिरिक्त बेर के पौधे का लाख के कीड़ों को पालने में और इसके पत्तों का प्रयोग पशुओं के चारे के रूप में किया जाता है। बेर की पत्तियों में 5.6 प्रतिशत पाच्य प्रोटीन और 49.7 प्रतिशत कुल पाच्य पोषक तत्व पाया जाता है।

जलवायु एवं भूमि (Climate & soil)

बेर शुष्क एवं अर्ध शुष्क जलवायु की अलग–अलग दशाओं में सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। मूसला जड़ होने

खाद एवं उर्वरक (Manure & fertilizer)

प्रति पौधा खाद एवं उर्वरक निम्न दर्शायी गयी तालिका 10.13 के अनुसार डालें:–

यूरिया की आधी मात्रा और सुपर फॉस्फेट एवं म्यूरेट ऑफ पोटाश की पूरी मात्रा जुलाई एवं बाकी बची हुई यूरिया की आधी मात्रा नवम्बर माह में देनी चाहिये। खाद व उर्वरक देने के तुरन्त बाद सिंचाई कर देनी चाहिये।

सारणी 10.12 : खाद, उर्वरक एवं रसायन

अच्छी सड़ी हुई गोबर की खाद	20 से 25 किग्रा
सुपर फॉस्फेट	1 से 1.5 किग्रा
क्यूनालफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण	50 से 100 ग्राम

सारणी 10.13 : खाद एवं उर्वरक

पेड़ों की आयु वर्ष में	मात्रा किलोग्राम प्रति पेड़			
	गोबर की खाद	यूरिया	सुपर फॉस्फेट	म्यूरेट ऑफ पोटाश
1	10	0.22	0.35	0.08
2	20	0.44	0.70	0.16
3	20	1.10	1.40	0.20
4	25	1.20	1.75	0.25
5 वर्ष और उसके बाद	30	1.20	1.75	0.25

सिंचाई एवं अन्तराशस्य (Irrigation & interculture)

बेर के पौधों में कम पानी की आवश्यकता होती है। साधारण तौर पर फूल आने से पूर्व फल बनने की अवस्था पर 15 से 20 दिन अन्तराल पर 2–3 बार सिंचाई करना लाभप्रद होता है। मार्च–अप्रैल में पौधों को पानी देना फल परिपक्वता में देरी करता है। आरम्भ के तीन वर्षों तक बाग मे कूष्माण्ड कुल की सब्जियाँ के अतिरिक्त सभी प्रकार की सब्जियाँ जैसे मटर, ग्वार, चौला, मिर्च, बैंगन आदि ली जा सकती है। खरपतवार नियंत्रण हेतु डाईयूरोन (अंकुरण से पहले) तथा ग्लाईफोसेट (अंकुरण के बाद) 2 किलो प्रति हैक्टेयर के हिसाब से दे सकते हैं।

संधाई व कटाई–छँटाई (Training & pruning)

प्रारम्भिक दो या तीन साल तक पौधे को सशक्त रूप और उचित आकार देने के लिये पौधे के मुख्य तने पर 4 से 5 प्राथमिक शाखाएँ हर दिशा में रहने देते हैं। पहली शाखा को जमीन की सतह से 30 सेमी. ऊपर रखते हैं। इसके बाद प्रत्येक शाखा के बीच में करीब 15 से 30 सेमी. की दूरी रखते हैं। बेर में प्रति वर्ष कृन्तन करना चाहिये क्योंकि इसकी पत्तियों के कक्ष से जो नये प्ररोह निकलते हैं उन्ही पर फूल एवं फल लगते हैं। मई में गर्मी प्रारम्भ होने पर पौधे सुषुप्तावस्था में प्रवेश कर जाते हैं तब इनकी कटाई–छँटाई (15 अप्रैल से 15 मई) कर देनी चाहिये जिससे ज्यादा नये प्ररोह निकलें और उन पर अधिक फल लगें। कृन्तन करते समय अनचाही रोगग्रस्त सूखी टहनियों और आपस में रगड़ खाती हुई टहनियों को हटा देना चाहिये। बेर में 6–द्वितीयक शाखाएँ (सेकेण्ड्रीज) स्तर तक या गत वर्ष की 25 प्रतिशत शाखाओं को हर वर्ष काटें।

पौध संरक्षण (Plant protection)

फसल को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कीटों व व्याधियाँ मे निम्नलिखित प्रमुख हैं – सारणी 10.14

तुड़ाई एवं उपज (Harvesting & yield)

बेर के फल फूल आने के 150–175 दिन के बाद परिपक्व

सारणी 10.14 : कीट एवं व्याधियाँ

क्र.स.	कीट / व्याधि	विवरण	प्रबंधन
1	कीट–फल मक्खी (*Carpomya vesuviana*)	जब फल छोटे व हरे रहते है तब इस कीट का आक्रमण शुरू होता है। छोटे फल इसके प्रभाव में काणें हो जाते हैं लेकिन बड़े फलों के आकार में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है।	समन्वित कीट नियंत्रण विधि में बेर के थावलों में मिट्टी खोदकर उनमें प्रति थावला 50 से 100 ग्राम क्यूनालफॉस 1 .5 प्रतिशत चूर्ण मिलावें साथ ही जब बेर मटर के दाने जैसा हो जाये तो तीन छिड़काव क्यूनालफॉस (25 ई सी) 2 मिलीलीटर या स्पाइनासेड (45एस.सी.)0.5 मिली. प्रति लीटर दवाई का घोल बनाकर 15–15 दिन के अन्तराल पर करने से बेर के बगीचों में पूर्ण कीट नियंत्रण किया जा सकता है।
2	चैफर बीटल (*Adoretus* sp.)	प्रकोप जून–जुलाई में अधिक होता है। यह पेड़ों की नई पत्तियों एवं प्ररोहों को खाता है।	
3	व्याधि– छाछ्या रोग (*Oidium erysiphoides F.sp. Ziziphi*)	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें	
4	ऑल्टरनेरिया फल सड़न (*Alternaria sp.*)	फलों में फलवृन्त के निकट गहरे भूरे रंग के धब्बे दिखाई देते हैं। रोग ग्रसित फल शीघ्र ही टूट कर गिर जाते हैं।	इसके नियंत्रण के लिए जिनेव या डायथेन एम–45 नामक कवकनाशी के 0.2 प्रतिशत घोल का छिड़काव लक्षण दिखाई देते ही करना चाहिए।

होते हैं। यद्यपि फलों की परिपक्वता उस क्षेत्र की जलवायु एवं किस्मों पर निर्भर करती है फिर भी फलों के रंग बदलने की अवस्था पर (तुड़ाई के एक सप्ताह पहले) 750 पी.पी.एम. इथेफोन के छिड़काव से उसमें अग्रिम परिपक्वता लायी जा सकती है। पके हुए फलों की तुड़ाई कई बार में की जाती है। सामान्यतः फलों की तुड़ाई प्रातःकाल में करनी चाहिए।

बेर के एक पूर्ण विकसित पौधे से 40–200 किलोग्राम फल उपज प्राप्त होती है। वर्षा पर आधारित बाग के पाँच वर्ष के पेड़ से औसतन 40–50 किलोग्राम फल उपज प्राप्त होती है जबकि सिंचित बाग से प्रति पेड़ औसत फल उपज असिंचित पौधों की तुलना में 3–4 गुना (100–200 कि.ग्रा. प्रति वृक्ष) अधिक होती है। बेर के पौधों में तीसरे वर्ष फलन प्रारम्भ हो पाता है परन्तु व्यवसायिक फल उपज पाँचवें वर्ष से आरम्भ हो जाती है। बेर के फलों को साधारण भण्डार में 4–5 दिन तक रखा जा सकता है परन्तु प्रीकूलिंग (10 डिग्री से.) कर फलों को 0–3 डिग्री सेल्सियस तापक्रम एवं 85–90 प्रतिशत आपेक्षिक आर्द्रता पर फलों को लम्बे समय तक ताजा रखा जा सकता है।

अंगूर (GRAPES)

वानस्पतिक नाम (Botanical name) :
विटिस विनिफेरा मिचस.
(*Vitis vinifera* Michse.)
कुल (Family) : विटेसी (Vitaceae)
गुणसूत्र संख्या (Chromosome no.) : 2n = 2x = 40
उद्‌गम स्थल (Centre of origin) :
आर्मेनिया (एशिया माइनर के पास)
फल प्रकार (Fruit type) : सरस (Berry)
खाये जाने वाला भाग (Edible part) : फल भित्ती व प्लेसेन्टा (Pericarp & Placentae)

अंगूर एक बहुत ही स्वादिष्ट एवं पौष्टिक फल है। इसमें ग्लूकोज (8–13%) व फ्रूक्टोज (7–21%) नामक शर्करा, खनिज लवण एवं विटामिन 'बी' प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इसकी खेती शराब बनाने, ताजा फल खाने तथा सुखाकर किशमिश और मुनक्का बनाने के लिये की जाती है। अंगूर की उत्पादकता में भारतवर्ष का विश्व में प्रथम स्थान है। भारतवर्ष में उगायी जाने वाली अधिकतर जातियाँ ताजा फलों के रूप में प्रयोग में ली जाती हैं।

जलवायु एवं भूमि (Climate & soil)

अंगूर की सफल खेती के लिये गर्मियों में अधिक गर्मी, सर्दियों में अधिक सर्दी लेकिन पाला रहित तथा पकने के समय वर्षा रहित मौसम उपयुक्त रहता है। पुष्पन के समय वर्षा होने पर फल कम बनते हैं। फलों के पकते समय वर्षा हो जाने से फलों की गुणवत्ता घट जाती है। अंगूर विभिन्न प्रकार की भूमि में पैदा किया जा सकता है परंतु इसके लिये जल निकास युक्त हल्की दोमट भूमि सर्वश्रेष्ठ रहती है। भूमि का pH मान 6.5–7.5 खेती हेतु उपयुक्त रहता है। मृदा में चूने की अधिकता को यह सहन नहीं कर पाता है। क्षारीय भूमि में अंगूर की खेती के लिए क्षार प्रतिरोधी मूलवृन्त जैसे साल्ट क्रीक, टेलकी–5ए, डॉगरिज, 1616 तथा 1613 का उपयोग करना चाहिए।

उन्नत किस्में (Improved varieties)

अंगूर की किस्मों को केनिग (डिब्बाबंदी) रसदार, किशमिश, खाने योग्य एवं शराब बनाने में उपयोगिता के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। इसकी मुख्य किस्में निम्न प्रकार से हैं :–

रसदार : चेम्पियन, अनाब–ए–शाही, बैंगलोर ब्लू, कोनकोर्ड, बैंगलोर परपल, अर्ली मस्कट, काली साहेबी, ब्यूटी सीडलेस, पर्ल ऑफ कसाबा, डीलाइट।

किशमिश के लिए : ताजा अंगूर को सुखाकर उसे 17 प्रतिशत नमी तक लाकर किशमिश बनायी जाती है। किशमिश बनाने में प्रयुक्त किस्मों का मिठास मान 20–22 डिग्री ब्रिक्स (TSS) रखते हैं। ब्यूटी सीडलेस, पूसा सीडलेस, थॉम्पसन सीडलेस (इसके क्लोन प्रमुखतः ताश–ए–गणेश, सोनाका, मनिक चमन), किशमिश चार्नी, शरद सीडलेस (किशमिश चार्नी का उत्परिवर्तन), सुल्तानिया।

केनिंग (डिब्बा बंदी) : थॉम्पसन सीडलेस, पूसा सीडलेस, परलेट, ब्लैक चम्पा, पर्ल ऑफ कसाबा,

मुनक्का के लिएः अनाब–ए–शाही, गुलाबी, दिलखुश (अनाब–ए–शाही का क्लोन)

खाने योग्य (Table Varieties) : रसदार किस्मों की तरह मिठास मान 12–20 डिग्री ब्रिक्स होना चाहिए। डीलाइट, परलेट, न्यू परलेट, मसकट ऑफ हेम्बर्ग, भोकरी, कार्डिनल, अनाब–ए–शाही, ब्लेक मस्कट, अर्ली मस्कट, फ्लेम सीडलेस,

ब्यूटी सीडलेस, रेड ग्लोब (बड़े आकार के फल)

शराब के लिए : इस हेतु मिठास मान 24 डिग्री ब्रिक्स से अधिक होना चाहिए किस्में– चैम्पियन, अनाब–ए–शाही, थोम्पसन सीडलेस, पूसा सीडलेस, बैंगलोर परपल, ब्यूटी सीडलेस, हिमरोड, अर्का श्याम, अर्का कंचन, चीमा साहेबी, रूबी रेड, रेड प्रिन्स, मेडेलिन एन्जेविन, भोकरी।

भारतीय बागवानी अनुसंधान संस्थान, बैंगलोर द्वारा 1980 में अंगूर की चार संकर किस्मों जैसे : अर्कावती, अर्का कंचन, अर्का हन्स एवं अर्का श्याम का विकास किया गया है।

भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली द्वारा पूसा सीडलेस (चयन विधि द्वारा) पूसा नवरंग (मेडेलिन अनजीवाइन ×रूबीरेड) एवं पूसा उर्वशी (हूर × ब्यूटी सीडलेस) विकसित की गई हैं।

प्रवर्धन (Propagation)

अंगूर के प्रर्वधन का सबसे उत्तम तरीका कलम द्वारा है। कलम बनाने का उत्तम समय जनवरी माह है। कलम लगभग 30 सेमी. लम्बी तथा मध्यम मोटाई की छाँटनी चाहिये।

पौधे लगाने की विधि (Planting method)

पौध लगाने का सबसे अच्छा समय जनवरी–फरवरी माह है। अंगूर साधारणतया आयताकार या वर्गाकार विधि से लगाया जाता है। पौधे से पौधे व कतार से कतार की दूरी वहाँ की जलवायु, भूमि की किस्म व पौधे की किस्म पर निर्भर करती है। पौधों को साधारणतया 2.5 से 3 मीटर के दूरी पर लगाया जाना ज्यादा अच्छा रहता है। जिस खेत में अंगूर के पौधे लगाने हो, वहाँ पौधे लगाने के समय से कुछ दिन पूर्व 1×1×1 मीटर आकार के गड्ढे खोदकर कुछ दिन के लिये खुला छोड़ देना चाहिये। इसके बाद प्रत्येक गड्ढे में 25 किलो गोबर की सड़ी हुई खाद तथा आधा किलोग्राम सुपर फॉस्फेट एवं 50 से 100ग्राम क्यूनॉलफॉस 1.5 प्रतिशत देना चाहिये।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer)

अंगूर के पौधों को निम्न तालिका 10.15 के अनुसार खाद एवं उर्वरक देवें।

खाद व उर्वरक की मात्रा देते समय ध्यान रखना चाहिये कि देशी खाद कटाई छँटाई के तुरन्त बाद दी जाये एवं यूरिया की आधी मात्रा तथा फॉस्फोरस व म्यूरेट ऑफ पोटाश की पूरी मात्रा देशी खाद के साथ ही मिट्टी में मिला दी जाये। सुपर फॉस्फेट खाद गहरी खुदाई करने के बाद देनी चाहिये। यूरिया की आधी मात्रा अप्रैल माह में फल बनने पर देनी चाहिए।

सारणी 10.15 : खाद एवं उर्वरक

	मात्रा किलोग्राम प्रति पौधा में			
आयु वर्षों में	देशी खाद	यूरिया	सुपर फॉस्फेट	म्यूरेट ऑफ पोटाश
1	20	0.20	0.25	-
2	40	0.40	0.50	-
3	50	0.60	1.00	0.20
4	60	0.80	1.50	0.40
5 और उसके बाद	70	1.00	2.00	0.40

सिंचाई एवं निराई गुड़ाई (Irrigation & interculture)

अंगूर की खेती में सिंचाई की मात्रा, जलवायु, भूमि तथा बेलों की आयु पर निर्भर करती है। अंगूर की उपयुक्त उपज लेने के लिये यह आवश्यक है कि समय समय पर उसकी सिंचाई की जाये। सिंचाई का विशेष महत्व कटाई–छँटाई के बाद से फलों के पकने तक है। इसके बाद इसकी सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसलिये कटाई–छँटाई के बाद व खाद देने के तुरन्त बाद सिंचाई कर देनी चाहिये। फल तोड़ने से एक सप्ताह पूर्व सिंचाई बंद कर दे इससे फलों की मिठास बढ़ जाती है। सिंचाई के बाद निराई गुड़ाई करना तथा खरपतवारों को निकालते रहना बहुत आवश्यक है लेकिन खरपतवारों को नष्ट करने के लिए 2, 4–डी का प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिये।

संधाई व काट–छाँट (Training & pruning)

पौधों का आकार सुनियोजित करने के लिये तथा उनसे अधिकतम आय प्राप्त करने के लिये उनकी ट्रेनिंग बहुत जरूरी है। इसके लिये बेलों/शाखाओं की समय से कटाई–छँटाई कर उनको एक निश्चित आकार में विकसित किया जाता है।

इसके लिये जैसे–जैसे पौधा बढ़े तथा उस पर पार्श्व शाखाएँ पैदा हो, उन्हें बढ़ने न दिया जाये जिससे पौधा पहले केवल लम्बाई में ही बढ़ सके। इसके बाद प्रत्येक पौधे के साथ 15 से 20 सेमी. की दूरी पर एक तीन मीटर लम्बा बांस गाड़ देना चाहिये जिसके सहारे बेल चढ़ सके। बांस के निचले हिस्से पर एक फुट डामर पोत देना चाहिये ताकि दीमक न लगे।

अंगूर के पौधों की ट्रेनिंग निम्नलिखित विधियों से की जा सकती है।

1. शीर्ष विधि : इस विधि से सधी हुई लता झाड़ीदार होती है जिसका तना 75–90 सेमी. ऊँचा तथा सीधा होता है। इस तने के शीर्ष पर 5–6 छोटी छोटी शाखाएँ फैलती हैं। शुरू के कुछ वर्षो में लता को एक सहारे की आवश्यकता होती है। लेकिन जब चार पाँच वर्षों में तना काफी मजबूत हो जाता है। तो फिर सहारे की आवश्यकता नहीं होती है। इन मुख्य शाखाओं पर निकले कल्ले जब एक वर्ष पुराने हो जाये तो जाड़े के दिनों में उन्हें दो तीन गाँठों पर काट दिया जाता है। इनके ऊपर मार्च के

महीने में कल्ले निकलते हैं जिन पर फूलों का गुच्छा निकलता है। यह विधि कम बढ़ने वाली किस्में जैसे ब्यूटी सीडलेस, परलेट के लिये उपयुक्त है।

2. निफिन विधि : यह विधि विलियम निफिन द्वारा न्यूयार्क में 1850 में विकसित की गई, जिसमें लोहे या लकड़ी के खम्बे के सहारे दो तार भूमि में क्रमशः 1.05 व 1.65 मीटर की ऊंचाई पर एक छोर से दूसरे छोर तक बाँध दिये जाते है। खम्भों की दूरी 4.8 मीटर रखनी चाहिये। लता को भूमि से 1.65 मीटर की ऊँचाई से काट दिया जाता है तथा तारों के साथ दोनों दिशाओं में स्थाई रूप से बगल की चार शाखाएँ विकसित की जाती है। इन शाखाओं पर फैलने वाले केन (एक वर्ष पुरानी परिपक्व शाखा) अच्छी तरह से विकसित किये जाते हैं। इन केनों के फैलने के लिये 7–12 गाँठों तथा दलपुट बनाने के लिये 1 से 2 गाँठों पर काटा जाता है। मध्यम ओजस्वी किस्में जैसे थॉम्पसन सीडलेस, परलेट के लिये यह विधि उपयुक्त है।

3. टेलीफोन विधि : इस विधि में 3.5 से 4.8 मीटर की दूरी पर खम्भे गाड़े जाते है इन खम्भें के ऊपरी भाग पर 1.2 मीटर लम्बी भुजाये होती हैं। प्रत्येक भुजा में तीन छेद बने होते हैं तथा इन छेदों में से तीन तार कतारों में बाँधे जाते हैं। लता को 1.8 मीटर की ऊँचाई पर काट दिया जाता है तथा 5 से 6 शाखाएँ अच्छी प्रकार से फैलायी जाती है। इस तरह साधी गयी शाखाओं की काट–छाँट निफिन विधि की तरह करते हैं। यह विधि भी मध्यम ओजस्वी किस्में जैसे परलेट, थॉम्पसन सीडलेस के लिये उपयुक्त है।

4. पंडाल विधि : इस विधि को परगोला, बावर व आरबोर के नाम से भी जानते हैं, इस विधि में 4.5 से 6 मीटर की दूरी पर 1.95 से 2.10 मीटर ऊँचे खम्बे गाड़ दिये जाते हैं। इन्हीं खम्बों से तार खड़े व आड़े दोनों तरह से 45 से 60 सेमी की दूरी पर खींचे जाते हैं। लताओं को इसी जाली के ऊपर साधा जाता है एवं मुख्य लता को 7 फुट तक बढ़ने दिया जाता है। इसके पश्चात् दो प्राथमिक शाखाएँ प्रत्येक 4 फुट तक बढ़ने दे, फिर काट दें। प्रत्येक प्राथमिक शाखा पर 16 से 20 तक द्वितीय शाखायें रखते है। इसके पश्चात् तृतीय शाखाओं का प्रति वर्ष कृन्तन करते हैं।

कृन्तन (Pruning)

अंगूर की बेलें उत्तरी भारत में सर्दी के मौसम में सुषुप्त रहती हैं। अतः बेलों की कटाई–छँटाई का समय इसी सुषुप्तावस्था में अर्थात जनवरी माह है। कटाई–छँटाई ना करने पर उपज में कमी आ जाती है। इसलिये फलों को व्यवस्थित, आकार में रखने और अच्छी पैदावार लेने के लिये कटाई–छँटाई करना अति आवश्यक है। दक्षिण भारत में साल में दो बार प्रूनिंग करते हैं पहली सर्द मौसम के आरम्भ में (अक्टूबर–नवम्बर) जिसे फारवार्ड प्रूनिंग कहते हैं तथा दूसरी अप्रैल माह में करते हैं उसे बैक या फाउण्डेशन प्रूनिंग कहते हैं। कटाई–छँटाई करने के लिए निम्न बातों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

किस्म के अनुसार तृतीय शाखाओं पर जो कि एक वर्ष पुरानी होती है, उनके करीब 60 प्रतिशत केन पर कलिकाओं की संख्या परलेट में 4–5 व थॉम्पसन सीडलेस, ब्यूटी सीडलेस में 5–8 रखनी चाहिये तथा शेष 40 प्रतिशत केन पर 2 कलिकायें रखे।

कमजोर, सूखी एवं रोगग्रस्त शाखाओं को काट देना चाहिये।

जितनी कलियाँ शाखा पर रखनी हो उसके बाद अन्तिम कलिका से आगे आधा इंच तना छोड़कर काटना चाहिये।

कटाई–छँटाई करते समय तने की उखड़ी हुई छाल को हटाकर ताम्र युक्त फफूंद नाशक (ब्लाईटॉक्स 50 या ब्ल्यूकॉपर आदि) का लेप बनाकर लगा दें।

समय समय पर तने के बंधन को ढीला करते रहे तथा तारों को खींचते रहें।

पौध संरक्षण (Plant protection)

फसल को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कीट–नाशीजीव व व्याधियों में निम्नलिखित प्रमुख हैं – सारणी 10.16

दैहिक विकार (Physiological disorders)

कलियों, फूलों एवं फलों का गिरना (Buds, flowers and fruits drop) : मुख्यतःइन ही समस्याओं जिसमें अंगूर के गुच्छे में उपस्थित फल या तो छोटा रह जाता है या सामान्य आकार प्राप्त नहीं कर पाता जबकि अण्डाशय रहता है इस दशा को मिलारेन्डेज (Millerandage) तथा अंगूर के पुष्प गुच्छों का भली प्रकार फल ठहराव न होने को कोल्यूर (Coulure) कहते हैं। तीन अवस्था में यह समस्या देखी जा सकती है –

1. प्रथम अवस्था में गोल्ड, थॉम्पसन सीडलेस तथा किशमिश बेली किस्मों में पुष्प गुच्छों के खिलने से पूर्व अथवा पूर्णतः खिलने के 5 से 7 दिन बाद गिर जाते हैं।
2. द्वितीय अवस्था में अनिषेचित व क्रियात्मक रूप से कमजोर फल लगने के तुरन्त बाद गिरना शुरू हो जाते हैं और यह क्रिया लगातार चलती रहती है।
3. तृतीय अवस्था में ब्यूटी सीडलेस तथा अर्ली मस्कट किस्मों में फल पकते समय गिरना शुरू हो जाते हैं।

फल गिरने के प्रमुख कारणों में अनुचित ढंग से नत्रजन

का उपयोग, कार्बोहाइड्रेट पोषण, अनुचित फूलों के निषेचन, अधिक फलन, फलों का एक समान समय पर न पकना, फलों की अनियमित वृद्धि एवं ऑक्जीन हार्मोन की कमी आदि हैं। इसके निवारण के लिए निम्न उपाय अपनाये जा सकते हैं –

1. नत्रजन उर्वरकों का उचित मात्रा में प्रयोग उचित समय पर करना चाहिए।
2. फूल खिलने से 7–10 दिन पूर्व शाखाओं या मुख्य तने से 0.5 सेमी. चौड़ी छाल उतार दें।
3. पुष्पन की अवधि में सिंचाई रोक देनी चाहिए।
4. फूल खिलने से पहले 0.2 प्रतिशत बोरिक अम्ल का छिड़काव करें।
5. फलों का रंग बदलने की अवस्था में 500 पी.पी.एम. इथेफोन का छिड़काव करें या गुच्छों को इस घोल में डुबोएँ।

शॉट बेरीज (Shot berries) : इस विकार में अंगूर के फल अविकसित, सख्त व खाने में बेस्वाद हो जाते हैं। यह समस्या उत्तरी भारत में परलेट किस्म में अधिक पायी जाती है। इस समस्या को सही काट–छाँट या दानों एवं गुच्छों के विरलीकरण द्वारा कम किया जा सकता है। जब गुच्छों में 50 प्रतिशत फल बन जाएँ उस अवस्था पर इथेफॉन का 25 पीपीएम की घोल में गुच्छों को डुबोकर उपचारित करें।

पिंक बेरी (Pink berry) : यह महाराष्ट्र में थोम्पसन सीडलेस किस्म का एक मुख्य विकार है। इस विकार में अंगूर के गुच्छों में लगे कुछ दानों पर तुड़ाई के पहले अनचाहा गुलाबी रंग आ जाता है तथा यह दाने खाने में अच्छे नहीं लगते हैं। अधिक तापमान की दशाओं में गुलाबी दाने बनने का विकार अधिक होता है।

चिकन व मुर्गी विकार (Hen and chicken disorder) : इस विकार में गुच्छों के आधार पर दानों का विकास पूर्ण एवं सही होता है परन्तु गुच्छे के अग्रिम भाग में दाने पूर्णतः विकसित नहीं होते हैं। इस विकार का मुख्य कारण बोरान सूक्ष्म तत्व की कमी है। इसके नियंत्रण के लिए 0.2 प्रतिशत बोरिक अम्ल के घोल का छिड़काव करना चाहिए।

तुड़ाई एवं उपज (Harvesting & yield) :

फलों का रंग जैसे ही हरे से हल्का पीला या लाल में बदलने लगे तो समझ लेना चाहिये कि फल पकने की स्थिति में आ गये है। इस पकने की अवस्था को वर्जेन (Veraison) कहते हैं। फूल आने के बाद लगभग 3 से 4 माह बाद फल तैयार हो जाते हैं। बीज रहित किस्मों में जिब्रेलिक अम्ल का उपचार उपज की वृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान देता है। इसके लिये 25–50 पी पी एम अम्ल (25 से 50 मिली ग्राम प्रति लीटर पानी) के घोल में, गुच्छों को फल बनने के 10 से 12 दिन बाद डुबोयें। साधारणतया इसकी उपज 10 से 15 किलो प्रति बेल तथा 120–200 क्विंटल प्रति हेक्टेयर प्राप्त होती है। अंगूर के फलों का भण्डारण 0–2 डिग्री सेल्सियस तापमान व 80–85 प्रतिशत आर्द्रता पर 6–8 सप्ताह तक किया जा सकता है। आजकल ग्रेप गॉर्ड के नाम से (सोडियम मेटा बाई सल्फाइट) से उपचारित कागज का पाउच बॉक्स में पैकिंग के समय रखने से भण्डारण अवधि को साधारण तापमान पर भी 3–4 दिन बढ़ा सकते हैं।

सारणी 10.16 : कीट एवं व्याधियाँ

क्र.स.	कीट–नाशीजीव / व्याधि	विवरण	प्रबंधन
1	कीट–अंगूर का भृंग (पत्ती–बीटल) (Flea beetle - *Scelodonta strigicollis*)	वयस्क चमकीले एवं ताम्र रंग के होते हैं। मादा छाल के नीचे अण्डे देती है। अण्डे से लटें (ग्रब) तथा जड़ों पर निर्वाह करती है। इस कीट की क्रियाशीलता मार्च से नवम्बर तक पाई जाती है। वयस्क कीट नई कली को खाकर काफी नुकसान पहुँचाते है।	केले के बीटल की तरह नियंत्रण करें।
2	चेफर बीटल *(Adoratus sp.)*	कीट रात के समय आक्रमण करता है तथा नरम पत्तियों को खाता है। नई पत्तियों एवं प्ररोहों पर इसका आक्रमण बहुत होता है। वर्षा शुरू होते ही इसका आक्रमण शुरू हो जाता है।	बेर फसल के अनुसार नियंत्रण करें।
3	पर्णजीवी (थ्रिप्स) (*Rhipiphorothrips cruentatus*)	निम्फ व वयस्क दोनों अवस्था में पत्तियाँ व फूलों आदि का रस चूसते हैं। थ्रिप्स के आक्रमण से पत्तियों पर सफेद धब्बे पड़ जाते हैं तथा फल का आकार भी बिगड़ जाता है।	नियंत्रण पपीते के माहु की तरह करें।
4	मिली बग (*Ferrisia virgata)* एवं स्केल *(Macronellicoccus hirsutus)* कीट	अवयस्क (शिशु) प्रायः नवम्बर दिसम्बर में बाहर निकल कर तने के सहार ` चढ़ते हुए वृक्ष की कोमल टहनियों एव फूलों पर एकत्रित हो जाते हैं तथा रस चूस कर नुकसान पहुँचाते है। इसके द्वारा एक तरह का मीठा चिपचिपा पदार्थ छोड़ा जाता है जिससे काला कवक लग जाता है।	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें।
5	नाशीजीव– मूल ग्रन्थी (सूत्र कृमि) अंगूर डेगर सूत्रकृमि (जिम्फिनिमा), मूल ग्रंथी सूत्रकृमि व रेनीफार्मड सूत्रकृमि	इसके आक्रमण से जड़े फूलकर गाँठों का रूप धारण कर लेती हैं। इसका प्रकोप हल्की मृदा कण वाली भूमि में ज्यादा होता है। यहाँ डेगर सूत्रकृमि फेन लीफ विषाणु रोग का संचरण करते हैं।	पपीते फसल के अनुसार नियंत्रण करें।
6	व्याधि– छाछ्या (पाउडरी मिल्डयू या चूर्णी फफूंद) :– यह रोग (*Uncinula* necator) कवक से।	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें।	
7	मृदुरोमिल आसिता (तुलासिता या डाऊनी मिल्डयू): *(Plasmopara viticola)* नामक कवक	प्रभावित पत्तियों की ऊपरी स तह पर अनियमित हल्के पीले से गहरे भूरे रंग धब्बे दिखाई पड़ते है जिनकी निचली सतह पर कवक की वृद्धि मिलती है।	नियंत्रण हेतु गिरी हुई टहनियों को नष्ट कर देना चाहिये। जाइनेब या मेनकोजेब 2 ग्राम अथवा ताम्रयुक्त कवकनाशी 3 ग्राम प्रति लीटर पानी के हिसाब से घोल बनाकर छिड़काव करने चाहिए।
8	एन्थ्रेक्नोज (श्यामवर्ण) (*Elsinoe ampelina*) नामक कवक	रोग के प्रभाव से लताओं के तनों, शाखाओं, पत्तियों व फलों पर भूरे रंग के धब्बे बनते है जो आकार में बड़े होने पर स्लेटी रंग के हो जाते हैं	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें।

आँवला (AONLA)

वानस्पतिक नाम (Botanical name) :
इम्बलिका ऑफिसिनेलिस गर्टन.
(Emblica officinalis Gaertn.)
कुल (Family) : यूफोरबिएसी *(Euphorbiaceae)*
गुणसूत्र संख्या (Chromosome no.) : 2n = 2x = 28
खाये जाने वाला भाग (Edible part) :
फल भित्ती (Pericarp)
उद्‌गम स्थल (Centre of origin) : भारत
फल का प्रकार (Fruit type) : सरस (Berry)

आँवला बहुत ही पौष्टिक फल है और इसमें विटामिन 'सी' (600मिग्रा/100 ग्राम गूदे) प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इसका उपयोग अधिकतर मुरब्बा एवं चटनी के रूप में किया जाता है। आंवले के फलों का स्वाद अम्लीय तथा कसेलापन लिये हुए होता है आयुर्वेदिक चिकित्सा–प्रणाली में आँवले का प्रयोग अनेक प्रकार की दवाएँ जैसे च्यवनप्राश, त्रिफला, आरोग्य वर्धनी इत्यादि के निर्माण में किया जाता है। हमारे देश में मुख्य रूप से आँवले का उत्पादन उत्तर प्रदेश में होता है। उत्तर प्रदेश राज्य का प्रतापगढ़ जिला पूरे भारतवर्ष में आँवला उत्पादन हेतु प्रसिद्ध है।

जलवायु एवं भूमि (Climate & soil)

यह उष्ण से उपोष्ण जलवायु में बहुत अच्छी तरह पनपता है, आँवले के परिपक्व पौधों को पाले से अत्यधिक हानि होती है एवं ऐसे पौधों पर उच्च तापमान का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गर्म जलवायु फूल आने में सहायक होती है। इसके पौधे अधिक सहिष्णु होने के कारण विभिन्न प्रकार की मिट्टी में उगाये जा सकते है। इसके लिये करीब 2 मीटर गहरी भूमि की आवश्यकता होती है। इसके लिये गहरी दोमट भूमि जिसमें उचित जल निकास प्रबन्धन हो, सर्वोत्तम है। क्षारीय भूमियों में (7.0 से 9.0 पी.एच. विद्युत चालकता 9.0 मिली म्होज प्रति सेमी. एवं विनिमयशील सोडियम (ESP) 35–40 प्रतिशत) भी आँवले की खेती की जा सकती है।

उन्नत किस्में (Improved varieties)

भारत में आँवलें की उन्नत किस्मों के परिपक्वन समय के आधार पर वर्गीकृत कर सकते हैं। जैसे:–

1. **अगेंती किस्में (मध्य अक्टूबर से मध्य नवम्बर)**– बनारसी, नरेन्द्र आँवला–9 (एन.ए.–9), बलवन्त, गोमा ऐश्वर्या
2. **मध्यम किस्में (मध्य नवम्बर से मध्य दिसम्बर)**– फ्रेन्सिस(हाथीझूल),नीलम(एन.ए.–7),कंचन(एन.ए.–4), कृष्णा (एन.ए.–5), अमृत (एन.ए.–6), आनन्द–1, आनन्द–2, आनन्द–3 आदि।
3. **पछेती (मध्य दिसम्बर से मध्य जनवरी)** – चकैया, भावनी सागर (बी.एस.आर.1), लक्ष्मी–52,

प्रवर्धन (Propagation)

इसका प्रवर्धन पैच कलिकायन विधि द्वारा किया जाता है। पुराने वृक्षों का शिखर रोपण (Top working) भी किया जा सकता है।इससे निम्न कोटि के बीजू पेड़ उच्च किस्म में परिवर्तित किये जा सकते हैं।

पौधे लगाने की विधि (Planting method)

इसके पौधों को 8×8 मीटर की दूरी पर जून–जुलाई के महीने में पहले से तैयार किये गये गड्ढों में लगाया जाता है। सिंचाई के लिए पानी की सुविधा होने पर पौधे फरवरी–मार्च में भी लगाये जा सकते है। पेड़ लगाने के लिए 1×1×1 मीटर आकार का गड्ढा निश्चित दूरी पर खोदा जाता है। इन गड्ढों में 20 से 25 किग्रा. गोबर की सड़ी खाद तथा 1 किलो सुपर फॉस्फेट, 50 से 100 ग्राम क्यूनॉलफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण प्रति गड्ढे के हिसाब से मिलाकर गड्ढों को भरकर पौधा लगाया जाता है।

सारणी 10.17 : खाद एवं उर्वरक

पेड़ों की आयु वर्ष में	मात्रा किलोग्राम प्रति पेड़			
	गोबर की खाद	यूरिया	सुपर फॉस्फेट	म्यूरेट ऑफ पोटाश
1	10	0.22	0.35	0.125
2	20	0.44	0.70	0.250
3	30	0.66	1.05	0.375
4	40	0.88	1.40	0.375
5 और उसके बाद	50	1.10	1.75	0.375

खाद एवं उर्वरक (Manure & fertilizer)

आँवले के पौधे को निम्न तालिका 10.17 के अनुसार खाद एव उर्वरक देना चाहिये:

जनवरी –फरवरी के महीने में पेड़ के चारों तरफ फैलाव में नाली बनाकर खाद एवं उर्वरक देना चाहिये। गोबर की खाद, सुपर फॉस्फेट, म्यूरेट ऑफ पोटाश की मात्रा तथा यूरिया की आधी मात्रा जनवरी–फरवरी में दें तथा यूरिया की शेष मात्रा अगस्त में देना लाभदायक है। इसके अतिरिक्त बोरेक्स 0.6 प्रतिशत घोल का छिड़काव फूल लगने की क्रिया को तेज करता है तथा फलों को झड़ने से बचाता है।

सिंचाई एवं अन्तराशस्य (Irrigation & interculture)

प्रारम्भ के तीन वर्षों में कूष्माण्ड कुल की सब्जियों के अतिरिक्त सभी प्रकार की सब्जियाँ ग्वार, मटर, चौला, मिर्च, बैंगन, प्याज आदि ली जा सकती हैं। आँवला के पौधे को वर्षा एवं सर्द ऋतु में सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती है। मार्च के महिने में जब नई कोपलें निकलने लगे तो सिंचाई करना प्रारम्भ कर देना चाहिये। जून माह तक कुल पन्द्रह दिन के अन्तराल से चार–पाँच सिंचाईयों की आवश्यकता होती है।

फलन (Fruiting)

आंवला में बसंत ऋतु में फूल आते हैं। फूल तीन सप्ताह तक खिलते हैं। फूल निश्चित बढ़वार वाली शाखाओं पर आते हैं। मादा फूल शाखा के ऊपरी सतह पर तथा नर फूल शाखा के निचली सतह पर आते हैं। फूलों में पर–परागण की क्रिया से सेचन होता है। निषेचन के बाद युग्मक सुषुप्तावस्था में चले जाते हैं जिसे युग्मक सुषुप्त भी कहते हैं गर्मी में फलों में किसी भी प्रकार की वृद्धि का आभास नहीं होता है। युग्मक की सुषुप्तावस्था जुलाई–अगस्त में समाप्त हो जाती है। तथा उसके बाद फलों का विकास शुरू हो जाता है। फल नवम्बर–दिसम्बर में परिपक्व हो जाते हैं। आँवलों में स्वयं असंगतता (Self incompatibility) भी देखी गई है। अतः अच्छे फल के लिय परागक किस्म लगाना आवश्यक होता है। चकैया, एन.ए. 6 और कृष्णा किस्म एन.ए.–7 के लिये परागक का कार्य करती है। अच्छे फलन के लिये आँवला के बाग में 5 प्रतिशत परागक किस्म को लगाना चाहिए।

संधाई व काट–छाँट (Training and pruning)

आँवले के पौधों को अच्छा ढांचा देने के लिए प्रथम दो वर्ष तक पौधे को जमीन से लगभग 60–70 सेमी. की ऊँचाई तक अकेले बढ़ने देना चाहिए। इसके बाद दो से चार शाखाएँ विपरीत दिशाओं में निकलने देनी चाहिए। अनावश्यक शाखाओं को शुरू में हटाते रहना चाहिए। इसके बाद चार से छः शाखाओं को चारों दिशाओं में निकलने दें। आँवले में फल आने पर नियमित काट–छाँट की आवश्यकता नहीं होती। सूखी, रोगी, टूटी हुई, कमजोर व एक–दूसरे में फंसी हुई टहनियों को हटाते रहना चाहिए।

पौध संरक्षण (Plant protection)

फसल को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कीटों व व्याधियाँ मे निम्नलिखित प्रमुख हैं – सारणी 10.18

आन्तरिक काला धब्बाः– यह बोरोन की कमी से होता है व फल अन्दर से कालापन लिये हुए होता है। यह विकार दूसरी

सारणी 10.18 : कीट एवं व्याधियाँ

क्र. स.	कीट / व्याधि	विवरण	प्रबंधन
1	कीट–छाल भक्षक कीट (*Inderbela tetraonis*)	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें।	
2	शूट गाल मेकर (Shoot gall maker)	पेड़ की डालियों का अग्रिम भाग एक गाँठ के रूप में फूल जाता है जिसमें काले रंग का कीड़ा पाया जाता है।	गाँठ को तोड़ कर जला देवें तथा क्लोरोपाइरिफॉस 125 मि.ली. प्रति लीटर पानी में घोल कर जून–जुलाई में छिड़काव करें
3	व्याधि–आँवले का रोली रोग (रस्ट) (*Revenelia emblica)*	इसके प्रकोप से अगस्त माह में पत्तियों पर रोली के धब्बे बन जाते हैं। पत्तों पर भूरे धब्बे बनते हैं जो कभी–कभी पूरे फल पर फैल कर काले हो जाते हैं। रोगी फल पकने से पहले ही झड़ जाते हैं जिससे बहुत हानि होती है।	नियंत्रण हेतु 2 ग्राम घुलनशीन गंधक अथवा क्लोरोथेलोनिल 2 ग्राम प्रति लीटर पानी के हिसाब से तीन छिड़काव जुलाई माह से 15 से 30 दिन के अन्तराल से करने पर फलों के रोग का लगभग पूर्ण नियंत्रण हो जाता है।
4	ब्लू मोल्ड (Blue mould) कवक (*Penicillium digitatum, P. citrinum & P. islandicum*)	फलों पर पहले भूरे रंग के जल युक्त चकते दिखाई पड़ते हैं। बाद में पीले, बैंगनी तथा नीले खण्ड में विभाजित हो जाता है। फलों से पीले रंग का तरल पदार्थ निकलता है और दुर्गन्ध आती है।	फलों को बोरेक्स या सोडियम क्लोराईड के घोल में उपचारित कर देने से संग्रहण के दौरान रोग नहीं फैलता। फलों की तुड़ाई उपरान्त 0.2 प्रतिषत बेलीटॉन या टोप्सीन एम से उपचारित करने पर 10 दिन तक इस रोग का नियंत्रण हो जाता है।

किस्मों की अपेक्षा फ्रांसिस किस्म में अधिक होता है। इसके नियंत्रण हेतु 6 ग्राम बोरेक्स प्रति लीटर पानी के हिसाब से छिड़काव प्रथम अप्रैल, द्वितीय जुलाई एवं तृतीय सितम्बर माह में करें।

तुड़ाई एवं उपज (Harvesting & yield)

आँवले का फल नवम्बर–दिसम्बर में पक कर तैयार होता है। परिपक्वता पर आँवले का रंग कुछ सफेदी लिए हुए हरा होता है। आँवले के फलों की तुड़ाई के समय फल जमीन पर न गिरने पाये अन्यथा ऐसे फलों पर काले धब्बे पड़ जाते हैं और बाद में भण्डारण के दौरान ऐसे फलों के सड़ने की सम्भावना रहती है जो दूसरे फलों को भी प्रभावित करते हैं। कलमी आँवले का पेड़ 4 से 5 वर्ष की आयु में फल देने लगता है। फूल मार्च–अप्रैल में आते हैं तथा फल नवम्बर–दिसम्बर में तोड़ने के लायक हो जाते हैं। एक पूर्ण विकसित कलमी आँवले का पेड़ 50–100 किलो फल देता है। आँवले के फलों की भण्डारण अवधि 15 दिनों तक बढ़ाने हेतु 12 डिग्री सेल्सियस तापमान व 90% आपेक्षिक आर्द्रता रखें। पानी में डुबोकर रखे तथा पानी को बदलते रहने से भी भण्डारण अवधि 1–2 सप्ताह तक अच्छी अवस्था में फलों को रख सकते हैं। वहीं नमक के विलयन में रखकर 15 दिन तक फलों को रख सकते हैं।

अनार (POMEGRANATE)

वानस्पतिक नाम (Botanical name) :
प्यूनिका ग्रेनेटम एल. *(Punica granatum* L.*)*

कुल (Family) : पुनिकेसी (Punicaceae)

गुणसूत्र संख्या (Chromosome no.) : 2n = 2x = 18

खाये जाने वाला भाग (Edible part) :
बीज आवरण (Aril)

उद्‌गम स्थल (Centre of origin) : इरान (Iran)

फल का प्रकार (Fruit type) :
बालूस्ता सरस (Balusta berry)

अनार उपोष्ण जलवायु का फल वृक्ष है, यह सूखा सहनशील होने के साथ–साथ कम लागत में अधिक आमदनी देता है। अनार के फल कार्बोहाइड्रेट, कैल्शियम, लौह तत्व, सल्फर के अच्छे स्रोत हैं। इसका प्रयोग खाने एवं रस के रूप में तथा सुखाकर किया जाता है। हमारे देश में इसकी खेती मुख्य रूप से महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, राजस्थान एवं तमिलनाडु में की जाती है।

जलवायु एवं भूमि (Climate & soil)

अनार एक उपोष्ण जलवायु का पौधा है तथा पाला व शुष्कता के प्रति सहिष्णु है। फल विकास एवं पकने के समय गर्म एवं शुष्क जलवायु होने पर उत्तम गुणवत्ता के फल लगते हैं। कम सर्दी वाले क्षेत्रों में यह पर्णपाती होता है जबकि उष्ण एवं उपोष्ण जलवायु में सदाबहार होता है।जल निकास युक्त गहरी, भारी दोमट भूमि इसकी खेती के लिए उपयुक्त रहती है। भूमि की गहराई एक मीटर से कम नहीं होनी चाहिए। अनार के पौधे 6.0 डेसी साइमन्स प्रति मीटर (dSm^{-1}) तक की लवणता तथा 6.78 प्रतिशत विनिमयशील सोडियम (ESP) को सहन कर सकते हैं।

उन्नत किस्में (Improved varieties)

अनार की उन्नत किस्मों में नरमबीज (soft seeded) वाली किस्में जैसें:– गणेश, जालौर सीडलेस, मृदुला, जोधपुर रेड, जी–137 के साथ वर्तमान में गहरे लाल बीजावरण वाली भगवा (सिन्दूरी) किस्म भारत वर्ष में उगाई जा रहीं है।

अन्य किस्में फूले अरक्ता, कन्धारी, मस्कट, ज्योति, जी. के.वी.के.–1, पी–26 सुपर भगवा, वन्डर इत्यादि हैं।

प्रवर्धन (Propagation)

अनार के पौधे कलम एवं गूटी द्वारा तैयार किये जाते हैं। आजकल टिश्यू कल्चर से भी व्यवसायिक स्तर पर पौधे तैयार किये जा रहे है। कलम लगाने के लिये फरवरी माह अधिक उपयुक्त है वहीं गूटी बाँधने का उपयुक्त समय वर्षा ऋतु में होता है।

पौधे लगाने की विधि (Planting method)

पौधे लगाने का अच्छा समय वर्षाकाल है परन्तु सिंचाई का समुचित प्रबन्ध हो तो अनार के पौधे फरवरी मार्च में भी लगाये जा सकते हैं। पौधे लगाने के एक माह पूर्व 5×5 मीटर की दूरी पर 60×60×60 सेमी. आकार के गड्ढे खोद लेने चाहिये। इसको 10–15 दिन खुला रखने के बाद ऊपर की मिट्टी में अच्छी सड़ी हुई 15–20 किलो गोबर की खाद, आधा किलो सुपर फॉस्फेट तथा 50–100 ग्राम क्यूनॉलफॉस 1.5 प्रतिशत चूर्ण मिलाकर गड्ढे को भर देना चाहिये तथा सिंचाई कर देनी चाहिये। वर्षा के शुरू होने पर उनमें पौधे लगा देने चाहिये।

खाद एवं उर्वरक (Manure & fertilizer)

अनार के पौधों को निम्न तालिका 10.19 के अनुसार खाद एवं उर्वरक देवें।

सारणी 10.19 : खाद एवं उर्वरक

आयु वर्षों में	मात्रा किलोग्राम प्रति पौधा में			
	गोबर की खाद	यूरिया	सुपर फॉस्फेट	म्यूरेट ऑफ पोटाश
1	8–10	0.10	0.25	0.50
2	16–20	0.20	0.50	0.50
3	24–30	0.30	0.75	1.00
4	32–40	0.40	1.00	1.50
5 वर्ष और उसके बाद	40–50	0.50	1.25	1.50

देशी खाद सुपरफास्फेट की पूरी मात्रा एवं यूरिया की आधी मात्रा फूल आने के करीब 6 सप्ताह पूर्व देवें। यूरिया की शेष आधी मात्रा फल बनने पर देवें।

सिंचाई एवं अन्तःशस्यन (Irrigation & interculture)

पौधे लगाने के तुरन्त बाद सिंचाई करनी चाहिये। फिर रोपाई के 10–15 दिन तक हर दो तीन दिन बाद पौधों की सिंचाई आवश्यक है। गर्मी के मौसम में सिंचाई 7–10 दिन के अन्तर पर करें एवं सर्दी में आवश्यक हो तो 15–20 दिन के अन्तर पर करनी चाहिये। ड्रिप सिंचाई के तहत (0.8 वाष्पीकरण स्थिरांक के अनुसार) सर्दियों में एक दिन अन्तराल पर (32 से 38 लीटर प्रति दिन की दर पर अक्टूबर से जनवरी तक) तथा गर्मियों में नियमित (55 से 60 लीटर प्रति दिन फरवरी से मई तक पानी दें) बाग को खरपतवार से मुक्त रखने के लिये समय समय पर निराई गुड़ाई करना आवश्यक होता है। सर्दी की ऋतु के अन्त में सूखी एवं रोग ग्रस्त टहनियों को काटकर अलग कर देना चाहिये।

आरम्भ के तीन वर्षों तक बाग में कुष्माण्ड कुल की सब्जियों के अतिरिक्त सभी प्रकार की सब्जियाँ जैसे मटर, ग्वार, चौलाई, मिर्च, बैंगन आदि ली जा सकती हैं।

संधाई व कटाई–छँटाई (Training & Praning)

अनार में संधाई बहुतना विधि अपनाते हुए एक स्थान पर 4 तने रखकर अन्य शाखाओं को हटाते रहें इसके पश्चात छठे साल से इन चारों तनों के स्थान पर नये तने विकसित करें जो आंठवें साल फल देना प्रारम्भ कर देंगें। काट–छाँट हमें समय ≤ पर सूखी, टेड़ी–मेढ़ी, रोगी टहनियों को हटाते रहें तथा शाखा के शीर्ष भाग को हल्की काट–छाँट से हटाने (Nipping) पर पार्श्व शाखाओं को बढ़वार मिलती है।

फलन (Flowering)

अनार वर्ष में तीन बार फलता है।

1. फरवरी से मार्च (अम्बे बहार)2. जुलाई से अगस्त (मृग बहार) 3. अक्टूबर से नवम्बर (हस्त बहार)

तीनों बहारों में से एक इच्छित बहार जल उपलब्धता, बाजार भाव व फल गुणवत्ता आदि के अनुरूप चयन किया जाता है। वर्षा जल का समुचित उपयोग हेतु मृग बहार उचित है। जिसके लिए अप्रैल माह में पानी रोक देते हैं, मई में गड्ढों की खुदाई तथा खाद व उर्वरक दिया जाता है तत्पश्चात् जून में 2 हल्की सिंचाइयाँ जुलाई–अगस्त में पुष्पन में मदद करती हैं।

इनमें से जुलाई अगस्त वाली फसल अच्छी होती है तथा फल भी अच्छे होते हैं। पौधे की मजबूती एवं वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि आरम्भ के तीन वर्ष तक फसल नहीं ली जाये अतः इस समय यदि पेड़ों पर फूल आये तो भी उन्हें तोड़ देना चाहिये। रसायनों में इथरेल (Ethrel) 1–2 मिली प्रति लीटर पानी की दर से छिड़काव करके भी पौधे को तान (Stress) में लाया जा सकता है।

पौध संरक्षण (Plant protection)

फसल को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कीटों व व्याधियाँ मे निम्नलिखित प्रमुख हैं – सारणी 10.20

फल फटना : इस दैहिक विकार समस्या का कारण मिट्टी में नमी का उतार–चढ़ाव व बोरान तत्व की कमी है। रोकथाम हेतु नियमित अन्तराल पर सही मात्रा में बाग में सिंचाई का प्रबन्ध करें तथा कुछ रसायनों में बोरान (0.2 प्रतिशत) या जिब्रेलिक अम्ल (40 पी.पी.एम.) का पर्णीय छिड़काव फल विकास अवस्था पर करें। जहाँ वातावरणीय समस्या हो वहाँ सहनशील किस्में जैसे बेदाना, रूबी, जोधपुर रेड उगायें। फलों को पकने की जल्दी अवस्था पर तुड़ाई करें।

तुड़ाई एवं उपज (Harvesting & yield)

फलों का रंग जैसे ही हरे से हल्का पीला या लाल में बदलने लगे तो समझ लेना चाहिये कि फल पकने की स्थिति में आ गया है। फूल आने के बाद लगभग 5 से 6 माह बाद फल तैयार हो जाते हैं। फलों को अंगुलियों से थपथपाने पर धात्विक आवाज (metalic sound) आती है। अनार के अच्छे विकसित पौधे से जिसकी उम्र 5–6 साल की हो, 20 से 22 किलो फल प्रति पौधे के हिसाब से प्राप्त हो जाते हैं। कमरे के तापमान पर 1 सप्ताह भण्डारण आसानी से कर सकते हैं यह फसल के समय व किस्म पर निर्भर करता है। अनार के फलों की 4.5 डिग्री सेल्सियस तापक्रम एवं 80–85 प्रतिशत आपेक्षित आर्द्रता पर 1–1.5 माह तक आसानी से भण्डारित कर सकते हैं।

सारणी 10.20 : कीट एवं व्याधियाँ

क्र. स.	कीट / व्याधि	विवरण	प्रबंधन
1	कीट–छाल भक्षक कीट (Bark eating cater pillar : *Inderbela tetraonis*)	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें।	
2	अनार की तितली (Pomegranate butterfly : *Virachola (Deudorix) isocrates*)	मादा तितली पुष्प कली पर अण्डे देती है। इनमें लटें निकल कर बनते हुए फलों में प्रवेश कर जाती हैं। फल को अन्दर ही अन्दर खाती हैं फलस्वरूप फल सड़ कर गिर जाते हैं।	नियंत्रण हेतु बाग को साफ सुथरा रखना अति आवश्यक है। फूल व फल बनते समय कार्बोरिल 50 डब्ल्यू पी 2 से 3 ग्राम या क्यूनालफॉस 25 ई.सी. दो मिलीलीटर प्रति लीटर पानी के हिसाब से छिड़काव करें। फलों को थैली से ढकना (Fruit wrapping) भी कारगार उपाय है।
3	मिली बग	अवयस्क (शिशु) प्रायः नवम्बर दिसम्बर में क्रियाशील रहता है।	आम फसल के अनुसार नियंत्रण करें।
4	पत्ती मोड़क (बरूथी) (*Aceria granati*)	सितम्बर माह में बरूथी के प्रकोप से पत्तियाँ सिकुड़ कर मुड़ जाती हैं और पौधे की बढ़वार व फलन बुरी तरह प्रभावित होती है।	नियन्त्रण हेतु सितम्बर माह में क्यूनालफॉस 25 ई.सी. दो मिलीलीटर प्रति लीटर पानी की दर से छिड़काव करना चाहिये। दूसरा छिडकाव 15 दिन बाद अवश्य दोहरायें।
5	व्याधि– पत्ती धब्बा एवं फल सड़न (*Cercospora punicae*)	वर्षा शुरू होते ही पत्तियों पर छोटे छोटे भूरे रंग के धब्बे बनते हैं तथा बाद में धब्बे भूरे काले रंग के हो जाते हैं।	वातावरण में अधिक नमी होने से फल एवं कलियों पर काले धब्बे बन जाते हैं तथा धीरे–धीरे रोगी फल सड़ जाते हैं। नियंत्रण हेतु टोपसिन एम एक ग्राम या जाइनेब का दो ग्राम प्रति लीटर पानी के हिसाब से 15 दिन के अन्तर पर छिड़काव करना चाहिये।
6	जीवाणु धब्बा (तेलियाँ धब्बा) जीवाणु (*Xanthomonas axonopodis* pv. *punicae*)	पत्तियों, टहनियों व फलों पर भूरे रंग के तेलिये धब्बें बनते हैं जो बाद में भूरे रंग में बदल जाते हैं तथा फल फट जाता है।	इस रोग के नियंत्रण में स्वस्थ पौधों के चयन के साथ कॉपर ऑक्सीक्लोराइड 3 ग्राम प्रति लीटर व स्ट्रेप्टोसाइक्लिन 250 पी.पी.एम. का छिड़काव करना चाहिये। खेत को खरपतवारों से मुक्त रखना चाहिए।

खजूर *(DATEPALM)*

वानस्पतिक नाम (Botanical name) :
फीनिक्स डक्टाइलीफेरा एल.
(*Phoenix dactylifera* L.)

कुल (Family) : पामी या एरेकेसी
(Palmae or Arecaceae)

गुणसूत्र संख्या (Chromosome no.) : X=18 2n=36

फल प्रकार (Fruit type) : अष्ठिल (Drupe)

खाये जाने वाला भाग (Edible part) :
फल भित्ती (Pericarp)

उद्‌गम स्थल (Centre of origin) :
खाड़ी प्रदेश–ईराक (Iraq)

खजूर एक प्राचीनतम फल वृक्ष है जो भारत के कच्छ (गुजरात) इलाके में बहुतायत में है। राजस्थान के जैसलमेर, बीकानेर, बाड़मेर तथा जोधपुर जिलों में खेती की जा रही है। इसके फल कार्बोहाइड्रेट्स (60–65%), लौह तत्व से भरपूर होते हैं जिन्हें ताजे फल (डोका अवस्था पर), मुलायम (पिंड) व सूखाकर (छुआरा) उपयोग में लिया जाता है।

जलवायु व मृदा (Climate & soil) :

खजूर की सफल खेती के लिये लंबी अवधि तक ग्रीष्म काल, बड़े दिन, पाला रहित वातावरण, पुष्पन व फलन के समय वर्षा रहित, मौसम आवश्यक है। एक अरबी कहावत के अनुसार इसके पौधे का सिर आग में व पाँव पानी में होना चाहिए । ऐसा क्षेत्र जहाँ 3300 उष्मा इकाई (हीट यूनिट) पुष्पन से फल परिपक्वन हो तो इसके उत्पादन के लिए अच्छा रहता है।

खजूर के अच्छे उत्पादन के लिए मृदा गहरी, रेतीली व दुमट उपयुक्त मानी जाती है। यह लवणीय तथा क्षारीय मृदाओं में आसानी से लगाया जा सकता है। 8–10 पी.एच. मान तक वाली भूमि में भी लगाया जा सकता है। ये मृदा के 4 प्रतिशत लवण सान्द्रता को सहन कर सकता है।

उन्नत किस्में (Improred varieties)

उपयोग के आधार पर वर्गीकरण कर सकते हैं:

ताजे फल खाने में (consumed as fresh)	अगेती व मध्यम मौसम की किस्में जिनमें खरास नहीं होती या गला नहीं पकड़ती तथा मीठी (25–45 % TSS) होती है। जैसे हलावी, खुनैजी (लाल रंग की), बरही, खलास आदि।
मुलायम फल वाली (Soft date)	जिनमें सुक्रोज शर्करा पूर्ण रूप से अपघटित या इन्वर्ट शर्करा में बदल जाती है। जैसे–जाहदी, हलावी, जागलूल, खदरावी आदि से पिंड खजूर बनाये जा सकते हैं।
सूखे फल या छुआरा बनाने वाली (Dry date)	इस प्रयोजन की किस्मों में आकार बड़ा व गूदा अधिक होना चाहिए जैसे जाहदी, मेडजूल, शामरान आदि।
विभिन्न प्रसंस्करण (Processing)	इनमें प्रयुक्त किस्मों में आकर्षक रंग व गूदा व उत्पादन से भरपूर होनी चाहिए। जैसे–हियानी(रंगीन), चीप–चेप, सूरिया, जामली, सगाई आदि।
नर मंजरी हेतु (Male perent)	परागण हेतु किस्मे जैसे घनामी, मधसरी, आलन सीटी आदि।

प्रवर्धन (Propagation) : वैसे तो खजूर का प्रवर्धन बीज द्वारा भी किया जाता है परन्तु बीजू पौधों की गुणवता कायिक विधि द्वारा किये गये पौधों की तुलना में कम होती है। खजूर में कायिक प्रवर्धन अन्तः भूस्तारियों (ऑफ शूट) द्वारा तैयार किया जाता है। मुख्य वृक्ष से सकर्स अलग करते समय यह ध्यान रहें कि उनका वजन कम से 6 किलोग्राम अवश्य हो। खजूर के बगीचे में नर एवं मादा पौधों का अनुपात 1 : 10 का रखना चाहिये। नर पौधों का अनुपात अधिक हो तो उन्हें हटा देना चाहिए। आजकल उत्तक संवर्द्धन से खजूर के गुणवत्ता युक्त पौधे तैयार किये जा रहे हैं तथा इन पौधों की खेत में स्थापना दर ऑफसूट पौधों की तुलना में अधिक होती है। परन्तु सोमाक्लोनल विविधता इन पौधो में देखने को मिलती है।

पौध रोपण विधि (Planting method) : ग्रीष्म काल (जून माह) में 1×1×1 मीटर आकार के 8×8 मीटर की दूरी पर गड्ढे खोद लेवें व गोबर की सड़ी खाद लगभग 25 किलोग्राम, 200 ग्राम सुपर फास्फेट व 50 ग्राम म्यरेट ऑफ पोटाश तथा 50 ग्राम क्युनालफॉस प्रति गड्ढा मिलाकर जुलाई अगस्त माह में रोपण करें। रोपाई के समय सकर्स को भूमि से 15 सेमी. ऊपर रखें व ध्यान रहे कि सिंचाई का पानी तने को छूने न पावें।

खाद एवं उर्वरक (Manure and fertilizer) : खजूर के फल देने वाले पौधे को 30 व 40 किलोग्राम सड़ी हुई गोबर की खाद सितम्बर माह में देवें। इसके अलावा प्रतिवर्ष 600 ग्राम नत्रजन, 100 ग्राम फास्फोरस तथा 700 ग्राम पोटाश प्रति वृक्ष मार्च अप्रैल माह में देना चाहिए।

सिंचाई व अन्तःशस्यन (Irrigation & interculture):

खजूर हेतु कहावत "सिर आग में पाँव पानी में (Head on fire and feet in water) होना चाहिए अर्थात् पानी की आवश्यकता ज्यादा है। अतः पौध रोपण के शुरूआत में नियमित तथा बाद में महीने में 2 बार सर्दियों में व 4 बार गर्मियों में देते रहें। फल बनते समय एवं बढ़वार के समय भूमि में पर्याप्त नमी बनाये रखें। अन्तराशस्यन में खजूर के वृक्षों के साथ बहुखंडीय (multistory) फलवृक्ष व अन्य पौधे रोपित कर सकते हैं जैसे अनार, फालसा,

पपीता व दलहनी फसलें जिससे बगीचे की आय में बढ़ोतरी व जगह का उपयोग होगा।

पुष्पन व फलन (Flowering & fruiting) खजूर में नर पुष्प पहले परिपक्व होते हैं (Protoandry)। अतः इन पुष्पक्रमों (Spadix) को काटकर अखबार पर (पराग रज) पाऊडर इकट्ठा कर लें तथा कुछ समय बाद निकलने वाले मादा पुष्पों पर रूई के फवे की सहायता से या डस्टर मशीन द्वारा कृत्रिम परागण करने से फलों की संख्या व गुणवत्ता बढ़ने से अधिक उपज प्राप्त होती है इस तरह पराग कणों का फल की गुणवत्ता बढ़ाने के प्रभाव को मेटाजिनिया (metaxenia) प्रभाव कहते हैं।

खजूर में पुष्पन व निषेचन के बाद फल बनना आरम्भ होता है, फल विकास की निम्न अवस्थाएँ होती है:

1. **गंडोरा (कीमरी)** – फल कच्चे हरे व कठोर होते हैं।
2. **डोका (खलल)**– फल पूर्ण विकसित ठोस पीले या लाल (किस्मानुसार) रंग के होते हैं।
3. **डेंग (रूतब)**– फलों का शीर्ष भाग मुलायम होना शुरू हो जाता है।
4. **पिंड (तमर)**– पूर्णतः मुलायम फलों की अवस्था है।

राजस्थान में मुख्यतः डोका अवस्था पर ही फलों की तुड़ाई करते हैं क्योंकि इसकी पिंड अवस्था जुलाई–अगस्त में आ पाती है तथा उस समय वर्षा होने से फल खराब होने लगते हैं।

संधाई व कृन्तन (Training and pruning): खजूर एक बीज पत्री (Monocot) वृक्ष है। अतः शुरूआत में पार्श्व से ऑफ शूट निकालते रहने से एकल तना युक्त वृक्ष बनेगा जिस पर फलों के गुच्छे भरपुर होंगे तथा इनके मध्य वायु संचार अच्छा रहें इस हेतु जून माह में सूखी, पुरानी पत्तियों को काट देना चाहिए तथा प्रति वृक्ष 75–100 पत्तियाँ रखें।

पौध संरक्षण (Plant protection)

फसल को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कीटों व व्याधियों में निम्नलिखित प्रमुख हैं – सारणी 10.21

तुड़ाई व उपज (Harvesting & yield) : खजूर रोपण के 6–7 वर्ष बाद व्यावसायिक फलन में आता है। किस्म के अनुसार रंग परिवर्तन होने पर डोका अवस्था पर फलों की तुड़ाई करते हैं प्रति वृक्ष 75–100 किग्रा फल प्राप्त होते हैं। ताजे फलों को 1–1.5 डिग्री सेल्सियस व 85–90% आर्द्रता पर तथा सूखे फल भी इसी तापमान पर परन्तु 65–70% आर्द्रता पर क्रमशः 1 माह व 1 साल तक रख सकते हैं।

पिंड खजूर (Soft date) बनाने हेतु डोका अवस्था में तोड़े फलों को ब्लाचिंग (उबलते पानी में आधा मिनट रख) कर 40 डिग्री सेल्सियस तापमान पर विधुत चालित भट्टी (डिहाइड्रेटर) में रखते हैं तथा छुआरा (dry dates) बनाने हेतु डोका अवस्था के फलों को 5 मिनट ब्लाचिंग कर उन्हें विद्युत चालित भट्टी में 48–52 डिग्री सेल्सियस तापमान पर 70–90 घण्टे या 80–120 घण्टे धूप में सुखा दें।

सारणी 10.21 : कीट एवं व्याधियाँ

क्र.स.	कीट / व्याधि	विवरण	प्रबंधन
1	कीट–ताड़ का घुन (Palm weevil) रायनोसेरस बीटल (*Oryctes rhinoceros*)	व्यस्क भृंग चमकदार काले–भूरे रंग का होता है। इस कीट की सूण्डी पौधे की जड़ों को नुकसान पहुँचाती है। प्रकोप से पौधा पीला पड़ जाता है।	प्रबंधन में फेरामोन ट्रेप (ल्यूर से आकर्षित करना चाहिए) व वयस्क को लाइट ट्रेप से तथा पौधे के पास नेफ्थलीन बोल्स रख देने से इसकी दुर्गंध से बीटल नहीं आता है तथा रसायनों में डाइजीनोन 20 ई.सी. दवा 2 मिली प्रति लीटर पानी की दर से छिड़काव करें।
2	रेड पाम वीविल इल्ली (*Rhynchophorus ferrugineus*)	वयस्क लाल भूरे रंग का होता है। लार्वा एक भूरे रंग के सीर के साथ सफेद–पीला होता है। ये कीट जड़ को नुकसान पहुँचाता है तथा अन्दर से खोखला कर देता है।	प्रबंधन में संगरोध निषिद्ध (Quarantine) अपनाना चाहिए तथा प्रिडेटर (पलेटीमेरिस ओर्यक्ट्स) का उपयोग भी हितकर रहता है। रासायनिक उपचारों में डाइमीथोएट–30 ईसी का छिड़काव हितकारी है।
3	खजूर का स्केल (White palm-*Parlatoria blanchardii*) (Red palm -*Phoenicoccus marlatti*)	यह कीट नये युवा पौधे में अधिक नुकसान पहुँचाता है। इस कीट के निम्फ (Nimph) एवं वयस्क पत्तियों व नयी वृद्धियों का रस चूसकर उन्हें कमजोर बना देते हैं। प्रकोप मई–जून से शुरू होकर नवम्बर–दिसम्बर में गंभीर रूप ले लेता है।	प्रबंधन उपायों में प्राकृतिक शत्रुओं का उपयोग (लेडी बर्ड बीटल, क्राइसोपर्ला व प्रईंग मेंटिड आदि) तथा अगस्त माह में ईमीडाक्लोप्रिड 17 एस एल का 0.5 मिली प्रति लीटर छिड़काव करें।
4	खजूर का मोथ (Lesser date moth -*Batrachedra amydraula*)	कीट की लार्वा अपरिपक्व फलों को नुकसान पहुँचाते तथा उपज में भारी गिरावट आती हैं इस कीट का आक्रमण अप्रैल से अगस्त माह तक होता है तथा वर्षा आने पर सघनता बढ़ जाती है।	नियंत्रण उपाय में स्पाइनोसाइड का 0 .03 प्रतिशत का छिड़काव कारगर है।
5	व्याधि– अंतः भूस्तारी पौध गलन (Offshoot/ sucker rot) (*Fusarium*) तथा (*Botryodiplodia*) वंश की कवक	प्ररोह में गलन बड़ें खजूर के वृक्षों में भी धीरे–धीरे क्षय की ओर होते हैं इस समस्या को बायूद (Bayond) रोग कहते हैं।	रोग प्रबंधन में हमेशा सर्कस / ऑफ सूट स्वस्थ मातृ पौधे से ही लेना चाहिए तथा ऑफ सूट को कार्बेन्डाजिम (0.2%) या रिडोमिल (0.15%) कवकनाशी घोल में 2–5 मिनट डुबोकर ही रोपण करें।
6	ग्रेफियोला पत्ती धब्बा रोग स्मट कवक (False smut fungi) (*Graphiola phoenicis*)	पत्ती की सतह पर छोटे भूरे कत्थई रंग के धब्बे दिखायी देते हैं जो बाद की अवस्था में पत्तियों के दोनों ओर डंठल पर फैल जाते हैं तथा पत्तियाँ पीली होकर गिरने लगती हैं।	रोग प्रबंधन में ग्रसित भागों की काट–छाँट कर जला दे या गाड़ दे तथा ताम्र युक्त कवकनाशी जैसे कॉपर ऑक्सी क्लोराइड (COC) या ब्लूकॉपर का 2–3 ग्राम प्रति लीटर पानी के घोल का 15 दिन के अन्तराल पर दो–तीन बार छिड़काव करें।
7	खामेज रोग (Khamedj) कवक मूंगीनेला वंश की कवक (*Munginella sp.*)	पुष्पक्रम जिसे स्पेडिक्स कहते हैं उसका रोग है तथा लगातार वर्षा वाले क्षेत्रों तथा बिना सार–सम्भाल वाले क्षेत्रों में यह रोग होता है।	इस रोग में पुष्प मंजरी (Spathe) पर भूरा क्षेत्र बनता है तथा बाद में पूरे पुष्पक्रम के आन्तरिक भागों में फैल जाता है । इस रोग का संक्रमण एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर परागकणों द्वारा जाता है। रोकथाम में ऐसे संक्रमित पुष्पक्रमों को तोड़कर जला देना चाहिए व बोर्डो मिक्सर के 1 प्रतिशत विलयन का छिड़काव करना चाहिए।

बेल (BAEL)

वानस्पतिक नाम (Botanical name) :
एगेल मॉरमिलोस (एल.) कोर्रिया.
(Aegle marmelos (L.) Correa.)

कुल (Family) : रूटेसी (Rutaceae)

गुणसूत्र संख्या (Chromosome no.) : 2n = 2x = 18

उद्‌गम स्थल (Centre of origin) : भारत

फल का प्रकार (Fruit type) :
रूपान्तरित सरस एम्फीसारका

खाने योग्य भाग (Edible part) :
रसीला प्लेसेन्टा (Succulent Placenta)

बेल को श्रीफल, बेलपत्र, बंगाल क्वींस आदि नामों से भी जाना जाता है। बेल के फल में राइबोफ्लेबिन, विटामिन 'ए' एवं कार्बोहाइड्रेट प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। बेल का औषधीय गुण मुख्य रूप से इसमें पाये जाने वाले मारमेलोसिन (marmelosin) तत्व के कारण होता है। मारमेलोसिन पेट की बीमारियों के उपचार में उपयोग में लिया जाता है। इसके गूदे से शर्बत, स्क्वैश एवं मारमेलेड बनाया जाता है। बेल की पत्तियों को हिन्दू धर्म में शिवजी भगवान को अर्पित किया जाता है।

जलवायु एवं भूमि (Climate & Soil)

बेल इतना सहिष्णु पौधा होता है कि हर प्रकार की जलवायु में भली–भांति उग जाता है। विशेषतः यह शुष्क जलवायु को अधिक पसन्द करता है। इसमें पाले को सहन करने की भी क्षमता होती है। यह फल वृक्ष–7° सेंटीग्रेड तक तापमान को भी सहन कर लेता है। बेल हर प्रकार की भूमि में अच्छी तरह उगता है लेकिन अच्छी खेती व पैदावार के लिए उपजाऊ दोमट मिट्टी अधिक उपयुक्त होती है। यह अम्लीय एवं क्षारीय (5–10 पी.एच मान) भूमि पर भी सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है। यह फल वृक्ष इतना अधिक सहिष्णु होता है कि रेगिस्तान में 2–3 महीने मिट्टी में दब जाने के बाद भी पुनर्जीवित हो जाता है। यह भूमि में 9.0 डेसी सायमन्स प्रति मीटर (dSm^{-1}) तक ही लवणता को भी सहन कर लेता है।

उन्नत किस्में (Improved varieties) विभिन्न संस्थानों से विकसित किस्में निम्न है।:

1. नरेन्द्र देव कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, फैजाबादः– नरेन्द्र बेल–5(एन.बी.–5),एन.बी.–9
2. केन्द्रीय उपोष्ण बागवानी संस्थान, लखनऊः– सी.आई. एस.एच.बी.–1, सी.आई.एस.एच.बी.–2
3. जी.बी.पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगरः– पंत उर्वशी, पंत सुजाता, पंत अपर्णा एवं पंत शिवानी
4. केन्द्रीय शुष्क बागवानी संस्थान, बीकानेर :– गोमा यशी, थार दिव्या व भार नीलकण्ठ

अन्य किस्मों में कागजी (फल का छिलका कागज जैसा पतला), मिर्जापुरी आदि हैं।

प्रवर्धन (Propagation)

बेल का प्रवर्धन साधारणतया बीज द्वारा ही किया जाता है। बेल का वानस्पतिक प्रवर्धन पैच कलिकायन द्वारा भी सरलता तथा सफलतापूर्ण किया जा सकता है।

पौधे लगाने की विधि (Planting method)

बेल के पौधों का रोपण वर्षा के प्रारम्भ में करना चाहिए । गड्ढों का आकार 75 × 75 × 75 सेमी. तथा एक गड्ढे से दूसरे गड्ढे की दूरी 6 मीटर रखनी चाहिए। वर्षा शुरू होते ही इन गड्ढों को दो भाग मिट्टी तथा एक भाग खाद से भर देना चाहिए। एक–दो वर्षा हो जाने पर गड्ढे की मिट्टी जब खूब बैठ जाए तो इनमें पौधों को लगा देना चाहिए।

खाद एवं उर्वरक (Manure & fertilizer)

साधारणतया यह पौधा बिना खाद और पानी के भी अच्छी तरह फलता–फूलता रहता है, लेकिन अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए इसमें उचित खाद की मात्रा उचित समय पर देना आवश्यक है। एक फलदार पेड़ के लिए 500 ग्राम नत्रजन, 250 ग्राम फॉस्फोरस एवं 500 ग्राम पोटाश की मात्रा प्रति पेड़ देना चाहिए। चूंकि बेल में जस्ते की कमी के लक्षण पत्तियों पर आते हैं, अतः जस्ते की पूर्ति के लिए 0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट का छिड़काव जुलाई, अक्टूबर और दिसम्बर में करना लाभदायक रहता है।

सिंचाई एवं अन्तःशस्यन (Irrigation & interculture)

बेल का वातावरण के प्रति सहिष्णु होने के कारण किसी विशेष देखभाल की आवश्यकता नहीं होती है फिर भी आरम्भ में जब पौधे छोटे–छोटे होते हैं तो गर्मियों में उनकी महीने में दो बार सिंचाई कर देनी चाहिए। लेकिन जब पौधा फलत में आ जाता है

तो पूरी गर्मियों में 2–3 बार सिंचाई कर देना काफी होता है। थाँवलों को हमेशा निराई–गुड़ाई करके साफ–सुथरा रखना चाहिए।

संधाई व कटाई–छँटाई (Training & pruning)

बेलपत्र में संधाई का कार्य शुरू के 2–3 वर्षो में करते हैं जिसमें यह ध्यान रखा जाता है कि भूमि सतह के 2–3 फीट से कोई शाखा न पनपे तथा बाद में इस मुख्य तने पर 4 शाखाओं का चुनाव करें। काट–छाँट में प्रतिवर्ष सूखी, टेड़ी–मेढ़ी, रोगी आदि शाखाओं को काट कर निकाल दें यह कार्य फल तुड़ाई के साथ ही कर सकते हैं।

पौध संरक्षण (Plant protection)

- बेल की कोमल शाखाओं तथा पत्तियों पर पर्ण सुरंगक (Leaf Minor) का आक्रमण होता है लेकिन इससे विशेष नुकसान नहीं पहुँचता है फिर भी 1 मिलीलीटर प्रति लीटर पानी में क्यूनालफॉस 25 ईसी के छिड़काव से रोका जा सकता है।
- बेल के पेड़ पर रोगों का प्रकोप बहुत कम होता है। एकत्रित फलों के गूदे में कभी–कभी गलन (Internal rot) की बीमारी लग जाती है, जिससे फल अन्दर ही अन्दर खराब हो जाता है इसे कम करने के लिए फलों को सावधानी पूर्वक तोड़ा जाये जिससे इन्हें चोट न लगे तथा 0.3 प्रतिशत डाइथेन जेड 78 के घोल से फलों को तोड़ने के बाद उपचारित करके ठीक किया जा सकता है।
- कभी–कभी फल पकने से पूर्व फट जाते हैं, जो या तो सूक्ष्म तत्वों की कमी से या फिर अनियमित सिंचाई के कारण होता है। फल फटने से रोकने हेतु पोटेशियम सल्फेट 4 प्रतिशत का वर्ष में तीन बार पर्णीय छिड़काव अगस्त, नवम्बर व फरवरी माह में करें तथा फल विकास एवं परिपक्वता के समय नमी का अभाव नहीं होना चाहिए। फलों को श्रींक, पॉली थीन से लपेटकर भी फटने की दर कम कर सकते है।)

तुड़ाई एवं उपज (Harvesting & yield

बीजू पौधे 7–8 वर्ष बाद फलने लगते हैं लेकिन चश्में से तैयार पौधों में फलत 4–5 वर्ष में शुरू हो जाती है। बेल का पेड़ लगभग 15 वर्ष के बाद व्यवसायिक रूप से फलन में आता है। बेल का डण्ठल इतना मजबूत होता है कि फल पकने के बाद भी पेड़ पर काफी दिन तक लगे रहते हैं। फल ठहराव से फल परिपक्वता में लगभग 10–11 महीने लगते हैं। कच्चे फलों का रंग हरा तथा पकने पर पीला सुर्ख हो जाता है। जब फलों में पीलापन आना शुरू हो जाए उस समय उनको डण्ठल के साथ तोड़ लेना चाहिए। इस तरह के फल 10–12 दिन में अच्छी तरह पककर तैयार हो जाते हैं। दस से पन्द्रह वर्ष पुराने पेड़ से 200–400 फल प्राप्त होते हैं। बेल के फलों का साधारण तापमान पर 2 सप्ताह रखा जा सकता है तथा शीत संग्रहण में 9 डिग्री सेल्सियस तापमान पर 3 माह तक सुरक्षित रख सकते हैं।

महत्वपूर्ण बिन्दु:–

1. फल फसलो का वैज्ञानिक अध्ययन उद्यान विज्ञान की शाखा पॉमोलॉजी (फल विज्ञान) में करते हैं।
2. केले के बीज रहित फल त्रिगुणिता के कारण होते हैं।
3. बेर मे आजकल नई किस्म थाई बेर(एपल बेर), बांग्लादेश से पश्चिम बंगाल के रास्ते भारत आयी है जो आकार मे बढ़ा (हरि सेव) तथा खस्ता बनावट का फल हैं।
4. अमरूद की मुख्य समस्या उखटा रोग है उसे भविष्य में इसी वंश की अन्य जातियों के संकरण सें प्रबंध किया जा सकता है जिनमें सीडियम मोले, सीडियम ग्वाइनेन्स (ब्राजीलियन अमरूद तथा ग्वेनिया अमरूद), सीडियम प्यूमिलम, सीडियम कैटिलियेनम (स्ट्राबेरी या कैटले अमरूद), सीडियम कैटिलियेनम किस्म ल्यूसिडम, सीडियम फ्रीड्रिक्स्थेलियेनम (चीनी अमरूद), सीडियम कुजाविलस व फिजोआ सेलोवियाना (पाइन एपल अमरूद) प्रमुख है।
5. केले का सत्य तना भूमिगत रहता है जिसे राइजोम कहते है।
6. अमरूद में पेक्टिन की प्रचूरता के कारण गुणवता युक्त जैली बनाई जा सकती हैं।
7. नींबू वर्गीय फलों के रस में कड़वाहट उसके लिमोनिन नामक एल्केलाइड के कारण होती है।
8. आम भारत के अलावा पाकिस्तान, फिलिपाइन्स व बांग्लादेश का राष्टीय फल है।
9. पपीता पहला ट्रान्सजेंनिक फल है जिसकी जिनोम क्रम किया गया तथा रिंग स्पोट विषाणु से प्रतिरोधी किस्में सनअप व रेनबो विकसित कि गई है।
10. आँवला में पुष्पन मार्च–अप्रैल के बाद भ्रूण चार माह तक सुसुप्तावस्था में रहने के बाद अगस्त से फल की बढ़वार दिखाई देने लगती है।

अभ्यास प्रश्न

बहुचयनात्मक

1. नर मंजरी हेतु खजूर की उन्नत किस्म बताई है?
   (अ) हलावी (ब) जाहदी
   (स) मेडजूल (द) घनामी
2. गोमायशी, थार नीलकंठ व थार दिव्या नामक किस्में किस फल वृक्ष की है।
   (अ) बेल (ब) बेर
   (स) आंवला (द) खजूर
3. बेल में पुष्पन का समय बताइये।
   (अ) जनवरी–फरवरी (ब) अप्रेल–मई
   (स) अगस्त–सितम्बर (द) दिसम्बर–जनवरी
4. अनार का व्यवसायिक प्रसारण कौनसी विधि से करते हैं?
   (अ) बीज (ब) गूटी
   (स) कलम (द) उत्तक संवर्द्धन
5. आँवले में पुष्पन का समय।
   (अ) जनवरी–फरवरी (ब) मार्च–अप्रैल
   (स) जून–जुलाई (द) अक्टूबर–नवम्बर
6. अंगूर के कौनसे रोग के निदान करने में बोर्डो मिक्सर की खोज हुई?
   (अ) एन्थ्रेक्नोज (ब) फल विगलन
   (स) छाछ्या (द) मृदु रोमिल आसिता
7. बेर का पौधा कब सुषुप्तावस्था में जाता है?
   (अ) शरद काल (ब) ग्रीष्मकाल
   (स) वर्षाकाल (द) उपर्युक्त सभी समय
8. पपीते के पर्ण कुंचन विषाणु जनित रोग का निम्न में से कौनसा प्रमुख कारक है?
   (अ) कवक (ब) माहू (Aphid)
   (स) सफेद मक्खी
   (द) लाल मकड़ी (Red spider mite)
9. अमरूद की लाल गूदे वाली किस्म कौनसी है ?
   (अ) सरदार (ब) ललित
   (स) अर्का अमूल्या (द) पंत प्रभात
10. निम्न में से कौनसी व्याधि केले को सर्वाधिक हानि पहुँचाती है?
    (अ) पनामा विल्ट (ब) शीर्ष गुच्छा
    (स) फिंगर टिप (द) फल विगलन

अतिलघूत्तरात्मक

1. बेल में किस एल्केलाइड़ के कारण औषद्यीय गुण पाये जाते हैं।
2. हीट यूनिट क्या होती है?
3. मृग बहार के फल कब परिपक्व होते हैं?
4. आँवले में उत्तक क्षय रोकथाम में प्रयुक्त रसायन का नाम बताइयें।
5. अंगूर की खेती हेतु भूमि का पी एच मान कितना होना चाहिए?
6. बेर में पौध अन्तराल कितना रखते हैं?
7. कौनसा सूत्रकृमि केले को नुकसान पहुँचाता है?
1. संतरे में पुष्पन व फलन का समय बताइये।
2. संतरे में खाये जाने वाला भाग बताइये ।
10. नींबू के पौध प्रसारण की सरल विधि कौनसी है ?
11. आम की मध्यम फलत वाली किस्में बताइये।

लघूत्तरात्मक

1. खजूर में कृत्रिम परागण पर टिप्पणी लिखो।
2. बेल में फल फटने की समस्या का समाधान।
3. बहार नियंत्रण में हस्त बहार लेने हेतु कौनसी कृषि क्रियाएँ कब करें?
4. आँवले में कीट प्रबंधन।
5. अंगूर की अगेती किस्मों का नाम लिखो।
6. बेर में संघाई व काट–छाँट पर टिप्पणी लिखो।
7. पपीते की नर्सरी की तैयारी व प्रबंधन।
8. अमरूद में उखटा रोग कारण व निवारण।
9. केले की रोपण के बाद के क्रियाकलाप व पौध संरक्षण पर विस्तृत वर्णन करो।
3. नींबू में बहार नियंत्रण पर टिप्पणी लिखो।
4. आम की उत्तरी भारत की प्रमुख संकर किस्मों का विवरण दीजिये।

निबन्धात्मक

1. खजूर की उन्नत किस्में, पौध संरक्षण व तुड़ाई उपरान्त प्रबंधन पर सविस्तार से लिखो।
2. आँवले की खेती का विस्तृत वर्णन करो।
3. अंगूर में पौध संरक्षण व दैहिक विकारों का वर्णन करो।
4. पपीते में लिंग समस्या व समाधान तथा पपेन निकालने की विधि का वर्णन करो।
5. अमरूद की खेती का वर्णन निम्न बिन्दुओं पर सविस्तार से करो–
   (अ) उन्नत किस्में (ब) प्रवर्द्धन (पौध प्रसारण)
   (स) खाद व उर्वरक (द) बहार प्रबंधन
   (य) उपज व भण्डारण
6. आम के प्रमुख कायिकीय विकारों का वर्णन करें।

उत्तरमाला

1. (द) 2. (अ) 3. (ब) 4. (ब) 5. (ब)
6. (द) 7. (ब) 8. (स) 9. (ब) 10. (अ)

अध्याय–11

फल परिरक्षण (Fruit Preservation)

11.1 परिरक्षण की वर्तमान स्थिति, महत्व एवं भविष्य (Present status, importance and scope of fruit preservation) – भारत में जलवायु तथा मृदा की विभिन्नता के कारण विभिन्न प्रकार के फल तथा सब्जियों का उत्पादन होता है। वर्तमान में भारत का फल तथा सब्जी उत्पादन में विश्व में चीन के बाद द्वितीय स्थान है। स्वतन्त्रता पश्चात् भारत में फल तथा सब्जी के उत्पादन में दिन प्रतिदिन वृद्धि हो रही है। सत्र 2013–14 में 88.97 मिलीयन टन फल एवं 162.89 मिलीयन टन सब्जी का उत्पादन हमारे देश में हुआ। कृषि की अन्य फसलों की तुलना में उद्यानिकी फसलें तुड़ाई पश्चात् जल्दी खराब होने लगती है यानि कि उद्यानिकी फसलों की भण्डारण क्षमता बहुत कम होती है। यही कारण कि लगभग 25–30 प्रतिशत फल व सब्जियाँ तुड़ाई पश्चात् बिना उपयोग किये ही खराब हो जाती है। यह सर्वविदित है कि खाद्य–पदार्थ के उत्पादन की अपेक्षा उतनी ही मात्रा में सुरक्षित कर लेना अधिक सस्ता है। बढ़ती हुई जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए भविष्य में खाद्य पदार्थों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने के साथ–साथ तुड़ाई के उपरान्त उनका प्रबंधन तथा उचित विधियों से परिरक्षण नितांत आवश्यक है।

परिरक्षण की वर्तमान स्थिति (Present status of preservation)

भारत में फल परिरक्षण अत्यन्त ही प्राचीन काल से प्रचलित है। फलों तथा सब्जियों को सुखाना, अचार बनाना, पेय पदार्थ तैयार करना प्राचीन काल से चली आ रही फल परिरक्षण की विधियाँ हैं। फिर भी हमारे देश में फल व सब्जी के कुल उत्पादन का मात्र 2 प्रतिशत भाग ही परिरक्षण में काम लिया जाता है, जबकि विकसित देशों में 70 से 80 प्रतिशत फल व सब्जियों का परिरक्षण किया जाता है।

भारत में प्रथम परिरक्षण उद्योगशाला सन् 1920 में बम्बई में स्थापित की गई। इसके पश्चात् 1939 तक देश में कुछ उद्योगशालाएँ स्थापित हुई जो विभिन्न प्रकार के कैण्डी पदार्थ, फलपाक, अवलेह, मामलेड तथा पेय पदार्थ बनाती थी। इस समय भारत में फल परिरक्षण व्यवसाय धीमी गति से बढ़ रहा था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इसकी प्रगति में थोड़ी तेजी आई। सन् 1947 में भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् इस उद्योग के स्थायी बुनियाद रखी गई व विदेशों के आयात पर पाबंदी लगा दी गई तथा सरकार ने परिरक्षण उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिये अनेक रियायतें दी। सन् 1955 में आवश्यक वस्तु अधिनियम क्रमांक 3 के अन्तर्गत फल उत्पाद आदेश, 1955 (एफ.पी.ओ., 1955) स्वीकृत किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य भारत में निर्मित परिरक्षित पदार्थों की गुणवत्ता पर नियन्त्रण रखना तथा उच्च गुणवत्ता वाले पदार्थ तैयार करना था। उक्त एफ.पी.ओ. को समय–समय पर संबोधित किया गया। 1 अप्रैल 2009 को भारत में क्षेत्रवार कुल फल–सब्जी परिरक्षण की 6471 इकाइयों को स्वीकृत अनुज्ञापत्र जारी किये गये।

फल परिरक्षण का महत्त्व (Importance of fruit preservation)

फल व सब्जी उत्पादकों को उनके उत्पादन का उचित मूल्य दिलाने के लिए, उपभोक्ताओं को वर्ष भर फल तथा सब्जियाँ उचित दर पर उपलब्ध कराने के साथ–साथ तुड़ाई उपरान्त होने वाले नुकसान को कम करने में फल–सब्जी परिरक्षण उद्योग का बहुत महत्त्व है। इसके अतिरिक्त संतुलित आहार–पोषण कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये, दुर्गम स्थानों में सैनिकों की खाद्य–पूर्ति के लिए तथा एक राष्ट्रीय उद्योग के रूप में विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिये फल–सब्जी परिरक्षण का महत्वपूर्ण योगदान होता है। फल परिरक्षण का विकास एवं विस्तार वृहत्–परिमाण उद्योग, लघु परिमाण उद्योग तथा कुटीर उद्योग के रूप में किया जा सकता हे, जो कुछ सीमा तक रोजगार की समस्या को कम करने में सहायक होता है।

1. आर्थिक महत्व (Economic importance)

फल व सब्जियों के फलने का समय प्रकृति द्वारा प्रायः निश्चित है अतः एक ही समय में पूर्ण पैदावार तथा भण्डारण क्षमता बहुत कम होने के कारण बाजार में उनकी अधिकता हो जाती है तथा उनका मूल्य बहुत कम हो जाता है, जिससे उत्पादकों को उनके परिश्रम का उचित मूल्य नहीं मिल पाता तथा उत्पादकों को अधिक हानि उठानी पड़ती है। ताजे फल तथा सब्जियों की उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का खर्च भी अधिक आता है। इससे उपभोक्ताओं को फल व सब्जियाँ अधिक मूल्य में मिलती है। अतः ऐसे स्थानों पर जहाँ फल व सब्जियों की पैदावार अधिकता से होती है, फल परिरक्षण उद्योग स्थापित कर उत्पादकों को उचित मूल्य दिया जा सकता है। साथ ही उपभोक्ताओं को पूरे वर्ष उचित मूल्य पर फल व सब्जियाँ उपलबध कराई जा सकती है।

2. औद्योगिक महत्व (Industrial importance)

फल परिरक्षण उद्योग का अन्य उद्योगों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान हैं इस व्यवसाय में काम आने वाले कच्चे माल जैसे फल–सब्जियाँ, टिन के डिब्बे, काँच व प्लास्टिक की बोतलें, शक्कर, अम्ल, रंग आदि की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त परिरक्षण उद्योगशाला में काम आने वाले कई उपकरणों तथा मशीनों की भी आवश्यकता रहती है। अतः इस व्यवसाय के विकास के साथ–साथ अन्य व्यवसायों को भी बढ़ावा मिलता है।

3. परिरक्षित पदार्थों का निर्यात (Export of preserved products)

फल व सब्जी से परिरक्षित पदार्थों का विदेशों में निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है। जिससे देश की आर्थिक स्थिति में सुधार हो सकता है। भारत में परिरक्षित पदार्थों

सारणी 11.1

भारत से निर्यात किए जाने वाले परिरक्षित पदार्थों की मात्रा व मूल्य

वर्ष क्र.सं.	पदार्थ	2013–14		2014–15		2015–16	
		मात्रा मी.टन	मूल्य (करोड़ रु.)	मात्रा मी.टन	मूल्य (करोड़ रु.)	मात्रा मी.टन	मूल्य (करोड़ रु.)
1.	खीरा एवं घर्किन्स (तैयार एवं संरक्षित)	218749.78	955.20	251182.96	1202.92	202926.91	999.17
2.	शुष्कित एवं संरक्षित सब्जियाँ	56158.40	742.72	63701.78	847.14	66189.61	914.20
3.	आम गूदा	174860.33	772.95	154820.69	841.38	128866.01	796.17
4.	अन्य संसाधित फल एवं सब्जियाँ	287384.63	2266.60	31659.43	2569.91	320732.59	2900.33
	कुल	7571153.11	4737.45	785764.86	5461.35	718715.13	5609.87

स्रोत : डी.जी.सी.आई.एस. (2015–16 – वार्षिक निर्यात)

के निर्यात में दिन–प्रतिदिन बढ़ोतरी हो रही है। 2013–14 से 2015–16 में भारत के विभिन्न फल–सब्जी परिरक्षित पदार्थों के हुए निर्यात का विवरण सारणी 11.1 में प्रस्तुत है।

4. रोजगार उपलब्धता (Availability of employment)

फल परिरक्षण उद्योगों के विकास के साथ रोजगार उत्पन्न होने क प्रबल सम्भावना होती है। इस उद्योग के साथ–साथ सहायक उद्योगों जैसे शक्कर, रसायन उद्योग, यांत्रिकीय पेपर उद्योग, यातायात उद्योग के विकास के लिये कृषि वैज्ञानिक, फूड टेक्नालॉजिस्ट, अभियंता आदि की आवश्यकता होगी। आधुनिक परिवारों में आर्थिक संकट को दूर करने के लिये महिलाओं की प्रवृत्ति नौकरी करके अधिक आय करने की होती जा रही है। ऐसी दशा में परिरक्षित पदार्थ जो अतिरिक्त समय में बनाये जा सकते हैं, अतिरिक्त आय का साधन हो सकते हैं।

5. संतुलित आहार (Balanced diet)

भारत में कुछ फल ऐसे भी पैदा होते हैं जो जंगली कहे जाते हैं तथा उनको उसी रूप में उपयोग नहीं कर सकते जिस रूप में उत्पन्न होते हैं। परन्तु ये फल पोषक तत्वों से भरपूर होते हैं जैसे बेल, सीताफल, कैंथ, जामुन, पीलू, ढाँसरिया, केर, टिमरू, आँवला आदि। इन फलों से परिरक्षित पदार्थ तेयार किये जा सकते हैं, जैसे बेल का शर्बत, आँवले का मुरब्बा व केन्डी, जामुन का सिरका आदि।

फल परिरक्षण के उपरोक्त महत्त्व के अतिरिक्त, वर्ष पर्यन्त फल–सब्जी की उपलब्धता, दुर्गम स्थलों पर जहाँ फल व सब्जी का उत्पादन नहीं हो सकता आदि परिस्थितियों में भी फल–सब्जी परिरक्षण का महत्वपूर्ण योगदान रहता है।,

फल परिरक्षण का भविष्य (Future of fruit preservation)

फल परिरक्षण व्यवसाय की भारत में दूसरे विकसित देशों की अपेक्षा वर्तमान स्थिति तथा इसके महत्व का अध्ययन करने के उपरान्त यह एकदम स्पष्ट है कि इस व्यवसाय का भारत जैसे विकासशील देश में उज्जवल भविष्य है। परन्तु वर्तमान उत्पादन को देखते हुए ऐसा लगता है कि यह व्यवसाय अनेक समस्याओं से ग्रस्त है जो इसके विकास में बाधक है। विभिन्न समस्याओं में निम्नलिखित समस्या प्रमुख है–

1. वांछित किस्म की उचित समय पर फल तथा सब्जियाँ उपलब्ध नहीं होना।
2. सहायक पदार्थों जैसे शक्कर, नमक, परिरक्षक पदार्थ आदि के गुणों में विभिन्नता।
3. पैकेजिंग सामग्री का अनुपलब्धता व महंगा होना।
4. तकनीकी मार्गदर्शन का अभाव।
5. ग्रामीण क्षेत्रों की अवहेलना।
6. लघु इकाइयों द्वारा विक्रय में कठिनाई आना।
7. औसत व्यक्ति की मानसिकता व संसाधित पदार्थों का महंगा होना आदि।

फल परिरक्षण व्यवसाय को उपर्युक्त समस्याओं से उभारने के लिए निम्न उपाय करने की आवश्यकता

1. सस्ते पदार्थों का निर्माण करना।
2. उचित दर पर उचित किस्म की फल व सब्जी की उपलब्धता होना।

11.2 फल परिरक्षण के सिद्धान्त एवं विधियाँ (Principles and methods of fruit preservation)

फल एवं सब्जियाँ जीवधारी उत्पाद है जिनमें तुड़ाई पश्चात् भी वे सभी क्रियाएँ होती रहती है,जो तुड़ाई से पूर्व होती है जैसे श्वसन एवं वाष्पोत्सर्जन आदि। इसी क्रम में तुड़ाई पश्चात् भी उनमें भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन होते हैं। यह परिवर्तन जब अवांछनीय सीमा तक हो जाते हैं तो ये उपयोग योग्य नहीं रहते हैं। इस अवस्था से पूर्व ही उनसे कुछ खाद्य पदार्थ तैयार कर उनको खराब होने से बचाया जा सकता है। अतः फल–परिरक्षण, वह विज्ञान है जो प्राकृतिक विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों को अपना कर फलों तथा सब्जियों के संसाधन एवं नष्ट न होने देने की वैज्ञानिक विधियों का ज्ञान कराता है। इसे फल प्रोद्योगिकी भी कहा जाता है। जिसमें फल–सब्जियों का संरक्षण और संसाधन किया जाता है। फल एवं सब्जियों के खराब होने के निम्न कारण प्रमुख है–

1. शुष्कन या सुखाना (Desiccation or drying)

यह वातावरण के उच्च तापक्रम के कारण होता है। जिसमें फल एवं सब्जियों में उपस्थित नमी उच्च ताप के कारण वाष्पोत्सर्जन क्रिया से कम होती जाती है, ताजा फल सब्जियों में झुर्रियां पड़ना प्रारम्भ हो जाती हैं एवं सिकुड़ने लगते हैं और वे उपभोग के लिये उपयुक्त नहीं रहते हैं। ऐसी अवस्था में तुड़ाई पश्चात् फल व सब्जियों का भण्डारण निम्न ताप पर करना चाहिए।

2. एन्जाइम की क्रियाशीलता एवं रासायनिक अभिक्रिया

फल तथा सब्जियों में विभिन्न प्रकार के एन्जाइम पाये जाते हैं। ये एन्जाइम पौधों की विभिन्न क्रिया जैसे वृद्धि, उपापचय, पुनरूत्पादन आदि के लिये आवश्यक है। एन्जाइम पूर्ण परिपक्व फल एवं सब्जियों को पकाने वाली अभिक्रिया में भी सहायक होते हैं। एन्जाइम की उत्प्रेरक शक्ति रासायनिक अभिक्रियाओं को बढ़ाती है। कटे हुए फल व सब्जियों को हवा में खुला रखने पर थोड़े समय में काले पड़ना भी एन्जाइम की क्रियाशीलता व रासायनिक अभिक्रिया का ही परिणाम है।

3. सूक्ष्म जीव (Microorganism)

विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म जीवों में फफूंदी, खमीर व जीवाणु की फल व सब्जियों एवं उनके उत्पाद को खराब करने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ये सूक्ष्म जीव उचित वातावरण में अपने भरण पोषण के लिए फल व सब्जियों को अपना माध्यम बनाते हैं जिसके फलस्वरूप फल एवं सब्जियों में किण्वन होता है तथा इस प्रकार किण्वित खाद्य पदार्थ उपयोग करके कुछ खाद्य पदार्थ को उपयोगी भी बना सकते है जैसे सिरका, मदिरा, आचार आदि में इनकी सहायता अनिवार्य है। फल व सब्जी को सड़ाने वाले विभिन्न सूक्ष्म जीवों में जीवाणु केनिंग या बोटलिंग में विशेष समस्या उत्पन्न करते हैं। ये जीवाणु जीव विष उत्पन्न करते हैं इन जीवाणु के बीजाणु उच्च ताप के प्रति सहिष्णु होते हैं अतः इन्हें खमीर या फफूंद की तरह मात्र उच्च ताप के उपचार से खत्म नहीं किया जा सकता है।

फल परिरक्षण के सिद्धान्त एवं विधियाँ

फल परिरक्षण के सिद्धान्त एवं विधियों को निम्न दो भागों में विभाजित किया गया है।

1. **अस्थायी परिरक्षण** (Temporary preservation)
2. **स्थायी परिरक्षण** (Permanent preservation)

1. अस्थायी परिरक्षण : परिरक्षण की ऐसी विधियाँ जिनके द्वारा फल व सब्जियों को कुछ दिनों से कुछ महीनों तकम परिरक्षित किया जा सकता है। अस्थायी परिरक्षण की कुछ प्रचलित विधियाँ निम्न है–

*** स्वच्छता :** तुड़ाई उपरान्त भण्डारण करने से पहले कटे–फटे, रोग व कीटाणु से प्रभावित फलों व सब्जियों को छाँट कर अलग कर उन्हें साफ पानी से धो लेना चाहिए जिससे इनकी सतह पर लगी धूल मिट्टी साफ हो जाती है तथा सूक्ष्म जीवों की संख्या कम हो जाती है व फल तथा सब्जियों को खराब होने से बचाती है।

*** निम्न तापक्रम द्वारा :** ताजे फलों व सब्जियों को निम्न तापक्रम पर बिना किसी परिवर्तन के कुछ समय तक भण्डारित किया जा सकता है। निम्न तापक्रम पर सूक्ष्म जीवों की वृद्धि तथा एन्जाइम की क्रिया कम हो जाती है तथा फल व सब्जियों में होने वाली रासायनिक अभिक्रिया भी रूक जाती है। फलस्वरूप इनको कुछ समय तक खराब होने से बचाया जा सकता है।

*** उच्च तापक्रम द्वारा :** सूक्ष्म जीवों की क्रियाशीलता एवं वृद्धि को उच्च तापक्रम द्वारा नष्ट किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उच्च तापक्रम (160-180° F) से एन्जाइम निष्क्रिय हो जाते हैं, तथा फलों, सब्जियों व उनके उत्पादों में होने वाली रासायनिक अभिक्रिया भी कम हो जाती है। जैसे– पास्तुरीकरण, ब्लाचिंग आदि।

*** वायु निष्कासन द्वारा :** ऑक्सीजन वायु जीव की वृद्धि तथा क्रियाशीलता के लिये आवश्यक होती है। अतः फलों, सब्जियों से बने उत्पादों के डिब्बों में से वायु को बाहर निकाल देने पर इनको कुछ दिनों तक सुरक्षित रखे जा सकता है। क्योंकि वायु की अनुपस्थिति में वायु जीव क्रियाशील नहीं रह पाते तथा कोई रासायनिक क्रिया भी नहीं हो पाती है। कैनिंग में निर्वात पैकिंग की विधि इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

*** नमी निष्कासन द्वारा :** उचित नमी सूक्ष्म जीवों की वृद्धि एवं क्रियाशीलता के लिये आवश्यक होती है। एन्जाइम की क्रियाशीलता व रासायनिक अभिक्रिया भी उचित नमी की अवस्था में अधिक होती है। फल व सब्जियों में 80–90 प्रतिशत तक नमी होती है इसीलिये ये शीघ्र ही खराब होने लगते हैं। अतः फल व सब्जियों की नमी को कम करके व उनमें कुल ठोस पदार्थों की मात्रा बढ़ाकर अस्थाई रूप से परिरक्षित किया जा सकता है जैसे फल व सब्जियों को सुखाना, फल रस को गाढ़ा करके परिरक्षित करना आदि।

*** मृदु प्रतिरोधी पदार्थों का उपयोग :** नमक (6-8%), चीनी (42-50%), सिरका (0.5-1.5%) एवं मसाले की थोड़ी मात्रा के साथ फल एवं सब्जियों का अस्थायी परिरक्षण किया जा सकता है। जैसे अचार में नमक तथा टमाटर सॉस में सिरका परिरक्षित पदार्थ का कार्य करता है।

2. स्थाई परिरक्षण : परिरक्षण की ऐसी विधियाँ जिनके द्वारा फल व सब्जियों को कुछ वर्षों तक परिरक्षित किया जाता है। स्थाई परिरक्षण के लिये निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित है–

*** जीवाणुविहीनीकरण क्रिया :** इस विधि के अन्तर्गत फल व सब्जियों को जीवाणु रहित डिब्बों में भरकर, वायु रहित करके 100^{o} सेल्सियस तापक्रम पर 30–60 मिनट (कम अम्लता वाले पदार्थों में) तक गर्म करके जीवाणु रहित करते हैं।

*** सुखाना या निर्जलीकरण करना :** फल व सब्जियों के परिरक्षण की यह विधि प्राचीन तथा अत्यधिक प्रचलित है। इस विधि के अन्तर्गत फल व सब्जियों को छोटे–छोटे टुकड़ों में काटकर धूप में या निर्जलीकरण मशीन (सूखावक) द्वारा धीरे–धीरे नमी रहित करते हैं। सिद्धान्ततः जब कुल ठोस पदार्थ की मात्रा 70 प्रतिशत से अधिक हो तो फल व सब्जियों में सूक्ष्मजीव सक्रिय नहीं रहते हैं। सूखे हुए पदार्थों को पॉलीथीन की थैलियों या डिब्बों में भर कर परिरक्षित कर लिया जाता है।

*** किण्वीकरण द्वारा :** किण्वन वह रासायनिक क्रिया है जिसमें शर्करायुक्त पदार्थों का एन्जाइम युक्त सूक्ष्म जीवों द्वारा अपघटन होता है। इस क्रिया में ऐसे पदार्थों का निर्माण होता है जो अवांछित सूक्ष्म जीवों एवं एंजाइम की गतिविधियों को रोक देते हैं।

एल्कोहॉलिक किण्वन : इस किण्वन में हैक्सोज शर्करा का अपघटन खमीर द्वारा होता है और एल्कोहॉल और कार्बन–डाई–ऑक्साइड बनते हैं। इस विधि में एल्कोहॉल प्रमुख परिरक्षक तत्व होता है। उदाहरण– विभिन्न प्रकार की मदिरा।

$$C_6H_{12}O_6 \xrightarrow{\text{खमीर}} 2C_2H_5OH+2CO_2$$

एसिटिक अम्ल किण्वन : इस किण्वन में एल्कोहॉल का विघटन एसिटिक अम्ल जीवाणु द्वारा होता है तथा एसिटिक अम्ल का निर्माण होता है। इस विधि में एसिटिक अम्ल प्रमुख परिरक्षक तत्व है। उदाहरण– सिरका।

$$C_2H_5OH+O_2 \xrightarrow{\text{एसिटिक अम्ल जीवाणु}} CH_3COOH+H_2O$$

लैक्टिक अम्ल किण्वन : इस किण्वन के अन्तर्गत डैक्ट्रोस शर्करा का जीवाणुओं द्वारा अपघटन होता है। इसमें लैक्टिक अम्ल प्रमुख तत्व है जो परिरक्षण का कार्य करते हैं। उदाहरण– अचार।

*** परिरक्षक पदार्थों के उपयोग द्वारा :** साधारणतः खाद्य पदार्थों के परिरक्षण के लिये उचित मात्रा में नमक, शक्कर, सिरका, मसाला, तेल व रासायनिक परिरक्षक का उपयोग करके उनका स्थाई परिरक्षण किया जाता है। जैसे–

नमक का उपयोग – पदार्थ में 15 से 20 प्रतिशत नमक की उपस्थिति खराब होने से रोकती है। परासरण दबाव के कारण सूक्ष्म जीव वृद्धि नहीं कर पाते हैं जैसे– अचार, चटनी आदि।

शर्करा द्वारा : खाद्य पदार्थों में 65–70 प्रतिशत शर्करा की उपस्थिति परासरण दबाव के कारण सूक्ष्म जीवों को निष्क्रिय कर देती है और पदार्थ खराब नहीं होते हैं जैसे मुरब्बा, जैली, जैम, मार्मलेड आदि।

सिरका द्वारा : सिरका में उपस्थित एसिटिक अम्ल सूक्ष्म जीवों के लिये विष का काम करता है अतः किसी भी खाद्य पदार्थ में 2 प्रतिशत एसिटिक अम्ल सूक्ष्म जीवों को मार कर परिरक्षण का कार्य करता है जैसे– अचार।

तेल द्वारा : विभिन्न खाद्य तेल सूक्ष्म जीवों के प्रतिरोधी होते हैं कभी–कभी तेल फफूँद निरोधक भी होते हैं। खाद्य पदार्थों में तेल डालने से उनमें उपस्थित सूक्ष्म जीव नष्ट हो जाते हैं और उनका पुनः प्रवेश भी रूक जाता है जैसे अचार।

रासायनिक परिरक्षक द्वारा : मुख्य रूप से पोटेशियम–मेटा–बाई सल्फाइट व सोडियम बेन्जोएट नामक रसायन का उपयोग परिरक्षक पदार्थ के रूप में किया जाता है। ये रसायन खाद्य पदार्थ में सूक्ष्म जीवों की क्रियाशीलता व वृद्धि को रोक कर खराब होने से बचाते हैं। जैसे स्क्वैश, कोर्डियल, सॉस आदि।

कार्बन–डाई–ऑक्साइड द्वारा : विभिन्न फलों और पेय पदार्थों के परिरक्षण के लिए कार्बन–डाई–ऑक्साइड गैस का रसायन के रूप में उपयोग किया जाता है, जिन्हें कार्बनीकृत पेय के रूप में जाना जाता है।

*** विकिरण (रेडियेशन द्वारा परिरक्षण) :** खाद्य पदार्थों में न्यूनतम अणु विकिरणोपचार करने से सूक्ष्म जीवों को नष्ट किया जा सकता है तथा एन्जाइम भी निष्क्रिय हो जाते हैं। खाद्य पदार्थों के परिरक्षण में साधारणतः गामा विकिरण (γ रेडियेशन) का उपयोग किया जाता है। इसे ठण्डी जीवाणुविहीनीकरण क्रिया भी कहते हैं।

11.3 फल एवं सब्जियों की डिब्बाबंदी

(Canning of fruits & vegetables)

1. फल व सब्जियों का चुनाव (Selection of fruits and vegetables) : डिब्बाबन्दी के लिए फल व सब्जियाँ स्वस्थ, ताजा मुलायम हो तथा दाग धब्बे रहित तथा क्षतिग्रस्त नहीं होनी चाहिए। फल अधिक पके नहीं हो अन्यथा डिब्बाबन्दी के समय सिकुड़ जाते हैं। फल सब्जियों की सभी किस्में डिब्बाबन्दी के लिए उपयुक्त नहीं होती। जैसे– आम की दशहरी, गाजर पीली तथा शलजम सफेद इस कार्य के लिए उपयुक्त मानी जाती है।

2. सफाई (Cleaning) : डिब्बाबन्दी में प्रयुक्त फल व सब्जियों को स्वच्छ पानी से अच्छी प्रकार साफ करना चाहिए ताकि इससे उन पर लगी धूल तथा रासायनिक पदार्थ आदि साफ हो जावे। प्रारम्भ में साधारण पानी और उसके बाद गर्म पानी से धोना अच्छा होता है।

3. फल एवं सब्जी की तैयारी (Preparation of fruits and vegetables) : फल व सब्जियों की सफाई के बाद फलों व सब्जियों के अनुसार उनको छील कर (पीलिंग) छोटे टुकड़ों में व्यवस्थित किया जाता है। फलों को काटने के बाद तुरन्त 2 प्रतिशत नमक के घोल में डालना चाहिए जिससे उनका रंग खराब नहीं होता है।

4. श्वेतन (Blanching) : तैयार फल व सब्जियों को उनकी प्रकृति के अनुसार 2 से 5 मिनट तक उबलते हुए पानी में रखना तथा उन्हें ठण्डा करने की क्रिया को विवर्ण क्रिया (ब्लांचिग) कहा जाता है। विवर्ण की क्रिया के कई लाभ है, जैसे– उनके रंग व स्वाद में सुधार हो जाता है उन पर चिपकी गन्दगी, रोगाणु दूर हो जाते हैं व खटास कड़वाहट कम हो जाती है आदि। छोटे स्तर पर विवर्णीकरण के लिए उन्हें जालीदार टोकरियों में रखकर कुछ समय (2 से 5 मिनट) के लिए उबलते हुए पानी में रखा जाता है। बड़े स्तर पर इस कार्य को मशीनों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। विवर्णीकरण से कभी कभी फलों का रंग, सुगन्ध तथा मिठास कम हो जाती है तथा जल में घुलनशील पोषक तत्व भी कम हो जाते हैं। गर्म पानी से निकाल कर फल सब्जियों को ठण्डे पानी में डुबोया जाता हैं

5. डिब्बो में भरना (Filling in cans) : विवर्ण क्रिया के पश्चात फल व सब्जियों के टुकड़ों को पहले से साफ एवं गर्म पानी से धुले डिब्बों में या काँच की बोतलों में भरा जाता है। तैयार फल व सब्जियों को डिब्बों में हाथ से या फिर स्वचालित मशीनों द्वारा भरा जाता है। पदार्थ को डिब्बों में न अधिक दबाकर और न ही अधिक ढीले भरना चाहिए। भरने के पश्चात् ऊपर ½ से ¾ इंच स्थान खाली रखना चाहिए। फलों के डिब्बों में फल का रस या पानी, चीनी की चाशनी जिसे सीरप भी कहा जाता है, उपयोग किया जाता है।

खट्टे या कम मीठे में अधिक सान्द्रता का घोल तथा मीठे फलों में कम सान्द्रता का घोल भरा जाता है। सामान्यतः शक्कर के घोल की सान्द्रता 20–55° ब्रिक्स तक रखी जाती है।

डिब्बाबन्दी के लिए चीनी की चाशनी प्रायः तीन प्रकार की– गाढ़ी चाशनी (50% चीनी) मध्यम या साधारण चाशनी (40% चीनी) तथा हल्की चाशनी (33% चीनी) का उपयोग किया जाता है। सब्जियों की डिब्बाबन्दी के लिए सीरप के स्थान पर नमक का घोल (ब्राइन) प्रयोग में लिया जाता है। प्रायः 2 प्रतिशत नमक का घोल सभी सब्जियों के लिए उपयुक्त माना गया है।

6. निर्वात या वायु निष्कासन (Exhausting) : पदार्थ एवं घोल से भरे डिब्बे से हवा का निकालना, वायु निष्कासन कहलाता है। इससे डिब्बों में वायु शून्य स्थान या निर्वात पैदा हो जाता है, जो खाद्य पदार्थ को सुरक्षित रखने में सहायक होता है। यह कार्य डिब्बों को गर्म करके या मशीनों द्वारा किया जाता है।

7. डिब्बा बन्द करना (Sealing) : डिब्बों की वायु निकलने के पश्चात गर्म डिब्बों को पानी से बाहर निकाल करके सील कर दिया जाता हैं डिब्बाबन्द या सील करने का कार्य आजकल विशेष मशीनें जिसे डबल सीमर कहते हैं, प्रयोग में लायी जाती है। यह मशीनें विभिन्न आकार व क्षमता वाली होती है। बन्द करते समय डिब्बे का तापमान 70° सेल्सियस से कम नहीं होने पावे।

8. संसाधन (Processing) : बन्द डिब्बों को एक निश्चित तापमान पर एक निश्चित समय तक इस उद्देश्य से गर्म किया जाता है कि पदार्थ में उपस्थित सूक्ष्मजीव नष्ट हो जावें तथा शेष अक्रियाशील हो जावें। यहाँ यह ध्यान रखा जाता है कि पदार्थ का मौलिक गुण बना रहे। इस कार्य के लिए अधिकांश फल के लिए 100° सेल्सियस तापमान उपयुक्त रहता है। सब्जियों से भरे डिब्बे को 115–120° सेल्सियस तापक्रम पर संसाधित किया जाता है। सब्जियों में अम्ल कम होने के कारण अधिक समय तक गर्म किया जाता है। इस क्रिया के बाद डिब्बे को लगभग 39° सेल्सियस तापमान तक ठण्डा किया जाता है। ठण्डा करने के लिए डिब्बे को ठण्डे पानी से भरे पात्र में डुबोते हैं या फिर इसके ऊपर पानी का फव्वारा डाला जाता है। डिब्बे को ठण्डा नहीं करने से खाद्य पदार्थ में जलने से विकार पैदा हो कर गुणवत्ता नष्ट होने लगती है।

डिब्बे के ऊपर लेबल मशीन द्वारा निर्माता एवं सामग्री का नाम, तैयार करने की दिनांक व अन्य संबंधित जानकारी का लेबल लगाया जाता है। तैयार डिब्बों को ठण्डे व सूखे हवादार कमरों में भण्डारित कर लिया जाता है।

11.4 फलपाक (Jam)

जैम फलों के गूदे को चीनी के साथ एक निश्चित अनुपात में मिलाकर पकाकर तैयार किया जाने वाला पदार्थ है। जैम में कम से कम 68 प्रतिशत कुल घुलनशील ठोस पदार्थ (टी. एस.एस.) अम्लता 0.5–0.6 प्रतिशत तथा 45 प्रतिशत तक फल का भाग होना आवश्यक होता है। जेम सेब, पपीता, स्ट्राबेरी, बेर, आंवला, करौंदा, अंगूर, खुबानी, आलूबुखारा, आड़ू, गाजर आदि तथा मिश्रित फलों का भी बनाया जा सकता है। जैम के फलों का गूदा, चीनी, पैक्टिन, खटास तथा पानी आवश्यक अंश है। जैम फलों से निर्मित एक स्वादिष्ट उत्पाद है जिसकी घरों में लोकप्रियता बढ़ने के साथ साथ आजकल माँग में काफी वृद्धि हो रही है।

फल पाक बनाने की विधि

*** फलों का चयन :** जैम बनाने के लिए उचित प्रकार से पके हुए फलों का ही चयन करना चाहिए। फल स्वच्छ व उचित अनुपात में गूदेदार होने चाहिए।

*** फलों की तैयारी :** फल विशेष की प्रकृति के अनुसार जैम के लिए चयनित फलों को धोना, छीलना, काटना, उनसे गुठली या बीज निकालना तथा उबालना आदि क्रियाऐं की जाती है। तैयार फलों को छोटे–छोटे टुकड़े कर, स्टील के भगोने में डालकर पानी के साथ उबाला जाता है। पानी की मात्रा फल डूबने तक ही डालनी चाहिए। उबालते समय फलों को कुचलते रहने से उनसे पेक्टिन की पूरी मात्रा निकल आती है तथा गूदा भी लुगदी जैसा हो जाता है। आवश्यक होने पर इसको छाना भी जा सकता है।

*** चीनी मिला कर पकाना :** फलों से गूदा तैयार कर उसमें फल की किस्म तथा खटास के अनुसार चीनी मिलायी जाती है। प्रायः मीठे फलों में कम शक्कर की आवश्यकता रहती है। खट्टे फलों जैसे– करौंदा, रसभरी, खट्टा आम आदि में एक किलो गूदे में 1.250 किग्रा. चीनी तथा मीठे फलों में 0.750 किग्रा. से एक किलो तक चीनी पर्याप्त रहती है। फल के गूदे तथा चीनी के मिश्रण को हल्की आँच पर पकाना चाहिए। पकाते समय मिश्रण को हिलाते रहने से जलने की सम्भावना नहीं रहती है। पकाते समय मिश्रण में 1.5 ग्राम प्रति किलो की दर से नींबू का सत भी मिलाना चाहिए। मिश्रण को इतनी देर तक पकाते हैं कि उसमें घुलित ठोसों की मात्रा 68 प्रतिशत तक तथा उसका तापमान 105° सेल्सियस हो जावे। अधिक तापमान पर जैम सख्त तथा कम पकाने से ढीला रह जाता है।

*** अन्तिम बिन्दु की जाँच :** जैम तेयार हो गया है, इसके लिए निम्न परीक्षण कर पकने की अवस्था का ज्ञान किया जाता है–

I. जैम, मिलायी गयी शक्कर या चीनी का लगभग 1.5 गुना भार का हो जाता है।

ii. उबलते हुए जैम की एक बून्द पानी से भरे पात्र में डालने पर वह बिना फैले पैंदे में बैठ जाती है।

iii. रेफ्रेक्टोमीटर द्वारा जाँच करने पर तैयार जैम में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ (टी.एस.एस.) 68 प्रतिशत होता है।

*** पात्र में भरना :** गर्म जैम को पहले से निर्जमीकृत पात्रों में भर कर ढक्कन लगा दिया जाता है। जैम भरते समय इस बात का ध्यान रखें कि बोतलों में हवा न रह जावे अन्यथा जैम बाद में खराब हो जाता है।

विभिन्न फलों से फलपाक बनाने की आवश्यक सामग्री

फल का नाम	प्रति किलो गूदे में पदार्थ की मात्रा		
	पानी (मि.ली.)	चीनी (कि.ग्रा.)	अम्ल (ग्राम)
सेव	100	0.750	2.0
पपीता	100	0.750	3.0

अवलेह (Jelly)

अवलेह (जैली) एक अर्ध ठोस पदार्थ है जो पेक्टिनयुक्त फलों के रस में उचित मात्रा में चीनी के साथ पकाकर तैयार किया जाता है। जैली में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ (टी.एस. एस.) 65 प्रतिशत तथा फलों का रस या अंश 45 प्रतिशत होता है। जिन फलों में पैक्टिन की मात्रा अधिक होती हे, उन्हीं फलों को जैली बनाने के लिए उपयुक्त समझा जाता है। जैली प्रायः अमरूद, आम, करौदां, अंगूर, जामुन, खट्टे सेब, नारंगी तथा आलू बुखारा आदि से बनायी जा सकती है। इसका उपयोग प्रायः टोस्ट या डबलरोटी के साथ किया जाता है।

*** आदर्श जैली की पहचान :** एक अच्छी जैली में निम्न गुणों का होना आवश्यक है–

(1) जैली चमकरदार, आकर्षक व पारदर्शक होती है एवं ठण्डी होने पर जिस पात्र में रखी जावे वैसा ही आकार ग्रहण कर लेती है।

(2) चाकू से काटने पर चमकदार टुकड़ों में विभक्त हो जाती है।

(3) फलों का वास्तविक सुगन्ध व स्वाद होना चाहिए।

(4) हिलाने पर धीरे धीरे हिलती है (क्वरलिंग) परन्तु तिरछा करने पर बहने नहीं लगे।

*** जैली के मुख्य अंशः :** जैली बनाने के लिए मुख्य रूप से निम्न चार अंशों की आवश्यकता रहती है–

पैक्टिन	–	1.0 प्रतिशत
चीनी	–	60–65 प्रतिशत
अम्ल	–	0.75–0.90 प्रतिशत
पानी	–	33–38 प्रतिशत

जैली बनाने की विधि

*** फलों का चयन :** जैली के लिए अच्छे, स्वस्थ ताजे एवं अधपके फलों का चुनाव किया जाता है। अधपके फलों में पैक्टिन की मात्रा अधिक पायी जाती है परन्तु जैली में फल का स्वाद व सुगन्ध के लिए कुछ पूर्ण पके फलों का चयन भी किया जाता है।

*** फलों से पैक्टिन प्राप्त करना :** चयनित फलों को अच्छी प्रकार से धो कर काट लेना चाहिए। फिर उन्हें एक पात्र में डालकर इतना पानी डालें कि फल पानी में डूब जावे। इसको निश्चित अवधि तक उबाला जाता है जिससे कि पैक्टिन पानी में आ जावे। अब पैक्टिन मिश्रित फल रस को छानना चाहिए। इसके लिए 'जैली बैग' का प्रयोग किया जाता है। व्यावसायिक स्तर पर छानने का कार्य मशीनों द्वारा किया जाता हैं कपड़े से छानने की स्थिति में हाथ से दबाना नहीं चाहिए।

*** पैक्टिन परीक्षण :** जैली में चीनी की मात्रा कितनी हो यह पैक्टिन की मात्रा पर निर्भर करती है। पैक्टिन जाँच निम्न विधियों द्वारा की जाती है–

(1) **एल्कोहल परीक्षण :** एक बीकर में कमरे के तापमान तक ठण्डा किया एक चम्मच रस ले लिया। अब इसमें दुगुनी मात्रा में स्प्रिट या एल्कोहल सावधानी से मिलाकर हिलाते हैं। ऐसा करने से रस में उपस्थित पैक्टिन ठोस रूप में आ जाती है। इस ठोस की मात्रा से पैक्टिन का अनुमान लगाया जाता है। यदि पैक्टिन एक बड़े ढेले के रूप में आ जावे तो रस में पैक्टिन अच्छी मात्रा में है तथा 2–3 ढेले बनने पर मध्यम मात्रा में एवं छोटे छोटे बहुत से फुदकिया बनने पर पैक्टिन की मात्रा कम मानी जाती है।

(2) **जेल मीटर परीक्षण :** जेल मीटर काँच की एक अशांकित दोनों सिरों से खुली नली समान होती है जिसका लगभग एक तिहाई ऊपरी भाग 0.75 सेमी. व्यास का तथा शेष भाग 0.50 सेमी. से भी कम व्यास का होता है। परीक्षण के लिए बाँयें हाथ की पहली अंगुली तथा अंगूठे से इसको पकड़ कर छोटी अंगुली से नीचे के छिद्र को बन्द कर देते हैं। कमरे के तापमान तक ठण्डा किया रस इसमें ऊपर तक भरते हैं तथा नीचे से अंगुली हटाकर एक मिनट तक रस को गिरने देते हैं। फिर से अंगुली द्वारा छिद्र बन्द कर दिया जाता है। इसके पश्चात रस में उपस्थित पैक्टिन की मात्रा जेलमीटर के पाठ्यांक द्वारा ज्ञात कर ली जाती है।

पैक्टिन परीक्षण द्वारा चीनी की मात्रा का निर्धारण

स्प्रिट या अल्कोहल परीक्षण	जेल मीटर का पाठ्यांक	प्रति किलो रस में चीनी की मात्रा
अच्छी मात्रा	1.25	1.250 कि.ग्रा.
मध्यम मात्रा	1	1.000 कि.ग्रा.
निम्न मात्रा	0.75	0.750 कि.ग्रा.
सबसे कम मात्रा	0.5	रस को गाढ़ा करें या उसमें पैक्टिन मिलायी जावे।

*** चीनी मिलाना :** पैक्टिन की मात्रा के अनुसार रस में चीनी मिलाकर मिश्रण को पुनः गर्म किया जाता है। गर्म करते समय मिश्रण को हिलाते राहने से जलने की सम्भावना नहीं रहती है। रस में उबाल आने पर या तापमान 103° सेल्सियस होने पर मिश्रण में नींबू का सत (साइट्रिक एसिड) मिला देते हैं। अच्छी जब मिश्रण का तापमान 105° सेल्सियस हो जावे तो जैली तैयार जो जाती है। यह जैली का अन्तिम बिन्दु कहलाता है। जैली तैयार होने के अन्य संकेत निम्न है–

(1) जैली का भार चीनी के भार का 1.5 गुना होने पर जैली तैयार समझी जाी है।

(2) रिफ्रेक्टोमीटर द्वारा कुल घुलनशील ठोस पदार्थ (टी. एस.एस.) की मात्रा 70 प्रतिशत के लगभग हो जाने पर।

(3) एक बीकर या गिलास में पानी ले कर एक बून्द जैली गिराने पर यदि बिना घुले तली में बैठ जाए तो जैली तैयार समझना चाहिए।

(4) एक चम्मच में थोड़ी सी उबलती जैली ले कर उसे धीरे धीरे गिराते हैं। यदि यह बूंद–बूंद कर गिरे तो समझें की जैली अभी तैयार नहीं। तैयार जैली तिकोनी चद्दर सी बनकर नीचे लटक जाती है। इसे शीट टेस्ट कहा जाता है।

(5) जैली थर्मामीटर द्वारा – उबलते मिश्रण का जब कुल घुलनशील ठोस पदार्थ (टी.एस.एस.) 65 प्रतिशत हो जाता हे, तब उसका तापमान 105° सेल्सियस हो जाता हैं इस समय जैली तैयार समझनी चाहिए।

*** पात्र में भरना, ठण्डा करना एवं सील करना :** जैली तैयार होने पर आग से उतारकर, उसके झाग अलग कर देते हैं। इसके बाद निर्जमीकृत चौड़े मुँह वाली बोतलों में गर्म गर्म

जैली ही भर देनी चाहिए। जैली के ठण्डा होने पर वायु से सम्पर्क न हो इसके लिए इसकी सतह पर पिघला मोम भी डाला जा सकता है। बोतलों को सील कर, लेबल लगाकर ठण्डे स्थान पर भण्डारण करते हैं।

*** जैली निर्माण मेंकठिनाइयाँ :**

(1) **जैली का न जमना :** ऐसा बहुत अधिक शक्कर मिलाना, कम व अधिक पकाना, खटास व पैक्टिन की कमी तथा देर तक पकाने से होता है।

(2) **जैली का रोना (विपिंग जैली) :** जैली के जमने पर धीरे धीरे पानी निकलकर ऊपर आना, जैली का रोना कहलाता है। ऐसी स्थिति चीनी की कमी, खटास की अधिकता तथा अपर्याप्त पैक्टिन के कारण होता है।

(3) **जैली अपारदर्शक होना :** ऐसा इसको साफ नहीं करने गन्दगी को नहीं हटाना, अधिक पकाना, अपरिपक्व फलों के प्रयोग के कारण तथा अधिक ठण्डा करने से होता है।

(4) कभी कभी अधिक चीनी मिलाने तथा कम खट्टे फलों में चीनी मिलाकर पकाने से जैली रवेदार हो जाती है।

मुरब्बा (Preserve)

मुरब्बा चीनी द्वारा परिरक्षित किये जाने वाला फल पदार्थ है। प्राचीन काल से ही मुरब्बा सेवन स्वास्थ्यवर्धक माना गया है। मुरब्बा बनाना परिरक्षण की विधियों में से एक है। सम्पूर्ण या कटे हुए फल को चीनी के उच्च सान्द्रण और चाशनी में परिरक्षित उत्पाद को ही मुरब्बा कहते हैं। फल उत्पाद आदेश के अनुसार मुरब्बे में कम से कम 55 प्रतिशत फल और 68 प्रतिशत कुल घुलनशील ठोस होना चाहिए।

पाक योग–

फल	–	1 कि.ग्रा.
चीनी	–	1 कि.ग्रा.
पानी	–	1 लीटर

*** फलों का चुनाव :** मुरब्बा बनाने के लिए कोई भी सख्त, आकर्षक, गूदेदार किस्म के फल का चुना किया जाता है। सामान्यतः मुरब्बे के लिए आंवला, सेब, पेठा, बेल, नाशपाती, अनन्नास, पपीता, आम, अदरक, गाजर आदि का उपयोग किया जाता है। इसके लिए फल कम से कम रेशेवाला, तीन चौथाई पका फल जो कि पर्याप्त कठोर हो, मुरब्बा बनाने के लिए अच्छा माना जाता है।

*** फलों को तैयार करना :** फलों को अच्छी तरह साफ पानी से धो कर, फल की आवश्यकतानुसार उसको तैयार किया जाता है। कुछ फलों को छीलना आवश्यक होता है जैसे– सेब व आम। इनका समान रूप से छिलका हटाना चाहिए। बड़े फलों को टुकड़ों में विभाजित करना चाहिए।

श्वेतन क्रिया (Blanching) : जो फल बिना छिलका उतारे प्रयोग में लेने होते हैं, जैसे– आंवला, इनको लगभग 10–15 मिनट तक उबलते पानी में रखकर तुरन्त ठण्डे पानी में डाला जाता है। ऐसा करने से अच्छी सफाई के साथ साथ रंग में भी सुधार आ जाता है। फलों को गोदते समय उसके बाह्य आकार में परिवर्तन नहीं आवे तथा ठीक प्रकार से सम्पूर्ण फल (गुठली तक) में गुदाई हो जावे, तो मुरब्बा भी अच्छी गुणवत्ता का तैयार होता है।

*** फलों का कसैलापन दूर करना :** फलों को अच्छी प्रकार गोदने के बाद उनको 8–10 घण्टे तक 2 प्रतिशत नमक, फिटकरी या चूने के पानी में रखा जाता है। ऐसा करने से फल कोष सख्त हो जाते हैं तथा चीनी के साथ उबालते टूटते नहीं। इसके साथ ही फलों का रंग भी आकर्षक होकर उसका कसैलापन नष्ट होता है। यह क्रिया विशेष रूप से आँवला के फलों में की जाती है। फलों को चीनी के साथ उबालने से पूर्व उनको 5 मिनट गर्म जल में उबालते हैं। ऐसा करने से फल की कोशिकायें मुलायम हो जाती है तथा उनमें चीनी की मात्रा जल्दी से व्याप्त (इमप्रेगनेट) हो जाती है।

*** चीनी मिलाना :** चाशनी के साथ मुरब्बा बनाने की निम्न विधियाँ फलों की प्रकृति तथा आवश्यकतानुसार उपयोग में लायी जाती हैं–

(1) **चीनी के घोल में पकाना–** इस विधि में चीनी की 33° ब्रिक्स की चाशनी तैयार की जाती है। इसके लिए निर्धारित मात्रा में चीनी व पानी मिलाकर, व पकाकर चाशनी तैयार की जाती है। इस चाशनी में फलों या उनके टुकड़े डालकर हल्की आँच पर पकाते हैं। चाशनी धीरे धीरे गाढ़ी होती रहती है। पकाते समय चाशनी को चम्मच से हिलाते रहते हैं। चाशनी पक कर जब 70° ब्रिक्स से ऊपर पहुंच जावे तब आँच से नीचे उतार लेते हैं। इसमें लगभग 24 घण्टे फलों को पड़े रहने देते हैं। इस समय में फलों से पानी निकलकर चाशनी में मिलने से चाशनी पतली हो जाती है। अतः चाशनी को पुनः गर्म कर 70° ब्रिक्स तक पहुँचा देते हैं। इस तरह तैयार मुरब्बे को निर्जलीकृत पात्रों में भर कर ढक्कन लगा देते हैं।

(2) **बिना पकाये चीनी में फलों को डालना–** इस विधि में बिना चीनी के घोल को पकाये भी मुरब्बा तैयार किया जाता है। इस विधि में मुरब्बा तैयार होने में समय अधिक

लगता है, परन्तु मुरब्बा अच्छा तैयार होता है। इस विधि में फलों को ब्लाचिंग करके काँच की बर्नियों या अन्य पात्रों में डाल दिया जाता है और कुल चीनी की एक तिहाई मात्रा ऊपर से डाल दी जाती है और कुल चीनी की एक तिहाई मात्रा ऊपर से डाल दी जाती है। इनको 24 घण्टे रखने पर चीनी की चाशनी बन जाती है। इसके बाद फलों को निकाल कर चाशनी में पुनः एक तिहाई चीनी मिलाकर पका लेते हैं। इस चाशनी से फलों को डालकर पुनः 24 घण्टे के लिए रख देते हैं। इस दौरान भगोने का ढक्कन बन्द रखे। 24 घण्टे बाद पुनः फलों को निकालकर चाशनी में एक तिहाई चीनी मिलाकर पकाते हैं। पकाते समय नींबू का सत डालने से चाशनी स्वच्छ हो जतीी है। इस चाशनी में फलों को पुनः 24 घण्टों के लिए रखते हैं। एक बार पुनः चाशनी को 24 घण्टों के लिए रखते हैं। एक बार पुनः चाशनी में 68° ब्रिक्स तक गर्म करके 1–2 दिन के लिए रख देते हैं। अन्तिम बार चाशनी से फलों को निकाल कर पकाते हैं तथा 70° ब्रिक्स तक पहुँचने पर फलों को डालकर मुरब्बा तैयार करते हैं।

*** बर्तनों में भरना :** मुरब्बे को काँच के बर्तन, चीनी मिट्टी के बर्तन, टिन के डिब्बों तथा व्यापक स्तर पर कनस्तरों में भी भरकर बन्द करके रखा जाता है। कुछ मुरब्बों में केवड़ा या गुलाब की सुगन्ध चाशनी में मिलायी जाती है।

पानक (Squash)

फलों से तैयार पेय पदार्थों में पानक (स्क्वैश) सबसे अधिक प्रचलित है। फल का रस, गूदा, चीनी तथा खटास को एक निशचित अनुपात में मिलाकर जो पेय पदार्थ तैयार होता है उसे पानक या ''स्क्वैश'' कहा जाता है। स्क्वैश में 25 प्रतिशत फलों का रस, 33 से 55 प्रतिशत चीनी तथा 1–2 प्रतिशत अम्लता होती है। स्क्वैश फलों के रस जैसे आम, अंगूर, संतरा, नींबू, फालसा, लीची आदि से बनाया जाता है। इसको परिरक्षित करने के लिये परिरक्षक पदार्थ तथा आकर्षक बनाने के लिये खाने वाला रंग भी मिलाया जाता है। स्क्वैश का उपयोग करने से पहले एक भाग में चार भाग पानी मिलाना उचित रहता है।

पानक बनाने की विधि :

1. फलों का चुनाव : ताजे फलों से तैयार स्क्वैश स्वादिष्ट, पौष्टिक व सुगन्धित होता है। अतः इसके लिये अच्छे, स्वस्थ, पूर्ण पके ताजे फलों का ही चुनाव करना चाहिये। सड़े गले, रोगग्रस्त, कीट लगे फलों से उत्तम गुणों का स्क्वैश तैयार नहीं होता है।

2. फलों की सफाई व रस निकालना : अच्छे, स्वस्थ फलों को साफ करके, छीलकर (सन्तरा, अन्नानास, आम आदि) तथा कुल्लुलों को बिना छीले (जामुन, अंगूर, शहतूत, फालसा) एवं कुछ फलों को काट कर (माल्टा नींबू) रस निकाला जाता है। रस निकालने के लिये बास्केट प्रेस मशीन, स्क्रूटाइप मशीन तथा ज्यूसर आदि यंत्रों का प्रयोग किया जाता हैं निकले हुए रस को ढक कर रखना चाहिए अन्यथा हवा के सम्पर्क में आने से ऑक्सीकरण के कारण कड़वापन आ सकता है। इस को छानकर साफ व रेशे रहित कर लिया जाता है।

3. चाशनी तैयार करना : फलों के भार के अनुसार निर्धारित मात्रा की चीनी से चाशनी तैयार की जाती है। चीनी में निर्धारित मात्रा में पानी मिलाकर गर्म किया जाता है। एक उबाल आने पर इसमें नींबू का सत (साइट्रिक एसिड) डाला जाता है, जिससे चीनी में उपस्थित गंदगी साफ होकर ऊपर आ जाती है। चाशनी को छान लेते हैं। साधारणतया चाशनी 70° ब्रिक्स की बनायी जाती है। घरेलू स्तर पर कुल चीनी की आधी से कम मात्रा में पानी मिला कर (5 किलो में 2.25 लीटर) चाशनी तैयार की जाती है। चाशनी को फलों के रस में मिलाने से पूर्व पर्याप्त समय तक ठण्डा करना चाहिए। गर्म चाशनी में रस मिलाने से उसकी गुणवत्ता प्रभावित होती है।

4. चाशनी में रस मिलाना : फलों के रस को चाशनी में अच्छी तरह मिलाना चाहिये। इसमें फल परिरक्षक पदार्थ व खाने का रंग भी मिलाया जाता है। लेकिन पदार्थों को पहले किसी पात्र में कुछ मिश्रण ले कर अच्छी प्रकार से मिलाना चाहिए इसके बाद इसे सम्पूर्ण स्क्वैश के घोल में मिलाया जाता है। रंग का प्रयोग नियमानुसार स्वीकृत रंगों में से ही करना चाहिये। स्क्वैश में पानी, रस, चीनी व परिरक्षक पदार्थों की एक निश्चित मात्रा का ही प्रयोग किया जाता है। एक अच्छे स्क्वैश के लिये इनकी मात्राएँ निम्न प्रकार है–

फल का नाम	रस की मात्रा	चीनी	पानी	साइट्रिक अम्ल
	(लीटर)	(कि.ग्रा.)	(लीटर)	(ग्राम)
सन्तरा	1.0	1.75	1.0	20
नींबू	1.0	2.0	1.0	–

फालसा व जामुन में परिरक्षक पदार्थ सोडियम बेन्जोएट का प्रयोग किया जाता है तथा अन्य फलों में पौटेशियम मेटा बाइ सल्फाइट का प्रयोग किया जाता है। तैयार स्क्वैश को भाप या उबलते पानी से निर्जलीकृत कर बोतलों में भर कर ढक्कन लगाकर रखा जाता है।

टमाटर का सॉस (Tomato Sauce)-

टमाटर के उत्पाद में टमाटर का सॉस सबसे लोकप्रिय है। टमाटर केचप, सॉस तथा चटनी तीनों ही समानार्थक शब्द प्रतीत होते हैं। टमाटर का सॉस अथवा कैचप टमाटर के गूदे, शक्कर, नमक, मसाले और सिरके के साथ तेज आँच में पकाकर तैयार किया जाता है। कैचप व सॉस में कोई विशेष अन्तर नहीं है। कैचप, सॉस की तुलना में कुछ गाढ़ा रहता है। कैचप में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ (टी.एस.एस.) 25 प्रतिशत तक जबकि सॉस में यह 15–16 प्रतिशत तक होता है। इसको परिरक्षित करने में सिरका की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सिरके में यह क्षमता एसिटिक एसिड के कारण होती है।

सॉस बनाने की विधि

टमाटर का चयन

टमाटर का सॉस बनाने के लिये स्वस्थ, साफ व पूर्ण विकसित लाल पके हुए टमाटरों का चुनाव किया जाता है। कच्चे, अधपके फलों से बना सॉस आकर्षक व अच्छी गुणवत्ता का नहीं बन पाता है।

गूदा व रस निकालना

टमाटरों को गर्म पानी से धोकर स्टील के भगोने या किसी पात्र में डालकर टमाटर आधे डूबने तक पानी के साथ आँच पर गर्म किया जाता है। जब अधिकतर टमाटर मुलायम हो जावे या चटख जावे तो नीचे उतार लेवें। इससे गूदा व रस अलग किया जाता है, इसके लिये साफ, स्वच्छ मलमल का कपड़ा, स्क्रूटाइप मशीन या छलनी का उपयोग किया जाता है। स्टील के हाथ वाले 'पल्पर' की मदद से टमाटर के छिलकों व बीजों से रस व गूदा अलग किया जाता है।

मसाला मिलाना

तैयार रस व गूदे को स्टील के भगोने में आँच पर गर्म करने रख दिया जाता है। इस रस में सॉस में मिलाये जाने वाले मसालों को मोटा पीस कर, कपड़े की पोटली में अच्छी प्रकार बांध कर डाल दिया जाता है। मसालों का अर्क धीरे–धीरे इसमें मिलने लगता है। एक अन्य विधि में मसालों को एक छोटे कप पानी में अच्छी तरह उबाल कर छान लेते हैं। इस प्रकार प्राप्त अर्क को उबलते रस व गूदे में मिलाया जाता है। रस व गूदा उबालते समय चम्मच से हिलाते रहने से यह भगौने के पेंदे में नहीं चिपकता। उबालते समय ही सॉस में डाली जाने वाली, कुल चीनी की एक तिहाई मात्रा मिला देनी चाहिए। शेष चीनी की मात्रा सॉस तेयार होने से लगभग 10 मिनट पूर्व मिलाते हैं। अब मसाले की पोटली को उबलते रस से बाहर निकाल लेना चाहिए तथा उसको अच्छी प्रकार दबा कर मसाले का अर्क निचौड़ देना चाहिए। मसाले में लोग शीर्ष रहित ही प्रयोग करनी चाहिए अन्यथा सॉस टेनिन के कारण काले रंग का हो जाता है।

अन्तिम बिन्दु परीक्षण

सॉस के तैयार होने की पहचान के लिये निम्न बिन्दुओं का ध्यान रखा जाता है :

1. तैयार सॉस में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ (टी.एस.एस.) 25% होती है।
2. गूदे व रस के कुल भार का सॉस 1/3 वजन में तैयार होता है।
3. गर्म सॉस की कुछ बून्दें चम्मच से एक तश्तरी में डालते है, कुछ क्षण बाद यदि सॉस, चारों तरफ पानी छोड़ता है तो और उबालना चाहिए।

परिरक्षक मिलाना

अन्तिम बिन्दु परीक्षण के आधार पर सॉस को आँच से उतार लेते हैं। निर्धारित मात्रा में सोडियम बेन्जोएट (परिरक्षक रसायन) तथा सिरका थोड़े से सॉस में अलग से अच्छी प्रकार मिला कर सम्पूर्ण सॉस में मिलाया जाना चाहिए। आवश्यक होने पर टमाटरी रंग या खाने वाला रंग भी मिलाया जा सकता है।

बोतलों में भरना

गर्म सॉस (लगभग 88°C) को छोटे मुँह वाली निर्जमीकृत बोतलों में भर कर ढक्कन लगा दिया जाता है। बोतल में 85–90°C तापमान पर 25 से 30 मिनट तक संसाधित (प्रोसेसिंग) करना चाहिए।

टमाटर सॉस हेतु सामग्री

टमाटर का गूदा	–	1 कि.ग्रा.
चीनी	–	75 ग्राम
नमक	–	10 ग्राम
प्याज (बारीक कटा)	–	50 ग्राम
अदरक	–	10 ग्राम
लहसुन	–	5 ग्राम
दालचीनी (पिसी हुई)	–	10 ग्राम
लाल मिर्च (पिसी हुई)	–	5 ग्राम
काली मिर्च बड़ी इलाचयी, सौंफ,		
जीरा (पिसा हुआ)	–	10 ग्राम प्रत्येक
लौंग शीर्ष रहित	–	5 ग्राम
सिरका	–	25 मि.ली.
या एसिटिक अम्ल	–	5 मि.ली.
सोडियम बेन्जोएट	–	0.25 ग्राम प्रति किलो

सब्जियों व फलों का अचार के रूप में परिरक्षण प्राचीन काल से किया जा रहा है। अचार स्वादिष्ट, पौष्टिक एवं भूख को बढ़ाने के कारण भोजन का विशेष अंग रहा है। ''फूल व सब्जियों को साबुत या टुकड़ों में काटकर इनको मसाले, तेल, नमक, सिरका आदि के मिश्रण की मदद से सुरक्षित रखने को अचार

बनाना तथा तैयार उत्पाद को अचार कहते हैं। ''अचार सामान्यतः आम, आंवला, कटहल, करौंदा, नींबू, लसौड़ा, कैर, कमरख, प्याज, मिर्च, फूलगोभी, करेला, अदरक, लहसुन, शलजम, मूली, गाजर, सहजन आदि का बनाया जाता है। अचार को स्वादिष्ट एवं सुगन्धित बनाने के लिये प्याज, अदरक, लहसुन, मीठा नीम के पत्ते आदि का प्रयोग भी किया जाता है। अचार को परिरक्षित करने में तेल, नमक, सिरका, चीनी आदि पदार्थों का उपयोग किया जाता है।

अचार सुरक्षित रखने की विधियाँ

अचार को उपयुक्त विधि द्वारा लेक्टिक एसिड किण्वीकरण (फर्मन्टेशन) कराकर निम्न में से कोई भी परिरक्षण की विधि द्वारा सुरक्षित रखा जा सकता है। अचार के बनाने के बाद कुछ दिन धूप में रखना अच्छा रहता है।

1. **सिरके द्वारा परिरक्षण :** सिरके में एसिटिक एसिड की मात्रा 6.5 प्रतिशत होती है। सिरका जामुन, सीरे, अथवा 99 प्रतिशत शुद्ध ग्लेसियल एसिटिक एसिड से बनाया जा सकता है। सामान्यतः 3 प्रतिशत एसिटिक एसिड परिरक्षक पदार्थ का कार्य करता हैं सब्जी के टुकड़ों को 10 प्रतिशत नमक में 4–5 दिन रखने के बाद सिरके के पानी में लम्बे समय तक सुरक्षित रख सकते हैं। मूली, शलजम व गोभी का अचार सिरके व गुड़ के घोल में भी बनाया जा सकता है।

2. **लवण द्वारा परिरक्षण :** प्रायः अचार में 15–20 प्रतिशत नमक की मात्रा रखने पर यह परिरक्षक का कार्य करता है। नमक की अधिक मात्रा से किण्वीकरण की क्रिया प्रभावित होती है जिससे अचार खराब हो जाता है।

3. **चीनी द्वारा परिरक्षण :** किसी पदार्थ में चीनी की मात्रा 65 प्रतिशत से अधिक रखने पर यह परिरक्षण का कार्य करती है। नींबू, आम व करौंदे का मीठा अचार चीनी द्वारा परिरक्षित किया जाता है।

4. **तेल द्वारा परिरक्षण :** हमारे देश में परम्परा से ही अचार का परिरक्षण तेल द्वारा किया जाता रहा है। इस कार्य के लिये तिल, मूंगफली व सरसों का तेल द्वारा प्रयोग किया जाता है। जैसे तेल कोई जीवाणु रोधक नहीं है परन्तु अचार के ऊपर स्थित तेल की मोटी परत को जीवाणु भेद कर अचार तक नहीं पहुँच पाते हैं। तेल की मात्रा कम होने पर ही यह अचार खराब होने लगते हैं। लेहसुआ, कैर, कच्चाआम, करौंदा आदि का अचार तेल द्वारा ही सुरक्षित रखा जाता है। अचार तैयार कर अचारीय सुगन्ध के बाद शुद्ध गर्म तेल की लगभग 1–2'' मोटी परत से ढक देना चाहिए।

1. **तेल के साथ कच्चे आम का अचार–**

आम के फाँके	–	1 कि.ग्रा.
नमक	–	150 ग्राम
हल्दी	–	15 ग्राम
मेथी	–	50 ग्राम
हींग	–	2 ग्राम
सौंफ	–	25 ग्राम
कलौंजी	–	20 ग्राम
जीरा	–	10 ग्राम
काली मिर्च	–	10 ग्राम
लाल मिर्च पाउडर	–	8 ग्राम
सरसों का तेल	–	300 मि.ली.

2. **नींबू का अचार–**

नींबू	–	1 कि.ग्रा.
नमक	–	3. ग्राम
हल्दी	–	15 ग्राम
अदरक	–	50 ग्राम
लौंग	–	1 ग्राम
लाल मिर्च पाउडर	–	15 ग्राम
बड़ी इलायची	–	10 ग्राम
काली मिर्च	–	10 ग्राम

महत्वपूर्ण बिन्दु–

1. सब्जियों से भरे डिब्बों को 115–121° सेल्सियस तापक्रम पर संसाधित किया जाता है।
2. फलों से भरे डिब्बों को 100° सेल्सियस तापक्रम पर संसाधित किया जाता है।
3. डिब्बाबंदी प्रक्रिया के जनक निकॉलस एपर्ट थे।
4. अधिकांश एन्जाइम की समुचित क्रिया 30–40° सेल्सियस तापमान पर होती है।
5. शर्करा द्वारा परिरक्षित पदार्थ में 65–70% शर्करा होनी चाहिए।
6. स्क्वैश में 25 प्रतिशत फल रस, 33–35 प्रतिशत चीनी तथा 1–2 प्रतिशत अम्लता होती है।
7. जैम में कम से कम 68 प्रतिशत कुल घुलनशील ठोस

पदार्थ (टी.एस.एस.), अम्लता 0.5–0.6 प्रतिशत तथा 45 प्रतिशत फल का भाग हाना आवश्यक है।

8. टमाटर सॉस में 25 प्रतिशत कुल घुलनशील ठोस पदार्थ (टी.एस.एस.) होता है।
9. भारत में लगभग 25–30 प्रतिशत फल व सब्जियाँ तुड़ाई पश्चात् बिना उपयोग किये ही खराब हो जाती हैं।
10. भारत में प्रथम परिरक्षण उद्योगशाला सन् 1920 में मुम्बई में स्थापित की गई।

अभ्यासार्थ प्रश्न :–

बहुचयनात्मक प्रश्न :–

1. हमारे देश में फल व सब्जी के कुल उत्पादन का भाग खराब हो जाता है–
   (अ) 10–15 प्रतिशत (ब) 25–30 प्रतिशत
   (स) 50–60 प्रतिशत (द) 60 प्रतिशत से अधिक
2. शर्करा द्वारा परिरक्षित पदार्थ में शर्करा की मात्रा होनी चाहिए–
   (अ) 30–40 प्रतिशत (ब) 40–50 प्रतिशत
   (स) 50–60 प्रतिशत (द) 65–70 प्रतिशत
3. सब्जी की डिब्बाबन्दी में नमक का प्रतिशत रखा जाता है–
   (अ) 5 प्रतिशत (ब) 6 प्रतिशत
   (स) 8 प्रतिशत (द) 2 प्रतिशत
4. पानक में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ की मात्रा होती है–
   (अ) 60 प्रतिशत (ब) 40 प्रतिशत
   (स) 30 प्रतिशत (द) 65 प्रतिशत
5. पैक्टिन परीक्षण किया जाता है–
   (अ) जैली थर्मामीटर (ब) जेल मीटर
   (स) लेक्टोमीटर (द) हाइड्रो मीटर
6. टमाटर सॉस में परिरक्षण के रूप में प्रयोग लिया जाता है–
   (अ) नमक (ब) सोडियम बेन्जोएट
   (स) चीनी
   (द) पोटेशियम मेटा बाइसल्फाइट

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

14. टमाटर सॉस में अस्थायी परिरक्षक के रूप में कौन सा पदार्थ उपयोग में लिया जाता है?
16. डिब्बाबन्दी में डिब्बा बन्द करते समय कितना तापक्रम होना चाहिए?
17. पानक में फलों का रस कितने प्रतिशत होता है?
18. मुरब्बा किसे कहते हैं?
19. कैचप व सॉस में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ की मात्रा बताइये?
20. कैचप व सॉस बनाते समय चीनी कब मिलाना चाहिए?

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

23. फलों व सब्जियों का परिरक्षण करना क्यों आवश्यक है?
25. फल परिरक्षण में कौन–कौन से रसायन का उपयोग किया जाता है?
26. संसाधन किसे कहते हैं?
27. डिब्बाबन्दी किसे कहते हैं?
28. पानक बनाते समय चाशनी तैयार करने की विधि लिखिए।
29. जेल मीटर का क्या उपयोग है?
30. सिरके द्वारा अचार परिरक्षण की विधि लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न–

31. भारत में फल तथा सब्जी परिरक्षण व्यवसाय का भविष्य व उसमें आने वाली बाधाओं का वर्णन कीजिए।
32. फल परिरक्षण की विभिन्न अस्थायी व स्थायी विधियाँ लिखिए।
33. फलों की डिब्बाबन्दी की विधि का वर्णन कीजिए।
34. संतरा का पानक बनाने की विधि लिखिए।
36. टमाटर का सॉस बनाने की विधि लिखिए।

उत्तरमाला

1. ब 2. द 3. द 4. ब 5. ब 6. ब

इकाई–3
अध्याय – 12
पशुपालन एवं दुग्ध उत्पादन में पशु प्रबंधन का महत्व
(Importance of Animal Management in Animal Husbandry and Milk Production)

पशुपालन का कार्य कई शताब्दियों से किया जा रहा है ऐसा अनुमान है कि उपयोगी पशु मनुष्यों द्वारा ईसा से 6000 वर्ष पूर्व से पाले जाते रहे हैं। आरम्भ में यह कार्य भोजन (मांस) प्राप्ति के उद्देश्य से किया गया परन्तु बाद में जैसे–जैसे पशुओं की उपयोगिता (महत्ता) का ज्ञान होता गया इन्हें कृषि कार्य, दूध, ऊन, चमड़ा, सवारी तथा बोझा ढोने आदि कार्यों के लिये भी पाला जाने लगा। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही अर्थव्यवस्था कृषि पर ही आधारित रही है। वेदों (5000–3000 ई.पू.), पुराणों (2000–1000 ई.पू.) तथा अर्थशास्त्र (6000–3000 ई.पू.) में पशुपालन की व्यवस्था का विस्तृत वर्णन किया गया है। ऋग्वेद मे हवन सामग्री में घी के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। कामधेनु गाय के विषय में भी कई प्राचीन लेख मिलते है। शिलालेखों तथा शिला चित्रकारी में नन्दी बैल के चित्र देखने को मिलते है।

प्राचीनकाल से ही भारतीय कृषि में पशुओं का विशेष योगदान रहा है । उस समय से ही अधिक पशुओं का होना सामाजिक प्रतिष्ठा का द्योतक माना जाता था तब पशुओं की उत्पादकता, अनुत्पादकता या उनको पालना लाभदायक है या नही, इन बातों पर कोई ध्यान नही दिया जाता था । अतः यह कहा जा सकता है कि उस समय पशुपालन का अर्थ केवल पशुओं को पालना ही था परन्तु आज के सन्दर्भ में पशुपालन की परिभाषा बदल चुकी है आज तो पशुपालन को व्यवहारिक विज्ञान की वह शाखा माना जाता है जो पालतू पशुओं को मितव्ययता पूर्ण तथा स्वस्थ रखने की कला का बोध कराती है। इस प्रकार पशुपालन विज्ञान के अन्तर्गत मुख्य रूप से पशु प्रजनन, पशु आहार, पशु आवास, पशुओ की देखभाल तथा पशुओं का स्वास्थ्य एवं चिकित्सा आदि का गहन व विस्तृत अध्ययन किया जाता है।

वर्तमान युग को आर्थिक युग कहा जाता है क्योंकि अब लगभग सभी कार्यो को आर्थिक दृष्टि से आंका जाने लगा है । इसलिये अन्य व्यवसायों की तरह ही पशुपालन व्यवसाय का प्रमुख उद्धेश्य लागत को न्यूनतम करना तथा उत्पादन या लाभ अधिकतम प्राप्त करना ही है। इसके लिए यह आवश्यक है कि पशुपालक को पशु आहार, पशु–आवास, पशु–प्रजनन, पशुओं की देखभाल तथा उनके स्वास्थ्य, चिकित्सा एवं पशु नस्ल आदि की पूर्ण जानकारी हो साथ ही इन सभी को पर्याप्त एवं उचित महत्व दिया जाये। यदि इनमें से किसी एक को कम महत्व दिया गया तो हम अनुमानित लाभ प्राप्त नहीं कर सकेगें।

प्रबंधन (Management) : उपलब्ध संसाधनों का दक्षतापूर्वक तथा प्रभाव पूर्ण तरीके से उपयोग करते हुए लोगों के कार्यों में समन्वय करना ताकि लक्ष्यों की प्राप्ति सुनियोजित की जा सकें। प्रबंधन के अन्तर्गत आयोजन (Planning), संगठन निर्माण (Organizing) ,स्टाफिंग (Staffing), नेतृत्व करना (Leading or Directing) तथा संगठन अथवा पहल का नियंत्रण करना आदि आते है। "प्रबंधन यह जानने की कला है कि क्या करना है तथा उसे करने का सर्वोत्तम एवं सुलभ तरीका क्या है।" (एफ. डब्ल्यू. टेलर)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पशुपालन व्यवसाय की सफलता अच्छे एवं समुचित प्रबन्ध पर निर्भर करती है चूँकि पशुपालन का ही एक भाग दुग्ध उत्पादन है इसलिए पशुपालन एवं दुग्ध विज्ञान में प्रबन्ध के महत्व को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है –

पशु–आहार प्रबन्धन (Management of Animal Feeding) : एक अच्छे पशुपालक को पशु आहार संबंधी निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए।

1. जहाँ तक सम्भव हो पशुओं के आहार में स्थानीय तथा सस्ते चारे सम्मिलित करें। इससे लागत कम करने में मदद मिलेगी ।
2. पशुपालक को प्रत्येक पशु की आहार सम्बन्धी आवश्यकता की पूरी जानकारी होनी चाहिए तथा उसी के अनुसार पशुओं को संतुलित आहार उपलब्ध कराना चाहिए ।
3. पशुओं को नियमित रूप से समय पर चारा एवं पानी उपलब्ध होना चाहिए ।
4. हरे चारे की मात्रा अधिक होने पर आवश्यकतानुसार चारे से 'हे' या साइलेज बनाकर संग्रह करना चाहिए।
5. पशुओं को हरे चारे की कुटटी काटकर ही खिलाना चाहिए इससे चारे में दूसरे खाद्य पदार्थ सरलता से मिलाये जा सकते है तथा चारे का अपव्यय भी कम होता है।
6. यदि जमीन उपलब्ध हो तो चारे व दाने को बाजार से खरीदने की अपेक्षा स्वयं उगाना सस्ता पड़ता है।
7. यदि चारागाह उपलब्ध है तो उसमें वैज्ञानिक तकनीक से

पशुओ को चराना चाहिए ताकि मृदा कटाव को बढावा न मिले।

8. पशुओं को चारा हमेशा नॉद में ही खिलाना चाहिए ।
9. पशुओं को जहाँ तक सम्भव हो हरा चारा ताजा ही खिलाना चाहिए। दाने का मिश्रण खिलाने से 1–2 घण्टे पूर्व तैयार करना चाहिए ।
10. सूखा चारा, कड़बी आदि को सूखे स्वच्छ स्थान पर ही संग्रह करना चाहिए ।
11. चारे की नॉद तथा पानी के बर्तन स्वच्छ रखने चाहिए?।

पशु–आवास प्रबन्धन (Management of Animal Housing) :

1. पशु आवास की लम्बाई पूर्व–पश्चिम एंव चौड़ाई उत्तर दक्षिण में होनी चाहिए ।
2. पशु–आवास आस–पास के क्षेत्र से थोड़ा ऊँचे स्थान पर होना चाहिए जिससे कि जल–निकास की समुचित व्यवस्था हो सके।
3. पशु–आवास में पर्याप्त मात्रा में सूर्य का प्रकाश पहुँचना चाहिए ।
4. वायु संचार की समुचित व्यवस्था हो ।
5. आवास में स्वच्छ जल की पर्याप्त व्यवस्था हो ताकि पशुओं के पीने हेतु तथा सफाई का समुचित प्रबन्ध किया जा सके।
6. पशु–आवास में फर्श तथा नालियाँ आदि पक्की होनी चाहिये ताकि उनकी सफाई प्रतिदिन भली–भांति की जा सके।
7. पशु–आवास तक आने जाने का अच्छा रास्ता होना चाहिए ।
8. पशुशाला में पशुओं को पर्याप्त स्थान उपलब्ध हो ।
9. पशुशाला में पशुओं को पूर्ण आराम तथा सुरक्षा मिले।
10. भवन टिकाऊ तथा आकर्षक हो ।
11. पशुशाला तथा इसमें काम में आने वाले बर्तनों, उपकरणों आदि को रोगाणुओं से मुक्त रखना चाहिए ।
12. पशु–आवास में बीमार पशुओं की देखभाल एंव चिकित्सा के लिए अलग कक्ष की व्यवस्था होनी चाहिए।
13. पशुओं के मल–मूत्र तथा चारे आदि का संग्रह इस प्रकार करे कि उनसे दुर्गन्ध या गन्दगी दूध में न मिले तथा पशुशाला में गन्दगी न फैले ।

पशु–प्रजनन प्रबन्धन (Management of Animal Breeding):

1. यदि कृत्रिम गर्भाधान विधि से प्रजनन कराना है तो भी ध्यान रखें कि उत्तम नस्ल के साँड का ही हिमीकृत वीर्य या तरल वीर्य प्रयोग करें ।
2. यदि गर्भाधान की प्राकृतिक विधि अपनाई जा रही है तो इस कार्य के लिए उत्तम नस्ल के स्वस्थ साँड का चयन करना चाहिए ।
3. मादा पशुओं के मदकाल की पहचान उनके बाहय लक्षणों के आधार पर अथवा नसबन्दी किये हुये साँड (टीजर बुल) को झुण्ड में छोड़कर कर लेनी चाहिए ।
4. मादा पशु के गर्भित कराने का सर्वोत्तम समय सामान्यतः मद में आने के 12 से 18 घण्टे के बीच का होता है।
5. प्रायः गाय भैंस तथा बकरी 19–21 दिन बाद तथा भेड़ 16–17 दिन बाद पुनः ऋतुमयी होने के लक्षण प्रकट करती है।
6. मादा के गर्भित होने के दो माह पश्चात् गर्भ की जांच कराकर पुष्टि कर लेनी चाहिए ।
7. यदि बछिया अथवा पाडी 3 वर्ष की आयु होने तक अथवा 300 कि0ग्रा0 वजन होने तक भी मदकाल के लक्षण प्रकट ना करे तो चिकित्सा जाँच कराकर उचित ईलाज कराना चाहिए ।
8. मुख्यतः गाय व भैंस ब्याने के दो–तीन माह के अन्दर ही मद में आ जाती है । यदि ऐसा न हो तो चिकित्सक से उनको औषधि या इंजेक्शन लगवाकर पशु को मद में लाना चाहिए अन्यथा उनका सूखा काल लम्बा होने से आर्थिक हानि उठानी पड़ेगी ।
9. पशु–प्रजनन संबंधी एक अभिलेख भी प्रत्येक पशुपालक को रखना चाहिए जिससे आवश्यक जानकारी समय पर प्राप्त की जा सके ।
10. मादा पशु के ब्याने के समय एक व्यक्ति का वहाँ उपस्थित होना अनिवार्य है जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर वह पशु व शिशु की मदद कर सके या चिकित्सक को बुला सके ।

पशु–स्वास्थ्य प्रबन्धन (Management of Animal Health) :

1. बीमार पशुओं को अन्य पशुओं से अलग कर दें तथा तुरन्त उनकी चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध करें ।
2. पशुओं को समय–समय पर रोगों से बचाव के लिए टीके लगवाने चाहिए।
3. बीमार पशुओं के चारे–पानी के बर्तन आदि अलग रखें ।
4. पशुपालक को पशुओं की सामान्य बीमारियों एवं औषधियों की जानकारी होनी चाहिए ताकि छोटी–छोटी बीमारियों के लिए चिकित्सक के पास आने जाने में समय, श्रम व धन का दुरूपयोग न हो।
5. पशुशाला को बीमारियों के रोगाणुओं तथा परजीवियों से मुक्त रखने के लिए नियमित रूप से फिनायल के 1 से 2 प्रतिशत घोल से फर्श व नालियों को धोना चाहिए ।

6. पशुओं को स्वस्थ रखने के लिए उनके व्यायाम की समुचित व्यवस्था का प्रबन्ध होना चाहिए ।

अन्य प्रबन्धन (Other Management):

उपरोक्त मुख्य प्रबन्धनों के अतिरिक्त पशुपालक को पशुओं की देख भाल एवं नस्ल सम्बन्धी प्रबन्धन करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए:–

1. अनुत्पादक पशुओ की छँटनी कर देनी चाहिए जिससे कि उन पर होने वाला अनावश्यक व्यय न करना पड़े।
2. नये पशु खरीदते समय उनकी नस्ल, स्वास्थ्य तथा उत्पादकता का ध्यान रखें ।
3. पशुपालक को नवजात बच्चों, प्रसूता की देखभाल, गर्भित मादा की देखभाल, वृद्धि करने वाले बछड़ों, बछियों आदि की देखभाल का समुचित प्रबन्ध करना चाहिए ।
4. एक अच्छा पशुपालक आने वाले समय में कितना श्रम व धन आवश्यक होगा, यह अनुमान लगाकर उसकी पूर्व में ही व्यवस्था कर लेता है।
5. व्यवसाय प्रारम्भ करने व उसे संचालित करने के लिए धन की आवश्यकता होती है अतः एक कुशल प्रबन्धक को सरकारी योजनाओं तथा ऋण अनुदान आदि की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर समुचित व्यवस्था कर लेनी चाहिए।
6. जोखिम से बचने के लिए पशुओं का बीमा करा लेना चाहिए तथा प्रतिवर्ष इसका नवीनीकरण भी कराना चाहिए।
7. व्यवसाय के कुशल प्रबन्धन के लिए यह आवश्यक है कि फार्म पर आवश्यक अभिलेख रखे जायें । रिकार्ड रखने से किसी भी व्यवसाय में होने वाले लाभ या हानि का पता लगाया जा सकता है।
8. सामान्यतः पशु उत्पादों को अधिक समय तक संग्रह करके नही रखा जा सकता अतः उनको शीघ्र बेचने की व्यवस्था करनी चाहिए ।
9. व्यवसाय के सह–उत्पाद गोबर या गोबर की खाद, आहार की खाली बोरियों आदि के संग्रह एवं विपणन की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए ।
10. किसी भी व्यवसाय में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उद्यमी की व्यवसाय में पूर्ण निष्ठा हो तथा उसके साथ कार्य करने वाले व्यक्ति भी निष्ठावान हों ।
11. पशुपालन व्यवसाय की सफलता के लिए आवश्यक है कि अल्पकालीन या दीर्घकालीन योजनाएँ बनाकर उनका क्रियान्वयन किया जाये। योजनाओ में पशुओं की खरीद, बिक्री, संख्या, छँटनी आदि के साथ साथ सूखे व हरे चारे का क्रय–विक्रय, दाना कब, कहाँ से व कितना खरीदें, श्रमिकों की आवश्यकता व व्यवस्था आदि की उचित योजना तैयार कर लेनी चाहिए।
12. एक सफल व्यवसायी को अपने व्यवसाय से संबंधित तकनीकी ज्ञान को नवीनतम रखना भी आवश्यक है। इसके लिए समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, टेलिविजन, रेडियो, प्रदर्शनी, विज्ञापनों तथा संबंधित विभाग से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना चाहिए ।
13. व्यवसाय में कई बार आग लगना, बीमारी का प्रकोप, चारे की समस्या, श्रमिक समस्या आदि कई अकाल्पनिक घटनाओं का सामना करना पड़ जाता है। अतः ऐसी स्थिति में पशुपालक को उचित निर्णय लेना आवश्यक होता है अन्यथा देरी से बहुत हानि हो सकती है।

इस प्रकार पशुपालन व्यवस्था में पशु–प्रबन्धन का अत्यधिक महत्व है। आज अन्य विकसित देशों की तुलना में हमारे देश में पशु–उत्पादों की प्राप्ति बहुत कम होने का एक प्रमुख कारण कुशल प्रबन्धन का अभाव है। अतः यदि हम उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर पशुपालन व्यवसाय करें तो निश्चित ही इस व्यवसाय से अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

12.1 गौ–उत्पाद (दूध, दही, घी, गौमूत्र, गोबर) का महत्व (Importance of Cow Products)

देश के विकास के लिए हमें अपने गाँवों को समृद्ध एवं सम्पन्न बनाना होगा। गाँवों की समृद्धि कृषि के विकास पर निर्भर करती है । कृषि का विकास पशुधन के विकास के बिना संभव नही है। अतः स्पष्ट है कि देश की उन्नति में पशुधन का भी महत्वपूर्ण योगदान है।

कृषि और पशुधन भारत की अनमोल सम्पदा है । वेद, उपनिषद्, बौद्ध–साहित्य , कौटिल्य का अर्थशास्त्र, महाभारत, मनुस्मृति, पुराण आदि से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि में पशुओं का महत्वपूर्ण योगदान था। भगवान श्रीकृष्ण के गौ प्रेम एवं गौ पालन के कारण उनका नाम गोपाल है। आयुर्वेद में पंचगव्य शब्द का प्रयोग होता है, जो पांच महत्वपूर्ण गौ–वंशीय उत्पादों का उल्लेख करता है, ये उत्पाद है – दूध, दही, घी, गौ–मूत्र और गोबर । कई बीमारियों के उपचार के लिए इनका उपयोग या तो अलग–अलग किया जाता है या दूसरी जड़ी–बूटियों के साथ मिलाकर किया जाता है । समझा जाता है कि इनके गुण हमारी प्रतिरक्षा प्रणाली को मजबूत करते है।

वेदों में हवन सामग्री में घी के उपयोग का उल्लेख है। कामधेनु गाय के विषय में अनेक लेख मिलते है। शिलालेखों तथा शिलाचित्रकारी में नन्दी साँड के खुदे हुए अनेक चित्र शिव मन्दिर में मिलते है। भारतीय समाज में कई त्यौहार जैसे– बछबारस, गोवर्धन पूजा आदि में गाय व बैलों की पूजा की जाती है। जो पुरातन काल से पशु महत्व को इंगित करता है। वेदों में तो यहां तक कहा गया है कि गाय रूद्रों की जननी, वसुओं की पुत्री तथा आदित्यों की बहन एवं अमृतमयी है।

प्राचीनकाल से ही मनुष्य जीवन कृषि एवं पशुओं पर निर्भर रहा है। पशु मनुष्य के साथ भोजन की प्रतिस्पर्धा के बिना, कृषि के उपजात जैसे – भूसा, कड़बी आदि खाकर मानव जाति के लिए दूध, दही, घी जैसे बहुमूल्य पदार्थ प्रदान करता है। इनके अलावा मनुष्य को पशुओं से ईंधन, जैविक खाद, खाल, ऊन, बाल, मांस तथा कई अन्य उपयोगी पदार्थ मिलते हैं।

प्राचीनकाल से ही व्यक्ति की समृद्धि एवं सम्पन्नता गौ–धन से आंकी जाती थी, जिसके पास जितनी ज्यादा गाय वह उतना ही धनवान माना जाता था। परिवार का भरण–पोषण गाय पर ही निर्भर करता था। खेतों को जोतने के लिए बैल गाय से ही मिलते थे, दूध, दही एवं घी की आपूर्ति तो होती ही थी, गोमूत्र एवं गोबर भी उपयोगी माने जाते थे। गोमूत्र में ऐसे औषधीय गुण हैं, जो हृदय रोगों में लाभकारी हैं। गाय का गोबर खाद के रूप में प्रयोग करने पर जमीन की उपजाऊ क्षमता में वृद्धि होती है।

गाय के दूध, दही, घी, गोमूत्र एवं गोबर को सामूहिक रूप से पंचगव्य कहा जाता है। आयुर्वेद में इसे औषधी की मान्यता है। पंचगव्य शरीर में रोग निरोधक क्षमता को बढ़ाकर रोगों को दूर करने में सहायक है। गोमूत्र में प्रति ऑक्सीकरण की क्षमता के कारण डीएनए को नष्ट होने से बचाया जा सकता है। गाय का गोबर चर्म रोगों की रोकथाम में उपयोगी है। दही एवं घी के पोषण मान की उच्चता से सभी परिचित है, दूध का प्रयोग विभिन्न प्रकार से भारतीय संस्कृति में पुरातन काल से ही होता आ रहा है। घी का प्रयोग शरीर की क्षमता को बढ़ाने एवं मानसिक विकास के लिए किया जाता है। दही में सुपाच्य प्रोटीन एवं लाभकारी जीवाणु होते हैं जो भूख को बढ़ानें में सहायता करते है। पंचगव्य का निर्माण देशी, मुक्त वन विचरण करने वाली गायों से प्राप्त उत्पादों द्वारा ही करना चाहिए।

दूध– दूध को एक पूर्ण भोजन माना गया है। इसमें सभी प्रकार के आवश्यक पोषक पदार्थ उपस्थित होते है जिनका उपयोग सभी आयु वाले मनुष्य अपने शरीर की आवश्यकता की पूर्ति के लिए करते है।

"दूध एक स्वच्छ और ताजा लैक्टियल स्राव है, जिसको एक या अधिक स्वस्थ तथा ठीक प्रकार से पोषित गाय को पूरे दोहने से प्राप्त किया गया है, और इसमें वह दूध सम्मिलित नही है जो बच्चा देने से 15 दिन पूर्व तथा 10 दिन पश्चात् का है, तथा इस दूध में कम से कम 8.5 प्रतिशत वसा रहित ठोस पदार्थ (एस. एन. एफ.) और 3.25 प्रतिशत वसा उपस्थित है।"

दूध का रासायनिक संघठन–

विभिन्न स्तनधारियों का रासायनिक संघठन निम्न तालिका में प्रस्तुत है–

तालिका– विभिन्न स्तनधारियों के दूध का रासायनिक संघठन

स्तनधारी	पानी (%)	ठोस पदार्थ (%)	वसा (%)	प्रोटीन (%)	लैक्टोज (%)	खनिज लवण (%)	वसा रहित ठोस पदार्थ (%)
गाय	86.61	13.19	4.14	3.58	4.96	0.71	9.25
भैंस	82.76	17.24	7.38	3.60	5.48	0.78	9.86
बकरी	87.00	13.00	4.25	3.52	4.27	0.86	7.75
भेड़	80.71	19.29	7.90	5.23	4.81	0.90	11.39
मनुष्य	87.43	12.57	3.75	1.63	6.98	0.21	8.82

दही का संघठन (Composition of Dahi)

अवयव	पूर्ण दूध का दही (प्रतिशत)	स्किम्ड दूध का दही (प्रतिशत)
जल	85.0 – 88.0	90.0 – 91.0
वसा	5.0 – 8.0	0.05 – 0.10
प्रोटीन	3.2 – 3.5	3.3 – 3.5
लैक्टोज	4.6 – 5.2	4.7 – 5.3
भस्म	0.70 – 0.75	0.70 – 0.75
लैक्टिक अम्ल	0.5 – 1.1	0.5 – 1.1
कैल्शियम	0.12 – 0.14	0.12 – 0.14
फास्फॉरस	0.09 – 0.11	0.09 – 0.11

पोषक तत्व शरीर की वृद्धि तथा बीमारी से बचाव की शक्ति पैदा करते हैं। गाय के दूध में इन पोषक तत्वों की मात्रा अत्यन्त संतुलित होती हैं। इसी कारण भैंस के दूध की तुलना में गाय के दूध के पोषक मूल्य को अधिक महत्त्व दिया गया है और वेद–शास्त्रों में इसे अमृत की संज्ञा दी गई है। भारतीय नस्लों की गायों का दूध अधिक गुणकारी है जिसमें A–2 किस्म प्रोटीन की एवं कन्जूगेटेड लिनोलिक एसिड होता है, जिसकी प्रकृति धमनियों में रक्त जमाव विरोधी, कैंसर विरोधी एवं मधुमेह विरोधी होती है, इसलिए देशी गाय का दूध दोहरा लाभदायक है, वहीं भारतीय गाय के दूध में बच्चों के दिमाग की वृद्धि करने हेतु आवश्यक तत्व ओमेगा थ्री फेटी एसिड एवं सेरेब्रोसाईड आवश्यक अनुपात में पाया जाता है।

दही– डेवीज के अनुसार दही का पौषण मान दूध के समान ही है। दही में वे सभी अवयव उपस्थित है जो कि दूध में पाये जाते है। दही में वसा, प्रोटीन तथा खनिज लवण की मात्रायें दूध के समान है जबकि लैक्टोज की मात्रा कुछ कम होती है।

दही में उत्पन्न होने वाली अम्लीयता के कारण कैल्शियम तथा फास्फॉरस अधिक घुलनशील अवस्था में आ जाते है। इसलिए दूध की अपेक्षा इन तत्वों की अधिक मात्रायें दही से मनुष्य को मिलती है। दही का पाचन मनुष्य में दूध की अपेक्षा शीघ्रता से होता है।

दही में चिकित्सा सम्बन्धी गुण भी दूध की अपेक्षा बहुत अधिक है। इसका प्रयोग बीमार मनुष्यों के लिए अधिक लाभदायक होता है। दूध में विशेषकर गर्मियों के दिनों में कोलीफार्म (Coliform)बैक्टीरिया पैदा हो जाते है जो कि आंतों में गैस बनाते है। दही के प्रयोग से बैक्टीरिया की ये सब क्रियाएँ समाप्त हो जाती है। यही कारण है कि दही का प्रयोग पेचिस वाले मनुष्यों में अधिक लाभदायक है।

घी–गाय के घी का उपयोग कृषि में विशेष रूप से पंचगव्य बनाने में किया जाता है। इसी तरह गाय के घी को औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता है। गाय के घी में 99–99.5 प्रतिशत वसा, विटामीन ए एवं अन्य तत्व पाये जाते है।

गौ–मूत्र

संसार में कोई ऐसा जीव नही है जिसका मल–मूत्र उपयोगी हो, परन्तु गाय का मूत्र औषधि के रूप में माना जाता है। वर्तमान में गौ–मूत्र का अर्क बनाकर प्रयोग अधिक सरल और कारगर है। गांवों में अपने घरों में गौ–मूत्र का छिड़काव करने से घर पवित्र हो जाता है अर्थात् नकारात्मक ऊर्जा समाप्त हो जाती है। पूजा–पाठ के समय गौ–मूत्र का छिड़काव कर घर को पवित्र किया जाता है। गौ–मूत्र में कई प्रकार के तत्व होते हैं जो शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाते हैं। इसके अतिरिक्त गौ–मूत्र का प्रयोग कृषि में जैविक कीटनाशी, पंचगव्य आदि में किया जाता है।

गोबर– गाय के गोबर को खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है। इस खाद से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। गाय के गोबर से उपले (कण्ड़ें), अगरबत्ती, मूर्तियां एवं कच्चे घरों की दीवारों एवं फर्श की लिपाई की जाती है।

पशुपालन कृषि विज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत पालतू पशुओं के विभिन्न पक्षों जैसे आहार, आवास, स्वास्थ्य एवं प्रजनन आदि का अध्ययन किया जाता है। इस विज्ञान में हम विभिन्न प्रकार के पशुओं की नस्लों का अध्ययन, उनके पालन पोषण के संबंध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते है। पशुओं को आदर्श और संतुलित भोजन किस प्रकार दिया जाना चाहिए यह भी हमें पशुपालन के अंतर्गत ही बताया जाता है। पशुपालन विज्ञान से हमें पशु जाति के सुधार हेतु किये जा रहे नवीनतम प्रयासों की भी जानकारी प्राप्त होती है। इस विज्ञान के अंतर्गत पशु चिकित्सा विज्ञान भी आता है जिसमें पशुओं के विभिन्न रोगों का अध्ययन एवं रोगोपचार का ज्ञान कराया जाता है। अतः पशुपालन विज्ञान, पालतू पशुओं के पालन–पोषण, स्वास्थ्य रक्षा, पशु संवर्धन एवं सुधार, पशु–आवास हेतु समुचित प्रबंधन का ज्ञान कराने वाला विज्ञान है। पशुपालन विज्ञान पशुओं को पालने की वह कला है, जिसमें पशुओं को स्वस्थ रखते हुए उनसे लाभदायक उत्पाद प्राप्त कर सके ।

महत्वपूर्ण बिन्दु (Important Points)

1. शुरू में पशुओं को माँस प्राप्ति के उद्देश्य से ही पाला जाता था, बाद में विभिन्न उद्देश्यों जैसे दूध प्राप्ति, ऊन, चमड़ा, खेती करने के लिए तथा सामान ढोने व सवारी करने आदि के लिए पशुओं को पाला जाने लगा ।
2. अनुमान है कि मनुष्य द्वारा ईसा से लगभग 6000 वर्ष पूर्व से पशुओं को पाला जा रहा है।
3. प्राचीन काल में जहाँ पशुपालन से आशय केवल पशुओं को पालने से ही था वही आजकल पशुपालन विज्ञान के अन्तर्गत पशु–प्रजनन, पशु आहार, पशु–आवास, पशुओं का स्वास्थ्य एंव चिकित्सा तथा पशुओं की देखभाल एवं नस्ल आदि की विस्तारपूर्वक जानकारी शामिल है।
4. पशुपालन व्यवसाय की सफलता कुशल प्रबन्धन पर ही निर्भर करती है।
5. पशुपालन व्यवसाय में अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उत्तम नस्ल के पशु खरीदें, मादा पशु समय पर गर्भ धारण करें, उन्हें संतुलित आहार मिले, उनके आवास, सुरक्षा एवं आराम की व्यवस्था करें जिससे पशुओं का स्वास्थ्य उत्तम रहें। इसके अलावा उन्हें स्वच्छ वातावरण मिलना भी आवश्यक है।

6. एक पशुपालक में कुशल प्रबन्धक के सभी गुण होने चाहिए ।
7. पशु मानव के लिए महत्वूर्ण है, क्योंकि इनसे बहुमूल्य पदार्थ दूध, ऊन, मांस आदि प्राप्त होते है। पशुओं का गोबर कृषि हेतु उपयोगी है।
8. गाय के गोबर एंव गौ मूत्र में औषधीय गुण है।
9. पशुओं के पालन–पोषण, स्वास्थ्य रक्षा, पशु संवर्धन एंव सुधार, पशु–आवास एवं पशु नस्ल हेतु समुचित प्रबंधन के लिए पशुपालन विज्ञान का ज्ञान आवश्यक है।
10. पशुपालन कृषि विज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत पालतू पशुओं के विभिन्न पक्षों जैसे आहार, आवास, स्वास्थ्य एवं प्रजनन आदि का अध्ययन किया जाता है।

अभ्यासार्थ प्रश्नः–

बहुचयनात्मक प्रश्न –

1. किसी भी व्यवसाय का प्रमुख उद्देश्य है –
   (अ) लागत को कम से कम करना
   (ब)उत्पादन को अधिक से अधिक करना
   (स)उपर्युक्त दोनों
   (द)उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. गाय, भैंस तथा बकरी में मदकाल के लक्षण कितने दिनो बाद पुनः प्रकट होते है
   (अ)16 से 17 दिन (ब)19 से 21 दिन
   (स)उपर्युक्त दोनों (द)उपर्युक्त में से कोई नहीं
3. सर्वप्रथम मनुष्य द्वारा पशुओं को पालने का उद्देश्य था–
   (अ) वस्त्र प्राप्ति (ब) भोजन प्राप्ति
   (स) सवारी करना (द) बोझा ढोना
4. मनुष्य द्वारा पशु ईसा से कितने वर्षो पूर्व से पाले जाते रहे है –
   (अ) 2000 वर्ष (ब)3000 वर्ष
   (स)4000 वर्ष (द)6000 वर्ष
5. गाय से हमें कौन–कौन से उत्पाद प्राप्त होते है –
   (अ) दूध (ब)दही व घी
   (स) गोबर एवं मूत्र (द)उपरोक्त सभी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न –

6. मादा पशु के गर्भित कराने का उपयुक्त समय लिखो ।
7. गाय एंव भैंस ब्याने के कितने दिनो बाद मदकाल के लक्षण प्रकट करती है ?
8. प्राचीन काल में माँस प्राप्ति के अलावा पशुओं को और किन–किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पाला जाता था? लिखिए ।
9. प्राचीन काल में सामाजिक प्रतिष्ठा का द्योतक किस बात को मानते थे ?
10. चारे को किन–किन रूपों में संग्रह करके रखा जा सकता है ?नाम लिखो ।
11. मादा पशु के गर्भ ठहरने की जाँच कब करवानी चाहिए ?
12. दूध की परिभाषा लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न –

13. पशुपालक को प्रजनन सम्बन्धी किन–किन बातों की जानकारी होनी चाहिए?लिखिए ।
14. पशुओं के आहार का प्रबन्ध करते समय किन–किन बातो को ध्यान में रखेंगें?लिखिए ।
15. पशुपालक को पशुओं के लिए आवास–व्यवस्था करते समय किन–किन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए?
16. पशु–स्वास्थ्य प्रबन्धन का सविस्तार वर्णन कीजिए ।
17. 'पंचगव्य' शब्द का क्या अर्थ है ?
18. पशुपालन विज्ञान को परिभाषित कीजिये ।
19. पशु रोगों का अध्ययन एंव उपचार किस विज्ञान के अन्तर्गत आते है ?
20. पशुओं का धार्मिक महत्व बताईये ।
21. दूध को अमृत की संज्ञा क्यों दी गई है।

निबन्धात्मक प्रश्न –

22. पशु प्रबन्धन के महत्व को विस्तार पूर्वक समझाइये।
23. गौ–उत्पाद के महत्व का वर्णन कीजिए।
24. पशु प्रबन्धन में पशु स्वास्थ्य एवं पशु प्रजनन की भूमिका का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला

1. स 2. ब 3. ब 4. द 5.द

अध्याय–13
नस्लें (Breeds)

13.1 गाय की नस्लें (Breeds of Cow) :

पशुपालन कृषि व्यवसाय के साथ जुड़ा हुआ मुख्य व्यवसाय है। हमारे यहाँ प्राचीनकाल से पशुधन को विशेष महत्व दिया जा रहा है। गाय एक महत्वपूर्ण जानवर है जो संसार में प्रायः सर्वत्र पायी जाती है। भारतीय गाय से उत्तम किस्म का दूध प्राप्त होता है। इसलिए हिन्दू गाय को माता (गौमाता) मानते हैं। इसके बछड़े बड़े होकर गाड़ी खींचते हैं व खेतों की जुताई करते हैं। राष्ट्रीय पशु अनुवांशिक संसाधन ब्यूरो, करनाल (हरियाणा) के अनुसार भारतीय गायों की 40 नस्लें पायी जाती है जिन्हें उपयोगिता के आधार पर तीन वर्गो में बांटा गया है।

1. दुधारू नस्ले (Milch Breeds) : साहीवाल, सिन्धी, गिर, राठी, देवनी।
2. द्विकाजी नस्लें (Dual Breeds) : थारपारकर, कांकरेज, हरियाणा, अंगोल, डांगी, पंगानूर, देवली, मेवाती, गाबलाब, सीरी, राठी, कृष्णाघाटी, निमाड़ी।
3. भारवाही नस्लें (Draft Breeds) : नागौरी, मालवी, कंगायम, अमृत महल, खिल्लारी हल्लीकर, बच्चौर, खेरीगढ, पंवार, बरगुर, कैनकथा, गंगातीरी।

उपरोक्त नस्लों के अतिरिक्त केरल प्रदेश में कम ऊंचाई एवं छोटे आकार की वैचूर नस्ल की गाय पायी जाती है जिसे मिनिएचर गाय कहते है। भारतीय नस्लों के अलावा विदेशी गायों की नस्लें निम्नलिखित है।

1.	ब्राउनस्वीस	–	स्वीटजरलैण्ड
2.	जर्सी	–	जर्सीद्वीप
3.	आयरशायर	–	स्कॉटलैण्ड
4.	गर्नशी	–	गर्नसी द्वीप
5.	शार्ट होर्न	–	इग्लैंड
6.	रेडडेन	–	डेनमार्क
7.	होलस्टीन फ्रीजियन	–	हॉलैण्ड

इनके अतिरिक्त भारत के राष्ट्रीय डेयरी अनुसंधान संस्थान करनाल में संकर प्रजनन द्वारा गायों की कुछ संकर नस्लें तैयार की है, जैसे –

1.करनफ्रिज
2.करनस्वीस

1. गिर

1. **उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin and distribution)**– इस नस्ल का मूल स्थान काठियावाड वन क्षेत्र है यह नस्ल जूनागढ़, भावनगर एवं अमरेली जिलों में पाई जाती है, गिर नस्ल राजस्थान के अजमेर व भीलवाड़ा जिलों में पाई जाती है।

2. **विशेषताएं (Characteristics)**– इस नस्ल के पशुओं का रंग लाल, सफेद जिस पर काले कत्थई व सफेद धब्बे होते हैं, शरीर सुडोल, भारी, कान लम्बे, लटकते हुए, माथा चौड़ा व उभरा हुआ सींग लम्बे व मोटे–मोटे, गर्दन लम्बी व पतली तथा अयन पीछे तक फैला हुआ होता है। गिर गाय का भार 380 से 450 कि.ग्रा तथा नर का भार 550 से 650 कि.ग्रा होता है।

गिर

3. **उपयोगिता (Utility)**– गिर नस्ल की गाय का दूध उत्पादन 1500–1800 लीटर प्रति ब्यांत होता है जिसमें औसत वसा 4.5 प्रतिशत होती है।

2. थारपारकर

1. **उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin and distribution)** – इस नस्ल का मूल स्थान पाकिस्तान में सिंध प्रदेश का थारपारकर क्षेत्र है यह नस्ल गुजरात के कच्छ के रन क्षेत्र में पाई जाती है, थारपारकर नस्ल राजस्थान के जैसलमेर, बाड़मेर व जोधपुर जिलों में पाई जाती है।

थारपारकर

2. **विशेषताएं (Characteristics)**– इस नस्ल के पशुओं का रंग सफेद या धूसर (हल्का भूरा) होता है शरीर मध्यम, सुगठित, ललाट चौड़ा, कान लम्बे, नथूने चौडे, सींग मध्यम, गर्दन पतली लम्बी, कूबड उठा हुआ तथा अयन

पूर्ण विकसित होता है, थारपारकर गाय का भार 380 से 400 कि.ग्रा. व नर का भार 450 से 500 कि.ग्रा. होता है।

3. **उपयोगिता (Utility)**– थारपारकर नस्ल की गाय का दूध उत्पादन 1600–2000 लीटर प्रति ब्यांत होता है बैल जुताई करने व गाड़ी खींचने के काम में लाये जाते हैं।

3. हरियाणा

1. **उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin and distribution)**– इस नस्ल का मूल स्थान हरियाणा क्षेत्र है यह नस्ल रोहतक, हिसार, करनाल, गुडगांव, दिल्ली व पंजाब में पाई जाती है हरियाणा नस्ल राजस्थान में अलवर, भरतपुर व हरियाणा से लगे क्षेत्र मे पाई जाती है।

हरियाणा

2. **विशेषताएँ (Characteristics)**– इस नस्ल के पशुओं का रंग सफेद या हल्का भूरा होता है शरीर सुडौल, सुगठित व सुदृढ़, कान छोटे व लटकते हुए, थूथन काला व नथूने चौडे, सींग लम्बे व पतले, गर्दन मजबूत लम्बी व खूबसूरत, कूबड उठा हुआ तथा अयन बड़ा व थन मध्यम आकार के होते है। हरियाणा नस्ल की गाय का भार 360 कि.ग्रा. व नर का भार 500 कि.ग्रा. होता है।

3. **उपयोगिता (Utility)**– हरियाणा नस्ल की गाय का दूध उत्पादन 1000 से 1500 लीटर प्रति ब्यांत होता है बैल जुताई करने व गाड़ी खींचने के लिए अच्छे माने जाते हैं।

4. नागौरी

1. **उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin and distribution)**– इस नस्ल का मूल स्थान राजस्थान मे जोधपुर व नागौर जिला है यह नस्ल राजस्थान मे जोधपुर, नागौर जिला व उससे लगे समीपवर्ती क्षेत्रों में पाई जाती है।

नागौरी

2. **विशेषताएं (Characteristics)**– इस नस्ल के पशुओं का रंग प्रायः सफेद व धूसर होता है शरीर सुगठित व शक्तिशाली, कान लम्बे, पीठ सीधी, गर्दन मजबूत, सींग मध्यम आकार के अन्दर की और झुके हुए, छाती चौड़ी, पैर सीधे व मजबूत, कूबड उठा हुआ, तथा अयन सामान्य होता है। नागौरी गाय का भार 400 कि.ग्रा. व नर का भार 500 कि.ग्रा. होता है।

3. **उपयोगिता (Utility)**– नागौरी नस्ल की गाय का दूध उत्पादन 600 से 900 लीटर प्रति ब्यांत तथा बैल कृषि कार्य व गाड़ी खींचने के लिए उत्तम माने जाते हैं।

5. मालवी

1. **उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin and distribution)**– इस नस्ल का मूल स्थान मध्य प्रदेश का मालवा क्षेत्र (जिला मन्दसौर, रतलाम, उज्जैन) है। मालवी नस्ल राजस्थान के चितौडगढ़, बासवाड़ा व झालावाड जिलों में पाई जाती है।

मालवी

2. **विशेषताएँ (Characteristics)**– इस नस्ल के पशुओं का रंग लोहा सा धूसर या हल्का सफेद होता है शरीर गठीला व छोटा, सींग छोटे व मोटे , कान छोटे चौकन्ने खडे हुए, गर्दन व टांगे छोटी तथा मजबूत होती है, मालवी गाय का भार 300 से 450 कि.ग्रा. तथा नर का भार 450 से 500 कि.ग्रा. होता है।

3. **उपयोगिता (Utility)**– मालवी नस्ल की गाय का दूध उत्पादन 700 से 900 लीटर प्रति ब्यांत होता है तथा बैल कृषि कार्य के लिए उपयुक्त माने जाते हैं।

6. मेवाती

1. **उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin and distribution)**– इस नस्ल का मूल स्थान

मेवाती

हरियाणा व राजस्थान को मेवात क्षेत्र माना जाता है, मेवाती नस्ल राजस्थान के अलवर, भरतपुर, जिलों में पाई जाती है।

2. **विशेषताएं (Characteristics)**– इस नस्ल के पशुओं का रंग सामान्यतः सफेद होता है परन्तु सिर, गला व कन्धे पर हल्का काला रंग भी पाया जाता है, शरीर मध्यम व ढीला ढाला, नथूने चौड़े, चेहरा लम्बा, सींग मध्यम व पीछे की और मुड़े हुए, कान छोटे व खड़े हुए, गर्दन छोटी व उठी हुई होती है गाय का अयन छोटा होता है। मेवाती गाय का भार 300 से 350 कि.ग्रा. तथा नर का भार 375 से 425 कि.ग्रा. होता है।

3. **उपयोगिता (Utility)**– मेवाती नस्ल की गाय का दूध उत्पादन 800 से 1000 लीटर प्रति ब्यांत होता है तथा बैल कृषि कार्य के लिए शक्तिशाली व तेज माने जाते हैं।

7. राठी

1. **उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin and distribution)**– इस नस्ल का मूल स्थान राजस्थान का पश्चिमी क्षेत्र माना जाता है यह नस्ल राजस्थान के जैसलमेर, गंगानगर व बीकानेर जिलों मे पाई जाती है।

राठी

2. **विशेषताएं (Characteristics)**– इस नस्ल के पशुओं का रंग हल्का सफेद हल्का लाल के रंग जैसा काले या लाल धब्बेदार होता है, शरीर ढीला ढाला मध्यम आकार का चेहरा चौड़ा, त्वचा ढीली, सींग छोटे व मोटे, गर्दन छोटी, गलकम्बल लटकता हुआ बड़ा तथा पूंछ लम्बी होती है, राठी गाय का भार 350 से 380 कि.ग्रा. व नर का भार 500 से 550 कि.ग्रा. होता है।

3. **उपयोगिता (Utility)**– राठी नस्ल की गाय का दूध उत्पादन 1200 से 1500 लीटर प्रति ब्यांत होता है जिसमें वसा प्रतिशत 4 से 4.5 प्रतिशत होती है तथा बैल खेती के काम आते हैं।

8. जर्सी

1. **उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin and distribution)**– इस नस्ल का मूल स्थान इंग्लिश चैनल का जर्सी द्वीप समूह माना जाता है यह नस्ल भारत व राजस्थान में भी अधिक दूध उत्पादन के लिए पाली जाती है।

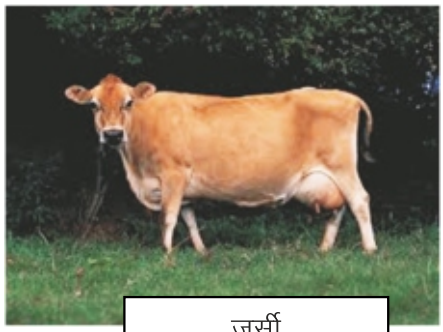
जर्सी

2. **विशेषताएं (Characteristics)**– इस नस्ल के पशुओं का रंग हल्का लाल, बादामी, सफेद या लाल धब्बेदार होता है, शरीर लम्बा कूबड रहित, चेहरा चौड़ा कम लम्बाई का, कान बड़े, गर्दन छोटी, सींग छोटे, मध्यम लम्बाई के होते है अयन बड़ा, पूर्ण विकसित होता है। इस नस्ल की गाय जल्दी युवा हो जाती है। जर्सी गाय का भार 450 से 500 कि.ग्रा. होता है तथा नर का भार 600 कि.ग्रा. से 750 कि.ग्रा. होता है।

3. **उपयोगिता (Utility)**– जर्सी नस्ल की गाय का दूध उत्पादन 4000 से 4200 लीटर प्रति ब्यांत होता है जिसमें वसा प्रतिशत 4.5 से 5 प्रतिशत होती है तथा बैल कृषि कार्य के लिए अच्छे नही माने जाते हैं।

9. हॉलस्टीन–फ्रीजियन

1. **उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin and distribution)**– इस नस्ल का मूल स्थान हालैण्ड (नीदरलैण्ड) माना जाता है यह नस्ल दुनिया भर में दूध उत्पादन के लिए प्रसिद्व है तथा भारत व राजस्थान में भी बहुतायत में पाली जाती है।

हॉलस्टीन

2. **विशेषताएँ (Characteristics)**– इस नस्ल के पशुओं का रंग काला व बड़ी–बड़ी सफेद चित्तियो वाला होता है, शरीर आकार बड़ा, कूबड रहित, चेहरा बड़ा, सींग छोटे–छोटे या सींग रहित, सिर के ऊपर का भाग उभरा हुआ, कान मध्यम, अयन बड़ा थैले जैसा पूर्ण विकसित होता है। होलस्टीन–फ्रीजियन गाय का भार 600 से 650 कि.ग्रा. तथा नर का भार 900 से 1000 कि.ग्रा. होता है यह सबसे भारी नस्ल है।

3. **उपयोगिता (Utility)**– हॉलस्टीन फ्रीजियन नस्ल की गाय का दूध उत्पादन 5000 से 6000 लीटर प्रति ब्यांत होता है जिसमें वसा प्रतिशत 3.5 से 4 प्रतिशत होती है तथा बैल कृषि कार्य के लिए अच्छे नही माने जाते है।

13.2 भैंस की नस्लें (Breeds of Buffalo)

संसार की कुल भैंसो का लगभग 95 प्रतिशत एशिया महाद्वीप मे है। भारत में अधिकांश भैंसे ग्रामीण क्षेत्रों के पशुपालकों द्वारा पाली जाती है। भैंस को मुख्य रुप से दुग्ध उत्पादन तथा नर भैंसो (पाडा) कृषि कार्य करवाने के लिए पाला जाता है। विश्व की समस्त भैंसो को मुख्य रुप से दो वर्गो में बांटा गया है:–

1.अफ्रीकन

2.एशियन :– जंगली

पालतू :–रीवर

स्वैम्प

एशियन भैंस को पुनः दो वर्गो, जंगली और पालतू में वर्गीकृत किया गया है। पालतू एशियन को पुनः रीवर और स्वैम्प भैंसो के रुप में जाना जाता है। रीवर भैंसे मुख्य रुप से अधिक दूध देने वाली (1300–2000 लीटर 300 दिन में) होती है रीवर भैंसे भारत, पाकिस्तान तथा मध्य पूर्वी एशियाई देश जैसे यूनान, इटली, दक्षिण पूर्वी यूरोप तथा यू.एस.एस.आर. में पायी जाती है जबकि स्वैम्प भैंस बर्मा, मलेशिया, सिंगापुर, लाओस, कम्बोडिया, इन्डोनेशिया, फिलीपीन्स, थाईलैण्ड, वियतनाम, चाइना, ताइवान, हांगकांग तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया के अनेक भागों में पायी जाती है। राजस्थान में भैंसों की संख्या 12.97 मिलियन है। भारत दुग्ध उत्पादन के क्षेत्र में विश्व में प्रथम स्थान रखता है, वैज्ञानिकों ने भैंस को ''ब्लैक डायमण्ड'' भी कहा है। अतः पशुपालक भैंस की अच्छी नस्ल सम्बन्धी उन्नत तकनीकि जानकारी प्राप्त करके ही भैंस पालन व्यवसाय को बढावा दे सकते है। हमारे देश में भैंस की 13 नस्लें पायी जाती है। भैसों की नस्लों को उनके आकार के अनुसार निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है–

1. भारी श्रेणी (Heavy breed) मुर्रा, जाफराबादी एवं नीली रावी

2. मध्यम श्रेणी (Medium breed) मेहसाना, भदावरी एवं नागपुरी

3. हल्की श्रेणी (Light breed) सूरती

मुर्रा (Murrah)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : इस भैंस का मूल स्थान पश्चिमी उत्तरप्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब है। रोहतक, हिसार, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गुजरात के अनेक भागों में पायी जाती हैं। यह उत्तरी राजस्थान के जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, कोटा एवं अजमेर संभाग में पायी जाती हैं।

विशेषताएं (Characteristics) : (1) इसका सिर छोटा व सींग छोटे एवं जलेबी के घेरे जैसे घुण्डीदार मुड़े हुए आकर्षक होते हैं। (2) इस नस्ल के पशु काले रंग के होते हैं परन्तु मुँह, पैर, पूँछ पर सफेद धब्बे पाये जाते हैं। (3) पशु का शरीर भारी किन्तु त्वचा मुलायम होती है। (4) अयन विकसित जिस पर थन छोटे एवं दूर–दूर होते हैं। यह विश्व की दूध देने वाली भैंसो की श्रेष्ठ नस्ल है। इसके नर पशुओं का शरीर भार 500–600 किग्रा. तथा मादा पशुओं का भार 500–550 किग्रा. होता है तथा प्रथम ब्यांत की उम्र 36–48 माह है।

उपयोगिता (Utility) :

दुग्ध क्षमता :– 1800–2500 लीटर प्रति ब्यांत

दूध मे वसा :– 7 प्रतिशत

मुर्रा भैंस

भदावरी (Bhadawari)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : उत्तर प्रदेश के आगरा जिले का भदावर स्थान इसका मूल स्थान है। इसके अतिरिक्त यमुना–चम्बल की घाटी में बसे इटावा व ग्वालियर क्षेत्रों में पाई जाती है।

विशेषताएँ (Characteristics) : इस पशु की मुख्य विशेषता तांबे जैसी लालिमा लिये बादामी रंग हैं। शरीर मध्यम आकार का व आगे से पतला एवं पीछे से चौड़ा होता हैं। सींग चपटे, मोटें तथा पीछे की ओर मुड़कर ऊपर अन्दर की ओर मुड़ें होते हैं। अयन छोटा होता है, जिस पर दुग्ध शिराएँ उभरी रहती हैं। इसके नर पशुओं का शरीर भार 400–450 किग्रा. तथा मादा पशुओं का भार 350–400 किग्रा. होता है तथा प्रथम ब्यांत की उम्र 48–54 माह है।

उपयोगिता (Utility) :

दुग्ध क्षमता :– 900–1200 किग्रा. प्रति ब्यांत

दूध में वसा :–12–14 प्रतिशत

भदावरी भैंस

सूरती (Surti)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : यह मूल रुप से गुजरात के आनन्द, नाडियाद, बड़ौदा तथा खेडा क्षेत्र से हैं। इस नस्ल की भैंस दक्षिण राजस्थान में पाई जाती है।

विशेषताएँ (Characteristics) : यह मध्यम आकार, भूरा या हल्का काला रंग, सींग छोटे दँराती (हँसिया) की आकृति के व चपटे होते हैं। इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि पशु के जबड़े के नीचे तथा अधरवक्ष पर सफेद रंग की एक–एक पट्टी होती है। इसकी पीठ सीधी होती है तथा त्वचा मोटी होती है। अयन सुविकसित जो पीछे के पैरों में वर्गाकार रूप में स्थित होते हैं। इसके नर पशुओं का शरीर भार 450–500 किग्रा. तथा मादा पशुओं का भार 350–400 किग्रा. होता है तथा प्रथम ब्यांत की उम्र 42–48 माह है।

उपयोगिता (Utility) :

दुग्ध क्षमता :–1600–1700 किग्रा. प्रति ब्यांत

दुध मे वसा :– 7.5 प्रतिशत

सूरती भैंस

नीली (Nili)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : यह पंजाब के फिरोजपुर व अमृतसर के नीली रावी तथा सतलज नदियों के क्षेत्र में पाई जाती हैं। सतलज नदी का पानी नीला हैं इसीलिए इस भैंस का नाम 'नीली' रखा गया। इसके अतिरिक्त यू.पी. के बरेली, मुरादाबाद व उत्तराखंड के रामपुर, नैनीताल जिलों में बहुतायत से मिलती हैं।

विशेषताएँ (Characteristics) : शरीर का रंग अधिकतर काला कभी–कभी भूरा भी मिलता हैं। माथे, चेहरे, थूथन तथा पैरों पर सफेद चिन्ह होते हैं। पशु मध्यम आकार के खुरदरे व भारी सिर वाले होते हैं। पूँछ भूमि को छूती हुई लम्बी व पतली जिसका अंतिम भाग गुच्छेदार व सफेद होता है। अयन सुविकसित, जिस पर कभी–कभी गुलाबी धब्बे पाये जाते हैं। इसके नर पशुओं का शरीर भार 580–600 किग्रा. तथा मादा पशुओं के शरीर का भार 400–450 किग्रा. तथा प्रथम ब्यांत की उम्र 40–48 माह है।

उपयोगिता (Utility) :

दुग्ध क्षमता :– 1500–1800 किग्रा. प्रति ब्यांत

दूध में वसा :– 8–10 प्रतिशत

नीली

जाफराबादी (Jaffarabadi)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : इसका मूल स्थान गुजरात के गिर जंगलों तथा काठियावाड़ और जाफराबाद हैं।

विशेषताएँ Characteristics) : पशु का शरीर भारी भरकम तथा लम्बा होता हैं। रंग काला एवं इसका माथा भारी तथा उठा हुआ होता हैं। सींग चौड़ें तथा गर्दन की तरफ झुके होते हैं। सींग के आगे का भाग गोल छल्लेदार होता हैं। इसके नर पशुओं का भार 500–600 कि.ग्रा. तथा मादा पशुओं का भार 450–500 कि.ग्रा. होता है तथा प्रथम ब्यांत की उम्र 42 से 48 माह है।

उपयोगिता (Utility) :

दुग्ध क्षमता :– 900–1100 कि.ग्रा. प्रति ब्यांत

दूध में वसा :– 7–9 प्रतिशत

जाफराबादी

मेहसाना (Mehsana)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : गुजरात के मेहसाना, बनासकांठा व सावरकांठा जिलों में मूल निवास हैं। यह राजस्थान के जालौर जिले में भी पाई जाती है।

विशेषताएँ (Characteristics) : यह नस्ल मुर्रा नर व सूरती भैंस के प्रजनन से प्राप्त हुई है। यह मध्यम आकार, सींग कुछ चौड़ें एवं अन्दर की तरफ मुड़ें हुए होते हैं। रंग काला एवं गर्दन लम्बी एवं सुन्दर होती है। अयन विकसित होता है। इसके नर पशुओं का शरीर भार 500–550 किग्रा. तथा मादा पशुओंका भार 400–475 किग्रा. होता है तथा प्रथम ब्यांत की उम्र :– 40–48 माह है।

उपयोगिता (Utility) :

दुग्ध क्षमता :– 1200–1700 किग्रा. प्रति ब्यांत

दूध में वसा :– 7–8 प्रतिशत

मेहसाना

13.3 बकरी की नस्लें (Breeds of Goat)

बकरी पालन भूमिहीन मजदूरों और छोटे एवं सीमान्त किसानों के जीवन निर्वाह का प्रमुख स्त्रौत है। बकरियों से दूध, मांस, खाल, बाल और खाद जैसे उत्पाद प्राप्त होते हैं। हमारे देश के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी बकरी की उपयोगिता पहचान कर ही इसे गरीब आदमी की गाय का नाम दिया है। बकरी वातावरण की विपरीत परिस्थितियों में वनस्पतियों व झाड़ियों की पत्तियाँ खाकर भी जीवित रह सकती है। इसलिए सूखा ग्रस्त व पहाड़ी इलाकों मे भी बकरी पालन आसानी से किया जा सकता है। बकरी की आवश्यकताएँ एवं देखभाल अन्य किसी भी पशु की अपेक्षा कम और आसान है। राजस्थान में बकरियों की संख्या 21. 66 मिलियन है। भारत में बकरी की 20 नस्लें उपलब्ध है। **बकरी को रेगिस्तान का चलता–फिरता ''फ्रीज' या रनिंग डेयरी एवं डबल एटीएम भी कहते है, क्योंकि इससे कभी भी दूध निकालकर ताजा ही उपयोग ले सकते है।** राजस्थान में बकरियों की तीन प्रमुख नस्लें पाई जाती है। सिरोही, मारवाड़ी, झकराना एवं झालावाड़ी।

जमुनापारी (Jamunapari)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : उत्तर प्रदेश का इटावा जिला इस नस्ल का मूल उत्पत्ति स्थान माना जाता है। इस नस्ल की बकरियाँ यमुना तथा चम्बल नदी के बीच के क्षेत्र में अधिकांशतः पाई जाती हैं। इस नस्ल के शुद्ध वंशीय पशु उत्तर प्रदेश के इटावा जिले के चक्रनगर, सहासन गांव के आसपास के क्षेत्र में पाये जाते हैं।

विशेषताएँ (Characteristics) : जमुनापारी बकरियाँ बड़े आकार की होती है। इनका माथा चौड़ा और उठा होता है। इसके कान लम्बे लटके हुये एवं चौड़े होते हैं। मुँह लम्बा, नाक रोमन, सींग छोटे एवं चपटे होते हैं। इनके शरीर का रंग एक–सा नही होता परन्तु प्रायः सफेद शरीर जिस पर भूरे, काले या चमड़े के रंग के धब्बे हो सकते है। टांगे लम्बी होती है। पिछली टांगो पर लम्बे घने बाल होना इस नस्ल की विशेषता है। वयस्क बकरे का शरीर भार 90 किग्रा. तक तथा बकरी का शरीर भार 60 किग्रा. तक होता है।

जमुनापारी

उपयोगिता (Utility) : इस नस्ल के पशु दुग्धोत्पादन तथा मांसोत्पादन के लिये पाले जाते हैं। इस नस्ल के पशु कठोर तथा ग्रामीण इलाको में पालने के लिये उपयुक्त रहते हैं। 250 दिन के दुग्ध काल में बकरियाँ 360 से 544 किलोग्राम तक दूध देती हैं। जिसमें औसतन 3.5 – 5.0 प्रतिशत दुग्ध वसा होती है।

बरबरी (Barbari)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : बरबरी नस्ल का मूल उत्पत्ति स्थान पूर्वी अफ्रीका के ब्रिटिश सोमानिया का बरबरा क्षेत्र माना जाता है। इस नस्ल के पशु दिल्ली, हरियाणा के गुडगाँव करनाल तथा उत्तर प्रदेश के एटा, मथुरा, आगरा, अलीगढ में पाये जाते हैं।

विशेषताएँ (Characteristics) : इस नस्ल का रंग सफेद भूरा जिस पर कत्थई या काले धब्बे होते हैं। इसके कान छोटे हिरनी जैसे, पैर छोटे एवं हडिडयाँ सुन्दर होती हैं। इस

नस्ल के पशु बाँधकर घर पर पालने के लिये खास तौर पर शहरों के लिये उपयुक्त है। इस का अयन विकसित तथा थन लम्बे होते हैं। वयस्क बकरे का शरीर 38 किग्रा. तथा बकरी का शरीर भार 23 किग्रा. तक होता है।

बरबरी

उपयोगिता (Utility) : ये बकरियाँ प्रतिदिन औसत 1 से 1.25 किग्रा. दूध देती हैं। जिसमें 4.5 – 5.0 प्रतिशत वसा होती है। इस नस्ल की बकरियाँएक दिन में अधिकतम 2.5–3.0 किग्रा. तक दूध दे देती है। 12–15 माह की अवधि में ये बकरियाँ अक्सर दो बार ब्याती है। तथा एक बार में अक्सर दो बच्चे देती हैं। मांस एवं दूध दोनों के लिये यह नस्ल उपयुक्त है।

बीटल (Beetal)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) इस नस्ल का उत्पत्ति स्थान पंजाब का गुरूदासपुर जिला है। बीटल नस्ल की बकरियाँ पंजाब के गुरूदासपुर, अमृतसर, पटियाला तथा मलेट कोटला क्षेत्र के अलावा पाकिस्तान के झेलम, गुजरावाला, समालकोट के क्षेत्र में पाई जाती है। रावी नदी के क्षेत्र में इस नस्ल के उत्तम पशु पाये जाते हैं।

विशेषताएँ (Characteristics) : जमुनापारी नस्ल की बकरी से मिलती जुलती ये बकरियाँ छोटे कद की होती है। इसका रंग सामान्यतः काला कत्थई और कभी –कभी सफेद पर कत्थई धब्बेदार होता है। बकरो में सामान्यतः दाढ़ी होती है। इस नस्ल की नाक रोमन, कान लम्बे, सींग समतल परन्तु वे बाहर और भीतर पीछे की ओर घुमावदार होते हैं। बकरों का वजन 75 किग्रा. तथा बकरियों का 50 किग्रा. तक होता है।

बीटल

उपयोगिता (Utility) : यह नस्ल दूध और मांस दोनों के लिए उपयुक्त है। बीटल नस्ल की बकरियाँ औसतन 1.8 किग्रा. दूध प्रतिदिन देती है। अधिकतम दूध उत्पादन 5.2 किग्रा. प्रतिदिन है।

टोगनबर्ग (Toggenberg)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : इस नस्ल का मूल स्थान पूर्वोत्तर स्वीटजरलैण्ड की ऊँची पहाड़ियों की टोगनबर्ग घाटी है।

विशेषताएँ (Characteristics) : इसके शरीर का रंग हल्का भूरा होता है जिस पर सफेद या कत्थई रंग के धब्बे होते हैं। चेहरे के दोनो तरफ कानों से थूथन तक सफेद या हल्के भूरे रंग की पट्टी होती है। पूँछ की तरफ जाँघो में अन्दर की तरफ तथा घुटनों से नीचे तक पैर सफेद होते हैं। यह नस्ल सींग रहित होती है। इसके कान छोटे सीधे होते हैं। मुँह छोटा एवं सीधा होता है। पशु छोटे आकार के होते हैं। शरीर के बाल चिकने होते हैं। शरीर के पिछले हिस्से पर लम्बे बाल होते हैं। सींग नहीं होते हैं।

टोगनवर्ग

उपयोगिता (Utility) : यह बकरी की एक दुधारू नस्ल है। जिसका औसत दूध उत्पादन 5–6 किग्रा. प्रतिदिन है । जिसमें 3–4 प्रतिशत वसा होती है। ये बकरियाँ लगातार 2 साल तक भी दूध देती रहती हैं।

सिरोही (Sirohi)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : यह राजस्थान के सिरोही जिले की नस्ल है। समीपवर्ती अजमेर, उदयपुर, राजसमंद एवं भीलवाड़ा जिले में भी यह बकरी पाई जाती हैं।

विशेषताएँ (Characteristics) : इसका रंग प्रायः लाल तथा भूरे बादामी कभी–कभी काले चित्तिदार धब्बे होते हैं, सिर छोटा, कान लम्बे तथा लम्बी गर्दन, थन लम्बे, मांसल व मोटे होते हैं। इसकी पीठ में हल्का सा झोल (Depression) होता है। टांगे लम्बी व पिछली टागों पर मध्यम लम्बे बाल होते हैं।

सिरोही बकरा

उपयोगिता (Utility) : यह द्विप्रयोजनीय नस्ल दूध व मांस के लिए पाली जाती है। यह बकरी 1–1.5 लीटर प्रतिदिन दूध देती है।

13.4 भेड़ की नस्लें (Breeds of Sheep)

राजस्थान का अधिकांश भाग शुष्क और मरू क्षेत्र के अंतर्गत आता है। इसलिए राजस्थान में भेड़ पालन एक बहुत ही महत्वपूर्ण और लाभकारी व्यवसाय है क्योंकि यहाँ पर फसल उत्पादन, वर्षा की कमी तथा अनिश्चितता होने के कारण सफल व्यवसाय नही है। राजस्थान को भेड़ों का घर कहा जाता है। भेड़ पालन समाज के आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग तथा भूमिहीन मजदूरों एवं छोटे तथा सीमान्त किसानों, गृहणियों तथा पढ़े–लिखे बेरोजगारों द्वारा सफलतापूर्वक अपनाया जाता हैं। भेड़ पालन आमतौर पर भारतवर्ष की सभी प्रकार की जलवायु एवं परिस्थितियों में सफलतापूर्वक अपनाया जा सकने वाला पशु व्यवसाय है। भेड़ पालन से मुख्यतः मांस एवं ऊन आदि पशु उत्पाद प्राप्त होते हैं। देश में 42 भेड़ की नस्लें हैं जिनमें अधिकांशतः भेड़ नस्ल गलीचा किस्म की ऊन का ही उत्पादन करती है। भारतवर्ष में पाई जानी वाली चोकला नस्ल तो विश्व की सर्वोत्तम गलीचा नस्ल की भेड़ मानी जाती है। राजस्थान में भेड़ों की कुल जनसंख्या 9.08 मिलियन हैं ।

मारवाड़ी (Marwari)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : यह भेड़ मारवाड क्षेत्र जैसे जोधपुर, पाली, नागौर, जालौर, बाड़मेर व सिरोही तथा इन जिलों के आस–पास के क्षेत्रों में पाई जाती हैं ।

विशेषताएँ (Characteristics) :

- शरीर मध्यम आकार का एवं चेहरा काले रंग का होता है तथा रंग गर्दन के निचले भाग तक फैला रहता है।
- कान छोटे तथा अंदर की ओर मुड़े होते हैं।
- पूँछ पतली व छोटी से मध्यम लम्बाई की होती है।
- नर व मादा भेड़ दोनों सींग रहित होते हैं।
- नर का औसतन भार 28–35 किग्रा. व औसतन लंबाई व ऊँचाई क्रमशः 66–70 तथा 56–60 सेमी तथा मादा का भार लगभग 25–30 किग्रा. होता है ।
- शरीर सुगठित, मजबूत तथा टांगे लंबी एवं मजबूत होती है जिसके कारण इस नस्ल की भेड़ें दूसरी नस्ल की भेड़ों की तुलना में अधिक दूरी तक चलने में सक्षम होती हैं।
- राजस्थान की अन्य भेड़ों की तुलना में ज्यादा स्वस्थ रहती है।
- ठण्डे एवं गर्म मौसम को सहन करने की शक्ति अधिक होती है।

मारवाड़ी

उपयोगिता (Utility) :

- प्रतिवर्ष 1.5 से 2.3 किग्रा. सफेद व अधिक मोटी श्रेणी की ऊन प्राप्त होती है।
- इस नस्ल के रेवड में वार्षिक जीवित दर 90 प्रतिशत से अधिक होती है।
- नर का भार 27 से 36 किग्रा. तथा मादा का भार 23 से 30 किग्रा. होता है।

चोकला (Chokla)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : यह नस्ल मुख्य रूप से राजस्थान के शेखावटी क्षेत्र जिसमें चुरू, झुंझुनू, सीकर, नागौर, जोधपुर जिलों के रेगिस्तानी क्षेत्रों में पाई जाती हैं। इस नस्ल को छापर और शेखावटी के नाम से भी जाना जाता है ।

विशेषताएँ (Characteristics) :

- मुँह गहरे भूरे रंग का होता है जो कि सिर तथा नीचे आधी गर्दन तक फैला रहता है।
- शरीर मध्यम एवं वर्गाकार होता है।
- कान छोटे एवं नर व मादा भेड़ दोनों सींग रहित होते है ।
- पूँछ पतली, मध्यम लंबाई (लगभग 24 सेमी.) की होती है।

- इन भेड़ो की लंबाई एवं ऊँचाई एक समान होती है जिससे पशु वर्गाकार दिखाई देते हैं ।
- यह भेड़ सींग रहित होती है।

चोकला

उपयोगिता (Utility) :

- नर का औसत भार 30–40 किग्रा. व मादा का 24–32 किग्रा. होता है ।
- प्रतिवर्ष 1.5 से 2.5 किग्रा. सफेद ऊन प्राप्त होती है।

मालपुरा (Malpura)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : इन नस्ल का नाम टोंक जिले की मालपुरा तहसील के नाम पर पड़ा है। यह मुख्य रूप से मांस उत्पादन नस्ल है। यह भेड़ें मुख्य रूप से जयपुर, टोंक, अजमेर बून्दी जिलों में एवं इनके आस पास के क्षेत्रों में पाई जाती हैं ।

विशेषताएँ (Characteristics) :

- शरीर की बनावट मजबूत व गठीली होती है।
- चेहरा हल्के भूरे रंग का, कान छोटे व मुड़े हुए तथा पूँछ पतली और मध्यम लंबाई की होती है।
- मुँह, पेट व टांगों पर ऊन नही होती है एवं दोनो नर एवं मादा भेड़ सींग रहित होते हैं।
- नर का भार लगभग 33–40 किग्रा. तथा औसत लंबाई व ऊँचाई क्रमशः 68.74 व 67.72 सेमी. तथा मादा का भार लगभग 24–30 किग्रा. व औसत लंबाई व चौड़ाई क्रमशः 61–65 तथा ऊंचाई 60–64 सेमी. होती हैं ।

मालपुरा

उपयोगिता (Utility) :

- ऊन सफेद व अधिक मोटी किस्म एवं 1.1 से 1.6 किग्रा ऊन प्राप्त होती है जो नमदा बनाने के काम आती है।
- नर भेड़ का शरीर भार 30 से 34 किग्रा. व मादा का 25 से 30 किग्रा. तक होता है

मेरिनो (Merino)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : इस नस्ल का मूल उत्पत्ति स्थान स्पेन है वही से यह नस्ल पूरे विश्व में पहुँच गई है।

विशेषताएँ (Characteristics) : यह मजबूत प्रकृति की नस्ल है जो विपरीत कृषि–जलवायु परिस्थितियों में भी जीवन यापन कर लेती है। मेरीनो भेड़ों का रंग सफेद होता है। इसका सिर मध्यम आकार का होता है। जो ऊन से ढका रहता है । नर में घुमावदार सींग होते है। जबकि मादा भेड़ें सींग रहित होती है। इस नस्ल के पशुओं की गर्दन तथा कंधों की त्वचा में झुर्रियाँ या सलवटें होती हैं। इसमें नर का शरीर भार लगभग 90 किग्रा. तथा मादा का लगभग 70 किग्रा. होता है।

मेरिनो

उपयोगिता (Utility) : उत्तम किस्म तथा अधिक ऊन के उत्पादन हेतु यह भेड़ की सर्वोत्तम नस्ल है। एक भेड़ से प्रतिवर्ष 5–9 किग्रा. तक ऊन प्राप्त होती है। यह नस्ल अच्छी किस्म की ऊन प्राप्ति के लिये भारत सहित कई देशों में संकरण के लिये ले जाई गई हैं।

कराकुल (Karakul)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : यह नस्ल मध्य एशिया में उत्पन्न मानी जाती है जो कि काफी संख्या में इरान, इराक, अफगानिस्तान, दक्षिण अफ्रीका तथा पश्चिम यूरोप के कुछ भागों में पायी जाती है।

विशेषताएँ (Characteristics) : इस नस्ल के मेढ़ों (नर) में सींग होते हैं। जबकि मादा सींग रहित होती है। यह मध्यम आकार की नस्ल है।

कराकुल

उपयोगिता (Utility) : इसमें नर का वजन 90 किग्रा. तथा मादा का वजन 60 किग्रा. होता है। यह नस्ल मांस के लिये उपयोगी है। इस नस्ल को खासतौर से पेल्ट के लिए पाला जाता है। इसके मेमनों को कम उम्र में ही मार कर उनसे घुंघराली ऊन वाली खाल प्राप्त की जाती हैं जिससे टोपी या सर्दियों के लिये महंगे वस्त्र बनाये जाते हैं।

अविवस्त्र (Avivastra)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution): यह नस्ल केन्द्रीय भेड़ एवं ऊन अनुसंधान संस्थान अविकानगर, मालुपरा जिला टोंक पर रेम्बूले नस्ल के मेरिनों मेढ़ों तथा राजस्थान की चौकला नस्ल की भेड़ के वर्ण संकरण से विकसित की गई है।

विशेषताएँ (Characteristics) : इन भेड़ों का औसत वजन 6 माह की उम्र पर 12 किग्रा. तथा एक वर्ष की उम्र पर 23 किग्रा. देखा गया है ।

अविवस्त्र

उपयोगिता (Utility) : इस नस्ल की भेड़ों से 2 से 4 किग्रा. ऊन प्रति भेड़ प्राप्त होती है इनके मेमनों की वार्षिक जन्म दर 93. 21 प्रतिशत देखी गई है।

अविकालीन (Avikalin)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : इस नस्ल की भेड़ रेम्बूले नस्ल के मेरीनों मेढ़ों (नर) तथा मालपुरा नस्ल की भेड़ों (मादा) के संकरण से तैयार की गई है। इन्हें भी केन्द्रीय भेड़ एवं ऊन अनुसंधान संस्थान अविका नगर, मालपुरा जिला टोंक पर विकसित किया गया हैं।

विशेषताएँ (Characteristics) : इस नस्ल की भेड़ों की ऊन पतली होती हैं। एक वर्ष की उम्र पर इस नस्ल की भेड़ों का शारीरिक वजन 25 किग्रा होता है।

अविकालीन

उपयोगिता (Utility) : इन भेड़ों से 6 माह में लगभग 1.13 किग्रा. ऊन प्राप्त होती है। इन भेड़ों में टपिंग 97.95 व मेमनों के पैदा होने का प्रतिशत 81.47 होता है। इसकी ऊन से उत्तम किस्म की कालीनें बनाई जाती हैं।

जैसलमेरी (Jaisalmeri)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution) : यह नस्ल जैसलमेर के अलावा जोधपुर तथा बाड़मेर जिलों की पश्चिमी सीमाओं पर मुख्य रूप से पाई जाती है। जैसलमेर जिला इसका जन्म स्थान होने के कारण जैसलमेरी नाम रखा गया है।

विशेषताएँ (Characteristics) :

- राजस्थान की अन्य सभी भेड़ नस्लों से यह अधिक बड़े आकार की होती है।
- इनकी शारीरिक बनावट सुदृढ़, हष्टपुष्ट और वर्गाकार होती है ।
- सिर बड़ा तथा नाक रोमन प्रकार की होती है ।
- चेहरा काला या गहरे भूरे रंग का होता है तथा यह रंग गर्दन व गर्दन के नीचे आधे भाग तक फैला रहता है ।
- कान लम्बे तथा खम्बदार लटके हुए होते हैं। इन भेड़ों के सींग नहीं होते तथा पूँछ मध्यम से लम्बे आकार की होती है जिसकी लम्बाई लगभग 28 सेमी. होती है ।
- नर का भार लगभग 32–45 किग्रा. तथा औसत लंबाई व ऊँचाई क्रमशः 68.55 व 66.91 सेमी. तथा मादा का भार लगभग 30–36 किग्रा. व औसत लंबाई व ऊँचाई क्रमशः 67.66 व 66.43 सेमी. होती है ।

जैसलमेरी

उपयोगिता (Utility) :

- ऊन सफेद व मध्यम से उत्तम श्रेणी की होती है इन भेड़ों से 1.8–3.2 किग्रा. ऊन प्राप्त होती है ।
- नर का वजन 32 से 45 किग्रा. तथा मादा का 30 से 36 किग्रा. होता है। अधिक भार होने के कारण माँस भी अधिक प्राप्त होता है।

13.5 ऊँट की नस्लें (Breeds of Camel)

ऊँट राजस्थान के रेगिस्तान का एक महत्वपूर्ण पशु है। इसका उपयोग कई कार्यो में होता है। इसे सवारी करने, भार ढोने, हल जोतने, रहट चलाने, ईख पेरने तथा गाड़ियों में जोतने के काम में लाया जाता है। सवारी करने, हल जोतने, रहट चलाने व गाड़ी में भार ढोने के लिए रेगिस्तानी क्षेत्रों में इसे सबसे ज्यादा उपयुक्त पाया गया है। पहाड़ी क्षेत्रों में भी इसे भार ढोने के लिये काम लेते है। एक ऊँट एक बैल जोड़ी के बराबर काम कर सकता है। ऊँट के बालों से कम्बल बनाये जाते हैं। इस पशु में अनेक विशेषताएँ है। वह शुष्क क्षेत्रों में सुगमता से रखा जा सकता है, भारी बोझढ़ो सकता है और कई दिन तक बिना पानी के भी रह सकता है। इन विशेषताओं के कारण सूखे क्षेत्रों में भारवाही पशु के रूप में यह बहुत उपयोगी है। सन् 2012 पशु गणना के अनुसार राजस्थान में ऊँटों की संख्या 0.32 मिलियन है।

ऊँट दो प्रकार के होते है – एक कूबड़ वाले ऊँट और दो कूबड़ वाले ऊँट। भारत में पाई जाने वाली ऊँटों की मुख्य प्रजातियाँ बीकानेरी, जैसलमेरी, मेवाड़ी, कच्छी और सांचोरी हैं। नर ऊँट का औसत भार लगभग 500–750 किग्रा और मादा ऊँट का औसत भार लगभग 400–600 किग्रा. होता है। जन्म के समय बच्चे का भार 35–40 किग्रा. होता है।

कार्य के आधार पर भारतीय ऊँटों को दो भागो में बांटा जा सकता है–सामान ढोने वाले और सवारी वाले ऊँट। सामान ढोने वाला ऊँट हट्टा–कटटा और सवारी वाले का शरीर हल्का होता है। राजस्थान में ऊँट की तीन मुख्य नस्लें पाई जाती हैं – (1) बीकानेरी (2) जैसलमेरी (3) मेवाड़ी।

बीकानेरी (Bikaneri)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution): इसका मूल स्थान राजस्थान का बीकानेर क्षेत्र है और इस नस्ल के ऊँट बीकानेर से दूसरी जगह ले जाये जाते है। बीकानेर के जोहड़बीड़ में ''राष्ट्रीय ऊष्ट्र अनुसंधान केन्द्र'' है। यह नस्ल सिंधी एवं बलुची ऊँटों के संकरण से तैयार हुई है।

विशेषताएँ (Characteristics) : ऊँट का रंग ज्यादातर गहरा भूरा यानि काले से रंग का होता है। ऊँट की ऊँचाई जमीन से थुई तक 10 से 12 फीट तक होती है। शरीर गठीला एवं मजबूत होता है। आँखे गोल व बड़ी होती है। खोपड़ी गोलाकार एवं उठी हुई होती है। जहाँ खोपड़ी आगे की ओर खत्म होती हैं वहाँ एक गड्डा होता है जिसे 'स्टॉप' कहते है जो इस नस्ल की खास पहचान है। ऊँट की आँखों, कानों एवं गले पर लम्बे–लम्बे काले बाल पाये जाते हैं। सिर मंझले दर्जे का एवं भारी होता है। आँखे चमकदार एवं बाहर निकली हुई होती हैं। आँखो के ऊपर

की तरफ गड्डा सा होता है जहाँ से नाक की हड्डी ऊपर उठी हुई दिखाई देती है इससे यह नस्ल सुंदर लगती है। वर्तमान में जो नस्ल बीकानेरी ऊँट की है वह विश्व के ऊँटों में सबसे सुंदर नस्ल है। आँखो की भौंहों व पलकों पर घने काले बाल होते हैं। कान छोटे–छोटे और ऊपर से गोलाई लिये हुए होते हैं। गर्दन मंझले आकार की नीचे से गोलाई लिये हुए होती है। थुई बड़ी एवं पीठ के बीच में होती है। छाती की गद्दी अच्छी सुदृढ़ होती है जो इसको बैठे रहने में सहायक होती है। अगले पैर लम्बे, सीधे और मजबूत हड्डियों वाले होते हैं पिछले पैर अगले पैरों की अपेक्षा कमजोर एवं अंदर की ओर मुड़े हुए होते हैं। पूँछ के दोनों तरफ व नीचे की ओर लम्बे–लम्बे काले बाल होते हैं। अण्डकोश गोल एवं बड़े होते हैं एवं पीछे से देखने पर दिखाई देते हैं। मादा ऊँटों में थन बड़े–बड़े एवं चूचक के दो–दो छेद होते हैं। दूध की वाहिनी बड़ी व उन्नत होती है।

बीकानेरी

उपयोगिता (Utility) : इस नस्ल के ऊँट सभी कामों के लिए उपयुक्त है। ज्यादातर इसे बोझा ढोने एवं कृषि कार्यों में काम में लिया जाता है।

जैसलमेरी (Jaisalmeri)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution): जैसलमेर जिले के थार के रेगिस्तान में थारपारकर केंट से उत्पन्न हुए है जो पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त में पाये जाते हैं।

विशेषताएँ (Characteristics) : इस नस्ल के ऊँट का रंग हल्के भूरे रंग का होता है एवं ऊँचाई 7 से 9 फीट तक होती है। ऊँट का शरीर छोटा एवं पतला होता है। आँखे चमकदार एवं सिर के अनुपात से बडी होती हैं। इस नस्ल के ऊँटों का कपाल उठा हुआ नही होता एवं स्टॉप भी नही होता जो कि बीकानेरी नस्ल में होता है। कान छोटे एवं पास–पास होते है। पैर पतले व हड्डियाँ छोटी–छोटी होती है। पैरों के तलवे भी छोटे व हल्के होते हैं जो तेज चलने में सहायक होते हैं।

जैसलमेरी

उपयोगिता (Utility) : इस नस्ल के ऊँट सवारी के लिए उपयुक्त है। एक प्रशिक्षित ऊँट एक ठंडी रात में 100 से 140 किमी. तक यात्रा कर सकता है। रेगिस्तान में पुलिस एवं सेना के कार्यों के लिए उपयुक्त है।

मेवाड़ी (Mewari)

उत्पत्ति स्थान एवं वितरण (Origin & Distribution): उदयपुर क्षेत्र को मेवाड़ कहा जाता है जो कि अरावली की पहाड़ियों में बसा हुआ है। पुराने जमाने में सामान लाने ले जाने एवं यात्रा हेतु यहाँ पंजाब से ऊँट लाये गये थे इन ऊँटों ने अपने आपको इस क्षेत्र के अनुकूल ढाल लिया एवं धीरे–धीरे एक नस्ल का रूप ले लिया जिसे इस क्षेत्र के लोग इन ऊँटों को मेवाड़ी कहने लगे। यह नस्ल राजस्थान के पहाड़ी क्षेत्रों से लेकर गुजरात तक फैली हुई है।

विशेषताएँ (Characteristics) : इस नस्ल के ऊँट की लम्बाई मध्यम आकार की होती है। रंग हल्का भूरा होता है। आँखे छोटी–छोटी एवं सुस्त होती हैं। पैर छोटे एवं तलवे कठोर होते हैं। हड्डियाँ मोटी एवं मजबूत होती हैं। मुँह के नीचे का होंठ गिरा हुआ होता है। जो इस नस्ल की खास पहचान है। सिर बड़ा एवं भारी होता है। गर्दन भी छोटी एवं मोटी होती है। शरीर पर बाल घने, सख्त एवं मोटे होते हैं। मेवाड़ी ऊँट की औसत गति 3 से 5 मील प्रति घंटा है।

मेवाड़ी

उपयोगिता (Utility) : इस नस्ल के ऊँट कृषि कार्यों एवं भार ढोने के काम में लिये जाते हैं। इस नस्ल की मादा लगभग 4–6 लीटर दूध प्रतिदिन देती है।

ऊँट का प्रबन्धन (Management of Camel)

स्वभाव में ऊँट एक धैर्यवान, सहनशील प्राणी माना जाता है। अन्य पालतू पशुओं की अपेक्षा इसे साधना या सिखाना कठिन है। प्रजनन काल में नर ऊँट उत्तेजित एवं उत्पाती प्रवृति का होता है। ऊँट झुण्ड़ में रहना पसन्द करता है। इसमें अपना मार्ग याद रखने की अद्‌भुत क्षमता होती हैं। कई वर्षो के अन्तराल के बाद भी ऊँट सरलता से अपने स्थान पर पहुँच जाता है। अन्य पालतू पशुओं की भाँति यह अपने पालक के साथ सामान्यतया बहुत घनिष्ठ नहीं हो पाता है।

सदियों से मरूस्थलीय प्रदेश की कठिन परिस्थितियों में रहते–रहते इसकी शारीरिक बनावट भी उसी के अनुकूल हो गई है जिनका विवरण निम्न प्रकार है –

1. विशाल शरीर के कारण तेज धूप सहन नही कर पाता किन्तु बड़े आकार के ऊँट छोटे आकार के ऊँट की अपेक्षा दिन की गर्मी में धीरे–धीरे गरम होता है। यह रेगिस्तान में पानी की खोज में दूर–दूर तक जा सकता है।
2. कूबड़ ऊँट की एक विशेषता है। यह आकार में लगभग 50 सेमी. ऊँची और 200 सेमी. घेरदार होती है।
3. इसकी त्वचा के नीचे वसा की तह नही के समान होने के कारण शरीर के अतिरिक्त ताप को निकालने में इसे सुविधा रहती है।
4. इसके पैर के पंजो की हड्डियाँ चौड़ी व चपटी होती है जो गद्‌देदार चमड़ी में धँसी होती है। ऊँट के चलने पर दबाव के कारण गद्‌देदार पंजा फैलता है और रेत में सुदृढ़ पकड़ पैदा करता है इस कारण ऊँट रेतीली भूमि पर सुगमता से चल सकता है। इसी क्षमता के कारण इसे ''रेगिस्तान का जहाज'' (Ship of Desert) कहते है।
5. ऊँट के वक्षस्थल एवं चारों पैरों के घुटनों पर मोटी कठोर त्वचा की गद्‌दी होती है। ऊँट जब बैठता है तब केवल यही भाग भूमि के सम्पर्क में आता है। शरीर के अन्य भाग ऊँचाई पर रहते हैं।
6. ऊँट की गर्दन व सिर का कठिन परिस्थितियों में जीवित रह पाने में एक महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसके होंठ अत्यधिक संवेदनशील होते हैं जिससे कंटीली झाडियों एवं वृक्षों से पत्तियाँ चरते हुए कांटें चुभने से बचाव होता है। इसकी उभरी भौंहे सूर्य प्रकाश के चकाचौंध से आँखो को बचाती हैं।

आहार व्यवस्था – ऊँट प्रतिदिन अपने शरीर के भार का 1.5–2.0 प्रतिशत चारा शुष्क पदार्थ के रूप में ग्रहण कर सकता हैं ऊँटों को निम्न तालिका के अनुसार खिलाना चाहिए :–

आयुवर्ग	चारा (किलोग्राम प्रतिदिन)	दाना मिश्रण (किलोग्राम प्रतिदिन)
6 माह तक	2.5	0.5
6–12 माह तक	2.5	0.5
1–2 वर्ष	5.0	1.0
2–3 वर्ष	8.0	1.5
3 वर्ष के उपरान्त	12.0	2.5
नर (प्रजनन हेतु)	14.0	3.0

तालिका

इसके अतिरिक्त नमक 30–80 ग्राम प्रतिदिन प्रति पशु देना आवश्यक है। गर्भकाल के अन्तिम चरणों में, दूध देने वाले पशुओं में व बोझा ढोने का काम करने वाले ऊँटों को लगभग 25 प्रतिशत अतिरिक्त पोषक तत्व आहार के रूप में उपलब्ध कराना चाहिये ।

सन्तुलित आहार बनाने के लिये मिश्रण तैयार कर सकते है –

1. भूसा और फलीदार चारा 1:1 ।
2. भूसा और मोठ या ग्वार फलगट्‌टी 65:35 ।

ऊँट प्रायः शुष्क चारा ही पसन्द करता है, किन्तु यदि लगभग 25 प्रतिशत हरा चारा उपलब्ध कराया जाये तो अच्छा रहता है।

1. **वर्षा ऋतु –** वानस्पतिक उत्पादन में वर्षा ऋतु का बहुत महत्व है । मानसून के प्रारम्भ होते ही जुलाई में भ्रूट, अंजन, सेवन, बेकरिया, गोखरू, गंठील, लांपला इत्यादि अनेक प्रकार की घास पनपने लगती हैं परन्तु यह जुलाई के प्रारम्भ में अत्यन्त छोटे होने के कारण चराई योग्य नहीं होती हैं। अगस्त, सितम्बर एवं अक्टूबर माह में पर्याप्त चरागाह उपलब्ध हो जाता है। इन घासों के अतिरिक्त खेतों में मोठ, ग्वार, बाजरा आदि उपलब्ध होने लगता हैं। इन्ही दिनों बोरड़ी का पाला, खेजड़ी, लुंग व फोग चारा

भी काटकर एकत्र किया जाता हैं जिसे आवश्यकता पड़ने पर खिलाया जाता है। वर्षा ऋतु में चने का भूसा विशेष रूप से बाजार में उपलब्ध होता है।

2. **शीत ऋतु** – नवम्बर में शीत ऋतु प्रारम्भ होते ही चर भूमियों की प्राकृतिक घास सूख जाती है तथा पेड़ों की पत्तियाँ झड़ने लगती हैं। पाला, मोठ चारा व ग्वार फलगट्टी आदि मुख्य सूखा चारा उपलब्ध होता है तथा हरे चारे में सिंचित खेती से सरसों, रिजका, जई, मेंथी बरसीम आदि उपलब्ध होते हैं।

3. **ग्रीष्म ऋतु** – गर्मी का प्रारम्भ मार्च – अप्रेल की बसन्ती बहार से होता है जब ऊँटों को पुष्प रंजित फोग, बावली, केर इत्यादि वनस्पतियाँ इस शुष्क काल में भी उपलब्ध हो जाती हैं। मई माह में खेजड़ी, जाल, नीम आदि चारे के प्रमुख स्त्रौत रह जाते हैं। खेजडी, लुंग एक सर्वप्रिय पात चारा है। सिंचित दशा में उगाये गये एम.पी. चरी, बाजरा, चंवला आदि सभी चारे उपलब्ध कराये जा सकते हैं।

ऊँट की प्रजनन व्यवस्था

1. मादा ऊँट (सांडिनी) 3–4 वर्ष की आयु पर गर्भ धारण करने में सक्षम होती है तथा ऊँट 5–6 वर्ष की आयु पर प्रजनन के उपयोग में लिया जा सकता है।
2. नर ऊँटों की भाँति सांडिनी सर्दियों में ही गरम होती है तथा गर्भ धारण करने की क्षमता रखती है।
3. मादा में डिम्ब का स्खलन नर से मिलाने के लगभग 36 घण्टे बाद होता है।
4. साधारणतया 2 वर्ष के अन्तराल से एक सांडिनी से एक बच्चा प्राप्त होता है किन्तु यदि सांडिनी को सर्दी प्रारम्भ होते ही गर्भित कर अगले वर्ष दिसम्बर में बच्चा लेकर दो माह पश्चात पुनः गर्भित कराया जाये तो 3 वर्षो में 2 बच्चे प्राप्त किये जा सकते हैं।
5. सांडिनी में गर्भकाल 385 से 390 दिन के बीच पाया जाता है।
6. प्रसव के समय देखा गया है कि सांडिनी में दूध उतर जाता है, प्रजनन अंग शिथिल पड़ जाते हैं तथा प्रजनन अंगों से श्वेत द्रव निकलने लगता हैं। पशु बार–बार बैठता व खड़ा होता है। बच्चे को मां का पहला दूध (खींस) एक घण्टे के भीतर पिलाना आवश्यक है।
7. सांड की जेर का ध्यान रखना चाहिए कि वह 12 घण्टे के अन्दर निकल जाये, नहीं निकलने की स्थिति में पशु चिकित्सक को दिखावें।
8. बच्चे की नाभि में जीवाणु रोधक औषधि लगवानी चाहिये। हो सके तो विटामिन ''ए'' का टीका लगवा देना चाहिये । तीन दिन तक ''क्लोरमकोनिकल'' या कोई प्रतिजीवि औषधि दिलाने से बच्चों में मृत्यु दर को कम किया जा सकता है।

ऊँटों की आवास व्यवस्था

1. ऊँटों का आवास खुली जगह में होना चाहिये। धूप और बारिश से बचाने के लिये थोड़ी छाया का भी प्रबन्ध करना चाहिये ।
2. ऊँट के आवास स्थल ऊँचाई पर होने चाहिये जहां पर वर्षा का पानी न रूक सके ।
3. आवास की दीवारें मिट्टी या कच्ची ईंटों की बनाई जा सकती है।
4. खुला हुआ भाग ऐसा न हो जहाँ सीधी हवा आती हो ।
5. फर्श कच्चा भी रखा जा सकता है लेकिन ऐसा बनाना चाहिए जहाँ गन्दगी जमा न हो सके।
6. बाड़े में एक नांद भी बनानी चाहिये। यह पक्की ईंटों की तथा जमीन से 3 फुट की ऊँचाई पर होनी चाहिए। गर्मियों में ऊँट को खुले में रखना चाहिए।
7. एक ऊँट को 70–100 वर्ग फुट स्थान की आवश्यकता होती है।

ऊँटों की सामान्य बीमारियाँ– ऊँट में होने वाली बीमारियां, दस्त लगना, आफरा, पैरों की खुजली, परजीवी प्रकोप, सर्रा अथवा तिबसा (ट्रिपेनोसोनियसिल), एन्थ्रेक्स, गलघोटू, निमोनिया, माता आदि रोग आते हैं।

महत्वपूर्ण बिन्दु (Important Points)

1. तीवर्षा रोग ट्रिपेनोसोमा इवैन्साई नामक परजीवी कीटाणु द्वारा होता है।
2. राष्ट्रीय पशु अनुवांशिक संसाधन ब्यूरो, करनाल (हरियाणा) के अनुसार भारतीय गाय की 40 तथा भैंस की 13 मान्य नस्लें है।
3. भैंसो में सबसे अधिक वसा प्रतिशत (12–14 प्रतिशत) भदावरी नस्ल की भैंस के दूध में पाया जाता है।
4. विश्व में बकरियों की लगभग 60 नस्ले हैं। जिनमें से लगभग 26 नस्लें भारत में पाई जाती हैं।
5. पिछली टांगों पर पीछे की तरफ लम्बे घने बालो का होना जमुनापारी नस्ल की खास पहचान है।
6. बरबरी नस्ल की बकरी 12–15 माह की अवधि में दो बार ब्यांती है तथा एक बार में अक्सर दो बच्चे देती है।
7. टोगनबर्ग दुधारू नस्ल की बकरी है।
8. टोगनबर्ग नस्ल की बकरी के सींग नहीं होते हैं।
9. भारत में भेड़ों की लगभग 42 नस्लें है ।
10. मारवाड़ी नस्ल की भेड़ें मुख्यतः मारवाड़ क्षेत्र के पाली, जोधपुर, नागौर, सिरोही जिलों में पायी जाती हैं।

11. भेड़ की चौकला नस्ल को ''राजस्थान की मेरिनो'' कहा जाता है।
12. अविवस्त्र नस्ल की भेड़, को रेम्बूले नस्ल के मेरिनों मेढ़ों तथा राजस्थान की चौकला नस्ल की भेड़ के संकरण से विकसित किया गया है तथा अविकालीन नस्ल की भेड़ें रेम्बूले नस्ल के मेरीनों मेढ़ों (नर) तथा मालपुरा नस्ल की भेड़ों (मादा) के संकरण से विकसित की गई हैं।
13. मेरिनों नस्ल की भेड़ों की गर्दन तथा कंधों की त्वचा पर झुर्रियाँ होती हैं।
14. भारत में सर्वाधिक ऊँटों की संख्या राजस्थान में है।
15. बीकानेरी ऊँट की जमीन से थुई तक ऊँचाई 10 से 12 फीट होती है।
16. जैसलमेरी नस्ल के ऊँट का उद्‌गम स्थान राजस्थान का जैसलमेर क्षेत्र है।
17. ऊँट के कूबड़ का आकार उसको मिल रहे आहार की मात्रा दर्शाता है ।
18. ऊँट को प्रतिदिन औसतन 75–150 ग्राम साधारण नमक दिया जाता है।
19. ऊँट को रोजाना 18–36 लीटर पानी की आवश्यकता होती है।
20. सर्रा रोग तीन वर्ष तक चलता रहता है इसलिये इसे तीवर्षा रोग कहते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न –

1. गाय की दुधारू नस्ल है –
   (अ) नागौरी (ब)खिल्लारी
   (स)गिर (द) हरियाणा
2. मिनिएचर गाय कहलाती है
   (अ) बच्चौर (ब)खिल्लारी
   (स)कंगायम (द)बेचूर
3. राजस्थान में पायी जाने वाली सबसे अच्छी भारवाही नस्ल है
   (अ) नागौरी (ब)राठी
   (स)हरियाणा (द) थारपारकर
4. सबसे अधिक वसा प्रतिशत वाले दूध के लिये भैंस की नस्ल जानी जाती है।
   (अ) मुर्रा (ब) भदावरी
   (स) जाफराबादी (द) सूरती
5. बकरी की टोगनवर्ग नस्ल को पालते है।
   (अ) दूध के लिये (ब) मांस के लिये
   (स) पश्मीना के लिये (द) मोहेर के लिये
6. जमुनापारी नस्ल की बकरी का मूल उत्पत्ति स्थान है –
   (अ) एटा जिला (ब) इटावा जिला
   (स) आगरा जिला (द) मैनपुरी जिला
7. राजस्थान की मेरिनों, भेड़ की किस नस्ल को कहते है?
   (अ) चौकला (ब) मारवाड़ी
   (स) अविवस्त्र (द) मालपुरा
8. भारत में भेड़ों की लगभग कितनी नस्लें हैं ?
   (अ) लगभग 100 (ब) लगभग 150
   (स) लगभग 42 (द) लगभग 80
9. बीकानेरी नस्ल के ऊँट की जमीन से थुई तक ऊँचाई होती है ?
   (अ) 12 से 14 फीट (ब)10 से 12 फीट
   (स) 7 से 9 फीट (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
10. ऊँट की बीकानेरी नस्ल का उद्‌गम स्थान है ?
    (अ)बीकानेर क्षेत्र (ब)जैसलमेर क्षेत्र
    (स)उदयपुर क्षेत्र (द)गुजरात का कच्छ क्षेत्र

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न –

11. गिर गाय का मूल उत्पत्ति स्थान बताइये।
12. सबसे अधिक दूध देने वाली गाय की विदेशी नस्ल का नाम बताइये।
13. भैंस की नीली नस्ल का नाम नीली क्यों रखा गया है।
14. बीटल नस्ल की बकरी का उत्पत्ति स्थान लिखिए।
15. किस नस्ल के बकरो (नर) में दाढ़ी पाई जाती है ?
16. पेल्ट के लिये भेड़ की उपयुक्त नस्ल का नाम लिखिए।
17. उत्तरी हिमालय क्षेत्र में पाई जाने वाली भेड़ की किन्हीं दो नस्लों के नाम लिखिए।
18. पशुगणना 2012 के अनुसार राजस्थान में ऊँटों की संख्या कितनी है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न –

19. जाफराबादी भैंस की शारीरिक विशेषतायें लिखिये ।
20. नस्ल किसे कहते है ?परिभाषित कीजिए ।
21. टोगनबर्ग नस्ल की बकरी की विशेषताएँ लिखिए ।
22. बीटल नस्ल की बकरी की क्या उपयोगिता है ?
23. केन्द्रीय भेड़ एवं ऊन अनुसंधान संस्थान अविका नगर, टोंक पर संकरण द्वारा विकसित दो नस्लों के बारे में बताइये।
24. जैसलमेरी नस्ल की भेड़ का उत्पत्ति स्थान एवं वितरण लिखिए ।

25. कराकुल नस्ल की भेड़ का उत्पत्ति स्थान एवं शारीरिक विशेषतायें लिखिए ।
26. अविकालीन नस्ल की भेड़ का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
27. ऊँट की बीकानेरी नस्ल का वर्णन कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न –

28. गाय की निम्न नस्लों का उत्पत्ति स्थान, लक्षण एवं उपयोगिता तालिका बनाकर लिखिये ।
    (अ) थारपारकर (ब) जर्सी
    (स)मालवी (द) हरियाणा
29. भैंस की मुर्रा एवं मेहसाना नस्लों का वर्णन कीजिए ।
30. बरबरी नस्ल का मूल स्थान, वितरण, विशेषतायें तथा उपयोगितायें लिखिए ।
31. मेरिनो नस्ल की भेड़ का उत्पत्ति स्थान, वितरण, विशेषतायें एवं उपयोगितायें लिखिए ।
32. भेड़ की मारवाड़ी नस्ल का उत्पत्ति स्थान वितरण, शारीरिक विशेषतायें एवं उपयोगितायें बताइए ।
33. ऊँट की निम्न नस्लों का उत्पत्ति स्थान, लक्षण एवं उपयोगिता तालिका बनाकर लिखिये ।
    अ. बीकानेरी ब. मेवाड़ी
    स. जैसलमेरी

उत्तरमाला

स 2. द 3. अ 4. ब 5. अ 6. ब 7. अ 8. स 9. ब 10. अ

अध्याय–14
पशु रोग (Animal Disease)

पशुओं में किसी भी बीमारी का होना या न होना इस बात पर निर्भर करता है कि वह पशु किस वातावरण में किस प्रकार के खान–पान तथा किस–किस के सम्पर्क में रहकर अपनी दिनचर्या पूर्ण करता है। पशुओं में जो बीमारियाँ होती हैं वह निम्न कारणों से होती हैं:–

1. जीवाणु जनित रोग– पशुओं में जितने भी विशिष्ट एवं घातक रोग होते हैं। ये सब जीवाणुओं की ही देन है। जीवाणु द्वारा पशुओं में पैदा होने वाले रोग जैसे गलघोंटू, विष ज्वर, लंगड़ा बुखार, क्षय रोग, संक्रामक गर्भपात, थनैला रोग, बच्चे के सफेद दस्त, टिटनस, एन्ट्रोटाक्सीमिया फिडकिया आदि हैं।
2. विषाणु जनित रोग– विषाणु जनित रोग जीवाणु से अधिक घातक होते है जैसे खुरपका–मुँहपका, अढ़ैया या ढाई दिन का बुखार, चेचक एवं पागलपन।
3. परजीवी रोग– परजीवी कीट पशुओं के शरीर में निवास करते है। इनमे से कुछ शरीर के ऊपर तथा कुछ शरीर के भीतर पाये जाते है।
   - **(अ) बाह्य परजीवी–** ऐसे कीट जो पशुओं की त्वचा पर रहते है जैसे जूँ कलीली, पिस्सू आदि इनसे निम्न बीमारियाँ होती है– खाज एवं खुजली आदि।
   - **(ब) अन्तः परजीवी–** इनसे निम्न बीमारियाँ होती है– थेलेसिओसिस, सर्रा, लाल पेशाब, फेसियोलाईसिस एवं अन्य पेट के कीड़े आदि।
4. खराब रख–रखाव, अनुचित देखभाल, गलत खान–पान एवं पोषक तत्व न्यूनता से होने वाली बीमारियाँ जैसे कब्ज, दस्त खांसी, अपच, न्यूमोनिया, रतौंधी आदि।
5. चयापचय जन्य रोग– शरीर में सामान्य चयापचय प्रक्रियाओं के विचलित होने से ये रोग उत्पन्न होते है जैसे मिल्क फीवर, कीटोसिस।
6. जन्मजात रोग– कुछ रोग पशु के पैदा होने के साथ ही होते है जैसे फ्री मार्टिन।

स्वस्थ पशु के सामान्य लक्षण (General Characters of Healthy Animal)

1. पशु की शारीरिक, मानसिक व कायिकीय क्रियाएँ, सामान्य रुप से चलना।
2. देखने पर चौकन्ने, कान खड़े हुये, चमड़ी चमकदार तथा बाल चमड़ी से लगे हुए रहते हैं।
3. शरीर का तापमान, श्वसन गति व नाड़ी गति सामान्य।
4. पशु का गोबर सामान्यतया ढीला, कठोर तथा रंग सामान्य।
5. खाना–पीना एवं जुगाली सामान्य रुप से करना।
6. आँखें सामान्य, चमकीली एवं चौकन्नी।
7. दुग्ध उत्पादन सामान्य तथा बछड़े को सामान्य रुप से दूध पिलाना आदि।

बीमार पशु के लक्षण (Characters of Unhealthy Animal)

1. पशु की शारीरिक, मानसिक व कायिकीय क्रियाएँ, सामान्य रुप से गड़बड़ा जाना।
2. खाना–पीना एवं जुगाली अनियमित या बंद कर देना।
3. आँख, मुँह व नाक से पानी या लार गिरना।
4. पशु सुस्त, कान लटके हुए तथा बाल खड़े हुए।
5. शरीर का तापमान, श्वसन गति कम या अधिक होना।
6. गोबर पतला या सख्त कठोर व बदबूदार करना।
7. दुग्ध की मात्रा में अचानक कमी होना।

पशु माता (पशु प्लेग) (Rinder Pest)

यह एक वायरस द्वारा फैलने वाला बहुत ही भयानक संक्रामक रोग है इसके प्रकोप से लाखों पशु प्रतिवर्ष मौत के घाट उतर जाते हैं यह रोग सभी जुगाली करने वाले पशुओं में होता है लेकिन गाय, भैसों में यह रोग ज्यादा घातक होता है। एक बार इस रोग ग्रसित होने पर वही पशु कई वर्षो बाद भी इस रोग से पीड़ित हो सकता है। वैसे तो यह महामारी किसी भी मौसम मे हो सकती है। लेकिन सूखे मौसम में अधिक होती है।

संक्रमण फैलने का तरीका

1. दूषित चारे, दाने, पानी के सम्पर्क से यह रोग फैलता है।
2. रोगी पशु के सभी स्रावों जैसे गोबर आदि में ये वायरस बहुत अधिक मात्रा में होते हैं जो खाद्य पदार्थो को संक्रमित कर रोग फैलाते हैं।

रोग कारक

यह बीमारी छनित वायरस द्वारा होती है। यह छनित वायरस एक पशु से दूसरे पशु में पहुँचकर रोग फैलाता है। शरीर के अन्दर यह वायरस काफी समय तक जीवित रह सकता है लेकिन शरीर के बाहर यह 24 घण्टे से अधिक जीवित नहीं रहता है। रोगी के शरीर से निकलने वाले सभी स्रावों में यह वायरस उपस्थित रहता है।

प्रभावित अंग

इस रोग में रोगी पशु की सम्पूर्ण आहारनाल प्रभावित होती है आहारनाल में छाले हो जाते हैं।

रोग के लक्षण

1. पशु शरीर का तापमान 104-107° फा. तक हो जाता है।
2. पशु की आंखें लाल हो जाती है तथा आँखों से पानी बहने लगता है।
3. पहले पशु का गोबर सख्त कठोर व खून भी साथ आता है लेकिन बाद में पानी जैसा पतला खून मिला हुआ दस्त करता है, इस कारण इस रोग को पौकनी रोग कहते है और अन्त में पशु पिचकारी की तरह तेजी से गोबर करता है जो काफी दूर गिरता है।
4. मुँह के अन्दर छाले हो जाते है तथा मुँह, आँख, एवं नाक से पानी बहने लगता है।
5. अन्त में ये स्राव गाढ़े होकर मवाद जैसी स्थिति में आ जाता है।
6. रोगग्रस्त में पशु 4–7 दिन में मर जाता है।

उपचार

1. सल्फामिडिन का 50 मिली का अन्तशिरा इन्जेक्शन (Inj. Sulphdimidine –50 ml) दें।
2. दस्त रोकने के लिये –सल्फामिडिन का 15 मिली का अन्तपेशी इन्जेक्शन (Inj. Sulphdimidine 15 ml) तुरन्त दें।
3. दस्त में रक्त रोकने के लिये। इन्जेक्शन क्रोम–10 मिली. –अन्तपेशी दें।
4. इन्जेक्शन एनालजीन–15 मिली.–अन्तपेशी दें।
5. इन्जेक्शन एवील–10 मिली.–अन्तपेशी दें।

रोग से बचाव

1. पशुओं में नियमित रिन्डर पेस्ट (R.P.) का टीका लगवाये।
   मात्रा–1 मिली. अन्तत्वचीय।
   समय–3 वर्ष में एक बार (जून माह) लगावें।
2. बीमार व स्वच्छ पशु को अलग अलग रखें।
3. मृत पशु को गाढ़ दें व इनके स्त्रावों को जला दें।
4. साफ सफाई का ध्यान रखें।

खुरपका–मुँहपका रोग (Foot & Mouth Disease)

इस रोग में सबसे पहले पैरों में छाले होने शुरु हो जाते हैं। जब पशु चरने जाता है तब यह छाले फटना शुरु कर देते हैं इससे बहुत से वायरस पैदा हो जाते हैं। जब इन घाव को पशु जीभ से चाटता है तब मुँह मे भी छाले हो जाते हैं। इसलिये इस रोग को खुरपका–मुँहपका रोग कहते है। यह पहले पैरों में व बाद में मुँह में होता है। यह बहुत शीघ्रता से फैलने वाला वायरस जनित रोग है सभी जुगाली करने वाले (दो खुर वाले) पशुओं में होता है। प्रायः यह रोग गाय, भैंस, भेड़ व बकरी में पाया जाता है। इस रोग में पशु की मृत्युदर तो कम होती है लेकिन पशुपालकों को काफी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ता है।

संक्रमण फैलने का माध्यम

1. दूषित चारे व पानी के सेवन से।
2. रोगी पशुओं के स्रावों के सम्पर्क में आने से।
3. हवा के माध्यम से।
4. दूषित मिट्टी के सम्पर्क आदि से।

रोग कारक

यह रोग वायरस की 7 प्रजातियों द्वारा फैलाया जाता है। जो निम्न है –

ए, ओ, सी, सेट I, सेट II, सेट III, एशिया सेट I इत्यादि।

प्रभावित अंग

इस रोग में मुख्यतः मुँह व होठों के बीच की झिल्ली में छाले हो जाते हैं। खुरों के बीच की झिल्ली में छालें होकर फूटने से घाव बन जाते हैं जिन पर मक्खियों का संक्रमण हो जाने पर कीड़े पड़ जाते हैं। इस अवस्था में रोग ज्यादा घातक सिद्ध होता है।

रोग के लक्षण

1. रोगी पशु को 105 – 106° फा. तक तेज बुखार।
2. मुँह में छालें होने से लगातार लार गिरना जिसमें चिपचिपाहट की ध्वनि उत्पन्न होती है।
3. खुरों के बीच छालें होने से पशु का लंगड़ाकर चलना।
4. दूधारु पशु के दुग्ध उत्पादन में अचानक कमी होना।
5. पशु जुगाली करना बंद कर देता है।

उपचार

1. मुँह के छालों का पोटाश अथवा फिटकरी के घोल से धोकर उस पर 1 भाग सुहागा और बोरिक एसिड को ग्लिसरीन, शहद या शीरे में मिलाकर दिन में 2–3 बार लेप करें।

2. पैरों के छालों को कॉपर सल्फेट या लाल दवा के 1% घोल से सुबह शाम धोवें।
3. यदि घाव में कीड़ें पड़ गये हो तो घाव पर तारपीन के तेल का मोम बनाकर रखें।
4. इन्जेक्शन एनालजीन –15 मिली. अन्तः पेशी देवें। दर्द के लिये (बड़े पशुओं में)–3 दिन तक।
5. घावों से द्वितीयक संक्रमण रोकने व घावों को सुखाने के लिये इन्जक्शन एम्पीसिलीन–3 ग्राम का अन्तः पेशी लगाना चाहिए।
6. नजदीकी पशुचिकित्सालय मे तुरन्त सम्पर्क करना चाहिए।

रोग से बचाव

1. एफ.एम.डी.टीका (F.M.D. Vaccine) 1–2 मिली. अन्तःपेशी (I/M) वर्ष में दो बार (जून एवं दिसम्बर) लगाना चाहिए।
2. बीमार पशु को स्वस्थ पशु से अलग रखें।
3. रोगी मृत पशु को जमीन में गाढ़ दें या जला दें।
4. रोगी पशु के बिछावन को जला दें।
5. पशु के रहने की जगह को साफ सुथरा रखें।

जहरबाद (Black Quarter)

इस रोग को लंगड़ा बुखार, फड़ सूजन व चुर्चरिया नाम से भी जाना जाता है। यह एक तीव्र संक्रामक रोग है जो गाय भैंस में मुख्य रुप से तथा कभी–कभी भेड़ बकरी में पाया जाता है छोटी उम्र 4 माह से 3 वर्ष तक के पशु इस रोग से अधिक प्रभावित होते हैं। यह रोग प्रायः वर्षा ऋतु के बाद ज्यादा फैलता है। इस रोग में शरीर के मांसल भाग विशेष रुप से कंधे व पुठ्ठों पर गैस भरी सूजन आ जाने से पशु लंगड़ाने लगता है।

बीमारी फैलने का माध्यम

1. संक्रमित चारे पानी के उपयोग से इस रोग के बीजाणु (Spore) आहार नाल में चले जाने से।
2. संक्रमित मिट्टी व चारागाह के उपयोग से।
3. घाव के माध्यम से–शरीर पर होने वाले घावों के माध्यम से ये जीवाणु (Spore) शरीर में प्रवेश करते है तथा मांस पेशियों में पहुँचकर अपनी संख्या में वृद्धि करते हैं तथा विष पैदा करते हैं। इस विष (Toxin) के प्रभाव से मांस पेशियों के रेशे व रक्त कोशिकाएँ गल जाती है। तथा इनके सड़ने से गैस पैदा होती है जो त्वचा के नीचे जमा होकर सूजन पैदा करती है।

रोग कारक

यह रोग क्लोस्ट्रीडियम शोवियाई द्वारा अधिक फैलता है जो संक्रमित मांस पेशियों में पाया जाता है। शरीर से बाहर ये जीवाणु अपने चारों ओर कवच बनाकर मिट्टी व चारागाहों में काफी समय तक जीवित रहते हैं।

प्रभावित अंग

इस रोग में शरीर के मांसल भाग प्रभावित होते हैं जैसे गर्दन, कन्धे व पुठ्ठे की मांस पेशियाँ।

रोग के लक्षण

1. तेज बुखार जो 104 – 106° फा. तक।
2. कन्धे, पुठ्ठे या गर्दन की मांस पेशियों मे सूजन आ जाती है जो पहले गर्म व दर्द वाली होती है बाद में यह सूजन ठण्डी व पीड़ा रहित हो जाती है।
3. अगर इस सूजन वाली जगह को ऊपर दबावें तो चरचर की आवाज आती है। जो इस बीमारी की मुख्य पहचान है। अगर इस स्थान पर चीरा लगाया जाये तो काले रंग का झागदार व बदबूदार खून बाहर निकलता है।
4. पशु लंगड़ाकर चलता है।
5. पशु खाना पीना कम या बंद कर देता है।
6. शरीर के विभिन्न भागों में जकड़न शुरु हो जाती है।

उपचार (Treatment)

1. इन्जेक्शन प्रोकेन पेनिसिलिन फोर्ट (P.P.F.) का 80 लाख 10 ml., foy (Avil) में घोलकर सूजन वाली जगह पर तीन दिन प्रतिदिन लगावें।
2. सूजन कम करने के लिये
   – इन्जे0 प्रेडनीसोलोन – 15 मिली. – अन्तः पेशी
   –इन्जे0 डेक्सोना – 10 मिली. – अन्तः पेशी
3. दर्द के लिये –इन्जे0 नीमोवेट – 15 मिली. – अन्तः पेशी

रोग से बचाव

1. प्रतिवर्ष बरसात (जून माह) में बी. क्यू. 5 मिली. का टीका लगवायें।
2. मृत पशु को गाढ़ दें या जला दें।
3. स्वस्थ व बीमार पशुओं को अलग अलग रखें।
4. बीमार पशु के स्राव आदि को जला दें।
5. पशुशाला की समय–समय पर लाल दवा या फिनायल से सफाई करें।

एन्थ्रेक्स (Anthrax)

इस रोग को जहरी बुखार/तिल्ली रोग से भी पहचाना जाता है। यह एकाएक व तेजी से फैलने वाला रोग है जो एक लम्बे क्षेत्र में फैलता है। यह रोग गाय, भैंस, भेड़, बकरी में फैलता है।

संक्रमण फैलने का तरीका

1. संक्रमित चारे, पानी व मिट्टी के सम्पर्क में आने से।
2. खून चूसने वाली मक्खी या मच्छर से जो संक्रमित खून को एक पशु से दूसरे पशु में पहुँचाते हैं।
3. शरीर में होने वाले घाव/चोट द्वारा।
4. संक्रमित मनुष्यों द्वारा पशुओं में।

रोग कारक

यह रोग बेसीलस एन्थ्रेसिस नामक जीवाणु द्वारा फैलता है। यह जीवाणु बीमार पशु के रक्त एवं ऊतकों (बाल, खाल, ऊन, शरीर से निकलने वाले सभी स्रावों) में पाया जाता हैं। यह एक जेनेटिक बीमारी है जो पशुओं से मनुष्य में व मनुष्य से पशुओं मे फैलती है। पशु की मृत्यु के बाद भी ये जीवाणु हवा व मिट्टी में सुरक्षा कवच बनाकर कई वर्षों तक जीवित रह सकते हैं तथा अनुकूल मौसम मिलने पर रोग फैलाते हैं इसलिये इसे मिट्टी जनित रोग भी कहते हैं।

प्रभावित अंग

इस रोग में रक्त प्लीहा एवं शरीर के समस्त बाहरी ऊतक प्रभावित होते है।

रोग के लक्षण

1. मुँह, नाक व गुदा से झागदार काला खून निकलता है।
2. शरीर का तापमान 105 – 107 °F तक।
3. बीमार भेड़ों के पैर फूले हुये, सांस लेने में तकलीफ, जमीन पर आड़ी पड़ी हुई दाँत किटकिटाती है।
4. कभी–कभी जीभ, गला व अगले पैरों में सूजन आ जाती है।
5. अन्त में खूनी दस्त का होना।
6. गर्भित पशुओं में गर्भपात का होना आदि।

उपचार

1. सल्फाडिमिडिन का इन्जेक्शन 10 मिली. अन्त शिरा पशुचिकित्सक से लगवाएँ।
2. इन्जेक्शन डेक्सोना 3 मिली. अन्तः पेशी लगवाएँ।
3. बुखार व दर्द के लिये इन्जेक्शन टाइसिन का 15 मिली. अन्तः पेशी लगवाएँ।

रोग से बचाव

1. प्रतिवर्ष जून माह में एन्थ्रेक्स स्पोर वेक्सीन 1 मिली. अन्तः त्वचीय लगवाएँ।
2. मृत पशु को बिना खाल उतारे जमीन में 5 फीट गहराई में गाढ़ दें।
3. सभी स्त्रावों व आस–पास की मिट्टी को जला दें।
4. मृत पशु के रहने की जगह की सफाई फिनायल से करे।
5. रोगी पशु को स्वस्थ पशुओं से तुरन्त अलग करें।

गलघोंटू (Haemorrhagic septicemia)

यह गाय, भैसों व भेड़ों में होने वाला भयंकर जीवाणु जनित रोग है। एक बार लक्षण प्रकट होने पर मृत्युदर 80–90 प्रतिशत तक रहती है। यह रोग प्रायः बरसात के मौसम में अधिक होता है तथा कम उम्र के 6 माह से 2 वर्ष तक के पशु अधिक प्रभावित होते हैं। लम्बी दूरी की यात्रा के बाद भी गलघोंटू रोग होने की संभावना रहती है। इसी कारण इसे शिपिंग फीवर भी कहते हैं।

संक्रमण फैलने का तरीका

1. यह रोग, रोगजनक जीवाणुओं के पाचननाल, श्वासनाल तथा त्वचा के माध्यम से शरीर में प्रवेश करने पर फैलता है। रोगी के लार में भारी संख्या में जीवाणु उपस्थित रहते है जो विभिन्न माध्यमों से संक्रमण फैलाने का कार्य करते हैं।
2. खून चूसने वाली मक्खी एवं मच्छरों से, जो संक्रमित पशु का खून चूसकर स्वस्थ पशु का खून चूसते हैं।
3. रोगी पशु के दूषित चारे, पानी, स्त्राव आदि के सम्पर्क में आने से।

ये जीवाणु शरीर में प्रवेश कर जहर (Toxin) पैदा करते हैं जिसके कारण सारे शरीर में टोरमिया (Toremia) हो जाता है जो मृत्यु का मुख्य कारण है।

रोग कारक

इस रोग को निम्न जीवाणु फैलाते हैः–

1. पाश्च्यूरेला बोवीसेप्टिका (Pasturella boviseptica)– गायों में ।
2. पाश्च्यूरेला बुबैली सेप्टिका *(Pasturella buballiseptica)*– भेसों में ।
3 पाश्च्यूरेला ऑविस *(Pasturella ovis)*– भेड़ बकरी में ।

प्रभावित अंग

विष बनने के कारण पूरा शरीर ही प्रभावित होता है परन्तु मुख्य रुप से श्वसन नाल प्रभावित होती है। गले में सूजन आ जाती है। जिससे पशु को सांस लेने में तकलीफ होती है और घर्र–घर्र की आवाज आती है।

रोग के लक्षण

1. 105 – 107° F तक तेज बुखार, शरीर में कपकपाहट होने से पशु एक दिन में ही मर जाता है।
2. गले के नीचे व अगले पैरो के बीच में गर्म व कठोर सूजन का आ जाना।
3. सांस लेने में तकलीफ होने से घर्र–घर्र की आवाज आना, मुँह व नाक से स्राव निकलना।
4. आँखें लाल व सूजी हुई होना।

5. अन्त में पशु का दम घुटने से पशु की मृत्यु हो जाती है।

उपचार

1. सल्फामिडिन 30ml/50 kg wt. पर अन्तशिरा इन्जेक्शन प्रत्येक 6–6 घण्टे में 2 दिन तक देवें।
2. सूजन रोकने के लिये – प्रेडनीसोलोन 10–15 मिली. अन्तपेशी इन्जेक्शन।
3. दर्द के लिये – निमोवेट 15 मिली. अन्तपेशी इन्जेक्शन।
4. डेक्सोना – 10 मिली. अन्तपेशी इन्जेक्शन।
5. ऑक्सीटेट्रासाइक्लीन – 30 मिली. अन्तपेशी इन्जेक्शन।

रोग का नियंत्रण

1. प्रतिवर्ष बरसात से पूर्व मई–जून माह में एच.एस. (H.S.) का टीका लगावें।
2. पशु में पहला एच. एस. का टीका 6 माह की आयु में लगवायें।
   (i) एच. एस. टीका – 5 मिली. अन्तत्वचीय इन्जेक्शन।
   (ii) एच. एस. + बी. क्यू. संयुक्त टीका – 2 मिली. अन्तत्वचीय इन्जेक्शन।
   (iii) एच. एस. + बी.क्यू. + एफएमडी टीका – 2 मिली. गहरा अन्तत्वचीय इन्जेक्शन प्रतिवर्ष मई जून माह में।
3. मृत पशु को गाढ़ दें या जला दें।
4. स्वस्थ व बीमार पशुओं को अलग अलग रखें।
5. बीमार पशुओं के दूषित चारे व स्राव आदि को जला दें।

थनैला रोग (Mastitis)

दुधारु पशुओं का यह एक संक्रामक रोग है। इस रोग में गादी/अयन गर्म, कठोर व पीड़ादायक हो जाता है और दूध की गुणवत्ता में फर्क आना शुरु हो जाता है। अगर इस समय पशु को इलाज दे दिया जाता है तो 2–3 दिन में पशु स्वस्थ हो जाता है अन्यथा गादी/अयन में कठोरता आना शुरु हो जाती है और अन्त में दूध आना भी बंद हो जाता है। थन या अयन हमेशा के लिये बेकार हो जाते है। इस रोग में पशु की मृत्यु नही होती है लेकिन दुग्ध उत्पादन पर बुरा असर पड़ने के कारण पशुपालक को बहुत ज्यादा आर्थिक नुकसान उठाना पड़ता है। मानव स्वास्थ्य की दृष्टि से दूध के माध्यम से क्षय रोग, ब्रुसेल्लोसिस (गर्भपात) आदि जैसे रोग मनुष्य में फेलने की संभावना रहती है।

संक्रमण फैलने का तरीका

1. थनों के दुग्ध मार्ग से संक्रमण थनों में जाता है।
2. पशु बाँधने की जगह का प्रायः गंदा होना व गंदे हाथों से दूध निकालने से।
3. दूध निकालने के बाद प्रायः दूध की बूंदे थन पर लगी होती है एवं जब पशु नीचे गंदे फर्श पर बैठता है तो संक्रमण हो जाता है।
4. थन या अयन को चोट लगने से।
5. गलत विधि से दूध निकालने पर।

रोग कारक

यह रोग प्रायः जीवाणु, कवक व सुक्ष्म प्लाज्मा आदि से हो सकता है लेकिन मुख्य रुप से जीवाणु इसके लिये उत्तरदायी होते हैं। यह रोग देशी नस्ल की गायों की अपेक्षा संकर नस्ल की गायों में अधिक होता है। गाय, भैंस में अधिकतर स्ट्रैप्टोकोकाई एगैलेक्शिया (*Streptococci agalactiae*) जीवाणु द्वारा फैलता है प्रभावित अंग

इस रोग में थन व अयन प्रभावित होते है। थन/अयन पर सूजन व कठोरता आ जाने से दूध बनाने वाली कोशिकाएँ धीरे–धीरे खराब हो जाती है और पशु द्वारा दुग्ध उत्पादन कम या बंद हो जाता है।

रोग के लक्षण

1. अयन या थन में सूजन, कठोरता एवं दर्द होना तथा हाथ लगाने पर गर्म महसूस होना।
2. दूध आना कम हो जाता है और दूध के रंग मे परिवर्तन होता है। पहले हल्का पीला फिर धीरे–धीरे लाल रंग का आने लगता है तथा अंत में दूध फटे दही जैसा आता है।
3. दूध से बदबू आना।
4. कभी–कभी थनों में गठानें पड़ना एवं रोगग्रस्त थन का सिकुड़ जाना अथवा छोटा हो जाना।
5. दूध छेने के पानी जैसा हो जाता है और उसमें दूध के थक्के, खून तथा मवाद (पस) के थक्के नजर आते हैं।

उपचार

1. एण्टीबायोटीक सुबह शाम दें। इन्जेक्शन एम्पीसिलीन एवं क्लोकासिलीन 3 ग्राम –अन्तः पेशी दें।
2. फंगस एण्टीबायोटिक दें। इन्जेक्शन टाइसिन 15 मिली. –अन्तः पेशी दें।
3. दर्द व सूजन के लिये –इन्जेक्शन मेलोनेक्स 15 मिली. –अन्तः पेशी दें।
4. इन्जेक्शन एवील 10 मिली. –अन्तः पेशी दें।
5. संक्रमित थन से सारा दूध निकालकर मेस्टिटीस ट्यूब सुबह शाम थन में चढ़ावे, जरुरत होने पर थन में 5 मिली. ओ. टी. सी. भी चढ़ा दें।
6. गादी गर्म होने पर दिन में 5–6 बार ठण्डे पानी का छिड़काव करें तथा यदि गादी (अयन) ठण्डी हो तो गर्म पानी का छिड़काव करें।

रोग से बचाव

1. पशुशाला तथा दूध निकालने वाला ग्वाला साफ–सुथरा होना चाहिए।
2. दूध दोहने के पहले व बाद में थनों को साफ पानी से धोना चाहिए।
3. दूध पूर्ण हस्त विधि व सही समय पर निकालना चाहिए।
4. थन या अयन के घाव या चोट का उपचार तुरन्त करवायें।
5. हमेशा स्वस्थ पशु का दूध पहले व रोगी पशु का दूध बाद में निकालें।
6. अयन में दूध बिल्कुल भी नही छोड़े।
7. पशुशाला की नियमित सफाई का ध्यान रखना चाहिए।

टिक फीवर (Tick Fever)

टिक फीवर पशुओं में होने वाला एक बुखार है जो रक्त परजीवी बोओफिलस माइक्रोप्लस द्वारा फैलता है।

रोग के लक्षण

1. भूख में कमी।
2. वजन घटना।
3. बुखार की अचानक शुरूआत।
4. खून की कमी।
5. दूध उत्पादन में कमी

रोकथाम एवं उपचार

- रोगी पशुओं को स्वस्थ पशुओं से दूर रखना चाहिए।
- जिस स्थान पर टिक बुखार का प्रकोप हो उस स्थान के आस–पास की वनस्पति आदि को जला देना चाहिए।
- पशुशाला में विभिन्न कीटनाशी दवाओं का समय–समय पर पशु चिकित्सक की सिफारिश के अनुसार छिड़काव करवाना चाहिए।
- ब्यूटॉक्स का छिड़काव पशु चिकित्सक की सिफारिश के अनुसार करना चाहिए।

दुग्ध ज्वर (Milk Fever / Hypocalcemia)

यह एक चयापचयी (Metabolic) रोग है जो गाय, भैसों में ब्याने के कुछ समय पहले या ब्याने के कुछ समय बाद होती है। इसमें पशु के शरीर में कैल्शियम की भारी कमी हो जाती है। माँसपेशियाँ कमजोर हो जाती है। शरीर में रक्तचाप की काफी कमी हो जाती है। अन्त में पशु काफी सुस्त, बेहोश सा तथा निढाल हो जाता है। प्रायः दूध ज्वर अधिक दूध देने वाली संकर गाय, भैसों में अधिक होता है। यह रोग अधिकतर ब्याने के 5–7 दिन के अन्दर हो जाता है। इस रोग में पशु का सामान्य तापमान कम हो जाता है। सामान्य रुप से गाय, भैसों के सीरम में कैल्शियम लेवल 9–11 mg/100ml होता है। इस रोग में यह स्तर घटकर 7% हो जाता है।

रोग का कारण

1. रक्त सीरम (Blood Serum) में कैल्शियम स्तर 7 mg/100 ml. से कम होना।
2. रक्त में कैल्शियम की कमी प्रमुख चार कारणों से होती है।
   (अ) ब्याने के बाद काफी मात्रा में कैल्शियम खीस (कोलस्ट्रम) के साथ बाहर आ जाता है। खीस में रक्त से 12–13 गुना अधिक कैल्शियम होता है।
   (ब) ब्याने के बाद एकाएक खीस में बहुत ज्यादा कैल्शियम निकल जाने के कारण हड्डियों से शरीर को कैल्शियम जल्दी नही मिल पाता है।
   (स) यदि ब्याने के बाद पशु को कम मात्रा में आहार दिया जाता है तो रुमन व आंतों में भी कम आहार होने से ये अंग कम सक्रिय होने और कैल्शियम का अवशोषण भी कम होगा। थके हुये व भूखे पशुओं में दूध ज्वर जल्दी होता है।
   (द) आहार में कैल्शियम की कमी का होना।

रोग के लक्षण

1. पहले पशु सुस्त और धीरे–धीरे कमजोर या ढीला हो जाता है।
2. पशु अपनी गर्दन को पेट की ओर मोड़कर निढाल सा बैठा रहता है।
3. शरीर का तापमान सामान्य से थोड़ा कम हो जाता है पशु के हाथ लगाने पर पशु ठण्डा महसूस होता है।
4. आँखें सुख जाती है, आँखों की पुतलियां फैलकर बड़ी हो जाती है।
5. रोग होने के 2–3 दिन बाद पशु में चलने फिरने तक की क्षमता नही रहती है तथा वह एक जगह बेहोशी की अवस्था में पड़ा रहता है।
6. मांसपेशियां कमजोर हो जाने के कारण पशु गोबर व पेशाब करने में असमर्थ हो जाता है।

उपचार

1. रक्त में कैल्शियम की कमी दूर करने के लिये तुरन्त रक्त में कैल्शियम बोरो ग्लूकोनेट 500 मिली. का अन्तशिरा इन्जेक्शन लगावें।
2. अगर कभी कभी कैल्शियम के साथ मैग्निशियम की भी कमी हो तो कैल्शियम मैग्निशियम बोरो ग्लूकोनेट 500 मिली. का अन्तशिरा इन्जेक्शन पशु चिकित्सक की सिफारिश से लगावें।

रोग से बचाव

1. पशु को कैल्शियम युक्त आहार खिलावें।
2. पशु को ब्याने के पूर्व से ही विटामिन की खुराक देना शुरु कर दें।
3. ब्याने के पूर्व ही पशु को कैल्शियम युक्त (Calcium Rich) दाना खिलाना शुरु कर देना चाहिए।
4. प्रतिदिन 50–60 ग्राम खनिज लवण खिलावें।

फड़किया रोग (Enterotoxemia)

यह अधिकतर रोमन्थी पशुओं में होने वाला रोग है इस रोग में जीवाणु आंतों में पहुँचकर जहर (Toxin) पैदा करते है जिसके कारण इस रोग के लक्षण प्रकट होते है। यह रोग प्राय भेड़ व बकरियों में ज्यादा पाया जाता है जो एक जानलेवा घातक बीमारी है। इस रोग में एक साथ बड़ी संख्या में भेड़ व बकरियाँ मर जाती है।

संक्रमण फैलने का तरीका

1. संक्रमित चारे, दाने व पानी के उपयोग से यह जीवाणु पशु की आँतों में रहता है तथा गोबर के माध्यम से चारागाह व पानी के स्रोतों को दूषित कर रोग फैलाता है।

रोग कारक –

यह रोग क्लोस्ट्रीडियम परफ्रिन्जेन्स नामक जीवाणु द्वारा फैलता है। यह जीवाणु अपनी अलग अलग प्रजातियों के हिसाब से अलग अलग जाति पशुओं में रोग फैलाता है। इसकी मुख्य प्रजातियाँ ए, बी, सी, डी, व ई हैं। इनमें डी प्रजाति सबसे खतरनाक होती है क्योंकि इनसे उत्पन्न जहर खतरनाक होता है। यह प्रजाति भेड़, बकरियों में रोग फैलाती है।

प्रभावित अंग

यह जीवाणु आहार नाल द्वारा प्रवेश कर पशु की आँतों मे निवास करता है तथा यहीं पर विष बनाता है।

रोग के लक्षण

1. पेट में दर्द होने के कारण भेड़ या बकरी बैचेन हो जाती है और बार बार उठती या बैठती है।
2. पशु को आफरा आ जाता है व सांस लेने में तकलीफ होती है।
3. हाथ, पैरों में ऐंठन, अगले पैरों के घुटने के बल पर चलता है।
4. पेट दर्द के कारण पशु दाँत किटकिटाता है।
5. इस रोग में भेड़ें रात को स्वस्थ होती परन्तु सुबह मरी हुई मिलती हैं।
6. आँखो से आँसू तथा मुँह से झाग निकलते है।
7. अन्त में खूनी दस्त होती है तथा लेटे–लेटे पैरों को साईकिल की तरह चलाते हुए मृत्यु हो जाती है।

उपचार

1. डेक्सोना 3 मिली. अन्तपेशी इन्जेक्शन
2. एण्टीबायोटीक दें – इन्जेक्शन ऑक्सीटेट्रासाइक्लिन (O.T.C.)-5 मिली. अन्तपेशी तीन दिन तक ।
3. पेट दर्द को रोकने व ऐठन कम करने के लिये – इन्जेक्शन डाई क्लोमिन हाइड्रोक्लोराइड 3 मिली. अन्तपेशी देना।
4. मांसपेशियों की अकड़न रोकने के लिये – इन्जेक्शन न्यूरोबियोन 3 मिली. अन्तपेशी इन्जेक्शन देवें।

रोग से बचाव

1. ई. टी. वी. का टीका लगावें।
2. ई.टी. वी. प्रकार डी – 2.5 मिली. अन्तत्वचीय या अन्तपेशीय।
3. मृत पशु को गाढ़ दें तथा इसके स्त्राव, बिछावन आदि को जला दें।
4. बीमार पशुओं को तुरन्त अलग कर दें।
5. जिस क्षेत्र में बीमारी का प्रकोप ज्यादा हो उस क्षेत्र में भेड़ों को चराने ना ले जावें।

सर्रा (Surra)

यह बुखार की एक बीमारी है। जिसमें पशु को तेज बुखार रूक– रूक कर आता रहता है। जिसमें पशु चक्कर काटता है और उत्तेजित हो जाता है। यह बीमारी हर प्रकार के पशु को प्रभावित करती है।

रोग का कारण– यह बीमारी ट्रिपेनोसोमा ईवनसाई नामक प्रोटोजोवा से होती है। यह रक्त परजीवी है जो मक्खियों द्वारा फैलता है।

रोग के लक्षण

1. **अधिक तीव्र रूप** – एकाएक तेज बुखार आता है। उत्तेजना होती है। पशु इधर–उधर भागता है। वह नशीला सा लगता है तथा अपने सिर को दीवार या जमीन पर मारता है। खाना–पीना छोड़ देता है और शीघ्र मर जाता है।
2. **तीव्र रूप** – बुखार का न होना, गोले में चक्कर लगाना, खड़े रहना, कभी खाना, कभी न खाना, जुगाली कम करना, बंध–बंधासा चलना, पसीना आना तथा गिर पड़ना इस रोग के मुख्य लक्षण हैं।
3. **कम तीव्र होना** – इसमें बुखार नही आता परन्तु पशु पागल की तरह घूमता है। खाना–पीना छोड़ देता है और उसको कब्ज हो जाता है। वह दुर्बल व शक्तिहीन होकर गिर जाता है और 2 से 3 सप्ताह के बीच मर जाता है।

रोकथाम एवं उपचार

1. चिकित्सा – इंजेक्शन एण्ट्रीसाइडप्रोसाल्ट 2.5 से 3 ग्राम दवा 15 मिली. डिस्ट्रीलड वाटर में घोल कर चमड़ी में लगाना चाहिए।
2. इंजेक्शन बेरेनिल 5 ग्राम को 25 मिली डिस्ट्रील वाटर में घोलकर चमड़ी में लगाना चाहिये ।
3. इन्जेक्शन ट्राईक्वीन 2.5 ग्राम को 15 मिली. डिस्ट्रील वाटर में घोलकर चमड़ी में लगाना चाहिये ।
4. पशु को एनोरेक्सन फोर्ट गोली या प्रोमीन एच.एस. की दो–दो गोलियाँ सुबह शाम देनी चाहिए ।
5. इन्जेक्शन टोनाफास्फोन 10 मिली. व सी.बी.जी. 500 मिली नस में देनी चाहिए ।

खाज (Mange) व खुजली (Scabies)

यह छूतदार चर्म रोग है यह माइटस नामक परजीवी से उत्पन्न होता है जो चमड़ी के अन्दर घुसकर अपना असर करते है जो कि एक पशु से दूसरे पशु में शीघ्रता से फैलती है।

रोग के लक्षण – शरीर पर सूजन आना, फुन्सियाँ होना एवं शरीर के बालों का गिरना इस रोग के प्रमुख लक्षण है इस रोग में चमड़ी का रंग लाल हो जाता है और पशु शरीर को खुजलाता रहता है। सभी पशुओं में इस बीमारी के लक्षण एक ही समान होते है। यह बीमारी चेहरे, होंठ और पैरों से आरम्भ होती है तथा सिर, गर्दन एवं पुट्ठे तक पहुँच जाती है। पूँछ की जड़ पर भी यह रोग बहुत होता है। त्वचा सूजकर मोटी होने लगती है। खुजाने पर उसी स्थान से पीप सा निकलने लगता है। गीली खुजली में छाले होकर फूट जाते है जिससे पशु को दर्द होता है

रोग के कारण – यह रोग चार प्रकार के कीटाणुओं द्वारा फैलता है जो निम्न है–

1. सोरप्टिस कम्युनिस *(Psorpties communis)*
2. कोरीओप्टिससिंबोइटिस *(Corioptic symbiotes)*
3. डेमोडेक्स फौलीक्युलोरम *(Demodex fllolicullorum)*
4. सारकौप्टिस स्कैबी *(Sarcoptes scabiei)*

रोकथाम एवं उपचार

- सभी रोगग्रस्त पशुओं के बांधने के स्थान को अच्छी प्रकार से रोगाणु रहित कर देना चाहिए।
- रोगी पशु को अन्य पशु से अलग कर दें।
- सल्फर पाउडर को तेल में मिलाकर लगावें ।
- हिमेक्स मल्हम लगावें ।
- बुटाक्स 5 मिली को 1 लीटर पानी में घोलकर शरीर पर लगावें।
- इन्जेक्शन आवरमेक्टिन 1 मिली. प्रति 50 किग्रा वजन के हिसाब से चमड़ी में लगावें ।

महत्वपूर्ण बिन्दु (Important Points)

- पशु प्लेग वायरस द्वारा फैलने वाला बहुत ही भयानक संक्रामक रोग है।
- खुरपका–मुँहपका रोग में सबसे पहले पैरों मे छाले होने शुरु हाते है और बहुत से वायरस पैदा हो जाते हैं। जब इन घाव को पशु जीभ से चाटता है तब मुँह में भी छाले हो जाते हैं। इसलिये इस रोग को खुरपका–मुँहपका रोग कहते है।
- जहरबाद रोग क्लोस्ट्रीडियम शोवियाई नामक जीवाणु द्वारा फैलता है।
- गलघोटू रोग में पशु को सांस लेने में तकलीफ होती है

सारणी 14 .1 : टीकाकरण

क्र. सं.	टीके का नाम	बछड़ों की आयु	टीके की मात्रा	टीका लगाने का स्थान	पुनः टीकाकरण
1	एच. एस. वेक्सीन	3 माह	5 मिली.	त्वचा	प्रतिवर्ष
2	बी. क्यू. वेक्सीन	3 माह	5 मिली.	त्वचा	प्रतिवर्ष
3	एफ. एम. डी. वेक्सीन	6 माह	2 मिली.	त्वचा	वर्ष में दो बार
4	ई.टी. वेक्सीन	3 माह	2.5 मिली.	त्वचा	प्रतिवर्ष
5	ब्रुसेलिस सी. – 19 वेक्सीन	3 माह (मादा बछड़ों में)	5 मिली.	त्वचा	जीवन में एक बार
6	आर. पी. वेक्सीन	6 माह	1 मिली.	त्वचा	3 वर्ष में एक बार
7	पी. पी. आर. वेक्सीन	3 माह (भेड़, बकरी)	1 मिली.	त्वचा	प्रतिवर्ष
8	एन्थ्रेक्स स्पेयर वेक्सीन	3 माह	1 मिली.	त्वचा	प्रतिवर्ष

और घर्र–घर्र की आवाज आती है।

- थनैला रोग देशी नस्ल की गायों की अपेक्षा संकर नस्ल की गायों में अधिक होता है।
- दुग्ध ज्वर एक चयापचयी (Metabolic) रोग है।
- सर्रा रोग नामक बीमारी *ट्रिपेनोसोमा ईवनसाई* नामक प्रोटोजोवा से होती है।

टीके रोग विशेष के लिये वर्ष में 1 बार या 2 बार लगाये जाते हैं। अर्थात् टीकाकरण करने का सबसे उपयुक्त समय मई–जून एवं नवम्बर–दिसम्बर माह होता है। टीके द्वारा रोग से लड़ने की क्षमता 6 माह या 1 वर्ष की होती है। अतः 6 माह या 1 वर्ष बाद पुनः नियमित टीकाकरण करवायें।

नोट –गाय भैंस के 3 माह से छोटे बछड़ों को टीके नही लगायें तथा भेड़ बकरी में 2 माह से कम के मेमनों में टीकाकरण नहीं करें।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. सर्रा बीमारी का कारण है –
   (अ) जीवाणु (ब) विषाणु
   (स) प्रोटोजोआ (द)उपर्युक्त में से कोई नहीं
2. थनैला रोग किसके द्वारा फैलता है?
   (अ) जीवाणु (ब)विषाणु
   (स) प्रोटोजोआ (द)उपर्युक्त में से कोई नहीं
3. दुग्ध ज्वर किसकी कमी के कारण होता है?
   (अ) जिंक (ब) कैल्शियम
   (स) आयरन (द) मैंगनीज
4. कौनसा रोग होने पर पशु घर्र–घर्र की आवाज करता है?
   (अ) थनैला (ब)सर्रा
   (स) दुग्ध ज्वर (द)गलघोटू
5. दुग्ध ज्वर रोग है।
   (अ) जीवाणु (ब) चयापचयी
   (स) विषाणु (द)कोई नहीं
6. पशु प्लेग रोग किसके द्वारा फैलता है?
   (अ) विषाणु (ब)जीवाणु
   (स) प्रोटोजोआ (द)कोई नहीं
7. खुरपका–मुँहपका रोग किसके द्वारा फैलता है?
   (अ) विषाणु (ब)जीवाणु
   (स) उपर्युक्त दोनों (द)कोई नहीं

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. खुरपका–मुँहपका रोग कौनसे वायरस द्वारा फैलता है?
2. सर्रा बीमारी का प्रमुख लक्षण क्या है?
3. पशु प्लेग किस कारण से फलता है?
4. खुजली के प्रमुख लक्षण लिखिए।
5. स्वस्थ पशु के लक्षण लिखिए।
6. जहरबाद रोग कौनसे जीवाणु द्वारा फैलता है?
7. एन्थ्रेक्स रोग के प्रमुख लक्षण लिखिए।
8. खुरों के बीच किस रोग में छाले पड़ते है? उपचार लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. निम्न बीमारियों के कारण लक्षण एवं उपचार लिखिए।
   (अ) थनैला (ब) खुरपका– मुँहपका
2. गलघोंटू रोग के लक्षण एवं उपचार का वर्णन कीजिए।
3. जहरबाद रोग के मुख्य लक्षण लिखिए।
4. गलघोंटू रोंग के रोग कारक एवं रोकथाम के उपाय का वर्णन कीजिए।
5. थनैला रोग से बचाव के उपाय लिखिए।
6. फड़किया रोग के लक्षण लिखिए।
7. एन्थ्रेक्स व जहरबाद के लक्षणों में तुलना कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. पशु माता रोग का सविस्तार वर्णन कीजिए।
2. दुग्ध ज्वर क्या है?विस्तारपूर्वक समझाइये।
3. निम्न बीमारियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
   अ. सर्रा ब. खाज व खुजली
   स. फड़किया द. टिक फीवर
4. एन्थ्रेक्स रोग के कारण, लक्षण, उपचार व रोकथाम लिखिए।
5. जहरबाद रोग का सविस्तार वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला

स 2. अ 3. ब 4. द 5. ब 6. अ 7. अ

अध्याय – 15
दुग्ध विज्ञान (Dairy Science)

भारत में दुग्ध उद्योग का विकास (Development of Milk Industry in India)

भारतवर्ष में आजादी के बाद दुग्ध उत्पादन में प्रशंसात्मक वृद्धि हुई है। आज विश्व के दुग्ध उत्पादक देशों में भारत का प्रथम स्थान है। सन् 1951 में जब देश का कुल दुग्ध उत्पादन 17 मिलियन टन था जिसमें अब 9.5 गुना वृद्धि करके वर्ष 2017 में यह 163.7 मिलियन टन हो गया है। इसमें 49 प्रतिशत उत्पादन भैंसों से, 20 प्रतिशत देशी गायों से, 27 प्रतिशत विदेशी गायों से तथा शेष हिस्सा बकरी व अन्य पशुओं का आता है। भारत का विश्व दुग्ध उत्पादन में 18.5 प्रतिशत हिस्सा है।

राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड के अनुसार वर्ष 2016–17 में दूध की प्रति व्यक्ति उपलब्धता 352 ग्राम प्रतिदिन है। जो वैश्विक औसत से अधिक है। भारत की दुग्ध उत्पादन वृद्धि दर 5.3 प्रतिशत वार्षिक है जो वैश्विक वृद्धि दर 2.2 प्रतिशत से दुगुनी है।

खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) के आँकड़ों के अनुसार वर्ष 2013 में शीर्ष दुग्ध उत्पादन राष्ट्र एवं वैश्विक दुग्ध उत्पादन में हिस्सा निम्न क्रमानुसार है। भारत–18%, संयुक्त राज्य अमेरिका 12%, ब्राजील एवं चीन–5%, व रूसी संघ– 4% है।

डेयरी ग्रामीण परिवारों के लाखों लोगों के लिए आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत बन गया है और विशेष रूप से सीमान्त किसानों और महिलाओं के लिए रोजगार और आय सृजन के अवसर उपलब्ध कराने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् (1975) के अनुसार प्रति व्यक्ति प्रतिदिन कम से कम 280 ग्राम दूध उपलब्ध होना जरूरी है जबकि प्रति व्यक्ति दूध की उपलब्धता अलग–अलग समय पर अलग–अलग होती रही है जो कि **तालिका 15.1** में दर्शायी गई है।

तालिका सं. 15.1 भारत में दुग्ध उत्पादन एवं प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन उपलब्धता

वर्ष दुग्ध उपलब्धता	उत्पादन (दस लाख टनों में)	प्रति व्यक्ति (ग्राम प्रतिदिन)
1950–51	17.0	130
2014–15	146.3	322
2015–16	155.5	337
2016–17	163.7	352

स्रोतः बुनियादी पशुपालन और मत्स्य पालन के आँकड़े – 2017

हमारे यहाँ पर दुग्ध उत्पादन के लिए गाय, भैंस, भेड़, बकरी पाली जाती है। लेकिन व्यवसायिक स्तर पर दूध का उत्पादन करने वाले पशु गाय एवं भैंस ही माने जाते हैं। भारत में गौवंश की संख्या अधिक होते हुए भी दुग्ध उत्पादन काफी कम है। संसार के अन्य देशों में अच्छी नस्ल की गाय पाई जाती है। जिनका दुग्ध उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक होता है। हमारे देश में सबसे उत्तम नस्ल की भैंस पाई जाती हैं जिनके दूध में वसा एवं वसा रहित ठोस पदार्थ अधिक मात्रा में पाया जाता है। लेकिन इन भैंसों का दुग्ध उत्पादन उन्नत नस्ल की गायों की अपेक्षा काफी कम है। अतः ये आवश्यक है कि हम भविष्य की माँग के अनुसार ही अपने पशुधन को विकसित करें जिससे हम अपने देश की बढ़ती हुई जनसंख्या की दूध की माँग को पूरा कर सकें।

भारतीय गायों की दुग्ध उत्पादन क्षमता

भारत में 190.90 मिलियन गायें पाली जाती हैं। जो कि संसार की कुल गायों का लगभग 16.5 प्रतिशत है। एक भारतीय गाय का एक वर्ष का औसतन दुग्ध उत्पादन 1600 कि.ग्रा. है।

प्रति पशु दुग्ध उत्पादन का इतना बड़ा अन्तर होने का मुख्य कारण है कि विदेशों में नस्ल सुधार कार्य पिछले अनेक वर्षों से किये जा रहे हैं। इसलिए वहाँ के वैज्ञानिक अपने पशुओं में अच्छे उत्पादन गुण स्थाई रूप से स्थापित कर चुके हैं। लेकिन भारत में अभी पशु नस्ल सुधार किया जा रहा है जिसके अनेक कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं।

भारत में दुग्ध उत्पादन की आवश्यकता एवं विकास कार्य

विश्व के दुग्ध उत्पादक देशों में भारत का पहला स्थान है। लाखों ग्रामीण परिवारों के लिए दुग्ध व्यवसाय आय का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत बन गया है। रोजगार प्रदान करने और आय के साधन पैदा करने में दुग्ध व्यवसाय की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गई है।

भारत सरकार ने अनेक पशु विकास कार्यक्रम शुरू किये हैं जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(अ) प्रति पशु उत्पादन में वृद्धि–इसके लिए पशुओं में नस्ल सुधार एवं संकरण आवश्यक है। इसके लिए निम्नलिखित योजनाएँ चलाई जा रही है।

(1) सघन पशु विकास योजना (I.C.D.P.)– इस योजना के विकास के अन्तर्गत प्रत्येक योजना में 1 लाख प्रजनन योग्य मादा पशुओं को चुना जाता है। इन पशुओं के लिए नियंत्रित प्रजनन, संतुलित आहार तथा रोग नियंत्रण की पूर्ण सुविधा दी जाती है। इस प्रकार अनेक केन्द्र चलाये जा रहे हैं।

(2) उन्नत नस्लों के विदेशी सांडों से संकरण– उन्नत नस्ल के विदेशी सांडों से स्थानीय गायों को प्राकृतिक विधि से प्रजनित कराकर नस्ल सुधार किया जाता है। जिससे स्थानीय पशु का दुग्ध उत्पादन कई गुना बढ़ जाता है।

(3) कृत्रिम गर्भाधान– भारत सरकार एवं राज्य सरकारों ने अनेक स्थानों पर कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र खोलकर नस्ल सुधार किया है। कृत्रिम गर्भाधान की पशु विकास एवं नस्ल सुधार में अच्छी भूमिका रही है।

(4) भ्रूण स्थानान्तरण तकनीक– भ्रूण स्थानान्तरण तकनीक में अधिक दुग्ध उत्पादन क्षमता वाली गाय से निषेचित अण्डे एकत्रित करके दूसरे पशुओं के गर्भाशयों में रख दिये जाते हैं। इस तकनीक से 12–18 महीने में एक उत्तम नस्ल की गाय से 25 बच्चे प्राप्त किये जा सकते हैं। जबकि सामान्य प्रजनन विधि से मात्र एक बच्चा ही प्राप्त होता है। आनुवांशिक सुधार के लिए यह तकनीक बहुत ही कारगर सिद्ध हुई है।

(5) विभिन्न राज्यों में नस्ल सुधार योजनायें– कई राज्यों में नस्ल सुधार की कुछ योजनायें चलाई जा रही हैं जैसे–

(i) इन्डो–डेनिस प्रोजेक्ट– यह प्रोजेक्ट हेरिगांढा (कर्नाटक) में चलाया जा रहा है। इसमें स्थानीय नस्ल की गायों का रेड–डेन नस्ल के सांडों से संकरण कराया जाता है।

(ii) इन्डो–जर्मन प्रोजेक्ट– यह प्रोजेक्ट मंडी (हिमाचल) तथा अल्मोडा (यू.पी.) में चलाये गये थे। इसमें जर्मन नस्ल हाईलैंड एवं ब्राउन स्विस के वीर्य से स्थानीय नस्ल की गायों में गर्भाधान कराया गया था।

(iii) इन्डो– स्विस प्रोजेक्ट– यह प्रोजेक्ट पटियाला में चलाया गया था। जिसमें ब्राउन स्विस की नस्ल से हरियाणा और साहीवाल गायों को प्रजनित कर के नस्ल सुधार किया गया था।

(6) संतती परीक्षण– प्रत्येक राज्य में अच्छी नस्ल के सांडों से गायों को गर्भित कराकर उनसे पैदा होने वाली बछियों का अच्छी तरह पालन पोषण करके उनका दुग्ध उत्पादन देखकर, उनको अगली पीढ़ी तैयार करने के लिए रखा जाता है।

(7) गौशाला एवं चारा विकास योजना– प्रत्येक राज्य में बेकार व आवारा पशुओं को गौशालाओं में रखने की योजना शुरू की गई जिसमें पशु का अच्छी तरह से पालन–पोषण कर उत्पादन बढाया जा सके।

(8) "की" विलेज (Key Village) योजना – प्रत्येक पंच वर्षीय योजना में पूरे देश में पशु विकास के लिए यह योजना शुरू की गई जिसमें पशु का अच्छी तरह से पालन–पोषण कर उत्पादन बढ़ाया जा सके।

(9) सहकारी डेयरी– पूरे देश में राज्य स्तर पर सहकारी डेयरियाँ स्थापित की गई। जिनका डेयरी विकास में बहुत बड़ा योगदान है। डेयरी की समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड गठित किया गया।

राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड (National Dairy Development Board) – राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड की स्थापना सन् 1965 में की गई। उसका मुख्यालय आनन्द (गुजरात) में स्थापित है और इसके क्षेत्रीय कार्यालय दिल्ली, कोलकाता, बैंगलोर, मुम्बई तथा चेन्नई में स्थापित हैं। संसार की यह सबसे बड़ी डेयरी योजना थी भारत में जिसे आपरेशन–फ्लड के नाम से जाना जाता है।

भारतीय डेयरी निगम (Indian Dairy Corporation) – भारत सरकार ने 13 जनवरी 1970 में भारतीय डेयरी निगम की स्थापना की थी। यह निगम ऑपरेशन फ्लड एवं अन्य डेयरी विकास योजना को संचालित करने में राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड की एक कड़ी के रूप में कार्य करता है।

श्वेत क्रांति (White Revolution) – डेयरी के क्षेत्र में आत्मनिर्भर होने के लिए "श्वेत क्रांति" का सूत्रपात किया गया।

ऑपरेशन–फ्लड (Operation Flood) – ऑपरेशन–फ्लड योजना को तीन चरणों में चलाया गया था।

ऑपरेशन–फ्लड प्रथम चरण (1970)– ऑपरेशन–फ्लड प्रथम सन् 1970 में शुरू हुआ, इसके अन्तर्गत जो सप्रेटा दुग्ध चूर्ण तथा बटर ऑयल विदेशों से अनुदान के रूप में प्राप्त हुआ था, उससे दूध तैयार करके, दूध को दिल्ली, मुम्बई, कलकत्ता एवं मद्रास (चेन्नई) में बेचा गया। ऑपरेशन फ्लड प्रथम चरण काफी सफल रहा, इसकी सफलता इस बात से स्पष्ट होती है कि ऑपरेशन फ्लड के शुरू में प्रति व्यक्ति दूध की उपलब्धता 105 ग्राम थी। जो अंत में प्रति व्यक्ति 122 ग्राम तक पहुँच गई थी।

ऑपरेशन फ्लड द्वितीय चरण (Operation Flood II) – यह योजना 1 जुलाई, 1978 को प्रारंभ हुई और इसका समापन 1985 में हुआ।

ऑपरेशन फ्लड के कार्यान्वित के दौरान जो कमियाँ रह गई थी उन्हें पूरा करने के लिए 1993–94 में शत–प्रतिशत अनुदान के आधार पर एकीकृत डेयरी विकास कार्यक्रम (आईडीडीपी) नाम से एक नई योजना शुरू की गई। यह योजना कुछ क्षेत्रों में विशेष रूप से लागू की गई जो ऑपरेशन फ्लड में आने से छूट गये थे। इसके साथ ही पहाड़ी और पिछड़े क्षेत्रों में

भी इसको अमल में लाया गया। इस योजना के मुख्य उद्देश्य थे – दुधारू मवेशियों का विकास, तकनीकी सहायता उपलब्ध कराकर दुग्ध उत्पादन में वृद्धि, दूध की सरकारी खरीद और किफायती ढंग से उसका प्रसंस्करण और विपणन, दुग्ध उत्पादक को उचित मूल्य दिलाना, रोजगार के अतिरिक्त अवसरों का सृजन और अपेक्षाकृत वंचित क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की सामाजिक, आर्थिक और पौष्टिक स्थिति में सुधार लाना।

12वीं पंचवर्षीय योजना में नेशनल लाइवस्टॉक मिशन की शुरूआत की गई। जिसके तहत पशुओं हेतु दाना एवं चारा की उपलब्धता को बढ़ावा देना एवं उपलब्धता एवं माँग के बीच के अन्तर को कम करना। इस योजना के अन्तर्गत पशुओं के बीमारियों के नियंत्रण हेतु राष्ट्रीय नियंत्रण कार्यक्रम प्रमुख बीमारियों जैसे खुरपका–मुँहपका (FMD), पी.पी.आर, (Peste des petits ruminants) ब्रूसीलोसिस (माल्टा ज्वर), क्लासिकल स्वाइन ज्वर (CSF) के लिए किया गया।

तदुपरान्त सरकार दुग्ध व्यवसाय को लोकप्रिय बनाने और इससे जुड़े पहले छूट गये अन्य क्षेत्रों को सम्मिलित करने के लिए राष्ट्रीय मवेशी (गोधन) और भैंस प्रजनन परियोजना, सघन डेयरी विकास कार्यक्रम, गुणवत्ता सूचना सुद्रणीकरण एवं स्वच्छ दुग्ध उत्पादन, सहकारिताओं को सहायता, डेयरी पोल्ट्री वेंचर कैपिटल फंड, पशु आहार, चारा विकास योजना और पशुधन स्वास्थ्य और रोग नियंत्रण कार्यक्रम जैसी अनेक योजनाओं पर काम कर रही है।

राजस्थान में डेयरी का विकास–

राजस्थान में ग्रामीणों का पशुपालन एक मुख्य व्यवसाय है, जिससे ग्रामीणों की सामाजिक–आर्थिक स्तर एवं पोषण आवश्यकता की भी पूर्ति होती है। राजस्थान में कुल दूध उत्पादन 16,934 हजार मी. टन है तथा देश में दूध उत्पादन में दूसरा स्थान (कुल दूध उत्पादन का 11.8 प्रतिशत हिस्सा) है, जिसमें 53 प्रतिशत भैंसों से 36 प्रतिशत गायों से तथा 1 प्रतिशत बकरियों से प्राप्त होता है। राजस्थान में जैसलमेर में सबसे अधिक दुग्ध उपलब्धता 1085 ग्राम प्रति व्यक्ति है।

राजस्थान को–ऑपरेटिव डेयरी फेडरेशन 1977 में स्थापित हुआ और तब से समस्त 32 जिलों को डेयरी फेडरेशन द्वारा डेयरी से संबंधित उत्पादन, विपणन एवं विकास कार्यों का सफलतापूर्वक संचालन कर रहा है। वर्तमान (2016–17) में राज्य में 21 दुग्ध सहकारी संघ कार्य कर रहे हैं। इन संघों के अन्तर्गत ग्रामीण स्तर पर 14193 दुग्ध–सहकारी समितियाँ कार्यरत हैं, जिनमें से 5699 महिला दुग्ध–सहकारी समितियाँ हैं।

महत्वपूर्ण बिन्दु–

1. राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड के अनुसार वर्ष 2016–17 में दूध की प्रति व्यक्ति उपलब्धता 352 ग्राम प्रतिदिन है।
2. दूध का उत्पादन जो सन् 1951 में 170 लाख टन था उसे सन् 2017 में 1637 लाख टन तक पहुँचा दिया है।
3. विदेशी नस्ल के साँडों से देशी नस्ल की गाय प्रजनित कराकर अच्छी नस्ल की गायें तैयार की गई। जिनका दुग्ध उत्पादन 2 से 4 गुना तक पहुँच गया।
4. भारत का विश्व दुग्ध उत्पादन में 18.5 प्रतिशत हिस्सा है।
5. भारत में 190.90 मिलियन गायें पाली जाती हैं, जो कि संसार की कुल गायों का लगभग 16.5 प्रतिशत है।
6. दुग्ध सहकारी समितियों में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित करने से महिलाओं की रूचि पशुपालन में बढ़ी है। जिसके कारण दुग्ध उत्पादन भी बढ़ा है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. वर्ष 2016–17 में भारत में प्रति व्यक्ति प्रतिदिन की दुग्ध उपलब्धता कितने ग्राम प्रतिदिन है?
   (अ) 352 (ब) 320
   (स) 382 (द) 220
2. वर्ष 2013 में वैश्विक दुग्ध उत्पादन में भारत का हिस्सा है–
   (अ) 12 प्रतिशत (ब) 18 प्रतिशत
   (स) 5 प्रतिशत (द) 4 प्रतिशत

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

3. भारतीय चिकित्सा अनुसंधान संस्थान के अनुसार प्रति व्यक्ति प्रतिदिन कितना दूध उपलब्ध होना चाहिए?
4. ऑपरेशन फ्लड प्रथम कब शुरू हुआ?
5. एन.डी.डी.बी. की स्थापना कब हुई?

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

6. भारतीय डेयरी निगम पर टिप्पणी लिखिए।
7. राजस्थान में डेयरी के विकास के बारे में लिखिए।

निबन्धात्मक प्रश्न–

8. भारत में दुग्ध उत्पादन की आवश्यकता एवं विकास कार्य का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला

1. (अ) 2. (ब)

प्रयोग–15

उद्देश्य – दैनिक दुग्ध अभिलेख तैयार करना ।

अध्ययन की उपयोगिता–

1. अलग–अलग पशुओं का दैनिक दुग्ध उत्पादन जानने के लिये ।
2. प्रत्येक पशु के मासिक एवं ब्यांत का दुग्ध उत्पादन जानने के लिये ।
3. फार्म पर रखे गये सभी दुधारू पशुओं का दुग्ध उत्पादन जानने के लिये ।
4. दूध उत्पादन के अनुसार चारें दाने की व्यवस्था हेतु ।
5. डेयरी फार्म के आय–व्यय का लेखा–जोखा रखने हेतु।

किसी भी डेयरी फार्म को लाभदायक एवं सुचारू रूप से चलाने के लिए डेयरी फार्म पर प्रत्येक चीज के आँकड़े रखना अति आवश्यक है। इसलिये अलग–अलग प्रकार के आँकड़ों को अलग–अलग प्रकार के अभिलेखों में रखा जाता है। अतः डेयरी फार्म पर दुग्ध उत्पादन का रिकार्ड रखने के लिए मुख्य रूप से चार प्रकार के रजिस्टर तैयार किये जाते हैं।

1. दैनिक दुग्ध उत्पादन रजिस्टर
2. वार्षिक दुग्ध उत्पादन रजिस्टर
3. ब्यात दुग्ध उत्पादन रजिस्टर
4. दूध वितरण रजिस्टर

उपरोक्त रजिस्टरों में से दैनिक दुग्ध उत्पादन एवं ब्याँत में कुल दुग्ध उत्पादन का रिकार्ड रखने के लिये निम्न प्रकार के रजिस्टर तैयार किये जाते हैं।

दैनिक दुग्ध उत्पादन रजिस्टर का प्रारूप :–

डेयरी फार्म का नाम ..... माह ..... वर्ष .....

| क.स. | दैनिक दुग्ध उत्पादन की मात्रा (कि.ग्रा.) | | |

ब्यांत दुग्ध अभिलेख रजिस्टर

डेयरी फार्म का नाम ..... माह ..... वर्ष .....

क्र. सं.	पशु का नाम	ब्यांत की तिथि	वर्ष	वर्ष में दिये गये दूध उत्पादन का ब्यौरा (किग्रा.)												ब्यांत में दिये गये दूध की मात्रा (कि0ग्रा0)	चिकनाई की औसत प्रतिशत	दूध देने के दिन	दूध सुखाने की तिथि	सूखे रहने की अवधि
				जनवरी/(वसा) %	फरवरी/(वसा) %	मार्च /(वसा) %	अप्रेल /(वसा) %	मई /(वसा) %	जून /(वसा) %	जुलाई /(वसा) %	अगस्त/(वसा) %	सितम्बर/(वसा) %	अक्टूबर/(वसा) %	नवम्बर/(वसा) %	दिसम्बर /(वसा)%					

हस्ताक्षर अभिलेखक

हस्ताक्षर प्रभारी

प्रयोग–16

उद्देश्य– लक्षणों के आधार पर बीमारी की पहचान एवं उपचार करना

अध्ययन की उपयोगिता –

1. पशुओं को स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराना ।
2. पशुओं को शीघ्र ठीक कर आर्थिक हानि को बचाना ।
3. पशु जनन प्रक्रिया को नियमित बनाये रखना ।
4. बीमारी को फैलने से रोकना ।
5. पशुधन हानि को रोकना ।
6. स्वस्थ एवं रोगी पशुओं के बीच अन्तर होने से उन्हें अलग रखकर उपचार किया जाना सम्भव होगा ।
7. विभिन्न बीमारियों के भिन्न–भिन्न लक्षण होते हैं और उनका उपचार भी भिन्न होता हैं अतः बीमारियों के सही उपचार हेतु विभिन्न बीमारियों में अन्तर सुनिश्चित करना आवश्यक है।

आवश्यक सामग्री –

1. रोगी पशु
2. रोग निदान के लिए उपलब्ध उपकरण ।
3. रोगो से सम्बन्धित चार्ट, मॉडल एवं फिल्में इत्यादि ।
4. रोग से सम्बन्धित विषय सामग्री ।

बीमारियों की पहचान एवं उपचार के तरीके –

इस पाठ्य पुस्तक के सैद्धान्तिक भाग में विभिन्न बीमारियों की पहचान एवं उपचार के बारे में पहले विस्तृत अध्ययन करें। इसके बाद रोगी पशुओं को देखकर निम्न तालिका में उसका विवरण प्रस्तुत करें।

सावधानियाँ–

बीमारियों के लक्षण ध्यानपूर्वक देखें और ऊपर लिखे लक्षणों से मिलान करें। कई बीमारियों में मिलते–जुलते लक्षण पाये जाते हैं। अतः पहचान हेतु अपने अध्यापक या पशु चिकित्सक से निर्णायक सलाह लें ।

तालिका –पशु बीमारियों की पहचान एवं उपचार तालिका

क्र.स.	पशु की जाति एवं उसका नाम या नम्बर	पशु बीमारी के लक्षण	लक्षणों के अनुसार पहचान की गई बीमारी का नाम	पशु बीमारी का उपचार

प्रेक्षण – पशुओं की श्वास की गति, नाड़ी की गति एवं तापमान लेकर उनके स्वास्थ्य के बारे में टिप्पणी करें ।

पशु स्वास्थ्य परीक्षण

क्र.स.	पशु	श्वास की गति	नाड़ी की गति	तापमान	टिप्पणी
1					
2					
3					
4					
5					

प्रयोग–17

(i) उद्देश्यः– पशु चिकित्सा में काम आने वाली सामान्य औषधियाँ एवं उनकी मात्रा की जानकारी करना।

आवश्यक सामग्रीः–विभिन्न प्रकार की औषधियाँ व रसायन।

1. **अजवाइन (Carum Copticum):–** यह छोटे–छोटे हल्के काले रंग के दानों के रूप में मिलते हैं तथा सूखने पर भीनी सुगंध आती है। इसका उपयोग पेट की गड़बड़ी, बदहजमी तथा हाजमा चूर्ण में घटक के रूप में किया जाता है।मात्राः–गाय व भैंस – 20 से 40 ग्राम, भेड़ व बकरी– 2 से 5 ग्राम।
2. **अरण्डी का तेल (Castor Oil):–** हल्का गाढ़ा पीले रंग का स्वादहीन द्रव होता है, इसे अरण्डी के बीजों से प्राप्त करते हैं। यह हल्का (एंस्ट्रिजेन्ट) तथा दस्तावर होता है, जिसे पेट साफ करने के लिए प्रयोग करते हैं। मात्राः–गाय व भैंस–0.5 से 1.0 लीटर एवं भेड़ व बकरी– 30 से 125 मि.ली.।
3. **अलसी का तेल (Linseed Oil):–** यह अलसी के बीजों से प्राप्त किया जाता है। गन्धयुक्त, स्वाद में तीक्ष्ण, खुला रखने पर गाढ़ा हो जाता है। कम मात्रा में लैक्जेटिव एवं अधिक मात्रा में परगेटिव के रूप में कार्य करता है।ऐंठन एवं वायु के दर्द में प्रयोग होता है। मात्राः–गाय व भैंस– 300 से 600 मि.ली. भेड़ व बकरी– 100–250 मि.लीटर ।
4. **अफीम (Opium):–** यह पोस्त के फल से प्राप्त किया द्रव है, जो सफेद रंग का पदार्थ है जिसे रखने पर गाढ़ा व काला हो जाता है, स्वाद मे कड़वा भारी गन्धयुक्त होता है। इसका प्रयोग अतिसार, पैचिस, आंत्रशोध, कॉलिक दर्द में होता है। कोकेन व मारफीन के इन्जैक्शन जो दर्द कम करने में दिए जाते हैं, अफीम से ही प्राप्त होते हैं। मात्राः–गाय व भैंस– 6 से 12 ग्राम, भेड़ व बकरी– 1–2 ग्राम।
5. **आयोडीन (Iodine):–** नीलापन लिए चमकदार काले रंग के बड़े–बड़े कण होते हैं। कागज व कपड़ा इसके सम्पर्क में आने पर जल जाता है। इसका उपयोग–त्वचा को जीवाणु रहित करने, घाव को सड़ने से रोकने, साधारण रूप से सफाई करने में करते हैं। इसका प्रयोग टिंचर आयोडीन तथा आयोडीन महरम बनाने में करते हैं। मात्राः–गाय व भैंस– 2 से 4 ग्राम, भेड़ व बकरी– 1 ग्राम लगभग।
6. **आयोडोफार्म (Iodoform):–** यह चमकीला नींबू जैसे रंग का पाउडर होता है। इसे कभी भी पशु को नही खिलाना चाहिये इसे घावों पर डस्टिंग पाउडर के रूप में प्रयोग करते हैं। डस्टिंग पाउडर– आयोडोफार्म –3.5 ग्राम, बोरिक अम्ल– 28.0 ग्राम, जिंक आक्सॉइड– 3.5 ग्राम। जेर न डालने पर तथा गर्भाशय शोध में 15–30 ग्राम आयोडोफार्म गर्भाशय में रखना चाहिए।
7. **बैलाडोन (Belladonna):–** यह ऐट्रोफा बैलाडोन पेड़ की पत्तियों एवं फलों को सुखाकर बनाया जाता है। इसका प्रयोग खाँसी को दूर करने के लिए अन्य औषधियों के साथ मिलाकर चटनी के रूप में तथा दर्द वाले फोडों पर इसका प्लास्टर किया जाता है। पशु के थनों तथा आँखों में भी बैलाडोन का प्रयोग होता है।
8. **बोरिक एसिड (Boric acid):–** यह सफेद रवेदार, गन्धहीन, कड़वा पाउडर होता है, यह अनेकों बीमारियों में काम आता है। डस्टिग पाउडर–, घोल मलहम तथा पेन्ट के रूप में प्रयोग किया जाता है। डस्टिग पाउडर– बोरिक एसिड 2 भाग, जिंक ऑक्साइड 2 भाग, आयोडोफार्म 1 भाग। यह घावों पर छिड़कने एवं उन्हें सुखाने के काम आता है। घोल के रूप में– बोरिक एसिड 25 ग्राम, सैलिसिलिक एसिड 10 ग्राम, पानी 1 लीटर घावों को धोने के लिए प्रयोग करते हैं। मलहम के रूप में – बोरिक एसिड 50 ग्राम, पानी 1000 मिली, यह घावों, फटे थनों एवं छाजन पर लगाया जाता है। पेन्ट– बोरिक एसिड– 25 ग्राम, ग्लिसरीन 25 ग्राम यह ओठ एवं जीभ के छालों पर प्रयोग करते हैं।
9. **कपूर (Comphor):–** यह रंगहीन पारदर्शक कणों वाला विशेष गन्धयुक्त पदार्थ होता है। इसका स्वाद पहले कड़वा फिर तीखा और अंत में ठण्डा लगता है। अत्यधिक ज्वलनशील तथा खुला रखने पर उड़ जाता है। यह अच्छा एन्टीसैप्टिक, कीटनाशक होता है, इसको ईथर या जैतुन के तेल में 1:4 के अनुपात में मिलाकर घोल को सर्दी जुकाम में पिलाते हैं। पाउडर के रूप में– कपूर– 3. 5 ग्राम, फिटकरी– 7.0 ग्राम, जिंक आक्साइड– 7.0 ग्राम, कार्बोलिक अम्ल– 3.5 ग्राम, बोरिक एसिड– 2.25 ग्राम। मोच, चोट तथा थनैला रोग में लिनीमैन्ट के रूप में– कपूर– 100 ग्राम, मूँगफली का तेल– 400 ग्राम, लेप

करने के लिए प्रयोग में लाते हैं। मात्रा– गाय व भैंस में 2.8 ग्राम, भेड़ व बकरी में 2.4 ग्राम।

10. **कत्था (Catechu):–** यह गहरे बादामी या भूरे लाल रंग के ढेलों के रूप में मिलता है। इसका स्वाद कड़वा, तीखा तथा बाद में मीठा लगता है। पतले दस्तों तथा काक्सीडियोसिस में प्रयोग किया जाता है। खडिया के साथ मिलाकर मिश्रण के रूप में प्रयोग होता है। मात्रा– गाय व भैंस – 4 से 15 ग्राम तथा भेड़ व बकरी – 5–8 ग्राम।

11. **क्लोरोफार्म (Chloroform):–** यह रंगहीन उड़ने वाला द्रव है। इसलिये इसे 2% इथाइल ऐल्कोहॉल के साथ मिलाकर प्रयोग किया जाता है। यह प्रकाश व वायु में खराब हो जाता है। यह स्वाद में मीठा तथा जलन पैदा करने वाला पदार्थ होता है। यह शक्तिशाली अन्तः श्वसन संवेदनहारी है। इसलिये इसका प्रयोग पशुओं या मनुष्यों को बेहोश करने में किया जाता है। मात्रा– गाय व भैंस– 8 से 15 मि.ली., भेड़ व बकरी– 1 से 2 मि.ली.।

12. **चिरायता (Chirayata):–** रंग भूरा तथा स्वाद कड़वा होता है। यह अधिक पाचक है इसका प्रयोग पेट की गड़बड़ी में अन्य औषधियों के साथ मिलाकर टॉनिक के रूप में किया जाता है। यह पाउडर के रूप तथा सफेद लेप (लिनीमेंट) के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। पाउडर के रूप में– गाय व भैंस को 30 से 60 ग्राम, तथा लिनिमेंट के रूप में इसकी दुगुनी मात्रायें प्रयोग की जाती है। चिरायता का लिनीमेंट–ओलीइक अम्ल–8.33 मि.ली., अमोनिया का पतला घोल– 4.50 मि.ली., अमोनियम क्लोराइड– 1.25 मि.ली. तारपीन का तेल – 25 मि.ली. , पानी – 62.50 मि.ली., चिरायता–10 ग्राम।

13. **कुचला (Nuxvomica):–** कुचला के बीज पैसे के आकार के गन्धहीन तथा स्वाद में कड़वे होते हैं। बीजो को भूनकर बनाये गये चूर्ण का रंग कुछ बादामी होता है। टॉनिक, स्टिम्यूलैन्ट तथा एक्सपैक्टोरेन्ट के रूप में किया करता है। टॉनिक के रूप में अन्य औषधियों के साथ मिलाकर दिया जाता है। आमाशय रस व भूख बढ़ाता है तथा श्वास की कठिनाई में प्रयोग किया जाता है। मात्रा– गाय व भैंस–0.3 से 1.5 ग्राम, भेड़ व बकरी – 0.1 से 0.3 ग्राम।

14. **फिटकरी (Alum):–** यह रंगहीन सफेद या हल्का गुलाबी स्वाद में मीठापन लिये हुए कसैला सा बड़े–बड़े रवे वाला पदार्थ होता है। यह पानी में पूर्णतः घुलनशील, स्तम्भक तथा एन्टीसैप्टिक होता है। द्रवों को जमाने तथा तन्तुओं को संकुचित करने में प्रयोग की जाती है। घावों से बहते रक्त को रोकने के काम आती है। इसका 2 से 5% घोल आँख व गर्भाशय की सूजन में प्रयोग किया जाता है।

15. **ग्लिसरीन (Glycerine):–** यह स्वच्छ, रंगहीन,गन्धहीन, आर्द्रता ग्राही, शर्बती द्रव है। स्वाद मीठा होता है। इसे एन्टीसैप्टिक तथा लक्जेटिव के रूप में काम में लिया जाता है। कब्ज तोड़ने में फोड़ों एवं छालों पर लगाने में काम आती है।

16. **हींग (Asafoetida):–** यह हल्के पीले सफेद रंग का गोंद जैसा पानी में घुलने पर दुधिया तीखी गन्ध वाला तथा स्वाद में कड़वा पदार्थ होता है। यह एन्टीसैप्टिक क्षोभक एक्सपैक्टोरेन्ट के रूप में कार्य करता है। इसका प्रयोग पेट दर्द, अफारा, कफ या गैस बनने पर किया जाता है। मात्रा– गाय व भैंस को 18 से 20 ग्राम, भेड़ व बकरी को 4 से 5 ग्राम।

17. **खड़िया (Calcium Corbonate):–** यह सफेद रंग वाला पदार्थ है। तथा एन्टीएसिड के रूप में दस्त, पैचिस में कैल्सियम की कमी को पूरा करती है। दस्तों में– खड़िया 50 ग्राम, कत्था 10 ग्राम, सौंठ 20 ग्राम, सब को मिलाकर चावल के माँड में मिलाकर पशु को देते हैं।

18. **कलमी शोरा (Potassium nitrate):–** यह सफेद रंग का कणदार, स्वाद ठण्डा तथा नमकीन होता है। इसका प्रयोग बुखार कम करने में तथा रुके पेशाब को उतारने में किया जाता है। मात्रा– गाय व भैंस 2 से 10 ग्राम, भेड़ व बकरी 1 से 2 ग्राम।

19. **मैग्नीशियम सल्फेट (Magnesium Sulphate):–** यह सफेद रंग का खाने में नमक जैसा कड़वा पदार्थ है। जो लोशन के रूप में मोच पर लगाने के काम आता है। मात्रा– बुखार– में गाय व भैंस को 260 से 400 ग्राम, तथा दस्त लाने के लिए गाय और भैंस को आधा से एक किलो दिया जाता है।

20. **नौसादर (Ammonium chloride):–** यह रंगहीन, कणदार, सफेद, स्वाद में नमकीन व गुण ठण्डा होता है। लोशन के रूप में सूजन दूर करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। यह कफ नाशक भी होता है। लोशन, नौसादर– 30 ग्राम, पोटेशियम नाइट्रेट– 30 ग्राम, पानी– 600 ग्राम। मात्रा– गाय व भैंस 10 से 15 ग्राम, भेड़ व बकरी 2 से 8 ग्राम।

21. **नीला थोथा (Copper Sulphate):–** यह नीले रंग का रवेदार कसैला पदार्थ है। इसका प्रयोग पेट के कीड़े

मारने, दस्त रोकने, घाव धोने और फुटबाथ में प्रयोग किया जाता है। प्रयोग– पेट के कीड़े में 0.25 प्रतिशत घोल तथा खुरपका में फुटबाथ में 1 प्रतिशत घोल का प्रयोग किया जाता है।

22. **पोटेशियम परमैग्नेट (Potassium permagnate):–** यह बैंगनी रंग का कणदार पदार्थ, गन्धहीन, स्वाद मीठा तथा कसैला जीवाणुनाशक पदार्थ है। इसका 1 प्रतिशत घोल घावों को धोने में प्रयोग किया जाता है। सांप के काटने पर जहर को समाप्त करता है, तथा पेट के कीड़े मारने में भी प्रयोग में लाते है। मात्रा– धोने के लिए घोल 1 से 5 प्रतिशत।

23. **सौंफ (Aniseed):–** यह हल्के हरे या पीले रंग के दाने होते हैं। हाजमा ठीक करने के लिए प्रयोग करते हैं, हाजमे का चूर्ण बनाने में इसका उपयोग किया जाता है। मात्रा– गाय व भैंस को 30 से 50 ग्राम, भेड़ व बकरी को 12 ग्राम।

24. **सुहागा (Borax):–** यह रंगहीन, कणदार, गन्धहीन, मीठे तथा खट्टे स्वाद वाला पाउडर होता है। एन्टीसैप्टिक के रूप में प्रयोग करते है। लोशन के रूप में आँख घोने के काम आता है। लोशन – सुहागा 1.6 ग्राम, सोडियम बाइकार्बोनेट 1.6 ग्राम, आसुत जल 100 मि.ली. । इसे बराबर के गुनगुने पानी में मिलाकर प्रयोग करते है।

25. **सोडा बाईकार्बोनेट (Sodium bi-carbonate):–** इसे खाने का सोडा भी कहते है यह छोटे–छोटे कणों के रूप में अथवा पाउडर के रूप में सफेद गन्धहीन, खाने में खारा होता है। यह पाचक तथा पेट की अम्लीयता दूर करने में प्रयोग किया जाता है, इसका 1 प्रतिशत घोल आँख व मुँह को धोने में, 2 प्रतिशत घोल जले कटे स्थानों पर प्रयोग होता है। मात्रा– भैंस व गाय में 10 से 120 ग्राम, तथा भेड़ व बकरी में 5 से 15 ग्राम।

26. **सौंठ (Ginger):–** हरी अवस्था में इसे अदरक तथा सूखी अवस्था में इसे सौंठ कहते हैं। इसका स्वाद कुछ मीठा चरपरा होता है। पाउडर के रूप में इसका प्रयोग अन्य औषधियों के साथ मिलाकर पशुओं की भूख बढ़ाने, दस्त कम करने, ब्याने के बाद गर्भाशय साफ करने में किया जाता है। मात्रा– गाय व भैंस को 10 से 40 ग्राम, भेड़, बकरी को 1 से 5 ग्राम।

27. **गंधक (Sulphur):–** यह पीले रंग का पाउडर विशेष गन्धयुक्त पदार्थ है। इसे खुजली में वैसलीन के साथ मिलाकर मलहम के रूप में प्रयोग किया जाता है। लोशन में 5 ग्राम, प्रति 100 मि.ली. पानी तथा मलहम में 10 प्रतिशत।

28. **सल्फानिलेमाइड पाउडर (Sulphanilamide Powder):–** यह दुध जैसा सफेद व चिकना पाउडर है। एन्टीसैप्टिक होने के कारण इसका प्रयोग घावों पर छिड़कने तथा मलहम के रूप में किया जाता है।

29. **तारपीन का तेल (Turpentine Oil):–** यह स्वच्छ चमकीला एवं रंगहीन द्रव है। जो जीवाणुनाशक के रूप में प्रयोग करते हैं। इसका प्रयोग दर्द दूर करने पेट के कीड़े मारने, पेशाब लाने, निमोनिया सूजन पर मलने मे किया जाता है।

30. **एक्रीफ्लेविन (Acriflavin):–** यह गाढ़ा पीला रंग वाला, गन्धहीन, कणदार पाउडर, स्वाद में खट्टा होता है। एन्टीसैप्टिक के रूप में घोल कर घावों में भरने वाली गाज भिगोने के काम आता है। इसका एन्टीसैप्टिक घोल आसुत जल में 1:1500 के अनुपात में बनाया जाता है। दुखती आँख में 0.1 प्रतिशत गुलाब जल में लोशन बनाया जाता है।

(ii) उद्देश्य:– दुग्धशाला व पशु चिकित्सा में काम आने वाले यन्त्रों का अध्ययन करना।

आवश्यक सामग्री:– सभी यन्त्र।

1. **फोड़ा चाकू (Abcess Knife):–** पशुओं की चीरफाड़ करने के लिए फोड़ा चाकू का प्रयोग किया जाता है, यह लोहे का बना होता है चित्र–1 । ये दो प्रकार के होते हैं:–

(i) सीधा फोड़ा चाकू (Straight Abcess knife) चित्र–2

(ii) वक्र फोड़ा चाकू (Curved Abcess Knife) चित्र–3

चित्र–1
फोड़ा चाकू

चित्र–2
सीधा फोड़ा चाकू

चित्र–3
वक्र फोड़ा चाकू

2. **धमनी चिमटी (Artery Forceps):–** यह लोहे की बनी दाँतेदार चिमटी होती है, जो शल्य चिकित्सा के समय धमनी को काटकर रक्त प्रवाह बन्द करने के काम आती है । चित्र–4

3. **बर्डिजो कास्ट्रेटर (Burdizzo castrator):–** यह धातु का बना होता है, नर पशुओं को बधियां करने के काम आता है। अलग–अलग पशुओं के लिए यह विभिन्न नाप का होता है। चित्र–5

4. **कैथीटर (Catheter):–** यह रबड़, प्लास्टिक अथवा धातु की बनी लम्बी पतली नली है जो पशुओं में पेशाब बन्द हो जाने पर इसके द्वारा पेशाब निकाला जाता है। चित्र–6

चित्र–4
धमनी चिमटी

चित्र–5
बर्डिजो कास्ट्रेटर

चित्र–6
कैथीटर

5. **डोकिंग मशीन (Docking Machine):–** यह पशुओं की पूछ सरलता से काटने के काम आती है। इसे टेल कटर भी कहते हैं। चित्र–7

6. **सींग काटने की आरी (Dehorning saw):–** यह स्टील या लोहे का बना हेक–सा (Heck Saw) की शक्ल का यन्त्र है। जिसे पशुओं के सींगों को काटने के काम में लेते हैं। चित्र–8

चित्र–7
डोकिंग मशीन

चित्र–8
सींग काटने की आरी

7. **ड्रेसिंग चिमटी (Dressing Forceps):–** यह लोहे की बनी खुले चिमटे के आकार की होती है। पशुओं की ड्रेसिंग करते समय विभिन्न वस्तुओं को उठाने के काम आती हैं। चित्र–9

8. **इलैस्ट्रेटर (Elastrator):–** यह नर पशुओं को बधिया करने के लिए उनके अण्ड कोषों पर छल्ला चढ़ाने के काम आता है। चित्र–10

चित्र–9
ड्रेसिंग चिमटी

चित्र–10
इलैस्ट्रेटर

9. **नेत्र वीक्षण यन्त्र (Eye Speculum):'–** यह स्टील का बना होता हैं तथा पशुओं की आँख खोलने के काम आता है। चित्र–11

10. **गेली पोट (Galli Pot):–** यह मलहम भरने के काम आता है। चित्र–12

चित्र–11
नेत्र वीक्षण यन्त्र

चित्र–12
गेली पोट

11. **सेचक (Irrigator):–** यह तामचीनी का बना होता है। ऊपर से इसका मुँह खुला होता है तथा नीचे एक टोंटी लगी रहती है, इसमें दवा मिश्रित पानी भरा होता है। घाव धोने के काम आता है। चित्र–13

12. **किडनी ट्रे (Kidney Tray):–** यह गुर्दे के आकार की होती है। कान आदि की धुलाई के समय उनके नीचे लगायी जाती है। चित्र–14

चित्र–13 सेचक

चित्र–14 किडनी ट्रे

13. **मापक गिलास (Measuring Glass):–** यह काँच का बना गिलास जैसा बर्तन होता है। इस पर मि.ली. में निशान लगे होते हैं। यह तरल पदार्थो को मापने के काम आता है। चित्र–15

14. **खरल और मूसली (Mortar & Pestle):–** यह पत्थर, चीनी मिट्टी या काँच का बना होता है। प्याले के आकार के खरल में मूसली द्वारा दवायें पीसकर मिलाने के काम आता है। चित्र–16

चित्र–15 मापक गिलास

चित्र–16 खरल और मूसली

15. **मुंह खोलने का यन्त्र (Mouth Gag):–** यह धातु का बना होता है। पशुओं का मुँह अधिक समय तक खुला रखने के लिए इसे मुंह में फंसा देते हैं। चित्र–17

16. **मलहम शिल पट्टी (Ointment Slab):–** चीनीमिट्टी या संगमरमर की बनी होती है। यह चिकनी ,चौकोर होती है। बैसलीन में दवा मिलाकर मलहम बनाने के काम आती है। चित्र–18

चित्र–17
मुंह खोलने का यन्त्र

चित्र–18
मलहम शिल पट्टी

17. **प्रोब (Probe):–** यह पतला यन्त्र 15 से 20 सेमी. लम्बा होता है। यह पशुओं के घावों की गहराई नापने तथा उनमें दवाई की गाज भरने के काम आता है। चित्र–19

18. **कैंची (Scissors):–** यह धातु की बनी होती है इसका मुख्य कार्य बाल, खाल, व मांस काटना है यह दो प्रकार की होती है, सीधी तथा तिरछी कैंची। चित्र–20

चित्र–19 प्रोब

चित्र–20 कैंची

19. **स्पेचुला (Spatula):–** यह धातु अथवा सींग का बना होता है। यह मलहम बनाने के काम आता है। चित्र–21

20. **सींवन सुई (Suturing needle):–** धातु की बनी सुई सीधी, गोल, तिरछी कई प्रकार की होती हैं। यह घावों में टाकें लगाने के काम आती है। चित्र–22

चित्र–21 स्पेचुला

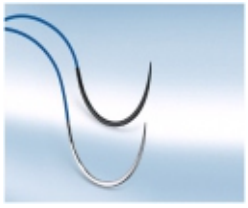

चित्र–22सींवन सुई

21. **पिचकारी (Syringe):–** यह कॉच धातु अथवा प्लास्टिक की बनी होती है । इसके उपर घन से.मी. में निशान लगे होते हैं। इसमें एक ओर हैंडिल तथा दूरी ओर नॉजिल लगा होता है। नॉजिल में सुई लगाकर पशुओं में इन्जैक्शन लगाते हैं। चित्र–23

22. **इन्जैक्शन सुई (Syringe needle):–** यह धातु की बनी होती है। इसके एक सिरे पर नॉजिल तथा दूसरे पर पिचकारी के नॉजिल से फिट होने के लिए छेद खुलता है। इसे पिचकारी पर फिट करके इन्जैक्शन लगाने के काम लिया जाता है। चित्र–24

चित्र–23 पिचकारी

चित्र–24 इन्जैक्शन सुई

23. **थन साइफन (Teat Syphon):–** यह धातु का 12 से 15 से.मी. लम्बी खोखली नली वाला यन्त्र होता है। इसके भीतर एक तार पड़ा रहता है। यह थनैला रोग में थन का दूध निकालने के काम आता है। जिस थन का दूध निकलना हो, उसकी थन नलिका में साइफन को प्रवेश कराकर तार को निकाल लेते हैं। दूध स्वतः निकलना आरम्भ हो जाता है। चित्र–25

24. **थर्मामीटर (Thermometer):–** यह कॉच के बने कई प्रकार के होते है। इनमें एक ओर बल्व में पारा भरा रहता है। डाक्टरी थर्मामीटर पर 94° से 108° फारेनहाइट तक निशान लगे होते है। पशुओं का बुखार नापने के काम आता है। चित्र–26

चित्र–25 थन साइफन

चित्र–26 थर्मामीटर

25. **दूथ कटर (Tooth Cutter):–** यह पशुओं के दॉत काटने के काम आता है। चित्र–27

26. **ट्रे (Tray):–** तामचीनी या प्लास्टिक की अलग–अलग आकार की होती है। ये यन्त्रों तथा ड्रेसिंग का सामान रखने के काम आती है। चित्र–28

चित्र–27टूथ कटर

चित्र–28 ट्रे

27. **ट्रोकार और कैन्यूला (Trocar & Cannula):–** यह धातु का बना होता है। पशुओं को अपरा होने पर उनके पेट से गैस बाहर निकालने के काम आता है। चित्र–29

28. **योनि वीक्षण यन्त्र (Vaginal Speculum):–** यह स्टील का बना होता है विभिन्न जातियों के पशुओं की योनि की लम्बाई के अनुसार आकार होता है। यह योनि परीक्षण के समय योनि को खुला रखने के काम आता है।

चित्र–29
ट्रोकार और कैन्यूला

चित्र 30
योनि वीक्षण यन्त्र

29. **चिलमची (Wash Basin):–** यह तामचीनी या प्लास्टिक की बनी तसला के आकार का बर्तन होता है। इसमें डिडोल युक्त पानी भरकर हाथ धोने के काम आता है। चित्र–31

30. **लकड़ी की रेती (Wood File):–** यह लकड़ी की बनी जिस पर दॉते जैसे उभार बने होते है जो सीगों की सफाई के काम आती है। चित्र–32

चित्र–31चिलमची

चित्र–32 लकड़ी की रेती

प्रयोग–18

उद्देश्य – कृषि शैक्षिक भ्रमण :– कृषि फार्म, कृषि संस्थान, फलोद्यान, डेयरी, कृषि उद्योग, कृषि मेला, कृषि प्रदर्शनी इत्यादि का भ्रमण

विद्यार्थी अपने विद्यालय के कृषि फार्म, पशुशाला, आसपास के पशु अनुसंधान केन्द्र, गैर सरकारी संगठनों द्वारा संचालित पशुधन से संबंधित पशुशाला या किसी व्यक्तिगत संगठित डेयरी फार्म का भ्रमण कर निम्न बिन्दुओं के आधार पर पशुशाला भ्रमण रिपोर्ट तैयार करें ।

1. पशुशाला के भवनों का प्रकार (जैसे–दुधारू गायों के लिये घर, बछड़ों, युवा नर एवं मादा पशुओं, सांड, बैल का घर, पशुओं के ब्यानें का घर, दूध अभिलेखक कक्ष, राशन गोदाम, यंत्रालय तथा चारा काटने का स्थान इत्यादि)
2. उपर्युक्त भवनों का आकार (विभिन्न भवनों की लम्बाई, चौड़ाई एवं पशुओं को रखने की क्षमता)
3. पशुशाला के भवनों में पशुओं को रखने का विन्यास (एक पंक्ति में या दो पंक्ति में यदि दो पंक्ति में है तो मुँह से मुँह प्रणाली है या पूँछ से पूँछ प्रणाली)
4. पशुशाला में रखे गये पशुओं की जाति तथा नस्लें।
5. पशुशाला में विभिन्न वर्गों के पशुओं का विवरण (जैसे दुधारू, सूखे पशु, सांड, बैल, विभिन्न आयु वर्ग के बछड़ें, बछड़ियों)
6. उपलब्ध पशु स्वास्थ्य सेवा ।
7. कार्यरत अधिकारी, कर्मचारी एवं उनकी संख्या ।
8. हरे चारे की उपलब्धता : हरा चारा उगानें के लिये उपलब्ध सुविधायें एवं उगायें जाने वाली चारें की फसलें एवं उनके लिये आवंटित क्षेत्रफल ।
9. चारागाह की जानकारी यदि उपलब्ध हो तो ।

परिशिष्ट – 1

(अ) कृषि एवं पशुपालन के लिये उपयोगी पत्रिकायें –

क्रमांक	नाम	पता	प्रकृति
1	इंडियन फार्मिंग	आई.सी.ए.आर. कृषि भवन नई दिल्ली	मासिक
2	इंडियन जनरल ऑफ वैटेरीनरी सांइस एण्ड एनीमल हस्बैन्ड्री	आई.सी.ए.आर. कृषि भवन नई दिल्ली	त्रैमासिक
3	गौ संवर्धन	सेन्ट्रल काउंसिल ऑफ गौ संवर्धन नइ दिल्ली	मासिक
4	कृषि चयनिका	आई.सी.ए.आर. कृषि भवन नई दिल्ली	त्रैमासिक
5	दी इंडियन जनरल ऑफ एनीमल साइंसेज	आई.सी.ए.आर. कृषि भवन नई दिल्ली	मासिक
6	इंडियन जनरल ऑफ एग्री साइंसेज	आई.सी.ए.आर. कृषि भवन नई दिल्ली	मासिक
7	खेती	आई.सी.ए.आर. कृषि भवन नई दिल्ली	मासिक
8	इंडियन जनरल ऑफ पोल्ट्री साइंस	सेन्ट्रल एवीयन रिसर्च इंस्टीटयूट इज्जतनगर बरेली (उत्तर प्रदेश)	मासिक
9	राजस्थान खेती–प्रताप	महाराणा प्रताप कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, उदयपुर	मासिक

(ब) राष्ट्रीय स्तर के पशु अनुसंधान केन्द्र –

1. केद्रीय भेड़ एवं ऊन अनुसंधान संस्थान अविकानगर , टोंक
2. राष्ट्रीय ऊष्ट्र अनुसंधान केन्द्र, जोहड़बीड, बीकानेर
3. केन्द्रीय बकरी अनुसंधान संस्थान मकदूम– फरह, मथुरा (उत्तर प्रदेश)
4. केन्द्रीय भैंस अनुसंधान संस्थान, हिसार (हरियाणा)
5. केन्द्रीय पक्षी अनुसंधान संस्थान इज्जतनगर, बरेली (उत्तर प्रदेश)
6. भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्थान, इज्जतनगर, बरेली
7. राष्ट्रीय डेयरी अनुसंधान संस्थान, करनाल (हरियाणा)

(स) प्रदेश के पशु चिकित्सा विश्वविद्यालय

1. राजस्थान पशु चिकित्सा एवं पशु विज्ञान विश्वविद्यालय, बीकानेर

(द) प्रदेश के कृषि विश्वविद्यालय,

1. महाराणा प्रताप कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, उदयपुर
2. स्वामी केशवानन्द कृषि विश्वविद्यालय, बीकानेर
3. श्री करण नरेन्द्र कृषि विश्वविद्यालय, जोबनेर, जयपुर
4. कृषि विश्वविद्यालय, जोधपुर
5. कृषि विश्वविद्यालय, कोटा

य. राज्य स्तरीय पशु मेले

क्र.सं.	राज्य स्तरीय पशु मेले	आयोजन तिथि
1.	श्री रामदेव पशु मेला, नागौर	मार्ग शीर्ष शुक्ल–10, फाल्गुन कृष्ण–5
2.	श्री शिवरात्री पशु मेला, करौली	फाल्गुन कृष्ण–6, फाल्गुन कृष्ण–14
3.	श्री मल्लीनाथ पशु मेला, तिलवाड़ा, बाड़मेर	चैत्र कृष्ण–11, चैत्र शुक्ल–11
4.	श्री बलदेव पशु मेला, मेड़ता सिटी, नागौर	चैत्र शुक्ल–13, वैशाख शुक्ल–5
5.	श्री गोमतीसागर पशु मेला, झालरापाटन, झालावाड़	वैशाख शुक्ल–13, ज्येष्ठ शुक्ल–5
6.	श्री गोगामेडी पशु मेला, नोहर ,हनुमानगढ़	श्रावण शुक्ल–15, भद्रपद कृष्ण–15
7.	श्री वीर तेजाजी पशु मेला, परबतसर, नगौर	श्रावण शुक्ल–1, भद्रपद कृष्ण–30
8.	श्री कार्तिक पशु मेला, पुष्कर, अजमेर	कार्तिक शुक्ल–8, मार्गशीर्ष कृष्ण–2
9.	श्री चद्रंभागा पशु मेला, झालरापाटन, झालावाड़	कार्तिक शुक्ल–11, मार्गशीर्ष कृष्ण–5
10.	श्री जसवंत प्रदर्शनी एवं पशु मेला, भरतपुर	आश्विन शुक्ल–5, आश्विन शुक्ल–14

परिशिष्ट – 2

हिन्दी – अंग्रेजी शब्द (Hindi English Term)

अवशोषण	Absorption
अम्लीय	Acidic
अनुकूलनशीलता	Adaptability
अंगमारी	Blight
अंकुरण	Germination
अंडाशय	Ovary
अंगूर	Grape
अंतःशस्यन	Intercropping
असंगतता	Incompatibility
असंगजनन	Apomixis
अफलनशीलता	Unfruitfulness
अक्रांतिक श्वासी	Non-climacteric
अलैंगिक प्रजनन	Asexual reproduction
अपघटन	Decomposition
अपस्थानिक कलिका	Aventitious bud
अपस्थानिक मूल	Adventitious root
अलैंगिक प्रवर्द्धन	Asexual propagation
अर्द्ध–शुष्क	Semi-arid
अतःभूस्तारी	Sucker
अभिकल्पना	Design
अभिक्रिया	Reaction
अभिन्नोभयपुलिंगी	Andromonoecious
अल्प–प्रकाशपेक्षी पौधा	Short day plant
असंगजनन	Apomixis
आच्छद	Sheath
आदर्श	Ideal
आर्द्रता	Humidity
ऑक्सिन	Auxin
ओलावृष्टि	Hail storm
ओजस्वी	Vigorous
उष्ण	Tropical
उपोष्ण	Sub-tropical
उन्मूलन	Irradication
उत्पादकता	Productivity
उत्परिवर्तन	Mutation
उपापचय	Metabolism
उपचार	Treatment
उपोत्पाद	Bye product
उभयलिंगी	Hermaphrodite
लिंगाश्रयी	Monoecious
उपरिभूस्तारी	Runner
उर्वरक	Fertilizer
उर्वरीकरण	Fertilization
उष्णकटिबंधीय	Tropical
ऊतकक्षय	Necrosis
एकबीजपत्री	Monocot
एकान्तर फलन	Alternate bearing
एकलिंगाश्रयी	Dioecious
एकल फल	Simple fruit
एकवर्षी पौधा	Annual plant
ऐकीन	Achene
क्यारी	Bed
क्रांतिक श्वासी	Climacteric
कलम	Cutting
कलम बंधन	Grafting
कलमी मिलाप	Graft union
कलमी पौधा	Grafted plant
कलिका	Bud
कलिकायन	Budding
ढाल कलिकायन	Shield budding

पैबन्दी कलिकायन	Patch budding
छल्ला कलिकायन	Ring budding
फॉरेर्ट कलिकायन	Forkert budding
तराशी कलम बंधन	Whip grafting
जीभी कलम बंधन	Tongue grafting
काशी कलम बंधन	Cleft grafting
बंगली कलम बंधन	Side grafting
विनियर कलम बंधन	Veneer grafting
शीर्ष कलम बंधन	Crown grafting
छाल कलम बंधन	Bark grafting
सेतु कलम बंधन	Bridge grafting
चापी कलम बंधन	Inarch grafting
दोहरी कलम बंधन	Double grafting
कवक	Fungus
कणिकायन	Granulation
कवकनाशी	Fungicide
कतार रोषण	Row plantation
काट–छाँट	Pruning
कार्बनिक उर्वरक	Organic fertilizer
काष्ठीय पौधा	Woody plant
किण्वन	Fermentation
किरणन	Irradiation
कीट	Insect
कीटनाशी	Insecticide
फलन पूर्वावस्था	Juvenile phase
केन्द्रिय अगुआ प्रणाली	Central leader system
कोशिका	Cell
कुरचना (गुच्छा)	Malformation
कुल	Family
धुंध प्रवर्द्धन	Mist propagation
धुंध प्रवर्द्धन कक्ष	Mist propagation chamber
कुल घुलनशील ठोस	Total soluble solids
खमीर	Yeast
खजूर	Dates
खुली अग्रग पद्धति	Open leader system
खुबानी	Apricot
खनिज पदार्थ	Mineral matter
गठन	Texture
गर्त	Pit
गंधकन	Sulphuring
गुठलीदार फल	Drupe fruit
गुणवत्ता	Quality
गुणसूत्र	Chromosome
गूदेदार फल	Fleshy fruit
वायु दाब	Air layering
गिरी	Nut
गोलाकार	Spherical/Globose
चतुर्गुणित	Tetraploid
चकोतरा	Pummelo
चीकू	Sapota
चेरी	Cherry
छंगाई	Heading back
छाल	Bark
जनक	Parents
जलवायु	Climate
जल स्तर	Water table
जाति	Species
जलाक्रान्त	Water logged
जापानी फल	Persimmon
जीर्णता	Senescence
जीवाणु	Bacteria
जीवन क्षमता	Viability
जीवनक्षम बीज	Viable seed
जेली	Jelly

जेम	Jam
जैव प्रौद्योगिकी	Biotechnology
जैविक पदार्थ	Organic matter
जैविक कृषि	Organic farming
जैविक उर्वरक	Organic Fertilizer
जैतून	Olive
जिब्रेलिन	Gibberellin
डिब्बाबंदी	Canning
डिब्बाबंद पदार्थ	Canned product
डिंभक	Larva
तना गर्तन	Stem pitting
तना बेधक	Stem borer
थाला सिंचाई पद्धति	Basin irrigation system
दग्ध अंगमारी	Fire blight
दलपुंज	Corolla
दलपुट	Spur
दाब	Layering
साधारण दाब	Simple layering
यौगिक दाब	Compound
सिरा दाब	Tip layering
खाई दाब	Trench layering
वायु दाब	Air layering
द्विवर्षी फलन	Biennial bearing
देशज्	Indigenous
दृढ़ काष्ठ कलम	Hardwood cutting
दोहरी प्रसुप्ति	Double dormancy
क्षति	Chilling injury
धूम्रक	Fumigant
धूलन	Dusting
निर्जलीकरण	Dehydration
निर्जलीकृत पदार्थ	Dehydrated product
निक्षालन	Leaching
निर्जर्मीकरण	Sterilization
पौधशाला	Nusery
नमी	Moisture
परागण	Pollination
परागक	Pollinator
परागद	Pollenizer
परागकोष	Anther
पर–परागण	Cross-pollination
परजीवी	Parasite
पात्रे	In vitro
परिपक्व	Mature
परिपक्वता	Maturity
पुष्पगुच्छ	Panicle
पुष्पण	Flowering
प्रकंद	Rhizome
प्रतान	Tendril
प्रतिरोध	Resistance
प्रसुप्ति	Dormancy
प्ररोह	Shoot
प्रवर्द्धन माध्यम	Propagation media
प्रानुकूलन	Conditioning
प्रसुप्तावस्था	Dormant stage
प्रतिरोधी	Resistant
प्रतिरोपण	Transplanting
प्रफुल्लन	Anthesis
प्रशीतन	Refrigeration
प्रकाश संश्लेषण	Photosynthesis
प्रकाश अवधि	Photoperiod
पर्णपाती वृक्ष	Deciduous tree
परिरक्षण	Preservation
पत्ती लपेटक	Leaf roller
पर्णहीनता	Defoliation

परिरक्षी	Preservative	बहुगुणिता	Polyploidy
परिरक्षित उत्पाद	Preserved product	बहुवर्षीय पौधा	Perennial plant
पांडुरता	Etiolation	बाह्यदल	Sepal
पाण्डाल विधि	Bower system	बाह्यदल पुंज	Calyx
पंचवृक्षी प्रणाली	Quincunx system	बीज	Seed
पोषणमान	Nutritive value	बीज ओज	Seed vigour
पीड़कनाशी	Pesticide	बीज जीवन क्षमता	Seed viability
पादप वृद्धि नियामक	Plant growth regulator	बीज परीक्षण	Seed testing
पादप ऊतक संवर्धन	Plant tissue culture	बीज प्रवर्धन	Seed propagation
पाश्तुरीकरण	Pasteurization	बीजांड	Ovule
पुंतन्तु	Filament	बीजावरण छंदन	Scarification
पुष्पक्रम	Inflorescence	बादाम	Almond
पुष्पोत्पादन	Flower production	बेल	Bael
पोषक अवशोषण	Nutrient absorption	बीजू पौधा	Seedling plant
पोषाहार मानक	Nutritional standard	बीजरहित	Seedless
पौध	Sapling	बीज उपचार	Seed treatment
पेड़ी फसल	Ratooning	विरलन	Thinning
पौद	Seedling	बेलनाकार	Cylindrical
फलोद्यान	Orchard	बौना, वामन	Dwarf
फलन	Fruitfulness	बूंद–बूंद सिंचाई	Drip irrigation
फसल चक्र	Crop rotation	भूस्तारी	Stolon
फल परिरक्षण	Fruit preservation	भूमि उपचार	Soil treatment
फल संसाधन	Fruit processing	भूसंरक्षी फसलें	Cover crops
फफूंदी	Fungi	भिन्नस्थमय स्त्रीलिंगी	Gynodioecious
फलन	Bearing	भेंट कलम	Inarching
फलों का फटना	Fruit cracking	भूस्तारिका	Offset
फलों का झड़ना	Fruit drop	भ्रूण	Embryo
फलन प्रवृत्ति	Bearing habit	मातृ वृक्ष	Mother plant
फल भित्ति	Pericarp	मिट्टी की पिंडी	Earth ball
फल विज्ञान	Pomology	मूलतंत्र	Root system
बहाव विधि	Flood system	मूलवृंत	Rootstock
बहुभ्रूणता	Polyembrony	मूसला जड़	Tap root

मृत्तिका	Clay
रेखांकन	Layout
रंग	Colour
रसदार पौधा	Succulent plant
रासायनिक उर्वरक	Chemical fertilizer
रोपण क्यारी	Nursery bed
रोगजनक	Pathogen
रेशेदार मूलतंत्र	Fibrous root system
गूदा	Pulp
लैंगिक प्रवर्द्धन	Sexual propagation
वलयी पद्धति	Ring system
वंश	Genus
वर्गीकरण	Classification
वर्गिकी विज्ञान	Taxonomy
वर्णक या रंजक	Pigment
वाष्पोत्सर्जन	Transpiration
विपुंसन	Emasculation
वायु अवरोधक वृक्ष	Windbreak tree
वायु	Air
वाष्पन–वाष्पोत्सर्जन	Evapo-transpiration
वितरण	Distribution
विपणन	Marketing
विलगन परत	Abscission layer
विन्यास	Layout
वृद्धि नियामक	Growth regulator
विषाक्तता	Toxicity
वर्तिकाग्र	Stigma
निष्कलिकायन	Disbudding
शीतोष्ण	Temperate
शुष्क	Arid/Day
शुष्क जलवायु	Arid climate
शफतालू	Nectarine
शल्क	Scale
शीत प्रतिरोध	Cold resistance
शिखर	Crown
शीत संग्रहण	Cold storage
शीतज क्षति	Cold injury
शुष्कक	Dehydrator
स्वःस्थाने	In situ
स्वःपरागित	Self-pollinated
स्वःअसंगता	Self-incompatibility
स्वःबंध्यता	Self-sterility
संस्तरीकरण	Stratification
स्त्रीकेसर	Pistil
स्फुटन	Dehiscence
सधाई	Training
सदाबहार वृक्ष	Evergreen tree
सरस फल	Berry
संरचना	Structure
संगत	Compatible
संसाधन	Processing
संग्रहण	Storage
संग्रहित फल	Multiple fruit
संवेदी	Sensitive
सहिष्णु पौधा	Hardy plant
सांकुर	Scion
सारणी	Table
सुग्राही	Susceptible
हरित ग्रह	Green house
ह्यूमस	Humus
क्षारीय भूमि	Alkaline land

खण्ड – ब
प्रायोगिक

प्रायोगिक (Practical)

इकाई – 1

प्रयोग–1

उद्देश्य– फसलों के लिए बीज शैया/नर्सरी तैयार करना।

सिद्धान्त : विभिन्न फसलों के बीजों के अंकुरण के लिए आवयश्क नमी, पोषक तत्व, तापमान, मृदा वायु एवं प्रकाश उपलब्धता के लिए मिट्टी की आवश्यकतानुसार जुताई कर क्यारी का निर्माण कर बीज शैया/नर्सरी तैयार की जाती है।एक आदर्श बीज शैया नर्सरी तैयार करने के लिए मिट्टी भुरभुरी एवं नम होनी चाहिए जिसमें वायु का संचरण अधिक से अधिक हो सकें। बीजों के अंकुरण एवं पौधों के विकास के लिए विभिन्न फसलों के लिए बीज शैया/नर्सरी तैयार करने की विधियों का वर्णन निम्न प्रकार है।

1. चावल के लिए नर्सरी/पौध घर तैयार करना।

आवश्यक सामग्री– फीता, खुरपी, फावड़ा, रैक, बीज, खाद–उर्वरक आदि।

नाप– लम्बाई–8.0 मीटर व चौड़ाई– 1.25 मीटर

विधि

1. उपरोक्त नाप के अनुसार फीते से नापकर भूमि पर चारों ओर सीधी कतारें खीचें, जिसके चारों कोने 90 डिग्री के कोण हों।
2. खींची हुई लाइनों पर क्यारी के अन्दर व बाहर से मिट्टी लेकर 30 से.मी. मोटी मेड़ बनावें।
3. क्यारी की मिट्टी को फावड़े से अच्छी तरह खोदकर भुरभुरा करें।
4. जल निकास के लिये क्यारी के चारों तरफ 40 से.मी. गहरी नाली बनावें।
5. 300 ग्राम यूरिया + 300 ग्राम सुपर फॉस्फेट + 100 ग्राम म्यूरेट ऑफ पोटाश को मिट्टी मे अच्छी तरह से मिलाकर 20 से.मी. ऊँची बीज शैया तैयार करें।
6. 500 ग्राम सूखा उपचारित बीज प्रति क्यारी की दर से शैया की सतह पर छिटक कर रैक से 1.2 से.मी. गहरा मिला दें।
7. उसके बाद पानी देवें।

सावधानियाँ

1. क्यारी को 20 से.मी. ऊपर बनावें जिससे उचित जल निकास हो सकें।
2. क्यारी में खरपतवार, कंकर, पत्थर व ढ़ेले नहीं होने चाहिए।

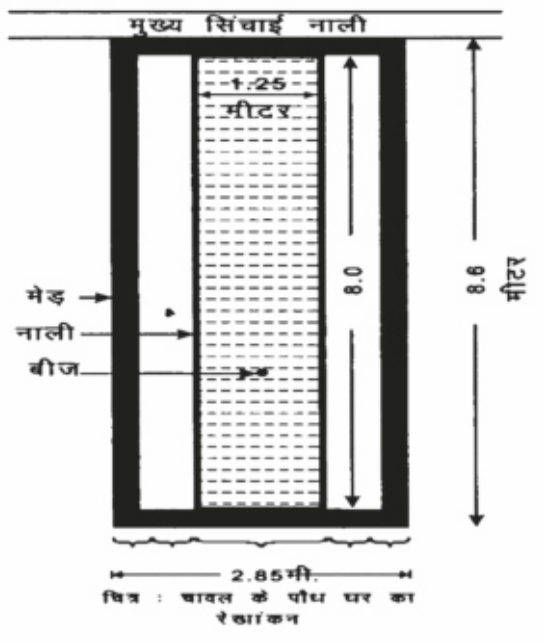

चित्र : चावल के पौध घर का रेखांकन

2. मक्का के लिए बीज शैया तैयार करना।

आवश्यक सामग्री– फीता, खुरपी, फावड़ा, कस्सी आदि।

नाप– लम्बाई–3.50 मीटर व चौड़ाई– 2.40 मीटर

विधि

1. सबसे पहले नाप के अनुसार भूमि पर फीते से नापकर चारों ओर 90 डिग्री के कोण से सीधी कतारें बनाते हैं।
2. कतार पर क्यारी के अन्दर व बाहर से मिट्टी लेकर 30 से.मी. मोटी मेड़ बनाते हैं।
3. क्यारी की मिट्टी को फावड़े से अच्छी तरह खोदकर भुरभुरा व समतल करते हैं।
4. प्रथम एवं अन्तिम पंक्ति के लिये मेड़ के मध्य से पंक्ति की आधी दूरी 30 से.मी. रखें, फिर 60 से.मी. की दूरी पर निशान लगाकर कस्सी से हल्के कूड़ बनावें।
5. बीज कूड़ में 4–5 से.मी. गहरा बोवें।
6. पहले पौधे की दूरी 12.5 से.मी. तथा इसके बाद पौधे से पौधे की दूरी 25 से.मी. रखें।

प्रेक्षण

1. कतार से कतार की दूरी 60 से.मी. के हिसाब से 2.40 मीटर की चौड़ाई में कुल 4 कतारें आयेंगी।
2. कतार में पौधे से पौधे की दूरी 25 से.मी. के हिसाब से 3.

50 मीटर लम्बी प्रत्येक कतार में 14 पौधे होंगे।

3. इस तरह 60 x 25 से.मी. की दूरी रखने पर 66,666 पौधे प्रति हेक्टेयर होंगे।
4. मक्का की बीज दर 20–25 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर रखें।

सावधानियाँ

1. क्यारी कंकड़–पत्थर खरपतवार रहित होनी चाहिए।
2. क्यारी में पहली पंक्ति एवं अन्तिम जो क्यारी की मेड़ के पास होती है, की दूरी तथा पंक्ति में प्रथम एवं अन्तिम पौधे की दूरी सामान्य से आधी रखते है।
3. क्यारी की सतह समतल होनी चाहिए।

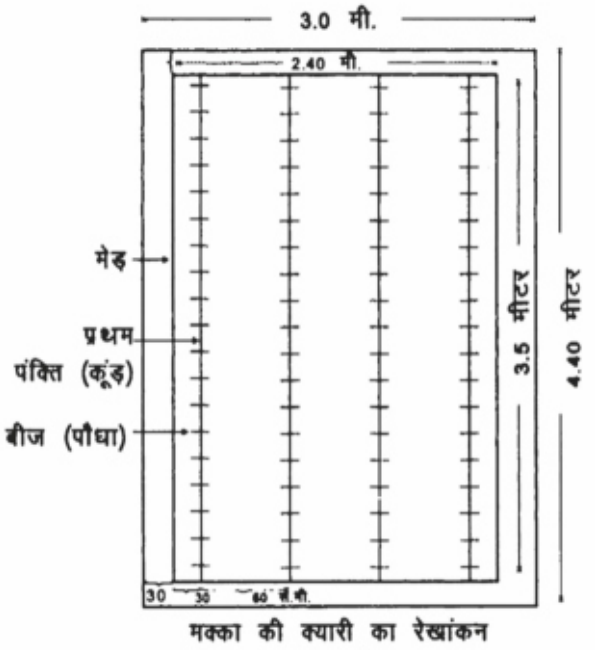

मक्का की क्यारी का रेखांकन

3. ज्वार के लिए बीज शैया तैयार करना।

आवश्यक सामग्री– फीता, खुरपी, फावड़ा, कस्सी आदि।

नाप– लम्बाई– 3.60 मीटर व चौड़ाई– 2.70 मीटर

विधि

1. नाप के अनुसार क्यारी को मक्का की क्यारी की सतह तैयार करें।
2. पहली एवं अन्तिम पंक्ति की दूरी 22.5 से.मी. रखें। आगे पंक्तियों के लिये 45 से.मी. की दूरी पर निशान लगाकर कस्सी से हल्के कूड़ बनावें।
3. बीज को 3–4 से.मी. गहरा बोये।
4. बुआई के दो सप्ताह बाद पौध से पौध की दूरी 12 से.मी. रखें। कतार में प्रथम पौधा 6 से.मी. की दूरी पर रखें।

प्रेक्षण

1. कतार से कतार की दूरी 45 से.मी. के हिसाब से 2.70 मीटर चौड़ाई में कुल 6 कतारें आयेंगी।
2. कतार में पौध से पौध की दूरी 12 से.मी. के हिसाब से 3.60 मीटर लम्बी प्रत्येक कतार के 30 पौधें होंगे।
3. इस तरह 45 x 12 से.मी. की दूरी रखने पर 1.88 लाख पौधे प्रति हेक्टेयर होंगे।
4. ज्वार की बीज दर 10–12 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर होती है।

सावधानियाँ

1. क्यारी कंकड़–पत्थर एवं खरपतवार रहित होनी चाहिए।
2. पंक्ति से पंक्ति की दूरी मेड़–कूड़ के मध्य से नापनी चाहिए।
3. क्यारी में पहली पंक्ति एवं अन्तिम पंक्ति जो क्यारी की मेड़ के पास होती है, की दूरी तथा पंक्ति में प्रथम एवं अन्तिम पौधे की दूरी सामान्य से आधी रखते हैं।

4. बाजरा के लिए बीज शैया तैयार करना।

आवश्यक सामग्री– फीता, खुरपी, फावड़ा, कस्सी आदि।

नाप– लम्बाई– 3.60 मीटर व चौड़ाई– 2.70 मीटर

विधि

1. नाप के अनुसार फीते से चारों ओर से 90 डिग्री के कोण से सीधी कतारें खींच लें।
2. कतार से कतार की दूरी 45 से.मी. रखते हुए कुदाली से हल्के कूड़ बनावें।
3. बीज कूड़ों में 3–4 से.मी. गहरा बोयें।
4. बुआई के दो सप्ताह बाद कतार में पहला पौधा 7.5 से.मी. पर तथा इसके बाद पौधे की दूरी 15 से.मी. रखें।

प्रेक्षण

1. कतार से कतार की दूरी 15 से.मी. पर कुल 6 कतारें आयेंगी।
2. इस तरह 45 x 15 से.मी. की दूरी रखने पर 1.88 लाख पौधे प्रति हेक्टेयर होंगे।
3. बाजरे की बीज दर 5 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर होती है।

सावधानियाँ

सावधानियाँ ज्वार एवं मक्का के अनुसार ही रखिये।

5. गेहूँ के लिये बीज शैया तैयार करना।

आवश्यक सामग्री– फीता, खुरपी, फावड़ा, कस्सी, रैक, बीज आदि।

नाप– लम्बाई– 4.00 मीटर व चौड़ाई– 2.25 मीटर

विधि

1. दी गई नाप के अनुसार बीज शैया के आकार का रेखांकन करके चारों ओर मेड़ बनावें।

2. क्यारी की अच्छी गुड़ाई करके मिट्टी को बारीक भुरभुरा तथा सतह को समतल करें।
3. मेड़ से 11.25 से.मी. दूरी पर पहला कूड़ तथा बाद में 22.5 से.मी. दूरी कस्सी से हल्के कूड़ बनावें।
4. कूड़ों में 2.5 से.मी. तथा बाद में 5 से.मी. पर गेहूँ की बुआई को प्रदर्शित करें।

प्रेक्षण

1. कतार से कतार की दूरी 22.5 से.मी. (प्रथम एवं अन्तिम कतार मेड़ से 11.25 से.मी. दूर) रखने पर 2.25 मीटर की शुद्ध चौड़ाई में कुल 10 कतारें आयेंगी।
2. कतार में पौध से पौध की दूरी 5 से.मी. (प्रथम एवं अन्तिम पौधे की मेड़ से 2.5 से.मी. दूर) रखने

6. गन्ने के लिये बीज शैया तैयार करना।

आवश्यक सामग्री – फीता, कुदाली, फावड़ा, कस्सी, गन्ने के टुकड़े आदि।

नाप– लम्बाई– 5.0 मीटर व चौड़ाई– 3.6 मीटर
सिंचाई की नाली– 45 से.मी.
मेड़ की चौड़ाई– 45 से.मी.
पंक्तियों के बीच दूरी– 90 से.मी.

विधि

1. सबसे पहले 5 मीटर x 3.6 मीटर आकार की भूमि का रेखांकन करके चारों ओर 30 से.मी. चौड़ी मेड़ बनावें।
2. क्यारी को समतल करके नाली व मेड़ विधि से बीज शैया बनावें।
3. प्रथम दूरी 22.5 से.मी. फिर 45–45 से.मी. के निशान लगायें।
4. इस प्रकार कुल चौड़ाई में 45–45 से.मी. चौड़ी 4 नाली व 4 मेड़ बनेंगी।
5. नाली को फावड़े की सहायता से खुदाई करके मिट्टी पेड़ों पर चढ़ावें जो धरातल से 22.5 से.मी. सीधी लम्बवत् तथा ऊपर गोलाकार मेड़ बनाकर मजबूत करें।
6. नाली में गोबर की खाद आदि देकर आवश्यकतानुसार गुड़ाई करें।
7. नाली के मध्य में कूड़ बनाकर गन्ने के 3 आँख वाले टुकड़ों को आँख से आँख मिलाकर या सिरे से सिरा मिलाकर बुआई करें।

सावधानियाँ

1. गन्ने का ऊपरी 1/3 हिस्सा ही बीज टुकड़े बनाने के काम में लेवें।
2. प्रत्येक टुकड़े में 2–3 आँखें होनी चाहिए।
3. बुआई से पहले टुकड़ों को उपचारित करें।

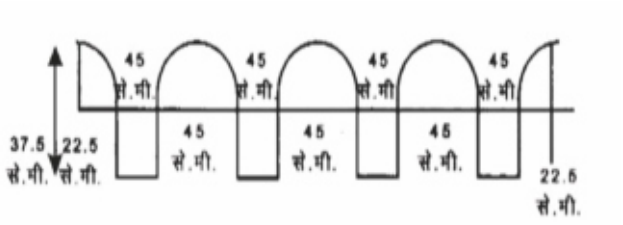

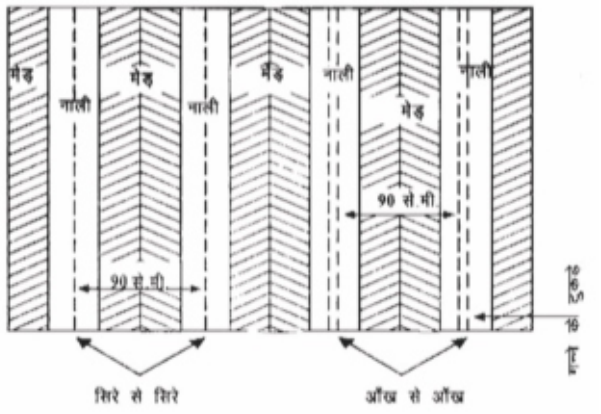

चित्र : गन्ने की क्यारी का रेखांकन

प्रयोग–2

उद्देश्य – बीजों की भौतिक शुद्धता व अंकुरण प्रतिशत ज्ञात कर बीजों का वास्तविक मान ज्ञात करना

भौतिक शुद्धता (Physical purity) ज्ञात करना

आवश्यक सामग्री – बीज, तुला, बोर्ड आदि

बीज की भौतिक शुद्धता से अभिप्राय है कि बीज, अन्य फसलों के बीजों, अन्य किस्म के बीजों व खरपतवारों से पूर्णतया मुक्त होना चाहिए। बीजों में कंकर, पत्थर, अन्य फसलों के अवशेष, धूल, मिट्टी, आदि नहीं होने चाहिए। भौतिक शुद्धता प्रतिशत में ज्ञात करते हैं।

सिद्धांत

$$\text{बीजों की भौतिक शुद्धता (\%)} = \frac{\text{शुद्ध बीज का भार}}{\text{कुल बीज का भार}} \times 100$$

विधि

1. बीज की प्रत्येक बोरी या पात्र से 2–3 जगह से बीज के नमूने लेकर इन्हें मिला कर एक नमूना बना लें। यदि मात्रा अधिक हो तो आधी मात्रा अलग निकाल लेते हैं। इस तरह जितना नमूना चाहिए तैयार कर लेते हैं।
2. इस नमूने को तोल कर बोर्ड पर रखते हैं।
3. अब इस नमूने में से शुद्ध बीज, खरपतवारों के बीज, अन्य किस्मों के बीज दूसरी फसलों के बीज तथा निष्क्रिय पदार्थ जैसे कंकर, पत्थर आदि को अलग करके इन सभी को अलग–अलग ही तोलते हैं।
4. फिर प्रेक्षण तालिका के अनुसार सारी जानकारी अंकित करते हैं।

उदाहरण – चने के 200 ग्राम के बीज नमूने में शुद्ध बीज का भार 160 ग्राम, अन्य फसल बीजों का भार 20 ग्राम, खरपतवारों के बीजों का भार 10 ग्राम व मिट्टी, कंकर आदि का भार 10 ग्राम पाया गया। नमनू की भौतिक शुद्धता प्रतिशत ज्ञात कीजिए तथा साथ ही अन्य अशुद्धियों का प्रतिशत अलग–अलग भी ज्ञात कीजिए।

भौतिक शुद्धता ज्ञात करना

परिणाम – बीज के नमूने की भौतिक शुद्धता 80 प्रतिशत है। अन्य फसलों के बीज 10 प्रतिशत, खरपतवारों के बीज 5 प्रतिशत, मिट्टी, कंकड़, आदि 5 प्रतिशत प्राप्त हुए।

उदाहरण 2 – मक्का के बीज के नमूने का भार 300 ग्राम है जिसमें अन्य फसलों के बीज 5 ग्राम, खरपतवार 10 ग्राम, कंकड़ पत्थर 5 ग्राम पाये गये। इस नमूने की भौतिक शुद्धता प्रतिशत ज्ञात कीजिए।

सूत्र – $\text{भौतिक शुद्धता (\%)} = \frac{\text{शुद्ध बीज का भार}}{\text{कुल बीज का भार}} \times 100$

प्रेक्षण– शुद्ध बीज का भार = (कुल बीज का भार – अशुद्धि)

नमूने में पाई गई अशुद्धि = $(5+10+5) = 20$ ग्राम

शुद्ध बीज का भार = $(300-20)$ ग्राम = 280 ग्राम

भौतिक शुद्धता = $\frac{280}{300} \times 100 = 93.3\%$

परिणाम – बीज नमूने की भौतिक शुद्धता 93.3% है।

सावधानियाँ

1. बीज का नमूना ठीक प्रकार से ले।
2. यदि खरपतवार के बीज बहुत छोटे हो तो उनको प्रतिशत के आधार पर गणना न करके प्रति 100 बीजों पर खरपतवारों के बीजों की संख्या ज्ञात की जानी चाहिए।

क्र.सं.	विभिन्न भाग	विभिन्न भागों का वजन भाग ग्राम में	वजन के आधार पर प्रत्येक भाग का प्रतिशत $= \frac{\text{भाग का वजन}}{\text{कुल वजन}} \times 100$
1.	शुद्ध बीज	160	160 / 200 × 100 = 80%
2.	अन्य फसलों के बीज	20	20 / 200 × 100 = 10%
3.	खरपतवार के बीज	10	10 / 200 × 100 = 5%
4.	निष्क्रिय पदार्थ मिट्टी, कंकर, फसल अवशेष, आदि	10	10 / 200 × 100 = 5%

अंकुरण प्रतिशत (Germination percentage) ज्ञात करना

आवश्यक सामग्री –बीज, नमूना, बालू, रेत, ट्रे।

सूत्र– $\text{अंकुरण प्रतिशत} = \frac{\text{अंकुरित बीजों की संख्या}}{\text{कुल बोये बीजों की संख्या}} \times 100$

विधि

1. एक ट्रे में बालू रेत भर कर बीजों की गिनती करके आवश्यक गहराई पर बुआई करते हैं।
2. ट्रे में पानी का हल्का छिड़काव कर देते हैं।
3. फसल के अंकुरण के लिए आवश्यकतानुसार तापक्रम रखते हैं जैसे गेहूँ के बीजों के लिए 20° सेल्सियस उपयुक्त है।
4. बीजों को उचित तापमान, नमी व प्रकाश की अवस्था प्रदान करते हुए रखते हैं।
5. अंत में अंकुरित बीजों को पृथक करके उनकी संख्या गिन लेते हैं।

उदाहरण

मूँग के 400 बीजों की बुआई करने पर उनमें से 380 बीजों का अंकुरण हुआ। बीजों का अंकुरण प्रतिशत ज्ञात कीजिए।

सूत्र– $\text{अंकुरण प्रतिशत} = \frac{\text{अंकुरित बीजों की संख्या}}{\text{कुल बोये बीजों की संख्या}} \times 100$

प्रेक्षण – यहाँ– 1. अंकुरित बीजों की संख्या – 380
2. कुल बोये गये बीजों की संख्या – 400

$\text{अंकुरण प्रतिशत} = \frac{380}{400} \times 100 = 95$ प्रतिशत

परिणाम – बीज नमूने का अंकुरण प्रतिशत 95 है।

सावधानियाँ

1. अंकुरण प्रतिशत ज्ञात करने हेतु पूर्णरूप से अंकुरित बीजों सामान्य नवोदभिद (Normal Seedling) को ही गिना जाना चाहिए।
2. छोटे आकार के बीजों जैसे सरसों, तम्बाकू आदि के लिए पेट्री डिश काम में लेनी चाहिए।
3. मूल्यांकन अवधि 7 से 10 दिन होनी चाहिए अर्थात् 7वें या 10वें दिन अंकुरित बीजों की संख्या गिनते हैं।
4. फसल अंकुरण हेतु आवश्यकतानुसार उचित तापक्रम रखना चाहिए।
5. अंकुरण प्रतिशत ज्ञात करने हेतु कम से कम 200 बीजों का नमूना काम में लेना चाहिए।

उपलब्ध भौतिक शुद्धता व अंकुरण प्रतिशत के आधार पर बीजों का वास्तविक उपयोगिता मान (Real Value) ज्ञात करना

फसल के बीजों की विभिन्न किस्मों अथवा विभिन्न नमूनों में गुणवत्ता का पता लगाने के लिए बीज किस्म (Variety) या नमूने का वास्तविक उपयोगिता मान ज्ञात करते हैं। जिस किस्म या नमूने का वास्तविक उपयोगिता मान सर्वाधिक होता है वही किस्म या नमूना अधिक उपज हेतु सर्वोत्तम माना जाता है।

सूत्र–

वास्तविक उपयोगिता मान

$$= \frac{\text{अंकुरण प्रतिशत} \times \text{भौतिक शुद्धता प्रतिशत}}{100}$$

उदाहरण – 1 : नीचे दी गई सूचनाओं के आधार पर मूँग के दो नमूनों का वास्तविक उपयोगिता मान ज्ञात कीजिए। यह भी बताइये कि उपज हेतु किस नमूने का चयन लाभप्रद रहेगा?

क्र.सं.	नमूने का नाम	अंकुरण प्रतिशत	भौतिक शुद्धता प्रतिशत
1.	A	78	90
2.	B	95	98

हल

1. नमूने A का वास्तविक उपयोगिता मान =

$$\frac{78 \times 90}{100} = 70.20\%$$

2. नमूने B का वास्तविक उपयोगिता मान =

$$\frac{95 \times 98}{100} = 93.10\%$$

परिणाम

नमूने A का वास्तविक उपयोगिता मान = 70.20 प्रतिशत
नमूने B का वास्तविक उपयोगिता मान = 93.10 प्रतिशत

यहाँ नमूने 'B' का वास्तविक उपयोगिता मान अधिक होने से इसका चयन करना लाभप्रद रहेगा।

प्रयोग–3

उद्देश्य : कवकनाशी, कीटनाशी एवं जैव उर्वरक से फसल के बीजों को उपचारित करना।

फसल को बीज जनित रोगों से बचाव हेतु सिफारिशानुसार कवकनाशी से उपचारित किया जाता है। इसी प्रकार फसल को कीटों विशेषकर दीमक से बचाव हेतु बीजों को कीटनाशी से भी उचारित किया जाता है। बीजोपचार विभिन्न रोगों व कीटों से बचाव हेतु एक सस्ता उपाय है। बीजोपचार में कम मात्रा में रसायन का उपयोग कर फसल का बचाव किया जा सकता है।

इसी प्रकार फसल के बीजों को नाइट्रोजन व फॉस्फोरस विलेयक जैव उर्वरकों से उपचारित कर उक्त पोषक तत्वों की बचत के साथ ही अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। वायुमण्डल में उपस्थित नाइट्रोजन को पौधे सीधे ही ग्रहण नहीं कर पाते हैं। परन्तु जैव उर्वरक में मौजूद जीवाणु जैसे राइजोबियम, एजोटोबेक्टर, एजोस्पिरिलम, नील हरित शैवाल, वायुमण्डल में उपस्थित नाइट्रोजन का स्थिरीकरण कर पौधों को नाइट्रोजन की आपूर्ति करते है। कुछ जीवाणु ऐसे होते है जो मृदा में स्थिर फॉस्फोरस को घुलनशीन कर मृदा में प्राप्य फॉस्फोरस की मात्रा को बढ़ाते है, इन्हें फॉस्फोरस विलेयक जीवाणु कहते हैं।

1. **नाइट्रोजन जैविक उर्वरक**
   (अ) दाल वाली फसलों के लिए – राइजोबियम कल्चर
   (ब) बिना दाल वाली फसलों के लिए – एजोटोबेक्टर, एजोस्पिरिलम कल्चर
2. **फॉस्फोरस विलेयक जैविक उर्वरक**
   सभी फसलों के लिये – पी.एस.बी./पी.एस.एम. कल्चर

कवकनाशी व कीटनाशी से बीजोपचार

सामग्री– बीज (चना या गेहूँ), फफूंदनाशी (थॉयरम या कार्बेण्डाजिम), कीटनाशी (क्लोरोपाइरिफॉस)

विधि

1. बीज उपचार ड्रम या मटके में बीजों को डालते हैं।
2. बीजों की मात्रा अनुसार सिफारिश किये गये कवकनाशी की मात्रा तौलकर उसमें डालें। उदाहरण– चनें में जड़ सड़न बीमारी के रोकथाम हेतु 2 ग्राम कार्बेण्डाजिम प्रति कि.ग्रा. दर से डालते हैं।
3. ड्रम को तब तक घुमाना चाहिये जब तक बीजों पर कवकनाशी की परत न बन जाये।
4. इसके बाद बीजों को कीटनाशी से उपचारित करते हैं। पात्र में अब निश्चित मात्रा में सिफारिशानुसार कीटनाशी का पानी में घोल बनाये। इस कीटनाशी को ड्रम/मटके में डालकर ढक्कन से बन्द कर दें।अब ड्रम/मटके को धीरे–धीरे घुमाये जिससे सारे बीजों पर कीटनाशी की परत चढ़ जाये। उदाहरण– दीमक का प्रकोप हो तो क्लोरोपायरिफास 20 ई.सी. की 800 मि. ली. मात्रा को पानी में घोल बनाकर 100 कि.ग्रा. चने की बीज दर के हिसाब से बीजोपचार करें।
5. अब बीजों को शाकाणु संवर्ध (राइजोबियम व पी.एस.बी. कल्चर) से उपचारित करते हैं।

जैव उर्वरक से बीजोपचार

सामग्री

1. कल्चर पैकेट 3 (600 ग्राम) प्रति हेक्टेयर बीज के लिए।
2. पानी 1–2 लीटर।
3. गुड़ 200–300 ग्राम।

विधि

1. आवश्यकतानुसार पानी (1–2.5 लीटर) को गर्म करते हैं।
2. गर्म पानी में सारणी अनुसार गुड़ मिलाकर घोल को ठण्डा करते हैं।

फसल	पानी की मात्रा	गुड़ की मात्रा
उड़द, मूंग, चंवला	1 लीटर	250 ग्राम
अरहर	1.5 लीटर	300 ग्राम
मूंगफली, सोयाबीन व चना	2.5 लीटर	300 ग्राम

3. घोल ठण्डा होने के पश्चात् उसमें कल्चर के पैकेट डालकर अच्छी प्रकार मिलायें।
4. तैयार घोल को बीजों पर छिड़ककर हल्के से मिलायें, जिसमें बीजों पर समान परत चढ जाये।
5. उपचारित बीजों को छाया में सुखाते हैं।

तरल जैव उर्वरक से बीजोपचार

आजकल ठोस वाहक के स्थान पर तरल वाहक का उपयोग बढ़ रहा है। तरल जैव उर्वरक या लिक्विड बायोफर्टिलाइजर ऐसा तरल ससपेंशन है, जिनमें खेती के लिहाज से उपयोगी जीवाणु होते है।

तरल जैव–उर्वरक से बीज उपचार करने के लिए 1 किलो बीज को 5 मि.ली. तरल जैव–उर्वरक के साथ मिलाते हैं और बीजों को बुआई के पहले उपचारित कर छाया में सूखने के लिए रख दें।

सावधानियाँ

1. बीजोपचार यदि कीटनाशी/कवकनाशी/कल्चर से करना हो तो पहले कवकनाशी फिर कीटनाशी तथा अन्त में कल्चर से बीजोपचार करना चाहिए।
2. कल्चर को ठण्डे स्थान पर रखें तथा गर्मी व ताप से बचायें।
3. अलग–अलग फसल के लिए निर्धारित कल्चर का प्रयोग करें।
4. कीटनाशी व कवकनाशी सिफारिशानुसार प्रयोग करें।
5. जैव–उर्वरकों को उसको अंतिम तिथि से पहले ही उपयोग में लें।
6. कल्चर से उपचारित बीजों को छाया में सुखाकर 12 घण्टे के अन्दर बुआई अवश्य कर लें।
7. कवकनाशी व कीटनाशी से बीज हाथों से उपचारित न करें। बीज उपचारित करते समय धुम्रपान न करें व कुछ भी खाये नहीं।
8. बीजोपचार के समय हाथों मे दस्ताने पहन लें व नाक पर कपड़ा बांध लें।

   बीजोपचार के बाद हाथ व पैर साबुन से धोकर साफ कर लें।

प्रयोग–4

उद्देश्य – दी गई फसलों के लिये नाइट्रोजन, फास्फोरस एवं पोटाश युक्त उर्वरकों की मात्रा ज्ञात करना

विभिन्न फसलों को मुख्य प्राथमिक पोषक तत्वों (नत्रजन, फॉस्फोरस व पोटाश) प्रदान करने के लिये रासायनिक उर्वरक प्रयुक्त किये जाते हैं, उदाहरणार्थ नत्रजन हेतु यूरिया, फॉस्फोरस हेतु सिंगल सुपर फास्फेट व पोटाश हेतु म्यूरेट ऑफ पोटाश। कई उर्वरक एक से अधिक पोषक तत्व भी प्रदान करते हैं, उदाहरणार्थ डी.ए.पी. से नत्रजन व फॉस्फोरस। अतः उर्वरक उपयोग पूर्व उनमें विद्यमान पोषक तत्व प्रतिशत के आधार पर उनकी मात्रा ज्ञात कर लेना आवश्यक होता है। सामान्य तौर पर निम्न सूत्र से उर्वरक की मात्रा ज्ञात की जाती है।

उर्वरक की मात्रा (कि.ग्रा.) =

$$\frac{100 \times \text{तत्व की देय मात्रा (कि.ग्रा./हेक्टेयर)} \times \text{क्षेत्रफल (हेक्टेयर)}}{\text{उर्वरक में तत्व की प्रतिशत मात्रा}}$$

उदाहरण – 1 : गेहूँ के 4 हेक्टेयर खेत में 120 कि.ग्रा /हेक्टेयर की दर से नाइट्रोजन देने हेतु यूरिया की मात्रा ज्ञात करें।

$$\text{यूरिया की मात्रा} = \frac{100 \times 120 \times 4}{46} = 1043.47 \text{ कि.ग्रा.}$$

उदाहरण – 2 : मूँगफली के 5 हेक्टेयर खेत में 40 कि.ग्रा./हेक्टेयर की दर से फास्फोरस (P_2O_5) दिया जाता है, जिस हेतु सिंगल सुपर फॉस्फेट (एस.एस.पी.) की मात्रा ज्ञात कीजिए।

$$\text{एस.एस.पी. की मात्रा} = \frac{100 \times 40 \times 5}{16} = 1250 \text{ कि.ग्रा.}$$

उदाहरण – 3 : मक्का के 3 हेक्टेयर खेत में 40 कि.ग्रा./हेक्टेयर की दर से पोटाश (K_2O) देने हेतु म्यूरेट ऑफ पोटाश की मात्रा की गणना कीजिए।

$$\text{म्यूरेट ऑफ पोटाश की मात्रा} = \frac{100 \times 40 \times 3}{60} = 200 \text{ कि.ग्रा.}$$

उदाहरण – 4 : एक हेक्टेयर ज्वार की फसल को 90 कि.ग्रा. नाइट्रोजन व 40 कि.ग्रा. फॉस्फोरस (P_2O_5) प्रदान करने हेतु डी.ए.पी. व यूरिया की मात्रा ज्ञात कीजिए।

$$\text{डी.ए.पी. की मात्रा} = \frac{100 \times 40 \times 1}{46} = 86.95 \text{ कि.ग्रा.}$$

डी.ए.पी. से प्राप्त नत्रजन की मात्रा

$$= \frac{18 \times 86.95}{100} = 15.65 \text{ कि.ग्रा.}$$

अतः यूरिया द्वारा दी जाने वाली नत्रजन की मात्रा = 90 – 15.65 = 74.35 कि.ग्रा.

$$\text{यूरिया की मात्रा} = \frac{100 \times 74.35 \times 1}{46} = 161.63 \text{ कि.ग्रा.}$$

उदाहरण – 5 : 4 : 8 : 10 ग्रेड के एक टन उर्वरक निर्माण हेतु अमोनियम सल्फेट, सिंगल सुपर फॉस्फेट, पोटेशियम सल्फेट व पूरक पदार्थ की मात्रा ज्ञात कीजिए।

हल – 4 – 8 – 10 अनुपात का तात्पर्य है 4 प्रतिशत नाइट्रोजन, 8 प्रतिशत फॉस्फोरस तथा 10 प्रतिशत पोटाश।

1 टन = 100 कि.ग्रा

$$\text{उर्वरक की इच्छित मात्रा} = \frac{\text{इच्छित अनुपात} \times \text{मिश्रण की कुल मात्रा}}{\text{उर्वरक में निर्धारित तत्व की मात्रा}}$$

$$\text{अमोनियम सल्फेट की मात्रा} = \frac{4 \times 1000}{20} = 200 \text{ कि.ग्रा.}$$

$$\text{सिंगल सुपर फॉस्फेट की मात्रा} = \frac{8 \times 1000}{16} = 500 \text{ कि.ग्रा.}$$

$$\text{पोटेशियम सल्फेट की मात्रा} = \frac{10 \times 1000}{50} = 200 \text{ कि.ग्रा.}$$

पूरक पदार्थों की मात्रा = 1000 – (200+500+200) = 100 कि.ग्रा.

परिणाम –
1. अमोनियम सल्फेट = 200 कि.ग्रा.
2. सिंगल सुपर फॉस्फेट = 500 कि.ग्रा.
3. पोटेशियम सल्फेट = 200 कि.ग्रा.
4. पूरक पदार्थ = 100 कि.ग्रा.

ध्यान योग्य बिन्दु

1. फॉस्फोरस व पोटाश की पूर्ण मात्रा बुआई के समय ऊर कर देनी चाहिए।
2. सिंचित फसलों में नाइट्रोजन की पूरी मात्रा एक साथ न देकर सिफारिशानुसार 2–3 भागों में बांटकर देनी चाहिये। जैसे – गेहूँ की फसल में नाइट्रोजन की आधी मात्रा बुआई के समय तथा शेष आधी प्रथम सिंचाई के समय देवें।
3. दीर्घ अवधि की फसलों में नाइट्रोजनधारी उर्वरकों को तीन भागों में विभक्त कर देते हैं।
4. प्रत्येक अवधि के लिए नाइट्रोजन, फॉस्फोरस व पोटाशिक उर्वरकों का प्रयोग बुआई के समय ही करते हैं।

प्रयोग–5

उद्देश्य – दी गई फसलों के लिए पर्णीय छिड़काव हेतु यूरिया की मात्रा ज्ञात कर घोल बनाना एवं छिड़काव करना।

किसी परिस्थितिवश यदि फसल में यूरिया की मात्रा प्रदान नहीं की जा सके तो फसल में यूरिया के 3–6 प्रतिशत के घोल का छिड़काव किया जा सकता है, जिससे फसल में नाइट्रोजन की कमी को दूर किया जा सके।

यूरिया छिड़काव करने की परिस्थितियाँ

1. ऊँचे नीचे खेत जहाँ पर मृदा में नाइट्रोजनधारी उर्वरक का समान वितरण सम्भव न हो।
2. हल्की बलुई मृदा जहाँ मृदा प्रयोग द्वारा नाइट्रोजन की निक्षालन द्वारा हानि हो जाती हो।
3. लवणीय क्षारीय मृदाओं में जहाँ नाइट्रोजन की अमोनिया के रूप में वाष्पीकरण द्वारा हानि हो।
4. जलमग्न दशाओं में जहाँ नाइट्रोजन का विनाइट्रीकरण गैसों के रूप में हो जाता हो।
5. उर्वरक की कम मात्रा ज्यादा क्षेत्र में समान वितरण करना हो।

फसलों में यूरिया के घोल के प्रथम छिड़काव का समय व दो छिड़काव के बीच का अन्तर :

फसल	प्रथम छिड़काव (अवस्था / बुआई के बाद दिनों में)	दो छिड़काव में मध्य अन्तर (दिन)
धान्य फसलें	बालियाँ निकलते समय	7–12
तिलहनी फसलें	35–45	6–10
रेशेदार फसलें	35–45	6–10
सब्जियाँ	30–40	4–8

सामग्री

यूरिया, फुट स्प्रेयर / नेपसेक स्प्रेयर, तुला, बड़ी बाल्टी, ड्रम, पानी, पानी मापने हेतु माप (लीटर में), टीपोल।

विधि

1. एक ड्रम में साफ पानी, जिसमें कचरा या अन्य पदार्थ न हो भरें।
2. जिस सान्द्रता का यूरिया का घोल बनाना हो उसकी गणना कर यूरिया को तोल ले। (3 प्रतिशत यूरिया घोल हेतु 100 लीटर पानी में 3 कि.ग्रा. यूरिया की आवश्यकता होती है)
3. यूरिया को पानी में डालकर अच्छी प्रकार लकड़ी से घोल ले।
4. यूरिया के तैयार घोल में 0.1 प्रतिशत की दर से टीपोल मिला ले जिससे घोल चिपचिपा होने के कारण पौधों की पत्तियों पर ठहर जाये और पौधों द्वारा अवशोषित किया जा सकें अन्यथा घोल पत्तियों से नीचे गिर जाता है।
5. तैयार घोल को बाल्टी में लेकर फुट स्प्रेयर की सहायता से फसल पर छिड़काव करें। फुट स्प्रेयर उपलब्ध न होने पर नेपसेक स्प्रेयर भी काम में लिया जा सकता है।
6. प्रति हेक्टेयर 750–1000 लीटर घोल का छिड़काव करें।

उदाहरण – धान के खेत में जिसका क्षेत्रफल 3 हेक्टेयर है, यूरिया के 3 प्रतिशत घोल का छिड़काव करना है। इस हेतु कितनी मात्रा में यूरिया की आवश्यकता होगी?

हल – प्रति हेक्टेयर 1000 लीटर पानी की आवश्यकता होती है इसलिए 3 हेक्टेयर क्षेत्र के लिए 3000 लीटर पानी की आवश्यकता होगी।

100 लीटर पानी में 3 प्रतिशत घोल हेतु यूरिया की मात्रा = 3 कि.ग्रा.

3000 लीटर पानी में यूरिया की आवश्यकता होगी = 3 ×3000 / 100 = 90 कि.ग्रा.

परिणाम –धान में 3 हेक्टेयर क्षेत्र के लिए यूरिया के घोल का छिड़काव करने हेतु 90 कि.ग्रा. यूरिया की आवश्यकता होगी।

सावधानियाँ

1. यह ध्यान रहे कि यूरिया का घोल बनाने के लिए प्रयुक्त यूरिया में बाइयूरेट की मात्रा 0.5 प्रतिशत से अधिक न हो अन्यथा फसल को नुकसान हो जायेगा।
2. फसल की उचित अवस्था पर छिड़काव करना चाहिये।
3. यूरिया का छिड़काव सुबह ओस सूखने के बाद या शाम को करना चाहिये।
4. वर्षा की सम्भावना हो तो छिड़काव न करें अन्यथा छिड़काव व्यर्थ जायेगा व नाइट्रोजन का उपयोग नहीं होगा।
5. गर्मियों में छिड़काव शाम 5 बजे करें।
6. छिड़काव खेत में सभी जगह बराबर होना चाहिये, एक ही स्थान पर छिड़काव दोहरायें नहीं।
7. फसल की किस्म व अवस्थानुसार ही यूरिया का घोल तैयार करें।
8. छिड़काव करते समय घोल को समय–समय पर हिलाते रहना चाहिये।
9. यदि उर्वरक के साथ अन्य खरपतवारनाशी, कीटनाशी या कवकनाशी का प्रयोग करना है तो यह ज्ञात होना आवश्यक है कि इन रसायनों का मिश्रण उर्वरक के अनुरूप है या नहीं अन्यथा रसायन आपस में क्रिया कर विपरीत प्रभाव डालेंगे।

प्रयोग–6

उद्देश्य– गौ–मूत्र आधारित जैविक कीट नाशक, जैविक रोग नाशक एवं जैविक उर्वरकों (अमृत पानी आदि) का निर्माण।

उद्देश्यः जैविक खेती में फसलों के सफल उत्पादन के लिए जैविक कीट एवं रोग नियन्त्रण तथा जैविक उर्वरक एक महत्त्वपूर्ण घटक है। इस हेतु आवश्यक आदानों का किसान द्वारा स्वयं फार्म पर उत्पादन करने से उत्पादन लागत कम आती है तथा आदानों की आपूर्ति समय पर की जा सकती है।

परिचय

प्राचीन काल से ही गौ–मूत्र को कृषि तथा मानवजीवन में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। गौ–मूत्र में लगभग 95 प्रतिशत पानी, 2.5 प्रतिशत यूरिया तथा 2.5 पोषक तत्व, लवण, हारमोन्स तथा एन्जाइम पाये जाते हैं। इसमें कॉपर, चांदी तथा सोने के कणों के अलावा एस्ट्रोजन, कोर्टिकों स्टेरोइड तथा कीटों स्टेरोइड भी पाये जाते है। गौ–मूत्र में आयरन, कैल्शियम, फॉस्फोरस, पोटाश, सोडियम, कार्बोनिक अम्ल व लेक्टोज पाया जाता है। गौ–मूत्र से बनी दवाओं का प्रयोग मनुष्यों की विभिन्न बीमारियों के ईलाज में भी किया जाता है। गौ–मूत्र को संक्रमण दूर करने वाला माना गया है। अनुसंधान द्वारा यह पाया गया है कि गौ–मूत्र का उपयोग कीट एवं रोग निवारक, पौध वृद्धि कारक तथा मृदा गुणवत्ता पोषक के रूप में किया जाता है।

जैविक खेती में गौ–मूत्र आधारित जैविक कीटनाशक, जैविक रोग नाशक तथा जैविक पोषक तत्वों की आपूर्ति हेतु गौ–मूत्र आधारित जैविक उर्वरकों या पदार्थो के मिश्रण का उपयोग किया जाता है। स्थानीय आदानों की उपलब्धता एवं रासायनिक संरचना स्थान एवं समय के अनुसार अलग–अलग होने के कारण जैविक उत्पादों को तैयार करने की विधियों में थोड़ा अन्तर होता है। अतः इनका उत्पादन प्रोटोकोल अलग–अलग हो सकता है। जैविक खेती में उपयोग में आने वाले गौ–मूत्र आधारित जैविक आदानों को तैयार करने की विधि तथा उपयोग का वर्णन निम्नलिखित है।

जैविक उर्वरक

ये तरल, अर्द्ध तरल या शुष्क जैविक मिश्रण हैं जो पौधों के स्वास्थ्य के रखरखाव एवं वृद्धि में सहायक होते है। गौ–मूत्र आधारित जैविक उर्वरकों में मुख्यतया पंचगव्य, जीवामृत, बीजामृत, मटका खाद, अमृत पानी तथा अमृत जल का उपयोग किया जाता है।

1. पंचगव्य

पचगव्य एक जैविक पदार्थ है जो गाय के पाँच उत्पादों यथा गौ–मूत्र, गोबर, दूध, दही तथा घी को मिलाकर बनाया जाता है। पंचगव्य का उल्लेख सर्वप्रथम पुराणों में मिलता है। इसका उपयोग करने पर पौधों की वृद्धि तथा कीट रोगों पर प्रभावकारी असर होता है। पंचगव्य की क्षमता बढ़ाने के लिए, गन्ने का रस, नारियल का पानी, पका केला या अंगूर के फलों का गूदा को उपलब्धता के अनुसार मिलाया जा सकता है, जिसे संवर्धित पंचगव्य कहते है। पंचगव्य का उपयोग मृदा एवं फसलों के लिए लाभदायक होता है। पंचगव्य को तैयार करने की अलग–अलग विधियाँ है, जिसमें गाय के पांचों उत्पादों को अलग–अलग अनुपात में मिलाकर किण्वित किया जाता है। लेकिन तमिलनाडु के के. नटराजन द्वारा वर्ष 2003 में बताई गई विधि काफी प्रचलित है, जिसका विवरण यहाँ दिया जा रहा है। इस विधि में गौ–मूत्र, गोबर, दूध, दही तथा घी को 10:7:3:2:1 के अनुपात में मिलाकर पंचगव्य तैयार किया जाता है।

सामग्री

गौमूत्र	10 लीटर	गाय का ताजा गोबर	7 किलो
दूध	3 लीटर	दही	2 लीटर
घी	1 किलो	गुड़	3 किलो
कोमल नारियल का पानी	3 लीटर	पके केले	12 नंग
पानी	10 लीटर	बड़े मुंह का बर्तन	(200 ली.) क्षमता का

विधिः–

1. गाय का गोबर एवं घी को एक बर्तन/घड़े में अच्छी तरह से मिला लें। इस मिश्रण को दिन में दो बार सुबह एवं शाम 3 दिन तक हिलायें।
2. चौथे दिन गौ–मूत्र तथा पानी को मिलाते है। इन सभी सामग्री को दिन में 2 बार 15 दिन तक हिलाते रहते हैं।
3. पन्द्रह दिन बाद दूध तथा दही मिलाते है।
4. इसके बाद गुड़ तथा नारियल पानी मिलाते हैं। गुड़ का गर्म पानी में घोल तैयार कर लें तथा 30 मिनिट बाद इस घोल को मिलाते हैं।
5. पंचगव्य को दिन में 2 बार हिलाते है।
6. पंचगव्य 30 दिन में तैयार हो जाता है। इस प्रकार तैयार घोल पंचगव्य का मातृ घोल कहलाता है।

उपयोग

1. **पर्णीय छिड़काव के रूप में :** अधिकतर फसलों में 3 प्रतिशत पंचगव्य प्रभावकारी है। 3 लीटर पंचगव्य 100 लीटर पानी को मिलाकर पर्णीय छिड़काव से पहले घोल

को छान लेना चाहिए ताकि स्प्रे करते समय नोजल बन्द न हो।

2. **सिंचाई के रूप में :** पंचगव्य घोल को सिंचाई के रूप में प्रयोग कर सकते है। इसके लिए मात्रा 20 लीटर/एकड़ की दर से प्रयोग करें। इसे धरातलीय सिंचाई या ड्रिप सिंचाई के साथ प्रयोग में ले सकते है।

3. **बीज या पौध उपचार :** नर्सरी बेड का 3 प्रतिशत घोल से ड्रेंचिग करते है या पौधों को 3 प्रतिशत घोल में डुबोते है। पौध को घोल में 30 मिनिट तक रखना चाहिए।

सावधानियाँ

1. मक्खियों एवं मच्छरों के अण्ड़ों से बचाने के लिए कन्टेनर को मच्छर वाली नेट से ढ़क देते है।
2. इसे 6 माह तक बिना गुणवत्ता परिवर्तित हुए रखा जा सकता है।

2. जीवामृत

यह एक प्रकार जीवाणु संवर्धन कल्चर है जो भारतीय गाय के गौमूत्र तथा गोबर से तैयार किया जाता है। जीवामृत तैयार करने की विधि जीरो बजट नेचुरल फार्मिंग के प्रणेता महाराष्ट्र के सुभाष पालेकर द्वारा 2005–06 में दी गई थी। इसमें पानी की मात्रा के मध्यनजर 5 प्रतिशत गाय का गोबर, 5 प्रतिशत गौमूत्र, 1 प्रतिशत बेसन तथा 0.05 प्रतिशत वट वृक्ष के नीचे की या खेतों की मिट्टी का उपयोग किया जाता है।

सामग्री :

- 10 किलोग्राम देशी गाय का ताजा गोबर
- 5 से 10 लीटर गो–मूत्र
- 2 किलो गुड़
- 2 किलो दाल आटा (चना, उड़द, मूँग)
- 200 लीटर पानी
- 100 ग्राम मिट्टी (खेत के मेड़ या पेड़ के नीचे की)

विधि

सर्वप्रथम कोई प्लास्टिक की टंकी या सीमेंट की टंकी लें। इसमें 200 लीटर पानी डाले। पानी में 10 किलोग्राम गाय का गोबर व 10 लीटर गो–मूत्र एवं 2 किलो गुड मिलाऐं। इसके बाद 2 किलो बेसन, 100 ग्राम मेड़ की मिट्टी या जंगल की मिट्टी डालें और सभी को डंडे से मिलाएँ। इसके बाद टंकी को जालीदार कपड़े से बंद कर दें। सुबह शाम डंडे से घोल को हिलाऐं। 48 घंटे बाद जीवामृत तैयार हो जायेगा।

इस जीवामृत का प्रयोग केवल सात दिनों तक कर सकते हैं। प्लास्टिक व सीमेंट की टंकी को छाया में रखे जहाँ पर धूप न लगे। गो–मूत्र को धातु के बर्तन में न रखें। छाया में रखा हुआ गोबर का ही प्रयोग करें।

उपयोग

प्रति एकड़ 200 लीटर तैयार जीवामृत सिंचाई के बहते पानी पर बूंद–बूंद टपका कर दें। फसलों और पौधों पर जीवामृत के 10 प्रतिशत घोल का छिड़काव कर दें। छिड़काव करने से उनको उचित पोषण मिलता है और दाने/फल स्वस्थ होते है।

3. बीजामृत (बीज शोधन)

बीजशोधन का अर्थ है बीजों का बीजजनित और मृदाजनित रोगों से बचाव हेतु तैयार करना। बीजशोधन से बीजों के अंकुरित होने की क्षमता में वृद्धि हो जाती है। बीजशोधन से बीज जल्दी और ज्यादा मात्रा में उगकर आते है। जड़े गति से बढ़ती हैं और भूमि से पेड़ों पर बीमारियों का प्रकोप नहीं होता है। जीरो बजट नेचुरल फार्मिंग के प्रणेता महाराष्ट्र के सुभाष पालेकर द्वारा 2005 में बताई गई बीजामृत तैयार करने की विधि का वर्णन यहाँ दिया जा रहा है।

सामग्री (100 किग्रा बीज हेतु)

- 5 किग्रा गाय का गोबर
- 5 लीटर गाय का गो–मूत्र
- 20 लीटर पानी
- 50 ग्राम चूना
- 100–150 ग्राम मेड़ की मिट्टी

विधि

- 5 किलो देशी गाय के गोबर को कपड़े में बाँधकर गाँठ बना लें तथा 20 लीटर पानी में लटकाकर 12 घण्टे तक डुबोकर रखें।
- प्राप्त घोल में से एक लीटर घोल लेकर इसमें 50 ग्राम चूना मिलायें तथा रातभर के लिए रख दें।
- इसके बाद सुबह गोबर वाली गांठ को निचोड़कर पानी में इसका पूरा सत निकाल लें। अब इस पानी में 100 से 150 ग्राम खेत या मेड़ की मिट्टी डालकर तेजी से हिलायें।
- इस घोल में 5 लीटर गौमूत्र मिलायें।
- अन्त में इसमें चूना पानी मिलायें और घोल को अच्छी तरह से हिलायें।

उपयोग

बुआई के 24 घंटे पहले बीजशोधन करना चाहिए। बीजामृत तैयार हो जाने के बाद बीजों के जमीन में फैलाकर उसके ऊपर बीजामृत का छिड़काव कर हाथ से बीजों पर बीजामृत की परत चढ़ायें। बीजों को छाया में सुखाएं और इसके बाद में बीज बोएं।

4. मटका खाद

सामग्री तथा विधि

- 5 कि.ग्रा. ताजा गोबर, देशी गाय का 5 ली. गौमूत्र तथा 5 लीटर पानी मिट्टी के घड़े में घोल लें। उसमे 250 ग्राम गुड़ भी मिला दें।
- इस घोल को मिटटी के बर्तन में ऊपर से कपड़ा या टाट से बन्द कर मिटटी में 7–10 दिन के लिए गाड़ दें।

उपयोग

- इस घोल में 200 लीटर पानी मिलाकर 1 एकड़ खेत में समान रूप से छिड़क दें। पुनः 7 दिन बाद दूसरा छिड़काव करें।
- सामान्य फसल में 3 से 4 बार और लम्बी अवधि की फसल में 8–9 बार छिड़काव करें।

5. अमृत पानी :

अमृत पानी तैयार करने की विधि ऋषि कृषि के प्रणेता एम. एस. देशपाण्डे द्वारा वर्ष 2005 में प्रचलित की गई।

सामग्री

- गाय का ताजा गोबर 10 किलो
- गाय का घी 250 ग्राम
- शहद 500 ग्राम
- पानी 100 लीटर

विधि

- देशी गाय के 10 किग्रा. ताजे गोबर में 500 ग्राम शहद मिलाकर फेंटें।
- इस मिश्रण में 250 ग्राम गाय का घी डालकर तेजी से मिलायें।
- इसमें ताजा मिश्रण या घोल ही उपयोग में लिया जाता है। किण्वन नहीं किया जाता है।

उपयोग

- 1 कि.ग्रा. मिश्रण को पतला कर बीज पर छिडककर उपचारित/ संस्कारित करें जिससे बीज पर मिश्रण की हल्की सी परत चढ़ जाये।इसे छाया में सुखाकर बुआई करें।
- अमृत पानी का छिड़काव बुआई से पूर्व खेतों में किया जा सकता है।उक्त प्रकार से तैयार 10 क्रि.ग्रा. मिश्रण को 200 ली. पानी में घोलकर 1 एकड़ खेत में छिड़काव करें।

लाभ

- इसका उपयोग बीज अंकुरण तथा पौधों की वानस्पतिक वृद्धि में सहायक होता है। इसका उपयोग भूमि में मित्र जीवाणुओं की संख्या तथा भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि करने में सहायक होता है।

6. अमृत जल : अमृतजल एक किण्वित द्रव्य है, जो देशी गाय के गौ–मूत्र, गोबर, गुड़ तथा पानी के मिश्रण से तैयार किया जाता है। अमृत जल तैयार करने की विधि नेटुको फार्मिंग के प्रणेता एस. ए. दाभोलकर द्वारा वर्ष 2001 में दी गई हैं।

सामग्री

- गौ–मूत्र 1 लीटर
- गाय का ताजा गोबर 1 किलो
- गुड़ 50 ग्राम
- पानी 10 लीटर

विधि :

उपरोक्त सामग्री को मिलाकर तीन दिन तक किण्वित करें। प्रतिदिन इस घोल को 2 से 3 बार अवश्य हिलायें। चौथे दिन यह घोल उपयोग में लिया जा सकता हैं।

उपरोक्त सामग्री को मिलाकर तीन दिन तक किण्वित करें। प्रतिदिन इस घोल को 2 से 3 बार अवश्य हिलायें। चौथे दिन यह घोल उपयोग में लिया जा सकता हैं।

उपयोग :

10 प्रतिशत अमृत जल का फसलों पर छिड़काव करें।

जैविक कीट एवं रोग नाशक

इनमें गौ–मूत्र, तीन घोल जैव कीटनाशी, तीखा सत, दशपर्णी अर्क तथा ब्रह्मास्त्र का उपयोग किया जाता है।

गौ–मूत्र

- एक लीटर गौमूत्र को 20 ली. पानी मे मिलाकर पर्णीय छिडक़ाव से अनेक रोगाणुओं तथा कीटो के प्रबधंन के साथ–साथ फसल वृद्धि नियामक का कार्य भी होता है।

तीन घोल जैव–कीटनाशी

सामग्री एवं विधि

मिश्रण 1 : 3 कि.ग्रा. पीसी हुई नीम की पत्तियाँ तथा 1 कि.ग्रा. निम्बोली पाउडर को 10 लीटर गोमूत्र एक ताम्र घट (15 लीटर क्षमता का) में मिलाकर उबाले जब तक इसकी मात्रा आधी न रह जाये। इसके बाद इस घोल को 10 दिनों तक सड़ने दें।

मिश्रण 2 : 500 ग्राम पीसी हुई हरी मिर्च को 1 लीटर पानी में रातभर भिगोकर रखें।

मिश्रण 3 : 250 ग्राम पीसा हुआ लहसुन को 1 लीटर पानी में मिलाकर रातभर के लिए रखें।

उपयोग एवं लाभ

- कीट एवं रोग नियंत्रण के लिए तीनों मिश्रण को 200 लीटर पानी में मिलाकर एक एकड़ क्षेत्र में छिड़काव करें।

तीखा सत

सामग्री एवं विधि

- 500 ग्राम हरी तीखी मिर्च, 500 ग्राम लहसुन, 1 कि.ग्रा.

धतूरा पत्ती, 500 ग्राम नीम पत्ती को 10 ली. गौ–मूत्र में कुचलो।

- इसे तब तक उबालें जब तक कि यह घटकर आधा न रह जाये।
- सत को निचोड़ कर छाने तथा शीशे या प्लास्टिक बोतलों में भडांरित करें।

उपयोग एवं लाभ

- 3 लीटर सत् में 100 लीटर पानी मिलाये। यह एक एकड़ छिडक़ाव हेतु पर्याप्त है। इसके प्रयोग से पत्ती लपेट कीट, तना, फल तथा फली छेदक के नियत्रंण में लाभकारी है।

दशपर्णी अर्क

दशपणी अर्क का प्रयोग सभी तरह से रस चूसक कीट और सभी इल्लियों के नियंत्रण के लिए किया जाता है।

सामग्री

- 10 लीटर गौ–मूत्र
- 2 किलोग्राम गाय का गोबर
- 5 किलोग्राम नीम की पत्तियाँ
- 2 किलोग्राम करंज के पत्ते
- 2 किलोग्राम सीताफल के पत्ते
- 2 किलोग्राम धतूरा के पत्ते
- 2 किलोग्राम तुलसी के पत्ते
- 2 किलोग्राम पपीता के पत्ते
- 2 किलोग्राम गेंदा के पत्ते
- 2 किलोग्राम बेल के पत्ते
- 2 किलोग्राम कनेर की पत्तियाँ
- 500 ग्राम तम्बाकू की पत्तियाँ
- 500 ग्राम लहसुन
- 500 ग्राम पिसी हल्दी
- 500 ग्राम तीखी हरी मिर्च
- 200 ग्राम अदरक या सोंठ
- 200 लीटर पानी

विधि

सर्वप्रथम एक प्लास्टिक के ड्रम में 200 लीटर पानी डाले, फिर इसमें 2 किलोग्राम गाय का गोबर और 10 लीटर गो–मूत्र मिला दें। अब इसमें नीम, करंज, सीताफल, धतूरा, बेल, तुलसी, पपीता, करंज, कनेर तथा गेंदा की पत्ती की चटनी डाले और डंडे से हिलायें। दूसरे दिन तम्बाकू, मिर्च, लहसुन, सोठ तथा हल्दी डालें। फिर डंडे से हिलाकर जालीदार कपड़े से बंद कर दें। प्रतिदिन सुबह शाम डंडे से हिलाते जरूर रहें और 40 दिन छाया में रखा रहने दें।

उपयोग

प्रति एकड़ के लिए 200 लीटर पानी में 10 लीटर दशपर्णी अर्क मिलाकर छिड़काव करें। इसको छः माह तक प्रयोग कर सकते हैं। इस दशपर्णी अर्क को छाया में रखें। घोल को सुबह–शाम हिलाना चाहिए।

ब्रम्हास्त्र

ब्रम्हास्त्र का उपयोग कीट और सूंडी इल्लियों आदि कीटों के नियंत्रण के लिए किया जाता है।

सामग्री

- 10 लीटर गौ–मूत्र
- 3 किलोग्राम नीम की पत्ती
- 2 किलोग्राम करंज की पत्ती
- 2 किलोग्राम सीताफल पत्ती
- 2 किलोग्राम बेल के पत्ते
- 2 किलोग्राम अरंडी पत्ती
- 2 किलोग्राम धतूरा के पत्ते

विधि

मिट्टी के बर्तन में गौ–मूत्र डालकर उसमें उपरोक्त पत्तों की चटनी कर के कोई भी पाँच प्रकार की चटनी को मिला दें। अब बर्तन आग में चढ़ा कर मिश्रण को उबालें। जब चार उबाल आ जाए तो आग से उतारकर 48 घंटे छाया में ठंडा होने दें। इसके बाद कपड़े से छानकर प्रयोग करे।

उपयोग

प्रति एकड़ 200 लीटर पानी में तैयार 10 लीटर ब्रम्हास्त्र को छान कर मिलाएं और स्प्रे मशीन से छिड़काव करें। ब्रम्हास्त्र का प्रयोग छः माह तक कर सकते हैं। भण्डारण मिट्टी के बर्तन में करें। ब्रम्हास्त्र को छाया में रखे एवं धूप से बचाएँ। गौ–मूत्र प्लास्टिक के बर्तन में ले या रखें।

प्रयोग–7

उद्देश्य – फसल, बीज, खरपतवार, उर्वरक एवं जैव उर्वरकों की पहचान एवं संग्रह

1. फसल व बीज

विभिन्न फसलों के बीज व उनके पौधों की पहचान उनके रंग, आकार एवं आकृति के अनुसार की जाती है। अधिकतर बीजों को बार–बार देख कर तथा संग्रह करके पहचान सकते हैं। इसी तरह फसल के पौधों को उनकी पत्तियों की संरचना, फूलों व बालियों को देख कर पहचान सकते हैं। यहाँ अध्ययन की सुविधा अनुसार फसलों को उनके बोये जाने वाले मौसम, उपयोगिता व वानस्पतिक नाम के अनुसार सारणीबद्ध किया जा रहा है –

(I)खरीफ फसलें

(अ) अनाज वाली फसलें (Cereal crops)

क्र.सं.	फसल	अंग्रेजी नाम	वानस्पतिक नाम	
1.	चावल	Rice	*Oryza sativa* L.	ओराइज़ा सेटाइवा
2.	मक्का	Maize	*Zea mays* L.	जिया मेज
3.	ज्वार	Sorghum	*Sorghum bicolor* L.	सोरघम बाईकलर
4.	बाजरा	Pearl millet	*Pennisetum glaucum* L.	पेनीसेटम ग्लूकम
(ब) दाल वाली फसलें (Pulse crops)				
5.	मूँग	Greengram	*Vigna radiata* L.	विग्ना रेडियेटा
6.	उड़द	Blackgram	*Vigna mungo* L.	विग्ना मूंगो
7.	मोठ	Dewbean	*Vigna aconitifolia* L.	विग्ना एकोनिटिफोलिया
8.	अरहर	Pigeon pea	*Cajanus cajan* L.	कैजानस केजान
(स) तिलहनी फसलें (Oil seed crops)				
9.	सोयाबीन	Soybean	*Glycine max* L.	ग्लाइसिन मेक्स
10.	मूँगफली	Groundnut	*Arachis hypogaea* L.	अराकिस हाइपोजिया
11.	तिल	Til	*Sesamum indicum*	सिसेमम इन्डिकम
(द) रोकड़ शस्य (Cash crops)				
12.	ग्वार	Clusterbean	*Cyamopsis tetragonoloba* L.	सायमोप्सिम टेट्रागोनोलोबा
(य) रेशेदार फसलें (Fiber crops)				
13.	कपास	Cotton	*Gossypium* species L.	गोसीपियम स्पीसीज
14.	सनई	Sunhemp	*Crotolaria juncea* L.	क्रोटोलेरिया जुंसिया

(ii) रबी फसलें

(अ) अनाज वाली फसलें (Cereal crops)				
15.	गेहूँ	Wheat	*Triticum aestivum* L.	ट्रिटिकम एस्टीवम
16.	जौ	Barley	*Hordeum vulgare* L.	हार्डियम वल्गेर
(ब) दाल वाली फसलें (Pulse crops)				
17.	चना	Gram	*Cicer arietinum* L.	साइसर ऐरेटिनम
(स) तिलहनी फसलें (Oil seed crops)				
18.	सरसों	Mustard	*Brassica spp.*	ब्रेसिका स्पीसीज
19.	अलसी	Linseed	*Linum usitatissimum* L.	लाइनम यूसीटेटिसिमम
20.	सूरजमुखी	Sunflower	*Helianthus annuus* L.	हैलीएंथस एनस
(द) रोकड़ सस्य (Cash crops)				
21.	गन्ना	Sugarcane	*Saccharum officinarum* L.	सैकेरम आफीसीनेरम
22.	आलू	Potato	*Solanum tuberosum* L.	सोलेनम ट्यूबरोसम
23.	तम्बाकू	Tobacco	*Nicotiana* species L.	निकोटियाना स्पीसीज
(य) मसाले वाली फसलें (Spice crops)				
24.	जीरा	Cumin	*Cuminum cyminum* L.	क्यूमिनम साइमिनम
25.	धनिया	Coriander	*Coriandrum sativum* L.	कोरिएंड्रम सेटाइवम
26.	मेथी	Fenugreek	*Trigonella foenum graecum* L.	ट्राइगोनेला फोइनम ग्रेइकम
27.	सौंफ	Fennel	*Foeniculum vulgare* L.	फौनिकुलम वल्गेर
(र) चारे वाली फसलें (Fodder crops)				
28.	रिजका	Lucerne	*Medicago sativa* L.	मेडिकागो सेटाइवा
29.	बरसीम	Berseem	*Trifolium alexandrium* L.	ट्राइफोलियम एलेक्जेंड्रियम
30.	जई	Oats	*Avena sativa* L.	एविना सटाइवा

2. खरपतवार

क्र.सं.	खरपतवार का नाम	वानस्पतिक नाम		पहचान
1.	लटजीरा/चिरचिटा	एकाइरेंथस एस्पेरा		बहुवर्षीय 1 मीटर ऊँचाई, तना कठोर, पत्तियाँ विपरीत क्रम में, फूल हरापन लिये हुए सफेद रंग के।
2.	जंगली चौलाई	अमेरेंथस विरीडिस		चौड़ी पत्ती, पत्तियाँ 5 सेमी. आकार की, फूल हल्के पीले रंग के, बीज महीन काले चमकीले, प्रजनन बीज द्वारा।

3.	कांटेदार चौलाई	अमेरेंथस स्पाइनोसस	चौड़ी पत्तियाँ : अधिकतर बंजर भूमियों में, तना सीधा, कांटेदार झाड़ीरूप में पत्तियाँ 10 सेमी . आकार, प्रजनन बीज द्वारा।
4.	दूधी (बड़ी दूधी/छोटी दूधी)	यूफोर्बिया हिरटा, यूफोर्बिया माइक्रोफिला	इनके तने को तोड़ने पर दूध जैसा स्राव रिसता है, छोटी दूधी की पत्तियाँ छोटी व पास–पास होना, बड़ी दूधी की पत्तियाँ इससे कुछ बड़ी होती हैं।
5.	हजार दाना	फाइलेंथस निरूरी	एक वर्षीय, लगभग 30 सेमी ऊँचाई, शाखायें तने के आधार से निकलती हैं जिन पर इमली जैसी पत्तियाँ आती हैं।
6.	हुल–हुल	क्लिओम विस्कोना	वार्षिक, सीधा बढ़ने वाला, पांचपत्ती पत्र एक जगह जुड़े होना, फूल पीले रंग के, बीज भूरापन लिये काले रंग के, चौड़ी पत्ती वाला खरपतवार।
7.	बिसखपरा	बोरहेबिय डिफ्यूजा	एक वर्षीय, पत्थरचट्टा से मिलता जुलता, चौड़ी पत्ती, गुलाबी रंग के फूलों वाला, प्रजनन केवल बीज द्वारा।
8.	मोथा	सइप्रस रोटुन्डस	बहुवर्षीय, संकरी पत्ती वाला, जड़ों में नट पाये जाते हैं। बीज व नट द्वारा।
9.	गाजर घास	पार्थेनियम हिस्टीरोफोरस	एक वर्षीय, 1 से 1 .5 मी. ऊँचाई, प्रत्येक फसल में, बंजर भूमियों में होने वाला इस समय का सर्वाधिक खतरनाक ढंग से फैल रहा खरपतवार है। छूने पर एलर्जी खुजली, चर्म रोग हो जाना। गाजर जैसी पत्तियाँ, सफेद रंग के फूल।
10.	दूब–घास	साइनोडोन डेक्टीलोन	बहुवर्षीय ख रपतवार, संकरी पत्तियाँ खरीफ की सभी फसलों में पाया जाने वाला, गांठों से जड़ें निकल कर तेजी से फैलाता है।
11.	कांस	सेकेरम स्पोन्टेनियम	बहुवर्षीय संकरी पत्तियाँ, सभी फसलों को हानि पहुँचती है। इसकी जड़ों से 20 सेमी. गहराई तक जाल बन जाता है तथा ऊपर से तने निकलते हैं। प्रसारण बीज व जड़ों से होता है।
12.	अमरबेल	कस्कुटा रिफ्लैक्सा	परजीवी बेल, झाड़ियों पर फैलता है। रिजका का पराश्रयी खरपतवार है। अमरबेल के तने पीले, रसदार, उपयुक्त पराश्रयी मिलने पर इसकी लम्बाई 2 कि.मी. तक हो सकती है। प्रसारण बीज द्वारा व बेल द्वारा।
13.	स्ट्राइगा	स्ट्राइगा स्पीसीज	वार्षिक, शाकीय, पराश्रयी, प्रसारण बीज द्वारा। बाजरा, ज्वार, मक्का, गन्ना, परपोषी पौधे हैं। इनकी जड़ों से निकलने वाले विशेष स्टीमुलेंट में स्ट्राइगा के बीज अंकुरित हो जाते हैं।

खरपतवारों की पहचान

रबी की फसलों में पाये जाने वाले मुख्य खरपतवार

क्र.सं.	खरपतवार का नाम	वानस्पतिक नाम	पहचान
1.	कृष्णनील	एनागेलिस आरवेंसिस	चौड़ी पत्ती वाले, थोड़ा फैलने वाले शाकीय तने, छोटे चमकीले नीले फूल, प्रसारण बीज द्वारा।
2.	सत्यानाशी	आरजीमोना मेक्सिकाना	चौड़ी पत्ती वाले, पौधे की ऊँचाई 60 से 90 सेमी, फूलों व फलों पर कांटे, तने से पीला रस निकलता है। बीज देखने में सरसों जैसे, प्रसारण बीज द्वारा।
3.	जंगली प्याजी	एस्फोडिलस टेन्यूफोलियस	एक वर्षीय, संकरी, पतली, रेशेदार प्याज जैसी पत्तियाँ।
4.	बथुआ	चिनोपोडियम एलबम	एक वर्षीय, चौड़ी पत्ती, फूल व फल जनवरी में, 2–3 सेमी आकार की चिकनी पत्तियाँ, सब्जी बनाने में उपयोगी।
5.	जंगली जई	एविना फतुआ	एक वर्षीय, औसतन 6000 बीज प्रति पौधा, गेहूँ, जौ, जई से मिलता जुलता नकलची खरपतवार।

6.	खरबथुआ	चिनोपोडियम म्यूरेल	वार्षिक, पत्तियाँ अधिक चौड़ी, हरी, पुष प हरे, गुच्छों में लगते हैं। प्रसारण बीज द्वारा।
7.	हिरण खुरी	कोन्वोल्वुलस आर्वेसिस	पूरे वर्ष रहने वाला बहुवर्षीय, पत्तियाँ हिरण के खुर के समान, बेल के रूप में, जड़ें 20 फुट से भी अधिक गहरी होती हैं। प्रजनन बीज व जड़ द्वारा।
8.	चटरी–मटरी	लेथाइरस अफाका	तना कमजोर, आधार से टैंड्रिल्स निकलते हैं, जिनके सहारे यह अन्य पौधों के तनों से लिपटकर ऊपर चढ़ता है। फूल पीले रंग के, प्रसारण बीज द्वारा।
9.	सफेद सैंजी	मैलिलोटस एल्बा	एक वर्षीय, चौड़ी पत्ती, फूल पीले रंग के, प्रजनन बीज द्वारा, चारे के लिए उपयोगी।
10.	पीली सैंजी	मैलिलोटस इंडिका	एक वर्षीय, चौड़ी पत्ती, फूल पीले रंग के, प्रजनन बीज द्वारा, चारे में उपयोगी।
11.	गेहूँ का मामा/गुल्ली डंडा/गेहूँसा	फैलेरिस माइनर	गेहूँ व जौ की फसल के पौधों से मिलता जुलता नकलची खरपतवार है। इसके नीचे की गांठे हल्की लाल रंग की होती हैं। बालियाँ 3–6 सेमी . लम्बी, बीज काले व अण्डाकार तथा प्रसारण बीज द्वारा।
12.	बैंगनी कंटेली	सेलेनम जेंथोकारपम	तने सख्त भूमि पर फैलकर चलने वाले, तनों पर हल्के पीले रंग के कांटे, पत्तियाँ 5 से 10 सेमी . लम्बी, पत्तियों पर भी कांटे, फूल बैंगनी रंग के, प्रजनन बीज द्वारा।
13.	आग्या/बांदा/औरोबंकी	औरोबंकी एजिप्टियाना	तम्बाकू, टमाटर, सरसों में होने वाला जड़ों का पराश्रयी भूरे रंग का खरपतवार जिसकी ऊँचाई 30 सेमी., प्रसारण बीज द्वारा।
14.	जंगली गोभी	लेउनिया एस्प्लेनिफोलिया	यह एक द्विवर्षीय, खरपतवार है। तने लम्बे कमजोर, पत्तियाँ फैली हुई, पत्तियों के किनारे कटे फटे हुए, प्रसारण बीज द्वारा।

3. उर्वरक

रासायनिक उर्वरकों की पहचान देखकर, छू कर, रंग व उर्वरकों के भौतिक गुणों के आधार पर किया जा सकता है। प्रत्येक रासायनिक उर्वरक के भौतिक गुण एक समान नहीं होते हैं, उनमें कुछ न कुछ भिन्नता पाई जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक उर्वरक का रासायनिक संगठन भी भिन्न–भिन्न होता है। रासायनिक गुणों के आधार पर कृषक उर्वरकों की पहचान नहीं कर सकते, क्योंकि रासायनिक विश्लेषण हेतु प्रयोगशाला की आवश्यकता होती है। अतः कृषक उर्वरकों की भौतिक दशा देखकर ही उर्वरकों की पहचान करता है

क्र.सं.	उर्वरक का नाम	पोषक तत्व (प्रतिशत में)		
		नाइट्रोजन	फॉस्फोरस	पोटाश
	नाइट्रोजनयुक्त			
1.	अमोनियम सल्फेट	20	–	–
2.	अमोनियम क्लोराइड	25	–	–
3.	अमोनियम सल्फेट नाइट्रेट	26	–	–
4.	कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट	25	–	–
5.	अमोनियम नाइट्रेट	33.5	–	–
6.	यूरिया	46	–	–
	फॉस्फोरसयुक्त			
1.	सिंगल सुपर फॉस्फेट	–	16	–
2.	ट्रिपल सुपर फॉस्फेट	–	48	–
3.	रॉक फॉस्फेट	–	18 से 40	–

	पोटाशयुक्त			
1.	पोटेशियम क्लोराइड (म्यूरेट ऑफ पोटाश)	–	–	60
2.	पोटेशियम सल्फेट (सल्फेट ऑफ पोटाश)	–	–	50
	मिश्रित उर्वरक			
1.	डाइअमोनियम फॉस्फेट	18	46	–

प्रमुख उर्वरकों की पहचान

अमोनियम सल्फेट – यह सफेद दानेदार उर्वरक है। यह आसानी से पानी में घुल जाता है तथा वातावरण से बहुत ही कम नमी सोखता है।

अमोनियम क्लोराइड – यह अमोनियम सल्फेट की तरह ही भौतिक गुणों वाला उर्वरक है।

कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट – यह आर्द्रताग्राही उर्वरक है जो वातावरण से नमी सोख लेता है। इसके दानों का रंग स्लेटी या हल्का भूरा होता है जो रंग व आकार में ग्वार के दानों के समान होता है।

यूरिया – यह दानेदार उर्वरक है। इसके दाने मोती की तरह गोल और सफेद होते हैं। यह वातावरण से नमी सोख लेता है।

सिंगल सुपर फॉस्फेट – यह दानेदार व पाउडर दोनों ही रूप में उपलब्ध है। इसका रंग भूरा होता है। दाने गोल लेकिन छोटे बड़े होते हैं। पाउडर रूप में यह राख की तरह दिखता है।

पोटेशियम क्लोराइड (म्यूरेट ऑफ पोटाश) – यह दो रंगों में उपलब्ध है। शुद्ध रूप में इसके दाने सफेद नमक की तरह होते हैं। दूसरे में इसके दाने नमक मिर्च के मिश्रण की तरह होते हैं।

पोटेशियम सल्फेट – यह उर्वरक सफेद रंग का नमक की तरह होता है।

डाइअमोनियम फॉस्फेट –इसके दाने कंकर की तरह अनियमित आकार के होते हैं तथा रंग सफेद होता है।

4. जैव उर्वरक

विभिन्न फसलों के बीज उपचार हेतु कृषक सामान्यतया राइजोबियम, एजोटोबेक्टर व पी.एस.बी./पी.एस.एम. जैव उर्वरकों का प्रयोग करते हैं। ये जैव उर्वरक 200 ग्राम के पॉलिथीन पैक में उपलब्ध है। चारकोल आधारित होने के कारण इनका रंग काला होता है। दलहनी फसलों के बीजों को राइजोबियम जैव उर्वरक से उपचारित किया जाता है जबकि बिना दाल वाली फसलों के बीजों को एजोटोबेक्टर या एजोस्पिरिलम से उपचारित करते हैं।

फॉस्फेट विलेयशील जैव उर्वरक (पी.एस.बी./पी.एस. एम) से सभी फसलों के बीजों को उपचारित किया जाता है।

विभिन्न दलहनी फसलों के लिए राइजोबियम की प्रजाति भी अलग–अलग होती है अतः दलहनी फसल विशेष के लिए जैव उर्वरक पर अंकित फसल के नाम से ही उस फसल के राइजोबियम कल्चर की पहचान की जाती है। एजोटोबेक्टर व पी.एस.बी./कल्चर के पैकेट पर उनका नाम अंकित होता है। पैकेट पर अंकित उपयोग दिनांक जरूर पढ़ लेनी चाहिये। अवधि पार कल्चर का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

तालिका – विभिन्न फसलों के लिए उपयुक्त राइजोबियम प्रजातियों का विवरण

राइजोबियम प्रजाति	फसल
राइजोबियम मेलीलोटी	मेथी, रिजका, सेंजी
राइजोबियम ट्राईफोलाई	बरसीम
राइजोबियम लेग्यूमिनोसेरम	मटर, मसूर
राइजोबियम जेपोनिकम	सोयाबीन
राइजोबियम लुपिनी	लुपिन
राइजोबियम फेसियोली	सेम
राइजोबियम स्पीशीज	मूँगफली, मूँग, चँवला, मोठ, उड़द

इकाई – 2

प्रयोग–8

उद्देश्य :– फलोद्यान लगाने की वर्गाकार/आयताकार/पूरक विधि द्वारा रेखांकन एवं फल वृक्षों की संख्या ज्ञात करना।

आवश्यक सामग्री :– रस्सा, फावड़ा, लकड़ी/प्लास्टिक की खूटियाँ, फीता, चूना पाउडर आदि।

उद्यान का रेखांकन एक महत्वपूर्ण क्रिया है तथा सावधानी पूर्वक किया जाना आवश्यक है क्योंकि यह लम्बे समय का निवेश है बाद में गलती सुधारना सम्भव नहीं है।

चुनाव किये गये खेत में एक आधार रेखा खीची जाती है (पक्की सड़क, नाली आदि को आधार मान सकते हैं) इसके एक कोने पर पाइथोगोरस थ्योरम (3, 4, 5) को आधार मानकर त्रिभुज की रचना करते है। इसमें समकोण त्रिभुज बनाते है जिसके सहारे रस्सी की सहायता से फसल अन्तराल के रेखांकन विधि के अनुसार लाइन डाल दी जाती है। रेखांकन निम्न विधियों से कर सकते हैं–

वर्गाकार विधि (Square system) :– खेत को चौकोर रेखांकित करने के बाद निश्चित पौध अन्तराल (फल व फसल के अनुसार) जिस स्थान पर रेखाएँ एक दूसरे को काटती है उस स्थान पर पौधा रोपण के लिए गड्ढा खोदा जाता है, प्रत्येक चार पौधे मिलकर एक वर्ग का निर्माण करते हैं। इस विधि में प्रति हेक्टेयर पौधे की संख्या निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात कर सकते हैं।

पौधे की संख्या प्रति हेक्टेयर = कुल क्षेत्रफल/पौध या कतार अन्तराल वर्ग

आयताकार विधि (Rectangular System) :– वर्गाकार विधि के समान होती है अंतर केवल इतना होता है कि यहाँ पंक्ति से पंक्ति की दूरी पौधे से पौधे की दूरी से अधिक होती है। दो पंक्तियों के चार पौधे मिलकर आयत का निर्माण करते हैं।

पौधों की संख्या प्रति हेक्टेयर = कुल क्षेत्रफल/ कतार × पौधे की दूरी

पूरक विधि : (Filler or Quincunx or diagonal system) :– इस विधि का रेखांकन वर्गाकार विधि की तरह ही है। इस विधि में चार पौधों के वर्ग के बीच एक अस्थायी अल्पावधि वाला पौधा लगा दिया जाता है जैसे पपीता/फालसा आदि जिसका उद्देश्य किसान की आय बढ़ाना है जब तक मुख्य फसल फलन में न आये। इस विधि में वर्गाकार विधि की अपेक्षा लगभग दो गुने पौधे लगाये जा सकते हैं।

उदाहरण :– वर्गाकार विधि में आम का एक हेक्टेयर में पौधों की संख्या व रेखांकन 10×10 मीटर अन्तराल पर करते हुए मध्य में पपीता को पूरक पौधे की तरह रेखांकित करो जिनका अन्तराल 2.5 मीटर हो।

हल :– पौधो की संख्या (प्रति हेक्टेयर) = कुल क्षेत्रफल (वर्ग मीटर)/पौध अन्तराल (मीटर)

दिया गया है : पौध अन्तराल = 10 × 10 मीटर

कुल क्षेत्रफल = 10,000 वर्ग मीटर (एक हेक्टेयर)

एक हेक्टेयर में पौधों की संख्या = 1000/10×10 = 100 पौधे

पूरक पौध अन्तराल = 2.5 × 2.5 मीटर

प्रति पक्ति मुख्य फसल के साथ पूरक पौधे = 20 पौधे

प्रति हेक्टेयर पूरक पौधे = 200 पौधे

परिणाम : उपर्युक्त वर्गाकार विधि में मुख्य फसल आम के 100 पौधे तथा पूरक पौधे पपीता के 200 पौधे (एक हेक्टेयर)

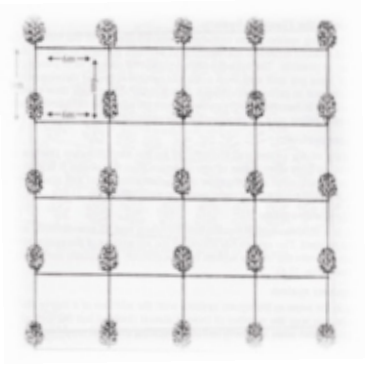

वर्गाकार विधि

आयताकार विधि

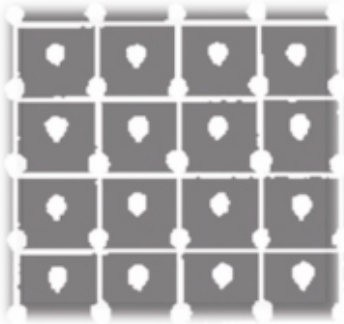

पूरक विधि

प्रयोग–9

उद्देश्य :– वानस्पतिक प्रसारण की कलम, कालिकायन एवं ग्राफ्टिंग की विधियों का अभ्यास

1. कलम :–

कलम से प्रसारण हेतु सामग्री :– स्केटियर, शाखा, खुरपी, हजारा (Rose can), चाकू, इण्डोल ब्यूटाइरिक अम्ल (रूटेक्स या सेरॉडेक्स पाऊडर)

1. कलम तैयार करने हेतु मातृ पौधे से एक वर्ष पुरानी स्वस्थ टहनी का चुनाव करें।
2. तना कलमों की लम्बाई 20–25 सेमी. व मोटाई 1 सेमी. होनी चाहिए। जिसमें 4–6 पर्व सन्धि हों।
3. कलम तैयार करते समय नीचे का कटान पर्व सन्धि के पास एवं गोल तथा ऊपर का कटान पर्व सन्धि से 1–1.5 सेमी. ऊपर व तिरछा होना चाहिये।
4. तैयार कलमों के नीचे वाले हिस्से को पादप वृद्धि नियंत्रक (सेराडेक्स) से उपचारित कर लेना चाहिए।
5. इन कलमों को रेत युक्त क्यारियों में तिरछी (60 डिग्री के कोण पर) लगा देवें।
6. कलमें लगाते समय इनका दो तिहाई भाग रेत में दबाना चाहिए।
7. कलम लगी क्यारियों की देखभाल व सिंचाई आदि करते रहना चाहिए।
8. लगभग 20–25 दिन बाद इन कलमों में जड़े आकर पौधे तैयार हो जाते हैं।

सावधानियाँ :–

1. कलम बनाते समय ध्यान रखे उस पर 3–4 कलिकायें अवश्य होनी चाहिये।
2. कलम का ऊपरी कटान पर्वसन्धि से 1–1.5 सेमी. ऊपर व तिरछा तथा निचला कलमों को रेत युक्त क्यारियों में ध्रुवता (Polarity) का ध्यान रखते हुए (उसी स्थिति में जिस पर मातृ वृक्ष में लगी थी) दो तिहाई गहराई में लगायें।

2. कलिकायन

कलिकायन में प्रयुक्त सामग्री : मूलवृन्त, कालिका, चाकू, पॉलीथीन पट्टिका आदि

कलिका का चयन (Bud Selection)

कालिकायन में प्रयुक्त कली (Bud) अच्छे गुणों वाले पौधे से लेनी चाहिए। कली या आँख हमेशा परिपक्व शाखा से जिसमें पौधे का रस प्रवाह (Sap flow) अच्छा हो उस मौसम में लेनी चाहिए। ऐसी कली नहीं लेनी चाहिए जिसमें फूटान प्रारम्भ हो गया हो।

मूलवृन्त का चयन (Rootstock selection) :– मूलवृन्त प्रायः बीज, कलम या दाब कलम द्वारा तैयार किये जाते हैं। मूलवृन्त क्षेत्र विशेष के लिए अनुकूल होना चाहिए। ये रोग व कीटों के प्रतिरोधी होने के साथ प्रतिकूल परिस्थितियों को भी सहन करने वाला होना चाहिए।

सांकुर का चयन (Scion selection) :– हमेशा इच्छित या अच्छे गुणों से युक्त होनी चाहिए। सांकुर ओजस्वी तथा विकासशील होना चाहिए। ग्राफ्टिंग में 2 या इसके अधिक कलिका युक्त दंडिका सांकुर के रूप में उपयोग में लेते है उसे सांकुर दंडिका (Bud stick) कहते है, वहीं कलिकायन में केवल एक कलिका ही सांकुर के रूप में उपयोग में आती है।

कलिकायन (Budding)– कलिकायन या चश्मा चढाने की निम्न विधियाँ प्रमुख हैं–

1. टी या शील्ड कलिकायन (T या Shield budding):– मूलवृन्त पर अंग्रेजी के टी आकार का 2.5–3.5 सेमी. लम्बा कटान लगाते हैं तथा इतना ही एक समानान्तर कट देकर छाल को ढीला किया जाता है अब शील्ड आकार की छाल जिस पर कलिका (उन्नत किस्म) हो सांकुर के रूप में लेकर उसे टी आकार में प्रविष्ट करके पॉलीथीन स्ट्रीप से अच्छी तरह बाँध देते हैं तथा बाँधते समय ध्यान रखें की कलिका का कक्ष (Axil) खुला रहे, यही नये प्ररोह के रूप में आगे विकसित होगा।

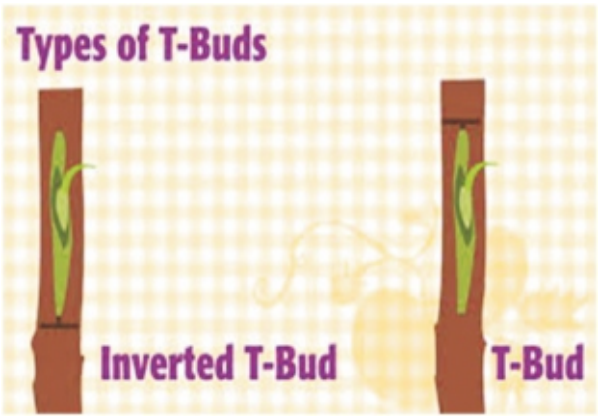

2. पैबन्द कलिकायन (Patch budding)– पैच बडिंग में मूलवृन्त पर भूमि से 20–25 सेमी. ऊँचाई पर 2.5–3 सेमी. लम्बी आयताकार आकृति में छाल काट कर अलग कर दी जाती है। अब इसी आकार की कलिका छाल सहित निकालकर मूलवृन्त पर तैयार कटान पर लगा कर बाँध दिया जाता है। यह विधि आँवला, अखरोट में अपनाई जाती है।

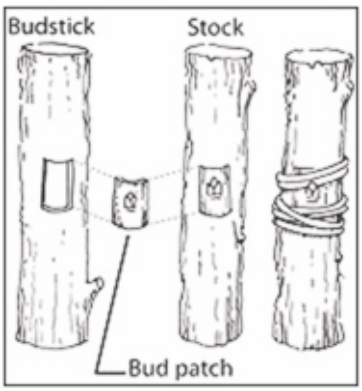

पैबन्द कलिकायन

छल्ला कलिकायन

3. छल्ला कलिकायन (Ring budding)– मूलवृन्त के ऊपरी भाग के कटे हुए सिरे से 2.5 सेमी. नीचे तक छाल हटाकर वलय बना दी जाती है। अब वलय के रूप में बराबर व्यास की कलिका निकाल कर पहना दी जाती है। उदारहण :– सिनकोना, शहतूत, बेर आदि।

जब मूलवृन्त के चारों ओर से घेरे के रूप में छाल हटा कर कलिका ट्यूब रूप में निकालकर मूलवृन्त पर बाँध देते हैं इसमें वलय न होकर कटान होता है तो फ्लूट कलिकायन (Flute budding) कहलाता है।

सावधानियाँ –

1. सांकुर डाली (सायन) से कलिका निकालते समय क्षतिग्रस्त नहीं होनी चाहिये।
2. कलिका का वृद्धि करने वाला भाग ऊपर की ओर व खुला रखना चाहिये।
3. मूलवृन्त पर कटान बनाते समय लकड़ी वाले भाग को हानि न पहुँचे व छाल पूर्ण रूप से हटाना चाहिये।

3. उपरोपण (Grafting) :–

उपरोण हेतु आवश्यक सामग्री : मूलवृन्त, सांकुर डाली/दंडिका, ग्राफ्टिंग चाकू, स्केटियर, पॉलीथीन पट्टिका, ग्राफ्टिंग मोम आदि।

मूलवृन्त व सांकुर का चुनाव :– कलिकायन की तरह से करें।

1. साधारण ग्राफ्टिंग (Simple grafting)– इसे स्पलिस ग्राफ्टिंग भी कहते हैं। जहाँ समान मोटाई के मूलवृन्त व सांकुर को विपरीत दिशा में 2.5–4.0 सेमी लम्बाई से ढलानदार कटाव बनाते हैं तथा रोपण पट्टिका से बाँध देते हैं।

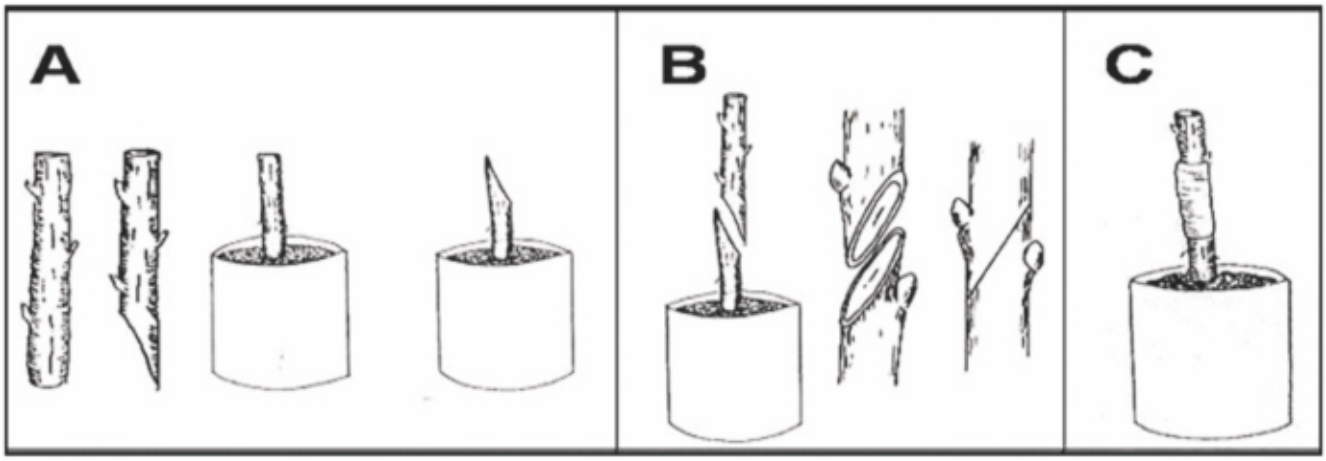

2. जीभी ग्राफ्टिंग (Tongue grafting)– यह विधि साधारण ग्राफ्टिंग की तरह ही है। इस विधि में साधारण ग्राफ्टिंग के लिए कटान तैयार करने के बाद मूलवृन्त में ऊपर से नीचे की ओर तथा सांकुर डाली में नीचे से ऊपर को जिव्हा आकार का कटान बनाकर दोनों को आपस में फंसा कर बाँध दिया जाता है।

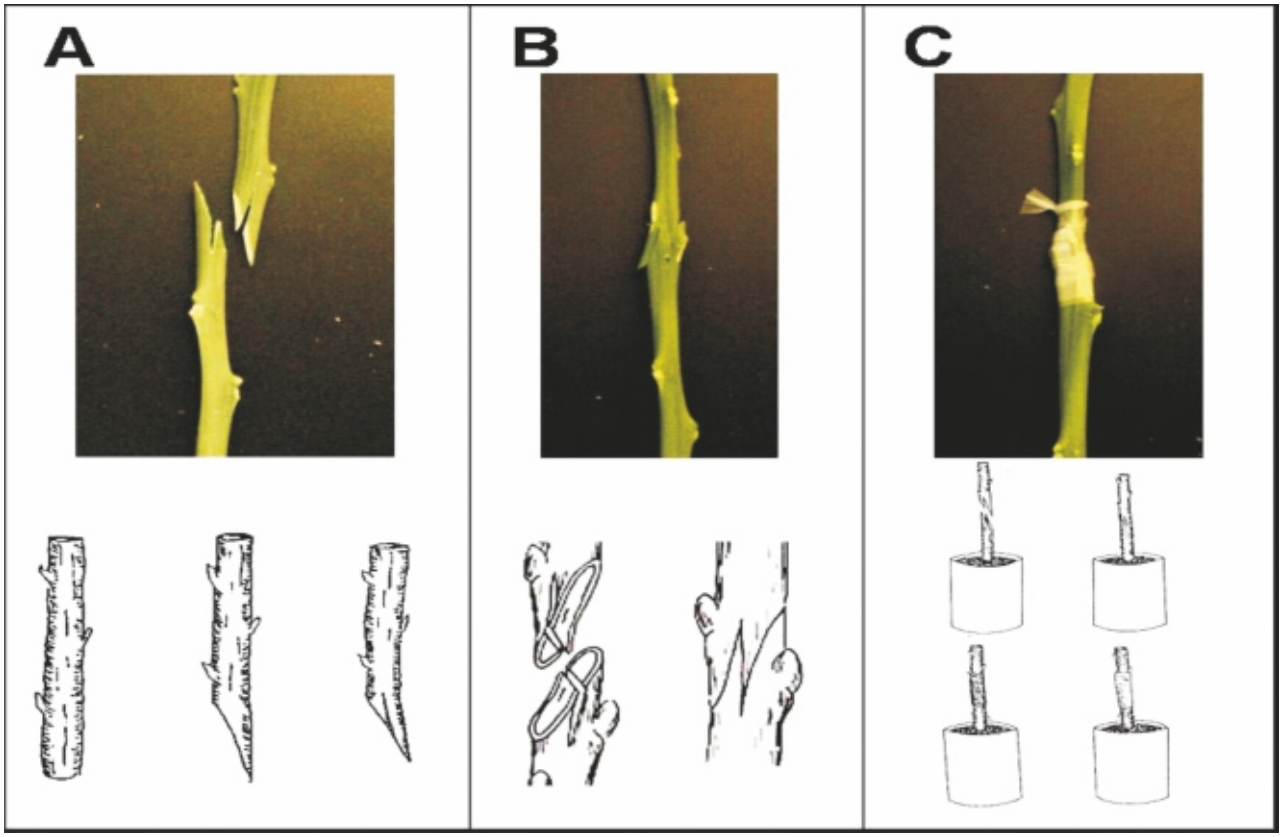

3. वीनियर ग्राफ्टिंग (Vinear grafting)– आम में इस विधि में 9–12 माह पुराने (बीजू पौधा) मूलवृन्त के पार्श्व में लगभग 3 सेमी. लम्बा थोड़ा गहरा कटान लगाया जाता है जिस पर एक सप्ताह पहले चयनित पत्तियाँ रहित तथा अग्रकली फूली हो ऐसी सांकुर डाली 10–15 सेमी. लम्बी जिस पर 3 सेमी. लम्बा ढलवा कटान बनाया जाता है। तत्पश्चात् सांकुर व मूलवृन्त के कटानों को मिलाकर बाँध देते हैं तथा फूटान आने पर मूलवृन्त की उपरोपण युग्म (Union) के ऊपर से काट देना चाहिए इस तरह डेढ़ माह में नया पौधा तैयार होता है। प्रायः आम में मार्च से अगस्त तक का समय इस विधि के लिए अच्छा रहता है।

4. वैज या क्लैफ्ट ग्राफ्टिंग (Wedge or cleft) : इस विधि में मूलवृन्त को भूमि से 22.5 सेमी. ऊपर से काट देते है। शीर्ष के स्थान पर अंग्रेजी के शब्द 'वी' आकार का लगभग 4–5 सेमी. गहरा कटान बनाते हैं। सांकुर डाली के निकटस्थ सिरे पर मूलवृन्त के 'वी' आकार में लगाने योग्य फाना (वैज) बनाकर, मूलवृन्त के कटान में फंसाकर अच्छी प्रकार से बाँध दिया जाता है।

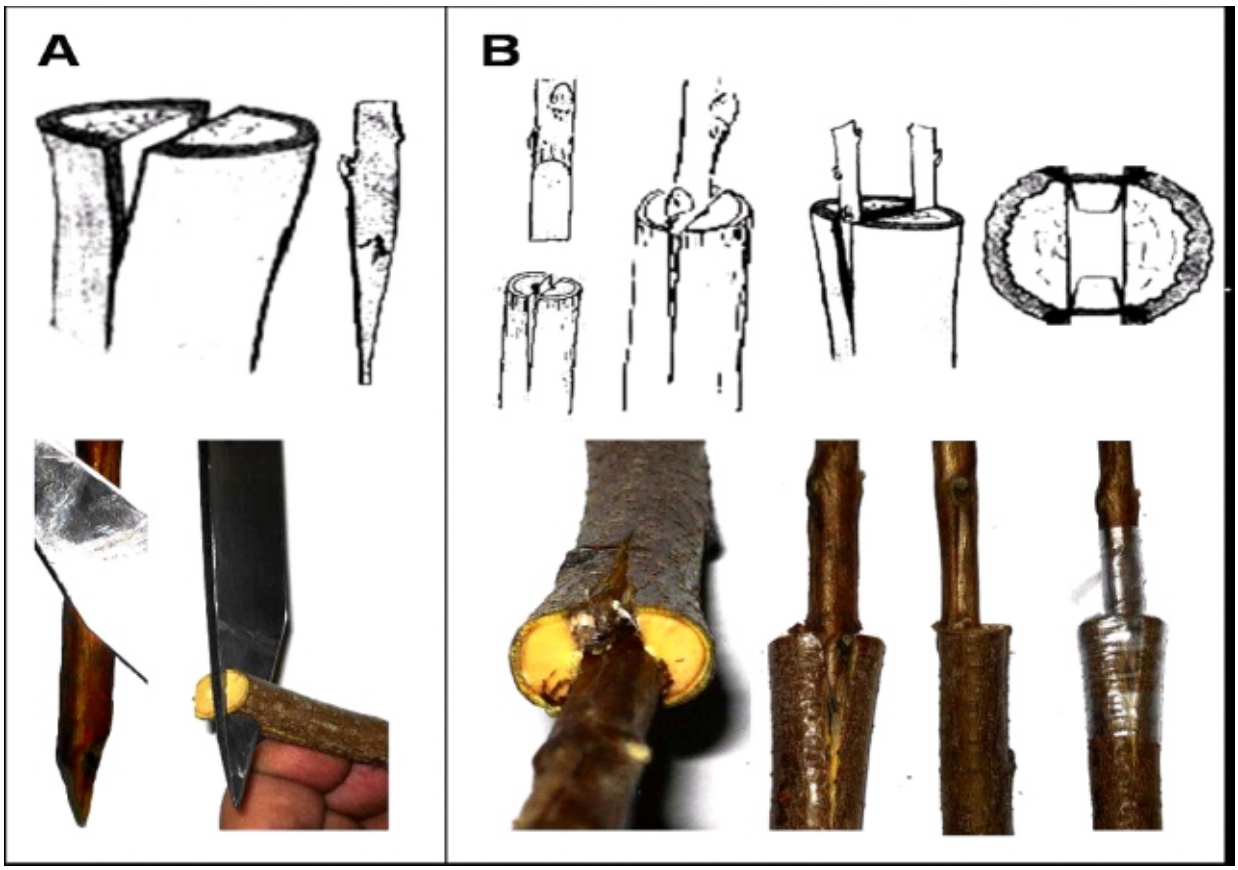

5. मृदु काष्ठ ग्राफ्टिंग (Soft wood grafting)– सीताफल, कटहल, आम, काजू, चीकू आदि फसलों के प्रवर्द्धन में उपयोगी है। मूलवृन्त 10–12 सेमी. ऊँचाई पर लगभग 5 सेमी. का ढलानदार कट लगाते हैं तथा सांकुर पर समान लम्बाई का वैज आकार के कटान लगाकर दोनों को रोपण पट्टिका से बाँध देते हैं। अब इस पर जुड़ाव भाग (Union) के नीचे आने वाले फुटान समय–समय पर हटाते रहें। इन सीटू (In situ) तरीके से लगाये गये पौधों में भी यह प्रभावी विधि है।

सावधानियाँ –

1. मूलवृन्त व सांकुर का कटान समान आकार व लम्बाई का होना चाहिये।
2. मूलवृन्त व सांकुर समान मोटाई के होने चाहिये।

प्रयोग–10

उद्देश्य– फलवृक्षो हेतु गड्ढे खोदना, भरना, रोपण एवं देखभाल

आवश्यक उपकरण एवं सामग्री– कुदाली, फावड़ा, खुरपी, रस्सी, फीता, खाद, दवा आदि।

गड्डे खोदना एवं भरना– फलवृक्ष लम्बे समय तक बाग में रहते हैं, अतः इनको ठीक प्रकार से लगाना आवश्यक क्रिया है। फलवृक्ष लगाने हेतु गड्डे खोदने में विशेष सावधानी रखी जाती है। भूमि का प्रकार, फलवृक्षों का अन्तर आदि गड्डों के आकार को निर्धारित करते हैं। प्रारम्भ में बाग का रेखांकन कर गड्डों का स्थान निर्धारित करते है। प्रायः फलवृक्ष लगाने के 1–1.5 माह पूर्व गड्डे खोदना चाहिए। फलवृक्षों के आकार के अनुसार गडड्े 1×1×1 मी., 75×75×75 सेमी. तथा 50×50×50 सेमी. आकार के खोदे जाते हैं।

गड्डा खोदते समय ऊपरी 20–25 सेमी. मिट्टी एक तरफ डालते हैं जो कि भरते समय नीचे डाली जाती है। शेष गड्डे को पर्याप्त कार्बनिक खाद मिश्रण से भरना चाहिए। गड्डा भरते समय मिटटी को कीड़ो से (दीमक आदि) बचाव के लिए मिथाइल पैराथियान या क्यूनालफॉस 60–100 ग्राम प्रति गड्डा मिश्रण में मिलाकर भरना चाहिए। गड्डा सतह से कुछ ऊपर तक भरकर सिंचाई कर देते हैं।

रोपण एवं देखभाल– तैयार गड्डे में रस्सी एवं प्लान्टिग बोर्ड की सहायता से फलवृक्षों को गड्डे के मध्य में सीधा रोपण करना चाहिए। रोपण का समय वर्षा ऋतु तथा जनवरी–फरवरी माह अच्छा माना जाता है। फलवृक्ष सांयकाल में लगाना चाहिए। रोपण के बाद पौधे के चारो तरफ की मिट्टी अच्छी प्रकार दबा दें जिससे कि हवा का संचार नही हो सकें। पौधे की पंक्तियाँ दोनों तरफ से एक सीध में रहनी चाहिए।

पौध रोपण के बाद नियमित सिंचाई करते हैं तथा थांवलो में आवश्यकतानुसार निराई गुड़ाई कर खरपतवार भी निकालना चाहिए। पौधों की अच्छी वृद्धि के लिए खाद–उर्वरक, कीटों व रोगों से बचाव के लिए दवा का छिड़काव तथा प्रारम्भिक अवस्था में सधाई भी आवश्यक होती है। छोटे पौधों को धूप, पाले से बचाव के उपाय भी करने चाहिए।

सावधानियाँ –

1. गड्डों का आकार फलवृक्ष के आकार के अनुसार ही रखना चाहिए।
2. गड्डों को सावधानी से भरना चाहिए।
3. फलवृक्षों की मिट्टी की पिण्डी को नुकसान पहुँचाये बिना गड्डों के मध्य में पौधा रोपण करें।
4. मूलवृन्त व शाखा का जुड़ाव जमीन की सतह से 22–25 सेमी. ऊँचा रहे।
5. पौधा लगाने के बाद चारो तरफ की मिट्टी अच्छी प्रकार से दबा दें।
6. पौध रोपण सांयकाल करें तथा तुरन्त सिंचाई करें।

प्रयोग–11

उद्देश्य– फलोद्यान की विभिन्न क्रियाओं का अभ्यास।

आवश्यक उपकरण एवं सामग्री– स्केटियर, कृन्तन आरी, कृन्तन चाकू एवं अन्य उपकरण।

काट–छाँट (Prunning) – फलोद्यान में फलवृक्षों से अधिक गुणवत्ता वाली उपज लेने एवं वृक्षों की अच्छी वृद्धि एवं स्वास्थ्य के लिए विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ की जाती है, जिनमें काट–छाँट सबसे प्रमुख है। काट–छाँट फलवृक्षों के अच्छे स्वास्थ्य एवं आकार ही नही बल्कि अच्छी गुणवत्ता वाली उपज के लिए भी आवश्यक है। फलवृक्षों पर फलत आने से पूर्व जो काट–छाँट की जाती है वह सधाई कहलाती है। फलवृक्षों पर फल लगने के उपरान्त कृन्तन कार्य पौधों की प्रकृति, वृद्धि की अवस्था, फलत का समय व प्रवृति आदि की पर्याप्त जानकारी के आधार पर किया जाता है। काट–छाँट के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दू निम्नानुसार है –

1. पतझड़ वाले फल वृक्ष जैसे बेर में कृन्तन कार्य फलों की तुड़ाई के बाद ग्रीष्मकाल में किया जाता है। यह कार्य 6–7 द्वितीयक टहनियाँ छोड़ने के बाद करते हैं, इन शाखाओं पर जून माह में नये प्ररोह आते है उन्हीं पर फूल लगते हैं।
2. पतझड़ी फल वृक्ष अंजीर में भी कृन्तन कार्य बेर की तरह वर्षा ऋतु में करते हैं परन्तु फल वृक्ष पर 3–4 द्वितीयक शाखाएँ छोड़ी जाती हैं।
3. अंगूर, सेव आदि फल वृक्षों में पतझड़ शीतकाल में आता है अतः इनमें काट–छाँट दिसम्बर में की जाती है। इन पर फलत वाली टहनियाँ फरवरी मार्च में आती हैं जिससे मई–जून में फल प्राप्त होते हैं।
4. सदाबहार फलवृक्ष जैसे आम, अमरूद, जामुन, नीबू वर्गीय फल आदि में काट–छाँट करते समय केवल रोग–कीट ग्रस्त, सूखी, आपस में उलझी हुयी टहनियों को हटा दिया जाता है।

विरलीकरण (Thinning out)–

विरलीकरण भी काट–छाँट का ही एक रूप है जिसमें फलवृक्षों पर गुणवत्ता वाली उपज प्राप्त करने के लिए अधिक मात्रा में आये फूलों एवं फलों को हटाकर कम किया जाता है। जिससे जो फल लगते हैं वह उत्तम गुणों वाले होते हैं। यह क्रिया पपीता, अंगूर में प्रमुखता से की जाती है।

किसी शाखा में फूल एवं फल लगने की प्रक्रिया तेज करने के लिए कुछ विशेष क्रियाएँ की जाती हैं, जैसे –

वलय बनाना (Ringing)– किसी चयनित शाखा के चारो तरफ एक निश्चित चौड़ाई में छाल हटाकर वलय बनाना

नोचिंग (Notching)– टहनियों पर कलिका के नीचे छाल में "V" आकार का कट लगाना।

टहनी तोड़ना– अमरूद एवं लीची में फलों की तुड़ाई के साथ पतली टहनियाँ तथा पत्ते भी तोड़ते है जिससे अगली फलत में उपज अधिक मिलती है।

सधाई (Training)

फलवृक्षों में प्रारम्भिक वर्षो में स्वस्थ्य, अच्छा आकार एवं ढांचा तैयार करने के उद्देश्य से जो कार्य (काट–छाँट) किया जाता है सधाई कहते हैं। इससे फलवृक्षों में अधिक एवं गुणवत्ता की उपज प्राप्त होती है। सधाई की प्रमुख विधियाँ निम्न हैं –

1. **मध्य खुली विधि (Open central system) –** इसमें फलवृक्षों को एक मीटर वृद्धि के बाद मुख्य शाखा को ऊपर से काटा जाता है। बाद में इससे 4–5 शाखाएँ पार्श्व से निकल कर अच्छा ढांचा बनाती है। इसमें वृक्ष बीच से खुला होकर प्याले जैसा हो जाता है।
2. **अग्र प्ररोह विधि (Central leader system) –** इसमें मुख्य तने को सीधा वृद्धि करने देते हैं तथा उसके पार्श्व से शाखाएँ निकलती रहती हैं इससे फलवृक्ष का आकार नीचे अधिक व ऊपर कम होता जाता है।
3. **परिवर्तित अग्र प्ररोह (Modified leader system)** यह उपर्युक्त दोनो विधियों का मिश्रण है जिसमें प्रारम्भ के वर्षो में मुख्य शाखा वृद्धि करती रहती है तथा 4–5 वर्ष बाद मुख्य शाखा को काट दिया जाता है। बाद में पार्श्व से शाखाएँ निकलकर फल वृक्ष को आकार प्रदान करती हैं। इससे फल वृक्ष छोटा तथा फैला हुआ होता है।

सावधानियाँ –

1. काट–छाँट के लिए अच्छे एवं तेजधार वाले औजारों का प्रयोग करना चाहिए।
2. फलवृक्षों की आवश्यकता से अधिक काट–छाँट नही करें।
3. फलवृक्ष के स्वभाव एवं आवश्यकता के अनुसार ही काट–छाँट करें।
4. काट–छाँट के बाद कटे भाग पर ताम्र युक्त फंफूदनाशी का लेप अवश्य करें।

प्रयोग–12

उद्देश्य :–फल व सब्जियों का श्रेणीकरण कर बाजार भेजने हेतु पैकिंग करना

फल एवं सब्जियों का श्रेणीकरण करना –

विभिन्न किस्म के फल व सब्जियों को रंग, आकार, वजन व परिपक्वता के अनुसार छाँटने को श्रेणीकरण (ग्रेडिंग) कहते हैं। सामान्यतः श्रेणीकरण का कार्य हाथों से किया जाता है परन्तु व्यावसायिक रूप से आजकल विभिन्न प्रकार के उपकरणों व यंत्रों का भी सहारा लिया जाता है।

सर्वप्रथम किस्म के अनुसार फल व सब्जियों को अलग–अलग छाँट लेवें। इसके बाद रंग, आकार एवं परिपक्वता के आधार पर उनका श्रेणीकरण करते हैं। गोल आकार के फल व सब्जियों को जैसे– संतरा, सेव, नींबू, प्याज, आलू आदि को ग्रेडर की सहायता से बड़े, मध्यम व छोटे आकार की विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। विभिन्न सब्जियों का श्रेणीकरण प्रायः हाथ से किया जाता है।

फल का नाम	बड़े		मध्यम		छोटे		खराब		कुल	
	संख्या	वजन	संख्या	वजन	संख्या	वजन	संख्या	वजन	संख्या	वजन

फल एवं सब्जियों को बाजार भेजने हेतु पैकिंग करना–

आवश्यक सामग्री : फल व सब्जियाँ, टोकरियाँ, बोरियाँ या कागज के डिब्बे आदि।

विधि– फलों को उत्पादन स्थान से बाजार के बीच होने वाले नुकसान से बचाने एवं स्वस्थ, सुरक्षित पहुँचाने के लिए पैकिंग आवश्यक क्रिया है। फलों को तोड़ने के पश्चात् किसी छायादार स्थान पर ठण्डा करने के बाद ही उनकी पैकिंग करनी चाहिये। फलों को बाजार में भेजने के लिए उनकी पैकिंग निम्नानुसार की जाती है–

1. बोरियों में (जूट बैग) पैक करना,
2. टोकरियों में पैक करना,
3. लकड़ी की पेटियों में पैक करना,
4. कार्ड बोर्ड के डिब्बों में पैक करना,
5. प्लास्टिक क्रेट में पैक करना।

आजकल फलों को प्लास्टिक के क्रेट में अधिक पैक किया जाता है। पैकिंग से पहले क्रेट की सतह पर कागज की कतरने बिछा दी जाती है जिससे फल रगड़ से क्षतिग्रस्त नहीं हो। इसके बाद फलों को रखा जाता है। पैकिंग की यह आसान विधि है। इसमें एक बार ही क्रेट खरीदने पर खर्चा होता है परन्तु इनका प्रयोग बार–बार कर सकते हैं। क्रेट को एक दूसरे पर भी आसानी से रखा जा सकता है।

पैकिंग करते समय, सड़े–गले, खराब फलों को अलग करना चाहिए। पैकिंग के बाद प्रत्येक क्रेट या टोकरी पर उसमें पैक किये फल की किस्म, श्रेणी, वजन का लेबल लगाने से बाजार में बेचने में सुविधा रहती है।

सावधानियाँ –

1. फल को पैकिंग करने से पहले ठण्डी जगह पर रखना चाहिये।
2. पैकिंग करते समय सड़े–गले खराब फलों को अलग निकाल देना चाहिये।
3. पैकिंग करते समय फलों पर किसी प्रकार की चोट नहीं लगनी चाहिये।

प्रयोग–13

उद्देश्य :– फलपाक, अवलैह, मुरब्बा, अचार, पानक, टमाटर सॉस तैयार करना

(Preparation of Jam, Jelly, Preserve, Pickles, Squash and Tomato sauce)

1. फलों से फलपाक (Jam) बनाने की विधि–

आवश्यक उपकरण व सामग्री : फल, चीनी, साइट्रिक अम्ल, स्टील का भगोना, चम्मच, गैस चूल्हा, चाकू आदि।

फलपाक निम्न फलों एवं सब्जियों से बनाया जा सकता है– सेव, चीकू, नाशपाती, आड़ू, पपीता, करौंदा, गाजार, खरबूज एवं केला आदि। एक अच्छे फलपाक में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ की मात्रा 68 प्रतिशत, 45 प्रतिशत भाग तैयार फल एवं अम्ल की मात्रा 0.5–0.6 प्रतिशत होना चाहिए।

पाक योग– प्रायः 1 कि.ग्रा. फल गुदे में निम्नलिखित सामग्री की आवश्यकता होती है।

1. चीनी – 0.75 – 1.00 कि.ग्रा.
2. साइट्रिक अम्ल – 1–3 ग्राम
3. पानी – 100–200 मि.मी.

बनाने की प्रक्रिया :–

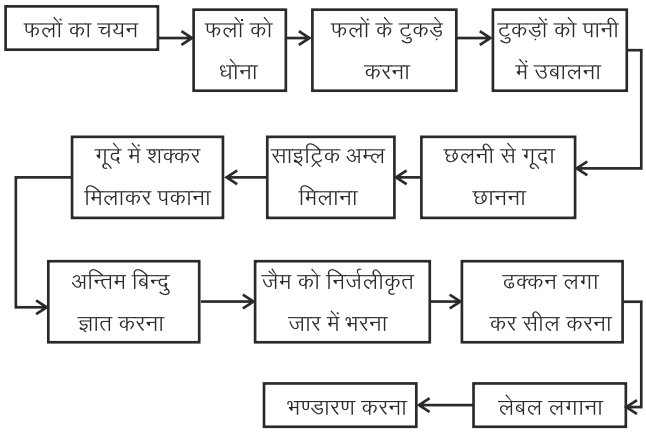

सावधानियाँ –

1. फलपाक बनाने के लिये गूदेदार व स्वस्थ फलों का चयन करें।
2. गूदे को उबालते समय पूर्ण मुलायम होने पर ही चीनी मिलानी चाहिये।
3. चीनी मिलाने के बाद मध्यम आंच पर पकाना चाहिये।

2. फलों से अवलैह (Jelly) बनाने की विधि–

आवश्यक उपकरण व सामग्री : पेक्टिन युक्त फल, चीनी, साइट्रिक अम्ल, स्टील का भगोना, चम्मच, गैस चूल्हा, चाकू, जैली बेग, जैल मीटर, एल्कोहल आदि।

अवलैह मुख्यतः उन फलों से बनाया जाता है जिनमें पेक्टिन और अम्ल अधिक मात्रा में हो, जैसे– अमरूद, कैंथ, करौंदा, खट्टे सेव, आंवला, अंगूर एवं संतरा। इसमें फल उत्पादन आदेश के अनुसार कुल घुलनशील ठोस पदार्थ की मात्रा 65 प्रतिशत, 45 प्रतिशत फल रस एवं 0.5–0.75 प्रतिशत अम्ल होना चाहिए।

पाक योग– 1 कि.ग्रा. फल गूदे हेतु निम्नलिखित सामग्री की आवश्यकता होती है।

1. चीनी – पेक्टिन परीक्षण अनुसार
2. साइट्रिक अम्ल – 1 से 3 ग्राम

बनाने की प्रक्रिया :–

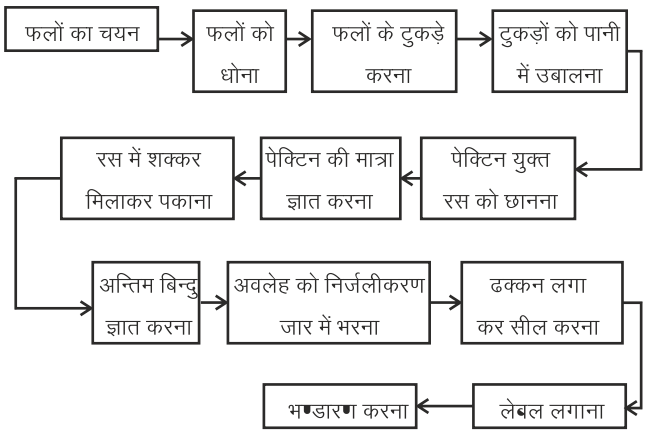

सावधानियाँ–

1. पेक्टिन निकालते समय गूदे को दबा कर नहीं छानना चाहिये।
2. जेली में शक्कर की मात्रा पैक्टिन के आधार पर तय करनी चाहिये।

3. जेली पकाते समय ऊपरी सतह से झाग को हटाते रहना चाहिये।

फलों से मुरब्बा (Preserve) बनाने की विधि–

आवश्यक सामग्री उपकरण व सामग्री : फल, चीनी, साइट्रिक अम्ल, स्टील का भगोना, चम्मच, गैस चूल्हा, चाकू आदि।

मुरब्बा साबुत फलों या उनके टुकड़ों को शक्कर की चाशनी में पकाकर बनाया जाने वाला खाद्य पदार्थ है। फल या उनके टुकड़ों को चाशनी में तब तक पकाया जाता है जब तक वे नर्म और पारदर्शी न हो जाये और चाशनी में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ की मात्रा 68–70 प्रतिशत आ जाए।

पाक योग– 1 कि.ग्रा. फल हेतु निम्नलिखित सामग्री की आवश्यकता होगी–

1. पानी – 1 लीटर 2. चीनी – 1 कि.ग्रा.

बनाने की प्रक्रिया :–

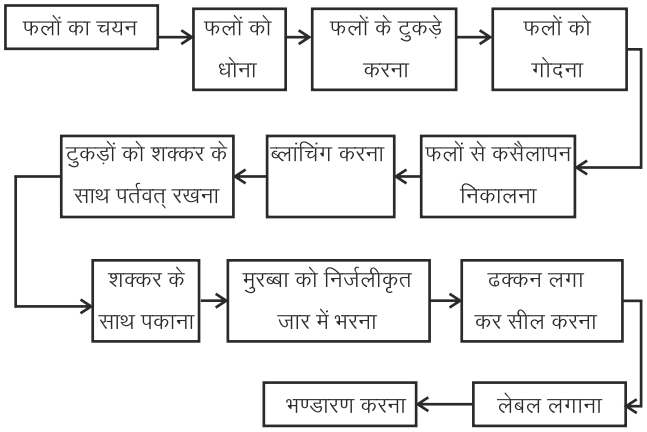

सावधानियाँ –

1. फलों को लकड़ी या स्टील के बने काँटे से गोदना चाहिये।
2. मुरब्बे की चाशनी में कुल चीनी थोड़ी–थोड़ी करके तीन चार बार में मिलाना चाहिये।
3. मुरब्बे को निर्जमीकृत जार में भरते समय चाशनी में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ की मात्रा 70 प्रतिशत होनी चाहिये।

4. फलों से अचार (Pickles) बनाने की विधि–

आवश्यक उपकरण व सामग्री – फल, नमक, सिरका, मसाले, तेल, स्टील का भगोना, चम्मच, गैस चूल्हा, चाकू आदि।

नमक, सिरका, मसाले व तेल की सहायता से फल व सब्जियों को सुरक्षित किये गये खाद्य पदार्थ को अचार कहते हैं। अचार विभिन्न फल व सब्जियों में बनाया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के अचार में से नींबू का अचार बनाने की विधि निम्न है–

नींबू	–	1 कि.ग्रा.
नमक	–	200 ग्राम
हल्दी	–	15 ग्राम
अदरक	–	50 ग्राम
लौंग	–	1 ग्राम
लाल मिर्च पाउडर	–	15 ग्राम
बड़ी इलायची	–	10 ग्राम
काली मिर्च	–	10 ग्राम

बनाने की प्रक्रिया :–

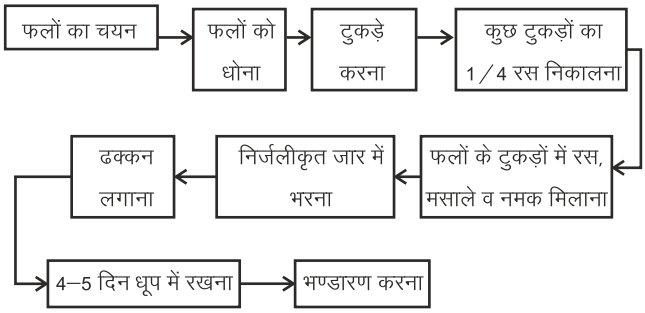

सावधानियाँ–

1. अचार बनाने के लिये रोग रहित फलों का चुनाव करें।
2. अचार बनाने के लिये शुद्ध नमक का उपयोग करना चाहिये।

5. फल पानक (Squash) बनाने की विधि–

आवश्यक उपकरण व सामग्री – फल, चीनी, साइट्रिक अम्ल, पोटेशियम मेटा बाई सल्फाइट/सोडियम बेन्जोएट, ज्यूसर, भगोना, चाकू, गैस चूल्हा, चम्मच छलनी आदि।

पानक फलों के रस, शक्कर, रंग, सुगन्ध आदि को मिलाकर बनाया जाने वाला पेय पदार्थ है। इसमें रस 25 प्रतिशत, कुल घुलनशील ठोस पदार्थ 40–50 प्रतिशत व अम्लीयता 1–2 प्रतिशत होती है। उपयोग में लाने से पहले पानी मिलाना आवश्यक है। यह विभिन्न फलों से बनाया जा सकता है जैसे संतरा, नींबू, अंगूर, फालसा आम आदि।

पाक योग – प्रायः 1 कि.ग्रा. फल रस हेतु निम्नलिखित सामग्री की आवश्यकता होती है–

चीनी –	1–2 कि.ग्रा.
पानी –	1 लीटर

साइट्रिक अम्ल – 10–20 ग्राम

परिरक्षक (पोटैशियम मेटाबाइसल्फाइट/सोडियम बेन्जोएट) – 2– 4 ग्राम

बनाने की प्रक्रिया :–

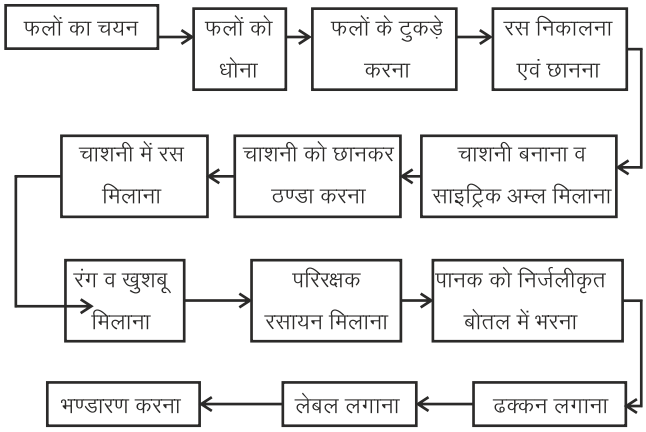

6. टमाटर का सॉस (Tomato sauce) बनाने की विधि–

आवश्यक उपकरण व सामग्री – टमाटर, नमक, चीनी, एसिटिक एसिड/सिरका, स्टील का भगोना, चाकू, गैस चूल्हा, चम्मच, छलनी, टमाटर पल्पर आदि।

टमाटर सॉस गूदे एवं रस को मसाले, नमक, शक्कर तथा एसिटिक अम्ल (सिरका) के साथ पका कर तैयार किया जा सकता है। टमाटर सॉस में कुल घुलनशील ठोस पदार्थ 16–24 प्रतिशत होता है।

पाक योग :–

टमाटर का गूदा	–	1 कि.ग्रा.
चीनी	–	75 ग्राम
नमक	–	10 ग्राम
प्याज (बारीक कटा)	–	50 ग्राम
अदरक	–	10 ग्राम
लहसुन	–	5 ग्राम
दालचीनी (पिसी हुई)	–	10 ग्राम
लाल मिर्च (पिसी हुई)	–	5 ग्राम
काली मिर्च बड़ी इलाचयी, सौंफ, जीरा (पिसा हुआ)	–	10 ग्राम प्रत्येक
लौंग शीर्ष रहित	–	5 ग्राम
सिरका	–	25 मि.ली.
या एसिटिक अम्ल	–	5 मि.ली.
सोडियम बेन्जोएट	–	0.25 ग्राम प्रति किलो

बनाने की प्रक्रिया :–

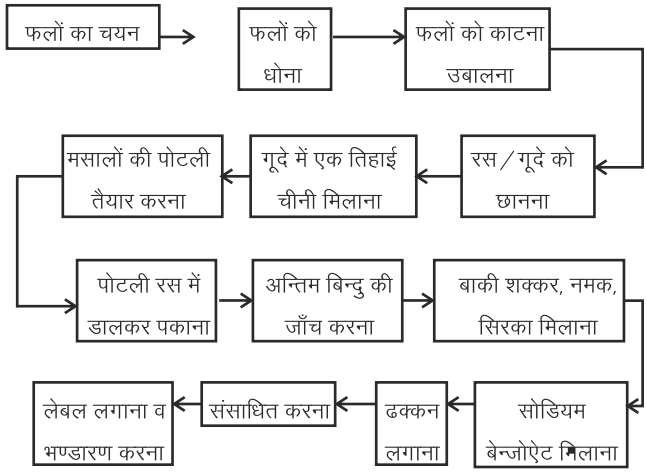

सावधानियाँ–

1. पूर्ण पके हुए लाल रंग के टमाटर का चुनाव करना चाहिये।
2. मसाले में लौंग के शीर्ष को तोड़कर प्रयोग में लेना चाहिये।
3. नमक व सिरका सॉस के अन्तिम बिन्दु के समय मिलाना चाहिये।
4. गूदे में चीनी का एक तिहाई भाग प्रारंभ में व दो तिहाई भाग अन्तिम बिन्दु के समय मिलाना चाहिये।

प्रयोग–14

उद्देश्य :– फल वृक्षों, उद्यान यंत्रों व उपकरणों, परिरक्षण उपकरणों एवं रसायनों की पहचान तथा संग्रह करना

सारणी 14.1 : विभिन्न फल वृक्षों की पहचान तथा संग्रह करना

क्र. सं.	साधारण नाम	वानस्पतिक नाम	कुल	प्रवर्धन विधि
1.	आम	मैंजीफेरा इंडिका	एनाकार्डिएसी	बीज, इनार्चिंग
2.	पपीता	केरिका पपाया	केरीकेसी	बीज
3.	केला	म्यूसा पैराडिसिका	म्यूजेसी	सकर्स
4.	अमरूद	सीडियम गुजावा	मीरटेसी	बीज, गूटी, इनार्चिंग
5.	अनार	प्यूनिका ग्रेनेटम	प्यूनिकेसी	बीज, कलम
6.	नींबू	सिट्रस ऑरेन्टीफोलिया	रूटेसी	बीज, गूटी
7.	संतरा	सिट्रस रेटीकुलेटा	रूटेसी	कलिकायन, बीज
8.	मौसमी	सिट्रस साइनेननसिस	रूटेसी	कलिकायन, बीज
9.	बेर	जिजिफस मोरेसियाना	रेमनेसी	कलिकायन, बीज
10.	खजूर	फीनिक्स डाक्टिलीफेरा	पामी	सकर्स, बीज
11.	अंगूर	वाइटीस विनिफेरा	वाइटेसी	कलम
12.	बील	एगल मार्मेलोस	रूटेसी	बीज
13.	करौंदा	केरिसा करण्डस	एपोसाइनेसी	बीज
14.	लहसुआ	कोर्डिया डाइकोटोमा	बोराजिनेसी	बीज, कलम
15.	आंवला	एम्बलिका ऑफीसिनेलिस	यूफोर्बिएसी	कलिकायन, बीज

''उपरोक्त फल वृक्षों को विद्यालय परिसर में उचित स्थान पर रोपण कर, संग्रह करें तथा छात्रों को फल वृक्षों की पहचान प्राध्यापक/विषय विशेषज्ञ के साथ करना चाहिए, जो कि विभिन्न फल वृक्षों के बारे में जानकारी दे सके।

14.2 उद्यान यंत्रों एवं उपकरणों की पहचान तथा संग्रह करना–

1. गैंती (Pick axe) : यह कार्बन स्टील का बना होता है। इसकी दो किनारियाँ होती है और मध्य में हत्था लगाने के लिए छेद हाता है। इसकी एक किनारी पैनी होती है और दूसरी चौड़ी। इसका प्रयोग सख्त (Compact) और पथरीली मृदा को खोदने के लिए किया जाता है। (चित्र 14.1)।

2. कोदाली (Kodali) : इसे एक फालीय गैंती भी कह सकते हैं। यह सख्त गठन (Compact) वाली मृदा की खुदाई के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.2)।

3. काँदेदार कुदाली (Pronged hoe) : इसमें दो, तीन और चार दाँते होती हैं। यह कठोर व पथरीली मृदा की खुदाई के लिए प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग आलू, चुकन्दर आदि खोदने के लिए भी किया जाता है। यह खाद को मिलाने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.3)।

4. फावड़ा (Spade) : यह मिट्टी को उठाने और पलटने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह गढ्डा खोदने, सिंचाई और जल निकास की नाली बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.4)।

5. पाँचा (Fork) : यह मिट्टी खोदने, जमीन की पपड़ी तोड़ने (hoeing) और खाद को उठाने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.5)।

6. पाँचा (Hoe-cum-rake) : यह जमीन खोदने, पपड़ी तोड़ने, फसल के चारों ओर मिट्टी चढ़ाने, जमीन को समतल करने और खरपतवार को जमा करने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.6)।

7. कुंड खोलने वाला औजार (Furrow opener): यह पौधशाला के बीज को बोने के बाद संकरा और उथला नाली बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.7)।

8. बेलचा (Shovel) : यह खोदी गई मिट्टी को एक जगह से दूसरी जगह डालने के लिए प्रयोग की जाती है। (चित्र 14.8)।

9. बाग पाँचा (Garden rake) : यह पौधाशाला में फसल या ठूंठ और अन्य पदार्थ एकत्र करने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह ढेला तोड़ने और जमीन को समतल बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.9)।

10. हस्त समतलक (Hand leveller) : यह छोटे क्यारी और पौधशाला में जमीन को समतल करने और बीज बोने के बाद उन्हें ढकने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग किए गए खाद को क्यारी में एक–समान फैलाने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.10)।

11. हल (Cultivator) : यह ट्रैक्टर चालित हल है जो मिट्टी की जुताई के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14. 11)।

12. तवेदार हेंगा (Disc harrow) : यह मिट्टी को भुरभुरी बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह फसल के

चित्र 14.1

चित्र 14.2

चित्र 14.3

चित्र 14.4

चित्र 14.5

चित्र 14.6

चित्र 14.7

चित्र 14.8

चित्र 14.9

चित्र 14.10

चित्र 14.11

चित्र 14.12

चित्र 14.13

चित्र 14.14

चित्र 14.15

अवशेष खरपतवार और अन्य कचरे को मिट्टी में पलटने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.12)।

13. ट्रॉवल (Trovel) : यह पौधशाला के पौधे को उखाड़ने और पौधे को प्रतिरोपित करने के लिए काम में लाया जाता है। (चित्र 14.13)।

14. कुल्हाड़ी (Axe) : यह पेड़ों को गिराने और शाखाओं को काटने के लिए काम में लिया जाता है। (चित्र 14. 14)।

15. गंडासा (Bill book) : यह पौधे और अन्य झाड़ीदार काष्ठीय पौधे की शाखाएँ काटने के लिए काम में लिया जाता है। (चित्र 14.15)।

16. कलिकायन चाकू (Budding knife) : इस तरह की चाकू में फाल (इसंकम) का सिरा मूलवृन्त में सांकुर को व्यवस्थित करने हेतु कटान बनाने के लिए हल्का घुमावदार (slightly curved) बनाया जाता है। चाकू में पीछे प्लास्टिक या स्टील का भोंथरा फाल लगाया जाता है। इस फाल का प्रयोग कलिका को मूलवृन्त को बैठाने के लिए बनाए कटान को खोलने के लिए किया जाता है। (चित्र 14.16)।

17. कलमबंधनी चाकू (Grafting knife) : यह सांकुर शाख को अलग करने, सांकुर शाख को पत्ती विहीन करने और मूलवृन्त पर कटान बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.17)।

18. कलिकायन और कलमबंधनी चाकू (Budding and grafting knife) : इस चाकू में कलिकायन और कलम बंधन दोनों ही कार्य हेतु फाल लगे होते हैं। (चित्र 14. 18)।

19. छँटाई चाकू (Purning knife) : यह काट–छाँट में छोटी शाख को काटने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.19)।

20. सिकैटियर (Secateur) : यह टहनियों और शाख को काटने में काम में लिया जाता है। (चित्र 14.20)।

21. आरी (Saw) : यह मोटे तने और शाखाओं को काटने में प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.21)।

22. झाड़ कैंची (Hedge shear) : यह झाड़ियों को उपयुक्त आकार में बनाये रखने हेतु काट–छाँट में प्रयोग की जाती है। (चित्र 14.22)।

23. पेड़ कर्तक (Tree pruner) : यह पेड़ों की शाखाओं की छँटाई के लिए जो जमीन सतह से ऊँचाई पर स्थित होते हैं, प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.23)।

24. छँटाई कैंची (Lopping shear) : यह जमीन स्तर से पेड़ों की छँटाई के लिए प्रयोग किया जाता है। लम्बे हत्थे के कारण इससे पेड़ों की टहनियों को जमीन के स्तर से काटा जा सकता है जो अन्य कैंची से काटना संभव नहीं है। (चित्र 14. 24)।

25. घास काटने की कैंची (Grass shear) : यह हरियाली घास की एक–समान कटाई के लिए प्रयोग की जाती है। यह हरियाली घास के किनारों को काटकर सुन्दर बनाने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.25)।

26. बाग तलवार (Garden shear) : यह हरियाली घास की कर्तन के लिए प्रयोग किया जाता है। श्रमिक बैठे–बैठे इसे दोनों दिशाओं में झुलाता है और घास कट जाती है। (चित्र 14.26)।

27. फूल कैंची (Flower scissor) : यह फूलों को काटने और उसके भाग को हटाने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.27)।

28. खुरपी (Khurpi) : यह खेत से खरपतवार को हटाने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह कन्द वाली फसलों को उखाड़ने के लिए भी प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.28)।

29. निदान अंकुशी (Weeding hook) : यह खरपतवार को दूर करने/काटने में काम आता है। (चित्र 14. 29)।

30. व्ही–फाल हस्त हेंगा (V-blade hand hoe) : यह सीधे फाल वाली हस्त हेंगा की तरह कार्य (V) आकार का होने के कारण यह पौधे के चारों और मिट्टी चढ़ाने के काम आती है। (चित्र 14.30)।

31. डच हेंगा (Dutch hoe) : यह सीधे फाल वाली हस्त हेंगा की तरह कार्य करता है। (चित्र 14.1)।

32. करजत हेंगा (Karjat hoe) : तीन फाल होने के कारण यह फसल की कतारों के मध्य से खरपतवार हटाने एवं जमीन को भुरभुरी बनाने के लिए लाभदायक है। (चित्र 14.32)।

33. तीन फाल वाली हस्त हेंगा (three tined hand hoe) : यह पंक्ति में लगाई गई खड़ी फसल में खरपतवार निकालने के लिए प्रयोग की जाती है। (चित्र 14.33)।

34. हस्त निदानक (Hand cultivator) : यह खरपतवार हटाने एवं खेत से घास–फूस, कचरा एकत्र करने, पौधशाला की मृदा को समतल करने एवं बीज को मिट्टी से मिलाने के लिए काम में लिया जाता है। (चित्र 14.34)।

35. धकेलने–खींचने वाले निदानक (Push-pull weeder) : यह पंक्तियों में लगाई गई फसल में खरपतवार हटाने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.35)।

36. नैपसेक छिड़कावकारी यंत्र (Knapsack sprayer) : यह रक्षी रसायनों के छिड़काव के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.36)।

(i) छिड़काव करने वाला इसे पीठ पर बाँधकर छिड़काव करता है।

(ii) यह पीठ पर नहीं बाँधा जाता है। छिड़काव करने के लिए यंत्र को एक जगह से उठाकर दूसरे जगह ले जाया जाता है और इस तरह पूरे खेत का छिड़काव किया जाता है।

37. रॉकर छिड़काव करने वाला यंत्र (Rocker sprayer) : इसे उपयोग करने के लिए दो श्रमिकों की आवश्यकता होती है। एक श्रमिक दाब जनित्र (Compressor) तथा दूसरा छिड़काव चंचु (nozzle) को संभालता है। यह खेत के अलावा पेड़ों पर छिड़काव के लिए भी उपयोगी है। (चित्र 14. 37)।

38. पद–चलित छिड़काव यंत्र : इससे कार्य करने के लिए दो श्रमिकों की आवश्यकता होती है। एक उत्थापक (pump) का संचालन करता है और दूसरा चंचु (nozzle) का। छिड़काव हेतु घोल अन्य पात्र में भरा जाता है जो उत्थापक से चंचु (nozzle) में पहुँचता है। यह खेत और बाग दोनों में ही छिड़काव के लिए लाभदायक है। (चित्र 14.38)।

39. हस्त फुहारा (Sprayer) : यह सब्जियाँ, फूलों और पौधशाला में छोटी क्यारी में छिड़काव के लिए लाभकारी है। (चित्र 14.39)।

40. हस्त घूर्णकारी भुरकाव यंत्र **(Hand rotary duster) :** यह रक्षी रसायनों के धूल को भुरकने के काम आता है। (चित्र 14.40)।

41. दराती (Sickle) : यह पत्तीदार सब्जियों जैसे– मेथी, पालक, धनिया, पत्तागोभी, फूलगोभी और कद्दू कटाई के लिए प्रयोग की जाती है। (चित्र 14.41)।

42. आम तोड़ाई यंत्र (Mango harvester) : इसके

चित्र 14.16

चित्र 14.17

चित्र 14.18

चित्र 14.19

चित्र 14.20

चित्र 14.21

चित्र 14.22

चित्र 14.23

चित्र 14.24

चित्र 14.25

चित्र 14.26

चित्र 14.27

चित्र 14.28

चित्र 14.29

चित्र 14.30

चित्र 14.31

चित्र 14.32

चित्र 14.33

चित्र 14.34

चित्र 14.35

चित्र 14.36

चित्र 14.37

चित्र 14.38

चित्र 14.39

चित्र 14.40

चित्र 14.41

चित्र 14.42

चित्र 14.43

चित्र 14.44

चित्र 14.45

चित्र 14.46

चित्र 14.47

चित्र 14.48

दो भाग हैं, जालीदार टोकरी और लम्बा हत्था। इसमें कटाई के लिए फाल (blade) लगे होते हैं जो कमानी (spring) चालित होते हैं। तोड़ा हुआ फल टोकरी में एकत्रित हो जाता है। इसका हत्था लम्बा होने के कारण इससे फल को तोड़ना आसान होता है। (चित्र 14.42)।

43. पत्तीदार सब्जी कटाई यंत्र (Leafy vegetable harvester) : यह बाड़ काटने की कैंची का रूपान्तरण है। इसके फाल के ऊपर तार जाली को जोड़ दिया जाता है। कटी हुई सब्जियाँ तार की जाली के ऊपर एकत्र हो जाती है। (चित्र 14.43)।

44. रबर स्राव एकत्र करने का यंत्र (Rubber tapping tool) : इसके अन्तिम सिरे पर व्ही (V) आकार का कटान बना होता है। इसके फाल का पिछला हिस्सा रबर के हत्थे से जुड़ा रहता है पकड़ने के काम आता है। (चित्र 14.44)।

45. हरियाली कटाई यंत्र (Lawn mower) : यह जमीन स्तर से हरियाली घास काटने के काम आता है। (चित्र 14. 45)।

46. झाड़ कर्तन यंत्र (Hedge cutter) : यह बाड़ को वांछित आकार देने के लिए कटाई करने के काम आता है। (चित्र 14.46)।

47. परिवहन गाड़ी (Wheel barrow) : यह पौधशाला के पौधे, कूड़ा खाद, उर्वरक, पत्ती खाद, उद्यानिकी उत्पाद आदि को एक जगह से दूसरे जगह के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.47)।

48. सीढ़ियाँ (Ladders) : यह फल की तोड़ाई के लिए और प्रतिदर्श पौधे (standard tree) को आकार देने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.48)।

समस्त यंत्रों एवं उपकरणों को कृषि प्रयोगशाला में खरीद कर संग्रह किया जाना चाहिए जिससे छात्रों को उनकी पहचान करवाया जाना सुनिश्चित हो सके।

14.3 परिरक्षण उपकरणों एवं रसायनों की पहचान तथा संग्रह करना–

49. घनत्वमापी (Hydrometer) : यह चीनी या नमक के घोल में नमक का सान्द्रण जानने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.49)

50. चाकू (Knife) : अलग–अलग उद्देश्य के लिए अलग–अलग तरह के चाकू का प्रयोग होता है।

*** कर्तन चाकू (Cutting knife)** : यह फलों और सब्जियों को काटने के लिए प्रयुक्त होता है। (14.50.1)

*** छिलका हटाने वाला चाकू** : यह फलों/सब्जियों के छिलके को हटाने के लिए प्रयोग किया जाता है। (14.50.2)

*** मध्य भाग हटाने वाला चाकू** : इसके प्रयोग से फलों का मध्य भाग हटाया जाता है। जैसे सेव, नाशपाती एवं अनन्नास में। (14.50.3)

चित्र 14.49

चित्र 14.50.1

चित्र 14..50.2

चित्र 14.50.3

चित्र 14.51

चित्र 14.52

चित्र 14.53

चित्र 14.54

चित्र 14.55

चित्र 14.56

चित्र 14.57

चित्र 14.58

चित्र 14.59

चित्र 14.60

चित्र 14.61

चित्र 14.62

चित्र 14.63

51. डिब्बा बंद करने वाला यंत्र (Can sealer) : यह डिब्बाबंदी के काम आता है। (चित्र 14.51)।

52. डिब्बा खोलने वाला यंत्र (Can opener) : यह डिब्बा खोलने के काम आता है। (चित्र 14.52)।

53. शुष्कक (Dehydrator) : यह किसी उत्पाद से नमी दूर करने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.53)।

54. शीर्ष ठेपी बन्दी मशीन (Crown corking machine) : यह पेय पदार्थों के बोतल में ठेपी बन्द करने के काम आता है। (चित्र 14.54)।

55. हस्त घूर्णक छलनी (Hand rotatory sieve) : यह उबाले हुए फलों सब्जियों से एक–समान गूदे प्राप्त करने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.55)।

56. गोदनी (Forking machine) : यह मुरब्बा बनाने हेतु फल/सब्जी गोदने के काम आती है। (चित्र 14.56)।

57. जेली ऊष्मामापी (Jelly thermometer) : यह पकाए जा रहे जेली की ऊष्मा मापने के लिए उपयोग किया जाता है। (चित्र 14.57)।

58. जेल मापी (Jel meter) : यह फल से प्राप्त रस में पेक्टिन की मात्रा जानने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.58)।

59. हस्त अपवर्तनांकमापी (Hand refractometer) : यह किसी उत्पाद में चीनी की मात्रा मापने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.59)।

60. डलिया दाबक (Basket press) : यह फलों के गूदे से रस प्राप्त करने के काम आता है। नींबूवर्गीय फलों को छोड़कर इससे अन्य फलों का रस प्राप्त किया जाता है। (चित्र 14.60)।

61. पेंचदार रस निष्कर्षण यंत्र (Screw type juice extractor) : यह नींबूवर्गीय फलों से रस निकालने के लिए प्रयुक्त होता है। (चित्र 14.61)।

62. नींबू रस निचोड़नी (Lemon juice squeezer) : यह नींबू के फलों से रस निकालने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.62)।

63. नींबू रस निष्कर्षण यंत्र (Lime Juice extractor) : यह व्यावसायिक स्तर पर नींबू से रस प्राप्त करने के लिए प्रयोग किया जाता है। (चित्र 14.63)।

फल परिरक्षण रसायनों की पहचान

1. पोटेशियम मेटाबाइसल्फाइट ($K_2S_2O_5$)

पोटेशियम मेटाबाइसल्फाइट एक क्रिस्टलीय लवण है जो निष्प्रभावी (उदासीन) और क्षारीय माध्यम में स्थाई रहता है। खाद्य को बदरंग होने से बचाने के लिए इसके लवण का उपयोग भी किया जाता है। भारतीय फल उत्पाद आदेश के अनुसार स्क्वाश और कार्डियल में सल्फर डाइऑक्साइड की अधिकतम मात्रा 350 पी.पी.एम. अनुमत है। नींबूवर्गीय फलों के रस का परिरक्षण करने में साधारणतया 700 या 1000 पी.पी.एम. मात्रा डाली जाती है और बाद में स्क्वाश बनाते समय इसकी मात्रा काफी कम हो जायगी।

2. सोडियम बेंजोएट (C_6H_5COONA)

यह एक कमजोर परिरक्षी पदार्थ है, जिसका उपयोग रंगीन फल रसों व पानकों में किया जाता है। इसका प्रयोग 600–1000 पी.पी.एम. मात्रा में किया जाता है। यह पदार्थ गंध रहित और स्वाद रहित होता है।

3. साइट्रिक अम्ल : ($C_6H_8O_7$)

इसका प्रयोग फल पदार्थों में खटास उत्पन्न करने एवं परिरक्षी के रूप में किया जाता है। इसके स्थान पर नींबू का ताजा रस भी प्रयोग कर सकते हैं।

4. सिरका (CH_3COOH)

टमाटर के सॉस एवं बहुत सी सब्जियों के आचार सिरके द्वारा ही सुरक्षित रखे जाते हैं। उत्तम सिरके में कम से कम 4 प्रतिशत तक एसिटिक अम्ल होना चाहिए। 2 से 3 प्रतिशत एसिटिक अम्ल वाले सिरके के घोल में सभी सब्जियों एवं फलों को लम्बे समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

समस्त परिरक्षण उपकरणों एवं रसायनों को प्रयोगशाला में संग्रह करना चाहिए, जिससे छात्रों की पहचान करवाया जाना सुनिश्चित हो सके।